

7-4

पू. सं. १८५

व्या. १४

ओ३म्

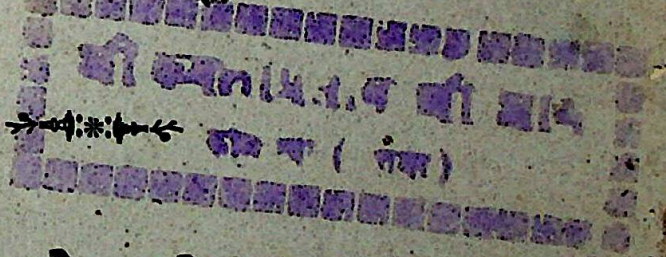
अष्टाध्यायीभाष्यम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण दयानन्दसरस्वती
स्वामिना प्रणीतम्

प्रथमो भागः



(आद्यमध्यायद्वयम्)



अजमेरनगरे

वैदिक-यन्त्रालये मुद्रितः

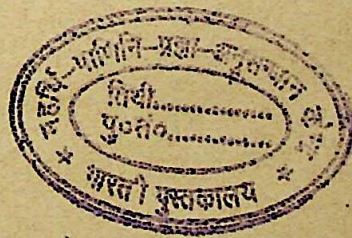
दयानन्दजन्माब्दः १०३

प्रथमं संस्करणम् }

वैक्रमाब्दः १९८४

{ मूल्यम् २५) रु०

अष्टाध्यायी-भाष्यम्



ओ३म्

आष्टाध्यायीभाष्यम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण दयानन्दसरस्वती
स्वामिना प्रणीतम्

प्रथमो भागः

(आद्यमध्यायद्वयम्)



अजमेरनगरे

वैदिक-यन्त्रालये मुद्रितः

दयानन्दजन्माब्दः १०३

प्रथमं संस्करणम् }

वैक्रमाब्दः १९८४

{ मूल्यम् ८) रु०



ओ३म्

भूमिका

महर्षि के प्रायः सब ग्रन्थ उन के जीवनकाल में प्रकाशित हुए। केवल ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य, जो महर्षि के स्वर्गवास समय तक मुंशी बख्तावरसिंह आदि यन्त्रालय के अध्यक्षों के कुप्रबन्ध और शिथिलता के कारण सम्पूर्ण न छप चुके थे, वे उन के स्वर्गवास के पश्चात् वर्षों तक छपते रहे। तथा सत्यार्थ-प्रकाश का परिमार्जित संशुद्ध और परिवर्द्धित (सोत्तरार्द्ध) द्वितीय संस्करण भी उन के स्वर्गवास के अनन्तर ही प्रकाशित हुआ। किन्तु अष्टाध्यायीभाष्य न ही महर्षि के जीवनकाल में और न ही उन के स्वर्गारोहण के बहुत वर्षों बाद तक प्रकाशित हो सका। फलतः साधारण आर्य जनता अष्टाध्यायीभाष्य की सत्ता रे नितान्त अपरिचित रही। अब ४६ वर्षों के महान् बिलम्ब के पश्चात् जनता के सम्मुख यह पुस्तक प्रस्तुत होती है, सो कोई सज्जन पुस्तक के महर्षिकृत होने में आशंका न करें, इसलिये हम प्रामाणिक बाह्य तथा आन्तरिक साक्षी के कतिपय उद्धरण देते हैं। बाह्य साक्षी में महर्षि के विज्ञापन और पत्र ही सर्वमान्य होने से प्रथम उद्धृत किये जाते हैं ॥

विक्रमीय संवत्सर १९३५ के वैशाख^२ मास में प्रकाशित ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के अन्तिम अर्थात् १५, १६ वें अङ्क के अन्त में निम्नलिखित विज्ञापनपत्र छपा—

१. समस्त ग्रन्थ संस्कृत तथा आर्यभाषा में है, इसलिये हमारा विचार था कि भूमिका भी इन दोनों भाषाओं में लिखते, किन्तु अधिक व्यय तथा विस्तरभय से भूमिका केवल आर्यभाषा में लिखी है ॥

२. ऋग्वेद-भूमिका के १५, १६ वें अंक के अग्रिम पृष्ठ के नीचे के प्रान्त पर यह विवक्षित

है—“विदित हो कि सं० १९३५ ज्येष्ठ मास अन्त पर्यन्त पञ्जाब देश के अमृतसर नगर में पं० स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी निवास करेंगे ॥”

इस विज्ञापन से विदित होता है कि वैशाख मास के अन्त अथवा ज्येष्ठ मास के आरम्भ में यह अंक प्रकाशित हो कर ग्राहकों के पास पहुंच चुका था ॥

“आगे यह विचार किया जाता है कि संस्कृत विद्या की उन्नति करनी चाहिये। सो विना व्याकरण के नहीं हो सकती। जो आजकल कौमुदी^१, चन्द्रिका^२, सारस्वत, मुग्धबोध^३ और आशुबोध^४ आदि ग्रन्थ प्रचलित हैं, इन से न तो ठीक २ बोध और न वैदिक विषय का ज्ञान यथार्थ होता है^५। वेद और प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के ज्ञान से विना किसी को संस्कृत विद्या का यथार्थ फल नहीं हो सकता, और इस के विना मनुष्य जन्म का साफल्य होता दुर्घट है। इसलिये जो सनातन प्रतिष्ठित पाणिनीय अष्टाध्यायी महाभाष्य नामक व्याकरण है, उस में अष्टाध्यायी सुगम संस्कृत और आर्यभाषा में वृत्ति बनाने की इच्छा है। जैसे वेद-भाष्य प्रतिमास २४ पृष्ठों में १ अंक छपावता है, इसी प्रकार ४६ [४८] पृष्ठ का अंक मुंबई में छपाया जाय, तो बहुत सुगमता से सब लोगों को महा लाभ हो सकता है। इस में हज़ारों रुपये का खर्च और बड़ा भारी परिश्रम है ॥

“इस का मासिक मूल्य जो प्रथम दें, उन से ॥= आने के हिसाब से ७॥ रुपये लिये जायं। उधार लेने वालों से ॥= के हिसाब से ११। लिये जायें। विद्योत्साही सब सज्जनों की सम्मति प्रथम में जाना चाहता हूँ, सो सब लोग अपना अपना अभि-प्राय जनावें इति ॥”

इसी विज्ञापन के सिलसिले में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने माधवलालजी मन्त्री आर्यसमाज दानापुर^६ को भी कई पत्र लिखे, जिन में से उपलब्ध पत्र^७ नीचे दिये जाते हैं—

१. कौमुदियों में से रामचन्द्र की प्रक्रियाकौमुदी, मेघविजयसुरि (संवत् १७२५) की हैमकौमुदी तथा मट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी, ये तीन ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध रहे हैं। इन में भी सिद्धान्तकौमुदी ही समस्त उत्तरीय भारत में प्रचलित है। दक्षिण में कहीं २ जैन मठों में हैम-कौमुदी का पठन पाठन होता है। तथा जब से सिद्धान्तकौमुदी बनी, तब से प्रक्रियाकौमुदी का प्रचार विल्कुल बन्द हो गया ॥
२. चन्द्रिका से सम्भवतः रामचन्द्राश्रमकृत सिद्धान्तचन्द्रिका अभिप्रेत है ॥
३. यह ग्रन्थ बोपदेव ने बनाया था। इस का प्रचार विशेष कर बङ्ग देश तक ही परिमित रहा है ॥
४. बोपदेव की शैली का अनुकरण करके रामकिङ्कर सरस्वती ने यह बालोपयोगी ग्रन्थ बनाया था। इस का प्रचार भी बङ्ग देश में अधिक रहा है ॥
५. कौमुदी आदि ग्रन्थों में वैदिक प्रक्रिया को लौकिक प्रक्रिया से पृथक् दिया गया है। इससे प्रायः विद्यार्थी इस को छोड़ देते हैं। तथा वैदिक सूत्रों के अर्थों में भी बहुत सी भूलें हैं। चन्द्रिका आदि में तो वैदिक विषय है ही नहीं। मुग्धबोध ने भी वैदिक प्रकरण की “बहुलं ब्रह्मणि ॥” इस अन्तिम सूत्र में परिसमाप्ति की है ॥
६. महर्षि के जीवनकाल में आर्यसमाज दानापुर संयुक्त प्रान्त की मुख्य आर्यसमाजों में से थी ॥
७. देखो “अपि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन” द्वितीय भाग पत्रसंख्या ६०, ६१, ६२, १००॥



“ नं० २१६

बाबू माधवलालजी आनन्द रहो । विदित हो कि चिट्ठी आप की आई । बहुत हर्ष हुआ । आप पाणिनीयाष्टाध्यायीभाष्य के ग्राहकों की सूचीपत्र बनाकर भेज दीजिये । क्योंकि जो इस में खर्च होगा, वह तो आप को ज्ञात ही होगा । १००० ग्राहक जब हो जायेंगे, तब आरम्भ करेंगे । सब सभासदों को नमस्ते ॥

रुड़की ज़िले सहारनपुर २५ जुला० ७८

दयानन्द सरस्वती ”

“ [नं०] २७०

बाबू माधवलालजी आनन्द रहो ।... और ग्राहक अष्टाध्यायी के भेज दो, क्योंकि अब तैयार होने लगी है ॥

रुड़की ज़ि० सहारनपुर ६ अगस्त ७८

दयानन्द सरस्वती ”

“ नं० ३०३

बाबू माधवलालजी आनन्द रहो ।... अष्टाध्यायी की वृत्ति बनने का आरम्भ हो गया है ॥ ...

रुड़की ज़िले सहारनपुर १५ अगस्त ७८

दयानन्द सरस्वती ”

अन्तिम पत्र से निश्चित होता है कि १५ अगस्त १८७८ अर्थात् श्रावण व० २ संवत् १८३५ से पूर्व महर्षि दयानन्द सरस्वती अष्टाध्यायीभाष्य को प्रारम्भ कर चुके थे ॥

“

Dehra Dun

24th April 1879.

...The As[h]tadhyae has not met the sufficient number of subscribers yet; the four adhya[ya]s of this are just ready but the work is going on quite well, though not [a] copy [has] passed in the press up to date. ...

दयानन्द सरस्वती ”

इस पत्र में अष्टाध्यायीभाष्य के चार अध्याय पूरे हो जाने की सूचना है । और साथ ही यह भी निर्देश है कि यद्यपि पर्याप्त ग्राहक न मिलने के कारण प्रकाशन आरम्भ नहीं किया जा सका, तथापि कार्य अच्छी प्रकार चल रहा है ॥

महर्षि के उपर्युद्धृत लेख अष्टाध्यायीभाष्य के महर्षि कृत होने में अकाट्य और पर्याप्त प्रमाण हैं, इसलिये अष्टाध्यायीभाष्य की सूचना पाकर बहुत से लोगों ने श्री स्वामीजी महाराज तथा मैनेजर वैदिक यन्त्रालय को जो पत्र लिखे, उन का विस्तार भय से हम यहां उल्लेख नहीं करते ॥

अब क्रमागत अष्टाध्यायीभाष्य के विषय तथा शैली की महर्षि के अन्य ग्रन्थों से तुलना करके हम प्रमाणित करेंगे कि जिस महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका लिखी तथा जिस ने पारिभाषिक और सौवर आदि ग्रन्थ लिखे, उसी महर्षि ने अष्टाध्यायीभाष्य रचा—

१. अष्टाध्यायीभाष्य और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के स्वरव्यवस्था तथा वैदिकव्याकरण विषय में अष्टाध्यायी और महाभाष्य के कतिपय सूत्र और भाष्य तथा उन के संक्षिप्त व्याख्यान दिये हैं। प्रतिपाद्य विषय केवल वैदिक व्याकरण होने पर भी भाष्यभूमिका की अष्टाध्यायीभाष्य से सहोदर समानता की झलक पदे २ प्रकट हो रही है। निदर्शनार्थ—

(१) “स्वयं राजन्त इति स्वराः । आयामः, दारुण्यं, अणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य । आयामो गात्राणां निग्रहः । दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता । अणुता कण्ठस्य कण्ठस्य संवृतता । उच्चैःकराणि शब्दस्य ॥

+ “अन्ववसर्गैः, मार्दवं, उरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य । अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता । मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता । उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य ॥

“त्रैस्वर्येणाधीमहे” त्रिप्रकारैरङिभरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः कैश्चिदनुदात्तगुणैः कैश्चिदुभयगुणैः । तद्यथा—शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः । य इदानीमुभयगुणः, स तृतीयामाख्यां लभते—कल्माष इति वा, सारङ्ग इति वा । एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः । य इदानीमुभयगुणः, स तृतीयामाख्यां लभते—स्वरित इति ॥

“त एते तन्त्रे तरनिर्देशे संस स्वरा भवन्ति । उदात्तः । उदात्ततरः । अनुदात्तः । अनुदात्ततरः । स्वरितः । स्वरिते य उदात्तः, सोऽन्येन विशिष्टः । एकश्रुतिः सप्तमः ॥ अ० १ । पा० २ । ‘उच्चैरुदात्तः’ इत्याद्युपरि ॥” (प्रथम संस्करण पृ० ३५३, ३५४)

अष्टाध्यायीभाष्यं (तथा सौवर में) १ । २ । २६, ३०, ३१, ३३ ॥ इन सूत्रों के व्याख्यान में यही महाभाष्य की पंक्तियों उद्धृत की गई हैं और आर्यभाषा में भी दोनों स्थलों पर समान अर्थ किया है । जैसे—

१. ऋग्वेदभूमिकाटिप्पण्येऽष्टाध्यायीभाष्ये. चोभयत्र “उदात्तविधायकानि, अनुदात्तविधायकानि” इत्येवं “उच्चैःकराणि, नीचैःकराणि” इत्येतौ शब्दौ व्याख्यातौ ॥



“श्वेत और काला रंग अलग अलग हैं, परन्तु इन दोनों को मिला कर जो रंग उत्पन्न हो, उस का नाम तीसरा होता है अर्थात् खाखी वा आसमानी ।”

कल्माष और सारङ्ग शब्द का यही अर्थ अष्टाध्यायीभाष्य तथा सौवर में किया गया है ॥

(२) दोनों ग्रन्थों में ‘उणादयो बहुलम् ॥’ (३ । ३ । १) सूत्र की व्याख्या में महाभाष्य की तीन कारिकाओं का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से किया है—

अष्टाध्यायीभाष्ये

“‘तन्वीभ्यः’ अल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया दृश्यन्ते । तत्र बहुलवचनादविहिताभ्योऽपि प्रकृतिभ्यो भवन्ति ।

“तथा त उणादयः प्रत्यया अपि न ‘समुच्चिताः’ एकीकृताः, किन्तु ‘प्रायेण’ लघुत्वेन प्रत्ययविधानमुणादौ कृतं, तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिताः प्रत्यया भवन्ति । यथा ऋधातोः फिडफिडौ भवतः ।

“सूत्रैर्विहितानि कार्याणि न भवन्ति, अविहितानि च भवन्ति । यथा ‘दण्डः’ इत्यत्र प्रत्ययादेर्भकारस्य इत्-सञ्ज्ञा प्राप्ता, सा न भवति । तदुक्तमे[त]दर्थं ‘बहुलम्’ इति ।

“इदं पूर्वोक्तं त्रिविधं कार्यमुणादौ किमर्थं क्रियत इत्युच्यते—‘नैगमरूढिभवं हि सुसाधु’ ‘नैगमाः’ वैदिकाः शब्दाः, ‘रूढयः’ लौकिकाश्च ‘सुसाधु’ शोभनाः साधवो यथा स्युः । एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति ।

“(नाम च०) ‘नाम’ सञ्ज्ञाशब्दान् ‘निरुक्ते’ निरुक्तकारा धातुजान् यौगिकान् ‘आहुः’ वदन्ति । ‘व्याकरणे’ वैयाकरणेषु, शकटस्य तोकमपत्यम्, शाकटायनस्यैकस्य ऋधेर्मतं—सञ्ज्ञाशब्दा यौगिका इति ।

“(यन्न०) यद्विशेषात् पदार्थान्न सम्यगुत्थितम्, अर्थात् प्रकृतिप्रत्ययविधाने-

अग्नौ भूमिकायाम्

“ (बाहुलकं०) उणाददिपाठेऽल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनादविहितभ्योऽपि भवन्ति ।

“एवं प्रत्यया अपि न सर्व एकीकृताः, किन्तु ‘प्रायेण’ सूचमतया प्रत्ययविधानं कृतं, तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिता अपि प्रत्यया भवन्ति यथा फिडफिडौ भवतः ।

“तथा सूत्रैर्विहितानि कार्याणि न भवन्ति, अविहितानि च भवन्ति । यथा ‘दण्डः’ इत्यत्र ङ-प्रत्ययस्य डकारस्य इत्-सञ्ज्ञा न भवति । एतदपि बाहुलकादेव ।

“ (किं पुनः०) अनेनैतच्छङ्कयते उणादौ यावत्प्रत्ययः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च सूत्रैः कार्याणि विहितानि, तावन्त्येव कथं न स्युः । अत्रोच्यते (नैगम०) ‘नैगमाः’ वैदिकाः शब्दाः, ‘रूढयः’ लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्युः । एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति ।

“ (नाम०) सञ्ज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहुः । (व्याकरणे०) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायनः । तोकमित्यस्यापत्यनामसु पठितत्वात् ।

“(यन्न०) यद्विशेषात् पदार्थान्न सम्यगुत्थितम्, अर्थात् प्रकृतिप्रत्ययविधाने-

न न व्युत्पन्नं, तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः, प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः । ...” न न व्युत्पन्नं, तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः, प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः । ...”
(प्रथम संस्करण पृ० ३६८, ३६९)

(३) जिस प्रकार अष्टाध्यायीभाष्य में ‘छन्दसि’ का अर्थ ‘वेदे, वेदविषये’ इत्यादि किया है, उसी प्रकार ऋग्० भूमिका में भी सर्वत्र ‘वेदविषये, वेदेषु इत्यादि समान अर्थ किया है। ‘चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥’ (२।३।६२) सूत्र पर अष्टाध्यायीभाष्य में छन्दस्-शब्द का विशेष व्याख्यान है—

“छन्दस्-शब्देन मन्त्रभागस्य मूलवेदस्य ग्रहणं भवति । ब्राह्मण-शब्देनैतरेयादि-व्याख्यानां नाम् । अत एव ‘ब्राह्मणे’ इत्यनुवर्तमाने पुनश्छन्दो-ग्रहणं कृतम् ।”

इस की पूरक और अतएव पोषक ऋग्० भूमिका की निम्नलिखित पंक्ति है—

“महाभाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि प्रयुक्तानि । अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वात् छन्दो-ग्रहणमनर्थकं स्यात् ।” (प्रथम संस्करण पृ० ३६६)

२. अष्टाध्यायीभाष्य और सौवर

अष्टाध्यायीभाष्ये

सौवरे

(१) “उदात्त स्वर के उच्चारण में इतनी बातें होनी चाहियें कि शरीर के सब अवयवों को सञ्चल कर लेना, अर्थात् ढीले न रहें। ‘दारुण्यम्’ शब्द के निकलने के समय सञ्चल रुखा स्वर निकले अर्थात् कोमल नहीं। ‘अश्रुता’ और कण्ठ को रोक लेना अर्थात् फैलाना नहीं। ऐसे यत्नों से जो स्वर उच्चारण किया जाता है, वह उदात्त कहाता है। यही उदात्त का लक्षण है ॥” (१।२।२६॥ ‘आयामो०’ का भाषाभाष्य)

“उदात्त स्वर के उच्चारण में इतनी बातें होनी चाहियें—(आयामः) शरीर के सब अवयवों को रोक लेना अर्थात् ढीले न रखना, (दारुण्यम्) शब्द के निकलते समय तीखा रुखा स्वर निकले और (अश्रुता खस्य) कण्ठ को रोक के बोलना चाहिये फैलाना नहीं। ऐसे प्रयत्नों से जो स्वर उच्चारण किया जाता है, वह उदात्त कहाता है। यही उदात्त का लक्षण है ॥” (पृ० ३ ‘आयामो०’ का भाषाभाष्य)

(२) “उदात्त और अनुदात्त गुण का जिस में ‘समाहारः’ मेल हो, वह ‘अच्’ अच् ‘स्वरितः’ स्वरित-

“उदात्त और अनुदात्त गुण का जिस में मेल हो, वह अच् स्वरित-सञ्चक होता

१. अपि च सत्यार्थप्रकाशे—‘छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ॥’ [४।२।६६] यह पाणिनीय सूत्र है। इस से भी स्पष्ट विदित होता है कि वेद मन्त्रभाग और ब्राह्मण व्याख्याभाग है।

(शताब्दीसंस्करण पृ० ३१८ पं० १५-१७)

२. “या खर्वेण पिबति” इत्यादि उदाहरणं महा-भाष्यकारेण तैत्तिरीयसंहिताया ब्राह्मणभागादुदाह-तम् ॥ (तै० २।५।१)

संयुक्त हो।... जैसे श्वेत और काला रंग अलग २ होते हैं, परन्तु इन दोनों को मिल[1] कर जो रंग उत्पन्न होता है, उस का तीसरा नाम पड़ता है, अर्थात् खाकी वा आस्मानी। इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण पृथक् २ हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो, उस को स्वरित कहते हैं ॥” (१।२।३१)

(३) “इस सूत्र के उपदेश करने में प्रयोजन यह है कि जो मिली हुई चीज होती है, उस में नहीं जाना जाता कि कितना क्या है। जैसे दूध और जल मिल जाते हैं, तो यह नहीं मालूम होता कि कितना दूध और कितना जल है, तथा किधर दूध और किधर जल है। इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त मिले हुए हैं, इससे मालूम नहीं होता कि कितना उदात्त और कितना अनुदात्त, तथा किधर उदात्त और किधर अनुदात्त है। इसलिये मित्र होके पाणि-निजी महाराज ने इस सूत्र का उपदेश किया है, कि जिस से मालूम हुआ कि इतना उदात्त और इतना अनुदात्त, तथा इधर उदात्त और इधर अनुदात्त है ॥

“(प्रश्न) जो आचार्य अर्थात् पाणिनिजी महाराज ऐसे परम मित्र थे, तो इस प्रकार की और बातें क्यों नहीं प्रसिद्ध कीं।—(प्र०) वे बातें कौन हैं। (उ०) स्थान, करण, नादानुप्रदान।—(उत्तर) व्याकरण अष्टाध्यायी जब बनाई गई, उस से पूर्व ही शिक्षा आदि ग्रन्थों में ये स्थान आदि का विस्तार लिख चुके थे। क्योंकि शब्द के उच्चारण में जो साधन हैं, वे मनुष्य को प्रथम ही जानने चाहियें। और उन ग्रन्थों में लिख चुके, फिर अष्टाध्यायी में लिखते, तो पुनरुक्त दोष पड़ता। इसलिये जो बातें वहां नहीं लिखीं, उन को

है।... जैसे श्वेत और काला ये रंग अलग २ होते हैं, परन्तु जो इन दोनों को मिलाने से उत्पन्न होता है, उस को (कल्पाप) खाकी वा आस्मानी कहते हैं। इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण पृथक् २ हैं, परन्तु जो इन दोनों को मिलाने से उत्पन्न हो, उस को स्वरित कहते हैं ॥” (पृष्ठ ३, ४ सूत्र १।२।३१)

“इस सूत्र के उपदेश करने में प्रयोजन यह है कि जो मिली हुई चीज होती है, उस में नहीं जाना जाता कि कौनसा कितना भाग है। जैसे दूध और जल मिला दें, तो यह नहीं विदित होता कि कितना दूध और कितना जल है, तथा किधर दूध और किधर जल है। इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त मिले हुए हैं, इस कारण जाना नहीं जाता कि कितना उदात्त और कितना अनुदात्त, और किधर उदात्त और किधर अनुदात्त है। इसलिये सब के मित्र होके पाणिनि महाराज ने इस सूत्र का उपदेश किया है, जिस से ज्ञात हो जावे कि इतना उदात्त इतना अनुदात्त, तथा इधर उदात्त और इधर अनुदात्त है ॥

“(प्रश्न) जो पाणिनि महाराज सब के ऐसे परम मित्र थे, तो इस प्रकार की और बातें क्यों नहीं प्रसिद्ध कीं। जैसे स्थान, करण, प्रयत्न, नादानुप्रदान आदि (उत्तर) जब व्याकरण अष्टाध्यायी बनाई गई थी, उस से पूर्व ही शिक्षा आदि कई ग्रन्थ बन चुके थे, जिन में स्थान करण आदि का प्रकार लिखा है। क्योंकि शब्द के उच्चारण में जितने साधन हैं, वे मनुष्य को प्रथम ही जानने चाहियें। और जो बातें उन ग्रन्थों में लिख चुके थे, उन को फिर अष्टाध्यायी में भी लिखते, तो पिष्टपेष दोष वत् पुनरुक्त दोष समझा जाता। इसलिये

यहां प्रसिद्ध किया। तथा गणना से भी व्याकरण तीसरा अङ्ग है। किन्तु सब से प्रथम मनुष्यों को शिक्षा के ग्रन्थ पढ़ाये जायेंगे, तब स्थानादि की सब बातें जान लेंगे। पीछे व्याकरण पढ़ेंगे। इस प्रकार पाणिनिजी महाराज ने सब कुछ अच्छा ही किया ॥

“इस सूत्र के व्याख्यान में काशिका के बनाने वाले जयादित्य और भट्टोजिदीक्षित आदि लोगों ने लिखा है कि इस सूत्र में ह्रस्व-ग्रहण निष्प्रयोजन है। सो यह केवल इन की भूल है, क्योंकि जो ह्रस्व-ग्रहण का कुछ प्रयोजन न होता, तो महाभाष्यकार अवश्य प्रसिद्ध करते, किन्तु महाभाष्यकार ने तो इस में एक शब्द का लोप माना है। ‘अर्द्ध-ह्रस्वमात्रम्’ इस में से मात्र-शब्द का लोप हो गया है। अथवा ऐसा कोई समझे [कि] महाभाष्यकार ने नहीं जाना इन लोगों ने जान लिया, तो यह बात असम्भव है। इस से इन्हीं लोगों का दोष समझा जाता है ॥”

(१।२।३२)

(४) “छन्दसि’ वेद मन्त्रों के सामान्य उच्चारण करने में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को ‘एकश्रुति’ एकश्रुति स्वर ‘विभाषा’ विकल्प करके रहता है। सो ये दो पक्ष तीन वेदों में घटते हैं। सामवेद में सर्वत्र तीनों स्वर भिन्न २ उच्चारण किये जाते हैं, क्योंकि ‘यज्ञकर्म०’ [१।२।३४] इस सूत्र से सामवेद में एकश्रुति होने का निषेध किया है ॥”

(१।२।३६)

जो बातें वहां नहीं लिखीं, वे यहां प्रसिद्ध की हैं। तथा गणना से भी व्याकरण तीसरा वेदाङ्ग है, इसलिये पाणिनिजी महाराज ने सब कुछ अच्छा ही किया है। जो इस सूत्र का प्रयोजन और इस पर प्रश्नोत्तर लिखे हैं, सो सब महाभाष्य में स्पष्ट करके इसी सूत्र पर लिखे हैं ॥” (पृ० ४, ५ सूत्र १।२।३२) इसी सूत्र पर यह टिप्पण है—

“(तस्यादित०) इस सूत्र के व्याख्यान में काशिकाकार जयादित्य और भट्टोजिदीक्षित आदि लोगों ने लिखा है कि इस सूत्र में ह्रस्व-ग्रहण शास्त्रविरुद्ध है। सो यह केवल उन की भूल है, क्योंकि जो ह्रस्व-ग्रहण का कुछ प्रयोजन नहीं होता, तो महाभाष्यकार अवश्य प्रसिद्ध कर देते। उन्होंने ने तो जो इस में सन्देह हो सकता है, उस का समाधान किया है कि अर्द्ध-ह्रस्व-शब्द के आगे मात्र-प्रत्यय का लोप जानो, जिससे दीर्घ प्लुत स्वरित में भी उदात्त का विभाग हो जावे। ह्रस्वस्यार्द्धमर्द्धह्रस्वम् । एक मात्रा का ह्रस्व है। उस की आधी मात्रा जो आदि में है, वह उदात्त और शेष इस से परे सब अनुदात्त है। यह बात इस (अर्द्धह्रस्व) के ग्रहण ही से जानी गई ॥”

“वेद मन्त्रों के सामान्य उच्चारण करने में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को एकश्रुति स्वर विकल्प करके होता है। एकश्रुति पक्ष में उदात्तादि का भिन्न २ उच्चारण नहीं होता। सो ये दो पक्ष तीन वेदों में घटते हैं। सामवेद में तीनों स्वर भिन्न २ उच्चारण किये जाते हैं, क्योंकि (११) सूत्र [‘यज्ञकर्म०’ १।२।३४] से सामवेद में एकश्रुति होने का निषेध कर चुके हैं ॥” (पृ० ६, सूत्र १।२।३६)

१. यहां निर्दिष्ट महाभाष्यान्तर्गत प्रश्नोत्तर अष्टाध्यायीभाष्य के संस्कृत भाग में उद्धृत किये गये हैं ॥

३. अष्टाध्यायीभाष्य और पारिभाषिक

महर्षि से पूर्व सीरदेव, नीलकण्ठ दीक्षित तथा नागेशभट्ट प्रभृति विद्वानों ने महाभाष्यस्थ मुख्य २ परिभाषाओं को संग्रह करके उन पर विस्तृत व्याख्याग्रन्थ लिखे थे। काशिकादि सूत्रव्याख्याग्रन्थों के समान इन ग्रन्थों में भी विविध प्रकार के दोष थे। इन दोषों का उद्घाटन तथा उद्धार करने के लिये महर्षि ने पारिभाषिक नाम का ग्रन्थ रचा। इस की हस्तलिखित प्रति महर्षि के ग्रन्थसंग्रह में अब तक विद्यमान है। प्रत्येक पृष्ठ पर महर्षि के अपने हाथ से संशोधन किया हुआ है, तथा ग्रन्थ के अन्त में तीन पंक्तियाँ भी उन्होंने ने स्वयं ही लिखी हैं। अत एव इस ग्रन्थ के साथ अष्टाध्यायीभाष्य का सन्तोलन विशेष महत्त्व रखता है ॥

(१) जिन २ परिभाषाओं का प्रयोग महर्षि ने अष्टाध्यायीभाष्य में करना आवश्यक समझा, प्रायः उन सब परिभाषाओं को उन्होंने ने पारिभाषिक में स्थान दिया, यद्यपि नागेश आदि ने इन में से कई एक को अनावश्यक समझ कर अपने ग्रन्थों में संगृहीत नहीं किया। यथा—

“कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः ॥” (अष्टा० भा० १।१।२२ ॥ पारि० ८)

“तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ॥” (अष्टा० भा० १।१।७१ ॥ पारि० ७८)

“वर्णग्रहणे जातिग्रहणं भवतीति ॥” (अष्टा० भा० १।२।४१ ॥ पारि० ११२)

“गुणवचनानां हि शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति ॥” (अष्टा० भा० १।२।६४ ॥ पारि० १०७)

ये चारों परिभाषाएं परिभाषेन्दुशेखर में उपलब्ध नहीं ॥

(२) अष्टाध्यायीभाष्य तथा पारिभाषिक के समान पाठ महर्षि के उभयत्रव्यापक वैयक्तित्व तथा समानरचयितृत्व का प्रबल प्रमाण हैं। निदर्शनार्थ यहां दो उदाहरण देते हैं—

(क) परिभाषेन्दुशेखर (३४) और परिभाषावृत्ति (२२) के “सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति” इस परिभाषान्तर्गत विभाषया-पद के स्थान में अष्टाध्यायीभाष्य (१।२।६३) तथा पारिभाषिक (३४) दोनों में समानरूपेण विभाषा-शब्द पड़ा है ॥

(ख) तथा अष्टा० भा० (१।२।६४) और पारि० (१०७) में उदाहृत

“गुणवचनानां हि शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति” इस परिभाषा में पठित हि-शब्द किसी मुद्रित अथवा हस्तलिखित महाभाष्य की प्रति में, जो हमारे देखने में आई हैं, उपलब्ध नहीं ॥

(३) जिस प्रकार और जहां २ पारिभाषिक में महर्षि ने नागेश आदि के दोष दर्शाए हैं, उसी प्रकार और जहां २ ही अष्टाध्यायीभाष्य में भी उन्हीं दोषों का निरूपण तथा निराकरण किया गया है । निदर्शनार्थ—

पारिभाषिके

अष्टाध्यायीभाष्ये

“जो नागेश और भट्टोजिदीक्षितादि नवीन लोग इस परिभाषा को (यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते) इस प्रकार की लिखते मानते और व्याख्यान भी करते हैं, सो यह पाठ महाभाष्य से विरुद्ध [है] महाभाष्य में यह परिभाषा ऐसी कहीं नहीं लिखी, इसलिये इन लोगों का प्रमाद है । ” (मृ० ६ टिप्पण #)

“अर्थवत् आगमस्तद्गुणीभूतोऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते ॥ ’...इमामेव परिभाषां केचिद् भट्टोजिदीक्षितादयो महाभाष्यविरुद्धां पठन्ति— ‘यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ॥’ इति । एतत् तेषां भ्रम एवास्ति । ” (१ । १ । १६)

४. अष्टाध्यायीभाष्य तथा महर्षिकृत अन्य ग्रन्थों की लेखशैली

(१) आर्यभाषा के इतिहास में सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदादि शास्त्रों को सर्वसाधारण में प्रचारार्थ आर्यभाषा में उपस्थित करने का निश्चय किया और तदनुसार ऋग्भूमिका, ऋग् और यजुर्वेद भाष्य, पञ्चमहायज्ञविधि आदि बड़े और छोटे सभी ग्रन्थ आर्यभाषा में लिखे । किन्तु जहां उन्होंने ने सत्यार्थप्रकाश, आर्याभिविनय आदि ग्रन्थ जनता के उपकारार्थ केवल मात्र आर्यभाषा में लिखे, वहां वेदभाष्यादि ग्रन्थों में वर्तमान और भविष्य के

१. पं० राजाराम शास्त्री और पं० बालशास्त्री ने सं० १६२७ में कैयटप्रदीपयुक्त महाभाष्य प्रकाशित किया था । इस की एक प्रति महर्षि के संग्रह में सुरक्षित है । इस में भी हि-शब्द नहीं ॥

२. उणादिकोष को केवलमात्र संस्कृत में लिखने का हनु महर्षि स्वयं भूमिका में लिखते हैं—

“संस्कृत में वृत्ति बनाने का यही प्रयोजन है कि जो लोग पठन पाठन व्यवस्था के पहिले पुस्तकों को पढ़ेंगे, उन के लिये संस्कृत कुछ कठिन नहीं होगा । और संस्कृत भी सरल ही बनाया है । कई शब्दों के अर्थ इति शब्द लगा कर भाषा में भी खोल दिये हैं । ”

स्वदेशी विदेशी पण्डितों और विद्वानों के लिये देशकालसीमातीत देववाणी का प्रयोग भी करना अनिवार्य समझा। यही भाषाद्वयान्वित भाष्य की अपूर्व शैली प्रस्तुत पुस्तक अष्टाध्यायीभाष्य में विद्यमान है ॥

(२) पुरातन आर्य ग्रन्थों के सदृश महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों की संस्कृत अत्यन्त सरल है। लोकप्रसिद्ध द्रोणे २ शब्दों तथा सर्वगम्य वाक्य-रचना को देख कर तो कई बार आधुनिक विद्वान् महर्षिकृत प्रयोगों को भाषा शैली (Vernacular idiom) कह उठते हैं। यह तो हम कभी फिर प्रमाणित करेंगे कि जिन प्रयोगविशेषों को कई आधुनिक विद्वान् भाषा शैली (Vernacular idiom) कहते हैं, वे वास्तव में प्राचीन संस्कृत शैली (Sanskrit idiom) हैं, यहां केवल हम कुछ उदाहरण देकर यह दर्शाएंगे कि ये “भाषा शैली” के प्रयोग (Vernacular idiom) अष्टाध्यायीभाष्य तथा महर्षि के इतर ग्रन्थों में सर्वत्र समान रूप से विद्यमान हैं। यथा—

(क) निस्+सृ

अष्टा०भाष्ये—“इयं परिभाषा निस्सृता (“निस्सरति” वा)” पृ० ६१ पं० ४,

पृ० ६२ पं० २४, पृ० १३३ पं० ३, पृ० ३५३ पं० २३.

सप्त स्वराः सूत्रेभ्य एव निस्सरन्ति” पृ० १२२ पं० २५.

“कार्यं कदापि न निस्सरति” पृ० ८८ पं० ६.

“प्रयोजनं निस्सारितम्” पृ० १७४ पं० १८.

ऋग्०भूमिकायाम्—“एतन्मन्त्रादिभ्यो बीजगणितं निस्सरति” पृ० १४६ पं० ८.

उणादिकोषे—“अथो न निस्सरेत्” पाद २ सू० ८२.

(ख) उपरि

अष्टा०भाष्ये—“इदं वचनं महाभाष्ये...इति सूत्रस्योपरि वर्तते” पृ० २६४ पं० १६.

ऋग्०भूमिकायाम्—“...इत्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनम्” पृ० २१ पं० २८.

अपि च दृश्यन्तां पृ० ३२ पं० २६, पृ० ३४ पं० ३२, पृ० ७२ पं० १५, पृ० ८४

पं० १५, पृ० ३६४ पं० २१...

(ग) वा

अष्टा०भाष्ये—“षष्ठ्यर्थे वा सप्तम्यर्थे वतिः” पृ० ३८ पं० १८.

ऋग्०भूमिकायाम्—“ईश्वरो न्यायकार्यस्ति वा पक्षपाती” पृ० १७ पं० २३.

श्रीमत्यै रमादेव्यै लिखिते भगवद्भयानन्दपत्रे—“यथाऽनेकाः स्त्रियः...गृहकृत्यानुष्ठाने प्रवर्तन्ते, तथैव भक्त्या इच्छाऽस्ति वा पुनरपि कन्यकाभ्योऽध्यापनस्य स्त्रीभ्यः सुशिक्षाकरणोच्छाऽस्ति।” ऋषि दयानन्द के “त्र और विज्ञापन” ११ भाग पृ० ४८ पं० २०.

(घ) अर्थात्

अष्टा०भाष्ये—“अतन्त्रस् अर्थात् निष्प्रयोजनम्” पृ० १२१ पं० ४.

“पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो भवति । अर्थात् समा[सा]र्थः पूर्वपदे स्थितो भवतीति ।” पृ० १७७ पं० १८.

“आकृतिगणोऽयम् । अर्थादविहितलक्षणः समानाधिकरणतत्पुरुषो मयूरव्यं-
सकादित्वात् सिद्धो भवति ।” पृ० २३१ पं० ३.

“‘आस्थितप्रतिषेधः’ अर्थात् ‘अनध्वनि’ इति यः प्रतिषेधः” पृ० २७६ पं० १६.

अभि च दृश्यन्तां पृ० १२२ पं० ४, ७, पृ० १७४ पं० २०.

अगु०भूमिकायाम्—“सर्वे संघाताः सर्वेषां पदानां स्थान आदेशा भवन्ति ।

‘अर्थात् शब्दसंघातान्तराणां स्थानेष्वन्ये शब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते ।’ पृ० २६ पं० २८.

उपर्युद्धृत उदाहरणों में से प्रथम दो में आर्यभाषा के निकलने-पद का निस्+सू-धातु से तथा उपरि-शब्द का उपरि-अव्यय से अनुवाद आधुनिक विद्वानों को आर्यभाषा की प्रतिध्वनि मात्र प्रतीत होता है । इसी प्रकार विकल्पित शब्दों के मध्य में वा-अव्यय के प्रयोग को ये लोग संस्कृत के शब्द विन्यास के नियमों के विरुद्ध समझ कर आर्यभाषा का अनुकरण समझते हैं । एवमेव उन के मतानुसार शब्दार्थ तथा भावार्थ द्योतक अर्थात्-पद का प्रयोग महर्षि की अपनी विशेष कल्पना है । प्रायः अन्य ग्रन्थकारों ने इन अर्थों में तथा इस प्रकार से अर्थात्-पद का कहीं प्रयोग नहीं किया, किन्तु महर्षि ने तो केवल पञ्चमहायज्ञविधि में ही २० से अधिक बार इस का प्रयोग किया है ॥

जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं महर्षि का उद्देश सुगम सुबोध संस्कृत लिखने का था और इसीलिये अपने समकालीन पाण्डितों के उपहास की सर्वथा उपेक्षा करके विस्तृत संस्कृत वाङ्मय में से उन्होंने ने वे प्रयोग छाँटे कि जिन के आधार पर भाषा शैली (Vernacular idiom) बनी और अतएव जो आर्यभाषाभाषियों के समीपतम थे । जैसे “अठारह २ प्रकार के अ, इ, उ, ऋ ये वर्ण होते हैं” इस भाव को “अ, इ, उ, ऋ इत्येते वर्णाः प्रत्येकमष्टादशभेदा भवन्ति” इस प्रकार न रखके “अष्टादशाष्टादशप्रकारका अ, इ, उ, ऋ इत्येते वर्णा भवन्ति” (अष्टा०भा० पृ० २४ पं० १७) इस प्रकार रखा है । जो व्यक्ति इन को और एतादृश अन्य प्रयोगों को संस्कृत शैली के अनुकूल नहीं मानते, उन से

हम यही नम्र निवेदन करेंगे कि 'महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः, सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः' विना इस समस्त साहित्य को देखे कुछ भी सम्मति देना विद्वत्ता से कहीं दूर है ॥

(३) जिस प्रकार धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में महर्षि ने अज्ञानान्धकार तथा कुरीतियों को प्रबलता से दलन किया और जिस प्रकार वेदभाष्य में ब्राह्मण और निरुक्त आदि आर्ष ग्रन्थों के आधार पर शब्दार्थ और भावार्थ सम्बन्धी स्वदेशी और विदेशी विद्वानों की त्रुटियों और प्रमादों को मूल से उखाड़ फेंकने का महान् यत्न किया, ठीक उसी प्रकार अष्टाध्यायीभाष्य में महर्षि पतञ्जलि के आधार पर उत्तरकालीन काशिकाकार आदि की त्रुटियों और प्रमादों का प्रबल निराकरण वेदभाष्य और अष्टाध्यायीभाष्य में समानरचयितृत्व की व्यापकता का द्योतक है। अपि च काशिकाकारादि के दोषप्रख्यापन में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है उन शब्दों का ऋग्-भूमिका के समान प्रकारणों में प्रयुक्त शब्दों से सन्तोलन पाठकों को हमारे कथन में और भी अधिक दृढ विश्वास दिलाएगा। यथा—

अष्टा०भाष्ये

- “तेषां अम एवास्ति” पृ० २६२ पं० १.
 “एतेषां महान् अमो जातः” पृ० ३४ पं० १६.
 “महाभाष्यविरुद्धत्वाज्जयादित्यस्य व्याख्या-
 नमत्यन्तमसङ्गतम्” पृ० ३६७ पं० २.
 “जयादित्यादिभिः... इति स्वकीयकल्पना
 कृता, सा प्रणाख्याऽस्ति” पृ० ३६६ पं० ७.
 “एतन्महाभाष्यान्महद्विरुद्धमस्ति” पृ० २४३ पं० २५.
 “अतस्तत्कथनमवश्यमेवास्तीति मन्तव्यम्”
 पृ० १२३ पं० ६.

ऋग्-भूमिकायाम्

- “एषां अम एवास्ति” पृ० ३०४ पं० २०.
 “यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु अमो जातः”
 पृ० ३४० पं० ११.
 “यच्चोक्तं छन्दोमन्त्रयोर्भेदोऽस्तीति तदप्यस-
 ङ्गतम्” पृ० ७६ पं० ६.
 “...भट्टमोक्षमूलरेण...स्वरूपनया लेखनं
 कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणाहं नास्ति” पृ० १६३ पं० ३०.
 “अस्माच्छ्रुतपथब्राह्मणोक्तादर्थान् महीधरकृ-
 तोऽर्थोऽस्तीव विरुद्धोऽस्ति” पृ० ३३६ पं० १५.
 “अस्मान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्ध एवास्ती-
 ति मन्तव्यम्” पृ० ३२६ पं० २३.

लेखशैली के विविध प्रकार के शतशः प्रमाणों में से हम ने स्थालीपुलाकन्या-
 येन केवल दो चार उदाहरण दिये हैं। इन उदाहरणों से यह निर्विवाद है कि
 अष्टाध्यायीभाष्य रचयं महर्षि ही की कृति है। यदि ग्रन्थविस्तार का भय न होता

तो और भी अधिक आन्तरिक और बाह्य साक्षी के आधार पर हम प्रमाणित करते कि महर्षि के अतिरिक्त भीमसेन ज्वालादत्त और दिनेशराम इन तीनों महर्षि के लेखकों में से किसी पर ग्रन्थस्वयितृत्त्व का भारारोपण सर्वथा युक्तिशून्य है। बुद्धिमानों के लिये पूर्वोद्धृत प्रमाणों को ही पर्याप्त जान कर हम इस विषय को यहां समाप्त करते हैं और आशा रखते हैं कि महर्षि के भक्त अध्यापक और छात्रवर्ग निश्चिन्त मन से इस भाष्य का अभिनन्दन करेंगे और महान् लाभ उठाएंगे ॥

अष्टाध्यायीभाष्य का प्रकाशन

पूर्वोद्धृत महर्षि के पत्रों से प्रतीत होता है कि महर्षि एक सहस्र ग्राहक बन जाने पर ग्रन्थ का प्रकाशन आरम्भ करना चाहते थे, किन्तु प्रयत्न करने पर भी जब पर्याप्त ग्राहक न मिल सके और आर्यसमाजों ने व्याकरण को “अति सुलभ आर्यभाषा में प्रकाशन करने का” आग्रह किया, तो उन्हें आर्यभाषा के व्याकरण ग्रन्थों के मुद्रण कार्य के समाप्त होने तक अष्टाध्यायीभाष्य का प्रकाशन स्थगित करना पड़ा। ऋग्वेदभाष्य अंक १५, १८ तथा यजुर्वेद भाष्य अंक १५ (संवत् १९३७) में प्रकाशित एतद्विषयक विज्ञापन विशेष-रूपेण द्रष्टव्य होने से हम नीचे उद्धृत करते हैं—

“विदित हो कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे तो वेदों का अत्युत्तम प्राचीन ऋषि मुनियों के प्रमाण सहित संस्कृत और आर्यभाषा में भाष्य कर ही रहे हैं, परन्तु अब उन्होंने ने आर्यसमाजों के कहने से व्याकरण आदि वेदों के अङ्ग और उपाङ्ग आदि को भी अति सुलभ आर्यभाषा में प्रकाश करने का प्रारम्भ किया है कि जिन से मनुष्य शीघ्र संस्कृत विद्या को पढ़ कर मनुष्यजन्म के समग्र आनन्द को भोगें ॥

“अभी तक निम्नलिखित पुस्तक पठन पाठन विषय सुगम आर्यभाषा में प्राचीन रीति से बनाये गये हैं और क्रम से इस वैदिक यन्त्रालय में छपते जाते हैं—

१. वर्णोच्चारणशिखा २. संस्कृतवाक्यप्रबोधः ३. व्यवहारभानुः ॥

“नीचे के सन्धिविषय आदि ग्यारह ११ पुस्तक अष्टाध्यायी के एक २ विषय पर भाषा में व्याख्या सहित छप रहे हैं—

४. सन्धिविषयः..... १४. गणपाठः ।

१५. अष्टाध्यायी—यह पुस्तक अलग भी संस्कृतवृत्ति सहित छपेगा।”

इस विज्ञापन से सिद्ध है कि यदि गणपाठ नामक आर्यभाषा के अन्तिम

१. संवत् १९३७ में छपे सत्यधर्मविचार नामक ग्रन्थ में भी यह विज्ञप्ति छपी है ॥

व्याकरण ग्रन्थ के संवत् १९४० श्रावण कृष्णा चतुर्दशी में मुद्रण के पश्चात् ही संवत् १९४० कार्तिक अमावास्या को महर्षि का स्वर्गवास न होता, तो गणपाठ के अनन्तर ही क्रमप्राप्त अष्टाध्यायीभाष्य का प्रकाशन महर्षि स्वयं आरम्भ करते। महर्षि के स्वर्गवास के पश्चात् वैदिक यन्त्रालय के संचालकों ने इस को वर्षों तक छापने का यत्न किया, किन्तु सफल न हुए। जिस कारण से संवत् १९३५ और संवत् १९३६ में महर्षि दयानन्द सरस्वती इस को प्रकाशित करने में असमर्थ रहे; वही कारण दूसरी बार पुनः उपस्थित हुआ। शिवदयाल सिंह प्रबन्धकर्त्ता 'वैदिक यन्त्रालय प्रयाग' ने संवत् १९४६ मास वैशाख शुक्ल पक्ष में प्रकाशित ऋग्वेदभाष्य अङ्क ११४, ११५ में निम्नलिखित विज्ञापन दिया—

“सब आर्य सज्जन महाशयों को विदित हो कि श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज कृत अष्टाध्यायी की टीका धरी हुई है। इसलिये मेरा विचार है कि यजुर्वेद समाप्त होने पर अष्टाध्यायी संस्कृत और भाषा टीका सहित मासिक छपाई जावे। ... सो २०० दो सौ ग्राहक हो जाने पर छपने का प्रारम्भ होगा। वर्ष भर में छः अंक ग्राहकों के पास पहुंचा करेंगे ॥

“... कई एक महाशय गत मास में ग्राहक हो गये हैं, परन्तु संख्या अभी २०० की पूरी नहीं हुई है ॥

“यजुर्वेदभाष्य के २ अङ्क छपने और रह गये हैं। जौलाई के अन्त में जो अंक निकलेगा, वह यजुर्वेद के समाप्ति का होगा। तत्पश्चात् अष्टाध्यायी आरम्भ होगी। जिन महाशयों को ग्राहक होना स्वीकार हो, वे मुझे शीघ्र ही सूचित करें ॥”

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने तो १००० ग्राहकों के मिलने पर ग्रन्थमुद्रण का विचार किया था, किन्तु शिवदयाल सिंह ने केवल २०० ग्राहक मिलने पर ही अष्टाध्यायीभाष्य छापने का निश्चय किया था। जब २०० ग्राहक भी शिवदयाल सिंह को न मिले, तब विवश होकर उन को मौन करना पड़ा। समय अपनी शीघ्र गति से व्यतीत होता चला गया, और आर्य विद्वान् इस भाष्य की सत्ता तक को भूल गये। आर्य जगत् के किसी २ कोण से कभी २ ध्वनि उठती थी और शान्त हो जाती थी। पं० लेखराम तथा मास्टर आत्मारामजी ने भी महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवनचरित्र में आवाज उठाई—

१. वैदिक यन्त्रालय चैत्र शु० १ सं० १९३८ में तत्पश्चात् १ अप्रैल १८९१ में अजमेर काशी से प्रयाग लाया जा चुका था और लाया गया ॥

“एक और अपूर्व ग्रन्थ महर्षि का रचा हुआ यन्त्रालय में पड़ा है, जो कि अभी तक नहीं छपा।

“महर्षिकृत अष्टाध्यायी की इस टीका की जितनी जरूरत है, उस को दुनिया जानती है। ऐसे अपूर्व और परमे उपयोगी ग्रन्थ का आज तक न छपना हम को विस्मित कर रहा है।” (पृष्ठ १३१)

इस का भी परिणाम कुछ न निकला। सन् १९१७ में कुछ आर्य पुरुषों ने विशेष यत्न किया और श्रीमती परोपकारिणी सभा का इस ओर ध्यान आकर्षित किया। श्रीमती परोपकारिणी सभा ने अपना कर्त्तव्य अनुभव करके २९ दिसम्बर सन् १९१८ को श्रीयुत रामदेवजी को अष्टाध्यायीभाष्य सुपुर्द किया और उन से प्रार्थना की कि लुप्त भाग को पूर्ण करा दें^१। तत्पश्चात् ११ नवम्बर १९२० को भाष्य का सम्पादन कार्य श्रीयुत भगवद्दत्तजी को सौंपा गया^२। उन के सम्पादकत्व में चार २ फॉर्म के दो अङ्क प्रकाशित हुए। श्रीमदयानन्द कॉलेज अनुसन्धान विभाग का अधिक कार्यभार होने से तथा वैदिक यन्त्रालय अजमेर से ६०० मील की दूरी पर लाहौर में रहने से वे सम्पादन कार्य अधिक दिनों तक न कर सके। जो दो अङ्क छपे भी थे, श्रीयुत भगवद्दत्तजी उन से अत्यन्त असन्तुष्ट थे, क्योंकि उन के पास प्रूफ न पहुँचने के कारण स्थान २ पर पाठ अशुद्ध छपे थे और कहीं २ एक २ दो २ शब्द तथा पंक्तियों तक छूट गई थीं ॥

लगभग पांच वर्ष तक मुद्रण बन्द रहा। तदनन्तर श्रीमती परोपकारिणी सभा ने मुझे यह शुभ अवसर दिया कि जो ग्रन्थ वर्षों से अप्रकाशित पड़ा था, उस का मैं सम्पादन करूँ और महर्षि के प्रति प्रत्येक आर्य का जो ऋण है, उस से कुछ अंश में उन्मूलन हो जाऊँ ॥

अष्टाध्यायीभाष्य की हस्तलिखित प्रति

जिस हस्तलिखित प्रति के आधार पर दो अध्यायों का यह प्रथम भाग हम ने सम्पादित किया है, उस से पाठकों का परिचय कराना आवश्यक है—

पतले श्वेत विलायती ८" × १२" परिमाण के कागज़ पर ३९८ पृष्ठों में दोनों अध्याय समाप्त हुए हैं। इतना अधिक समय व्यतीत होने के कारण कागज़

१. देखो “कार्यवाही श्रीमती परोपकारिणी सभा सन् १९१८” प्रस्ताव १४ ॥

२. देखो “कार्यवाही श्रीमती परोपकारिणी सभा सन् १९२०” प्रस्ताव ६ ॥

कड़कीला और किञ्चिन्मात्र मटियाले रंग का हो गया है। आरम्भ के पृष्ठों में दो चार स्थानों पर कुछ अक्षर टूट भी गये हैं। तथा १२०-२२४ पृष्ठ के बीच में से १२३ पृष्ठ सर्वथा लुप्त हैं। जो हानि इन पृष्ठों (अर्थात् प्रथमाध्याय के तीसरे और चौथे पाद के भाग्य) के लुप्त हो जाने से हुई है, वह आर्य जनता कभी पूरी न कर सकेगी। हम ने इन पृष्ठों को ढूँढ निकालने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु कृतकार्य न हुए। अतएव लुप्त भाग के स्थान में सूत्रपाठ मात्र प्रकाशित किया है। विद्यार्थियों के पठनपाठन में विच्छेद न हो इसलिये हमारा विचार है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती की शैली का यथामति अनुकरण करके हम परिशिष्टरूप में तृतीय और चतुर्थपाद का भाग्य शीघ्र ही प्रकाशित करें ॥

पुस्तक के आदि में पाठक अष्टाध्यायीभाष्य के २५ वें पृष्ठ की प्रतिलिपि को देख कर हस्तलेख के सौन्दर्य, स्पष्टता, सुपाठ्यता तथा पारिभाषिक के हस्तलेख के साथ समानता का स्वयं परीक्षण कर सकेंगे। सूत्र और संस्कृत भाग मोटी कलम से तथा आर्यभाषा पतली कलम से लिखी गई है। सर्वत्र देशी काली स्याही का प्रयोग किया गया है। ११६ पृष्ठ (अर्थात् सूत्र १।२।७१) तक पंक्तियों के ऊपर और प्रान्तों पर लाल स्याही से संशोधन भी किया हुआ है। आरम्भ से अन्त तक समस्त पृष्ठ एक ही लेखक के लिखे हुए हैं, और यह लेखक वही है कि जिस ने पारिभाषिक लिखा था ॥

प्रत्येक पत्र दोनों ओर से लिखा हुआ है और प्रत्येक पृष्ठ में साधारणतः २६ पंक्तियाँ हैं ॥

सम्पादन

यद्यपि हस्तलिखित प्रति प्रायः शुद्ध है, तथापि लेखक प्रमादों से सर्वथा रहित नहीं। जिन किन्हीं भी महानुभावों को प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ देखने का अवसर प्राप्त हुआ होगा, वे सब हमारे साक्षी होंगे कि अच्छे से अच्छे तथा शुद्ध से शुद्ध लिखे हुए ग्रन्थों में भी लेखक दोष रह ही जाते हैं। सो केवल अष्टाध्यायीभाष्य में ही नहीं, किन्तु महर्षि के समस्त ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों में साधारण से साधारण तथा भयंकर से भयंकर लेखक दोष विद्यमान हैं ॥

साधारण दोषोद्धार तथा संशोधन करना तो हमारा कर्तव्य था, किन्तु किसी स्थल पर विशेष परिवर्तन करना हमारे अधिकार से बाहर था। इसीलिये जिस किसी स्थल पर हम ने किञ्चिन्मात्र परिवर्तन किया है, वहां टिप्पणी में मूल प्रति का पाठ दर्शा दिया है।^१

वर्णोच्चारणशिक्षा की भूमिका में दिये हुए निर्देश के आधार पर ग्रन्थ को अधिक सुबोध बनाने के लिये सूत्र, संस्कृत, आर्यभषा और टिप्पणों में भिन्न भिन्न टाइप प्रत्युक्त किये गये हैं ॥

संस्कृत भाग में उद्धृत मन्त्र, सूत्र, वार्तिक आदि अन्य ग्रन्थों के अवतरण तथा कुछ देश और व्यक्तिविशेषों के नाम मोटे टाइप में दिये गये हैं। महाभाष्य के वचनों को यथासम्भव शेष संस्कृत भाग से पृथक् करके मुद्रित किया गया है ॥

महाभाष्य के वचनों में अङ्गत्तर्गत मन्त्र, सूत्र, वार्तिक, (पारिभाषिक में सङ्गृहीत) परिभाषाएं तथा अन्य ग्रन्थों के वचन पतले तिरछे टाइप में प्रकाशित किये हैं। पृष्ठ १४२, १५८, १८६, २००, २४० इत्यादि में “वा०—” अर्थात् वार्तिक-शब्द पूर्व लिखे हुए होने पर भी हम ने “वार्तिक” को पतले तिरछे टाइप में न छाप कर मोटे टाइप में ही प्रकाशित किया है। कारण यह है कि ये वास्तव में वार्तिक नहीं, किन्तु पतञ्जलिकृत वार्तिक-व्याख्यान हैं। महाभाष्यकार वार्तिक की व्याख्या करते समय प्रायः वार्तिक के ही शब्दों को दोहरा कर “इति वाच्यं” अथवा “इति वक्तव्यम्” ये शब्द उस के आगे जोड़ देते हैं। वार्तिक और वार्तिकव्याख्यान में इतनी समानता को देख कर लेखकों ने इस का अनुचित लाभ उठाया और कई स्थानों पर वार्तिक और वार्तिकव्याख्यान के स्थान में केवल मात्र वार्तिकव्याख्यान देना पर्याप्त समझा^१। इसी लेखक दोष के कारण काशिका, सिद्धान्तकौमुदी और अन्य

१. कुछ ने तो वार्तिक और वार्तिकव्याख्यान में समान भाग को एक बार लिख कर उसके आगे दो का अंक लिख दिया, कुछ ने अंक दो की अपेक्षा विरामदण्ड का प्रयोग किया, कुछ ने विरामदण्ड अथवा अंक दो इन में से किसी का

भी प्रयोग न करके केवलमात्र अपेक्षित दण्ड अथवा अंक दो के पूर्व तथा पर शब्दों में सन्धि नहीं की और शेष ने वार्तिकव्याख्यान के पूर्ववार्तिक की सत्ता का कोई भी चिह्न देना आवश्यक नहीं समझा ॥

ग्रन्थों में वार्तिकों के स्थान में पदे २ वार्तिकव्याख्यान दिये गये हैं । महर्षि दयानन्द सरस्वती को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ा और जिस स्थल पर उन को अपनी महाभाष्य की प्रति में धार्तिक न मिला, वहां उस के स्थान में उन को वार्तिकव्याख्यान ही देना पड़ा ॥

आर्यभाषा में सामान्यतः समस्त संस्कृत पद तथा कुछ एक जयादित्यादि प्राचीन ग्रन्थकारों के नाम तथा विशेषण मोटे अक्षरों में दिये गये हैं ॥

ग्रन्थ को विशेष रूप से उपयोगी बनाने के लिये हम ने संस्कृत भाग पर संस्कृत में तथा आर्यभाषा भाग पर आर्यभाषा में विविध प्रकार के टिप्पण दिये हैं । इन का विवरण संक्षेप से इस प्रकार है—

(१) यथासम्भव समस्त उद्धृत मन्त्रों, सूत्रों और महाभाष्यादि अन्य ग्रन्थों के वचनों के पते दिये गये हैं । तथा जहां मूल में किसी वस्तु का निर्देशमात्र था, किन्तु अवतरण नहीं दिया गया था, तहां टिप्पण में वह अवतरण दे दिया गया है । तद्यथा—“न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः ॥” (१ । २ । ३७) सूत्र के व्याख्यान में शतपथ ब्राह्मण का अवतरण न दे कर केवल काण्ड प्रपाठकादि का पता दिया है । इस पते के निर्देश से शतपथ के मूल वचन की आकांक्षा और भी बढ़ गई है । टिप्पण में हम ने इस आकांक्षा को पूर्ण कर दिया है । स्वरविषय होने से ब्राह्मणपाठ सस्वर दिया है ॥

(२) उद्धृत महाभाष्य वचनों में जहां २ विशेष पाठान्तर हैं, वे सब टिप्पणों में दे दिये गये हैं । इन पाठान्तरों को ध्यान से पढ़ कर पाठकों को निश्चय हो जायगा कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जो पाठ गुरुपरम्परा से सीखे थे, वे प्रायः मुद्रित ग्रन्थों से बहुत उत्कृष्ट थे । इस का एक उज्ज्वल उदाहरण देते हैं । “न वेति विभाषा ॥” (१ । १ । ४६) सूत्र पर महर्षि ने महाभाष्य की यह पंक्ति दी है—

“आचार्यः खल्वपि सञ्ज्ञाभारभमाणो भूयिष्ठमन्यैरेव शब्दैरेतमर्थं सम्प्रत्याययति—बहु-लम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषामिति ॥”

मुद्रित महाभाष्य के ग्रन्थों में “भूयिष्ठमन्यैरेव” के स्थान में “भूयिष्ठ-

मन्यैरपि” यह पाठ है। इस पाठ को स्वीकार करते हुए उपर्युक्त पंक्ति का भावार्थ इस प्रकार होगा—“आचार्य पाणिनि अधिकतम सूत्रों में विकल्प अर्थ में विभाषा-शब्द का प्रयोग न करके बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषाम् इन शब्दों का भी प्रयोग करते हैं।” वाक्य के पूर्वार्द्ध में निषेधार्थक न-शब्द का प्रयोग करके उत्तरार्द्ध में समुच्चयार्थक अपि(=भी)-शब्द का प्रयोग निरर्थक ही नहीं, किन्तु अर्थस्पष्टता का बाधक है। निषेधार्थक न-शब्द के उत्तर अवधारणार्थक एव(=ही)-शब्द का प्रयोग होना चाहिये। सो महर्षि दयानन्द सरस्वती अपि के स्थान में एव पढ़ते हैं। अर्थात् महर्षि के अनुसार पतञ्जलि मुनि का भावार्थ यह है—“आचार्य पाणिनि अधिकतम सूत्रों में विकल्प अर्थ में विभाषा-शब्द का प्रयोग न करके बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषाम् इन शब्दों का ही प्रयोग करते हैं।” इस भावार्थ का प्रबल पोषण अष्टाध्यायी के सूत्रों में विद्यमान है—विभाषा-शब्द^१ केवल लगभग ११० सूत्रों में, परन्तु बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा वा, एकेषाम्, ये शब्द लगभग १८० सूत्रों में प्रयुक्त हुए हैं ॥

(३) विद्यार्थियों के सुभीते के लिये महर्षि कृत वेदाङ्गप्रकाश नामक प्रक्रियाग्रन्थ में व्याख्यात पाणिनीय सूत्रों का भी प्रायः सर्वत्र पता दे दिया है। सब पते प्रथमावृत्ति के अनुसार दिये गये हैं, क्योंकि बाद की आवृत्तियों में भीमसेन, ज्वालादत्त तथा यज्ञदत्त के बहुत कुछ घटाने बढ़ाने के कारण ग्रन्थ में बहुत अनावश्यक परिवर्तन हुआ है ॥

परिभाषाओं के लिये वेदाङ्गप्रकाश (पारिभाषिक) और परिभाषेन्दु-शेखर दोनों के पते दिये हैं ॥

(४) ब्राह्मणों (पृ० ११६...), शाङ्ख्यायन और कात्यायन श्रौतसूत्रों (पृ० ११४, १२२...), शौनक, कात्यायन, तैत्तिरीय, साम और अथर्व प्रातिशाख्यों तथा चतुरध्यायिका प्रभृति ग्रन्थों से स्वर, सन्धि आदि विषयक पाणिनीय सूत्रों के साथ समानार्थक वचनों को टिप्पणों में संग्रह किया है। आशा है कि व्याकरण में और विशेषकर पाणिनि से प्राचीन व्याकरण में अनुसन्धान करने वाले विद्वान् इस से लाभ उठाएंगे ॥

१. विभाषित-शब्द की गणना भी हमने विभाषा-शब्द में की है ॥

(५) सूत्रों अथवा भाष्य में जो प्राचीन आचार्यों तथा अज्ञातप्राय देश और नगरादिकों के नाम आये हैं, उन में से बहुतों के विषय में हम ने वेद की शाखाओं, ब्राह्मणों, उपनिषदों, सूत्र ग्रन्थों, रामायण, महाभारत, पुराणों, बृहत्संहिता, राजतरङ्गिणी, कथासरित्सागर, तथा फ़ाहियान और ह्यूनत्सांग प्रभृति चीनी यात्रियों के यात्राविवरणों आदि लगभग दो सौ देशी और विदेशी प्राचीन ग्रन्थों तथा शिलालेखों और ताम्रपत्रों से आवश्यक और परम उपयोगी अवतरण दिये हैं ॥

पृष्ठ ८६ पर पुष्यमित्र तथा पुष्पमित्र इन दोनों में से शुद्ध पाठ का निर्णय करने के लिये हम ने २१०० वर्ष पुराने शिलालेख की प्रतिलिपि दी है। यह लेख स्वयं महाराज पुष्यमित्र के किसी वंशज का लिखाया हुआ है। ब्राह्मीलिपि से परिचित विद्वान् देखेंगे कि ष-अक्षर के नीचे य बिल्कुल स्पष्ट खुदा है ॥

(६) जिन सूत्रों अथवा शब्दविशेषों के व्याख्यान में अन्य वैयाकरण महर्षि से सहमत नहीं, वहां प्रायः उन वैयाकरणों का मत टिप्पण में दर्शा दिया है ॥

(७) जहां महर्षि दयानन्द सरस्वती अन्य वैयाकरणों के मत का खण्डन करते हैं, वहां हम ने महर्षि के पक्ष की सत्यता दर्शाने के लिये प्राचीन ग्रन्थों से प्रबल प्रमाण उद्धृत किये हैं ॥

(८) पाणिनि मुनि के सूत्रपाठ में अब तक बहुत ही कम परिवर्तन हुआ है, किन्तु गणपाठ में समय २ पर इतना अधिक परिवर्तन होता रहा है कि आज गणपाठ के कोई दो हस्तलिखित ग्रन्थ नहीं कि जिन में गणान्तर्गत शब्दों के पाठ, संख्या अथवा क्रम कुछ भी सर्वथा समान हों। कई गण तो आरम्भ से ही आकृतिगण थे, सो उन में तदनुकूल शब्दों को जोड़ देना साधारण बात थी। अन्यत्र भी सूत्रों से यथेष्ट सिद्धि होते न देख कर बहुत से शब्द गणों में जोड़े गये। यदि वैदिक निघण्टुकार महर्षि यास्क के समान पाणिनि मुनि भी प्रत्येक गण के अन्त में गणान्तर्गत शब्दों की संख्या का उल्लेख करते, तो इतनी दुर्व्यवस्था न होती। कोई ही गण बचा होगा कि जिस के विषय में निश्चय रूप से कहा जा सके कि पाणिनि के समय से अब तक इस में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। जैसे—सर्वादि ॥

चन्द्रगोमिन् ने पाणिनीय सूत्रपाठ की नकल करके अपना सूत्रपाठ रचा और स्वयं ही वृत्ति लिख कर उस में कुछ गणों का भी उल्लेख किया। उपलब्ध गणपाठ कोशों में यह सब से प्राचीन कोश समझना चाहिये। एक दो स्थानों में चन्द्रगोमिन् ने गणान्तर्गत शब्दों की संख्या भी दी है। जैसे—“न गोपवनादिभ्योऽष्टभ्यः ॥” (२।४।२१६) चन्द्रगोमिन् के सूत्र का अनुकरण करके काशिकाकार ने (२।४।६७) भी गण के अन्त में लिखा—“एतावन्त एवाष्टौ गोपवनादयः ।”

चन्द्रगोमिन् के उत्तरकालीन जयादित्य ने प्रथम बार सब गणों का अपनी वृत्ति में समावेश किया। तत्पश्चात् कतिपय गणों को रामचन्द्र ने प्रक्रिया-कौमुदी' में और शेष को प्रक्रियाकौमुदी के टीकाकार विट्टलाचार्य ने उद्धृत किया। इन के पश्चात् भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में कुछ गण दिये और कुछ छोड़ दिये ॥

संवत् १९४३ में जर्मन देशवासी ओटो बोटलिङ्क ने बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर गणपाठ का अत्यन्त सुन्दर तथा प्रामाणिक संस्करण तैयार किया ॥

पूर्वोक्त छात्रों विद्वान् अपने २ समय और देश के धुरन्धर अद्वितीय पण्डित हुए हैं। सो इन के ग्रन्थों के आधार पर हम ने महर्षि दयानन्द सरस्वती पठित गणपाठों के नीचे टिप्पणों में पाठान्तर और शब्दक्रमभेदों को दर्शाया है। इस के अतिरिक्त कठिन, अप्रसिद्ध और वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति तथा उन के अर्थ और उदाहरण भी दिये हैं। लौकिक शब्दों के व्युत्पत्ति और अर्थ देने में हम को वर्धमान कविकृत गणरत्नमहोदधि (संवत् ११९७) से विशेष सहायता मिली है। व्युत्पत्त्यादि के अतिरिक्त पाणिनि, चन्द्र, शाकटायन, वामन, भोज प्रभृति पूर्वकालीन वैयाकरणों के परस्पर पाठान्तर उद्धृत करके वर्धमान कवि ने विद्वानों का बड़ा उपकार किया है। जैसे चूडारक-शब्द पर—“‘चूडारक’ इति भोजः, ‘मटारक’ इति वामनः ।” (१।२९) आरद्वायनिचान्धनि-शब्द पर—“कश्चिद् ‘आरद्वायनिबन्धनि’ इत्याह ।

१. प्रक्रियाकौमुदी का केवल प्रथम भाग मुद्रित भाग अब तक मुद्रित नहीं हो सका। अतएव हुआ है। सम्पादक की मृत्यु हो जाने से द्वितीय हम तदन्तर्गत गणपाठों से लाभ न उठा सके ॥

पाणिनिस्तु 'आरुद्रायनिबन्धकी' इत्याह ।" (२ । ८३) इत्यादि । पाठक इन सब पाठान्तरों को यथास्थान हमारे टिप्पणों में पायेंगे ॥

विद्यार्थियों के पठनपाठन की सुगमता के लिये श्रीवर्धमान ने गणशब्दों को पद्यों में संगृहीत करके गद्य में उन की व्याख्या की है । पद्य बनाते समय शब्दों के प्राचीन क्रम का ध्यान नहीं रक्खा गया और न ही सम्भवतः रक्खा जा सकता था । तथा भिन्न २ कई वैयाकरणों के गणपाठों का इस में समावेश किया गया है । इसीलिये जिस प्रकार चान्द्रवृत्ति में गणशब्दों की संख्या अति न्यून है, उसी प्रकार गणरत्नमहोदधि में अत्यधिक है । टिप्पणों से यह बात पाठकों को भली भाँति विदित हो जायगी ॥

गणान्तर्गत वैदिक शब्दों के व्याख्यान ब्राह्मण, निरुक्त, निघण्टु, भगवद्गयानन्द सरस्वती कृत वेदभाष्य, उणादिकोष, अव्ययार्थ प्रथृति ग्रन्थों के अनुकूल किये हैं । यथावश्यक संहिताओं के उदाहरण भी दिये हैं । जैसे चषाल-शब्द का साधारण यूपकङ्कण अर्थ दे कर मुखार्थवाचक चषाल-शब्द का उदाहरण मैत्रायणीसंहिता (१ । ६ । ३) से दिया है—“ यावद्वै वराहस्य चषालं, तावतीयमग्र आसीत् ।' वराहस्य मुखमित्यर्थः ॥” गणों में अपठित वैदिक शब्द भी प्रकरण-वशा कहीं २ टिप्पणों में दर्शाये हैं । जैसे जाया और पति का द्वन्द्व समास किये हुए जायापती, जम्पती और दम्पती, केवल ये तीन शब्द गणपाठ में पढ़े हैं । हम ने काठकसंहिता में (६ । ४) प्रयुक्त चौथे जायम्पती-शब्द का भी उल्लेख कर दिया है—“अग्निहोत्रे वै जायम्पती' व्यभिचरेते ।”


(६) वैदिक सूत्रों पर विशेष प्रकाश डाला गया है । जैसे “उच्चैरुदात्तः॥” आदि (१ । २ । २६, ३०, ३१) सूत्रों की व्याख्या में महर्षि ने केवल ऋग्वेद और तदनुसारी यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण के स्वरचिह्नों का निर्देश किया है, किन्तु सामवेद, मैत्रायणी और काठक संहिता तथा शतपथ और तदनुसारी ताण्ड्य, कालवविन्, भाल्लविन् तथा शा-ट्यायनिन् ब्राह्मणों के स्वरचिह्नों का कोई उल्लेख नहीं किया । प्रायः आधुनिक वैयाकरण वैदिक विषय का ध्यान से पठन पाठन नहीं करते । अत एव वेद, शाखा और ब्राह्मणों के स्वरचिह्नों तक का ज्ञान उन को नहीं होता कि किस

१. मैत्रायणीय संहिता में (१ । ८ । ४) इसी वाक्य में जायम्पती के स्थान में दम्पती पढ़ा है ॥

वेद, शाखा और ब्राह्मण में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित पर क्या २ चिह्न लगता है। सामवेद में अक्षरों के ऊपर ^{उक्}, ^{रज} आदि तथा काठक संहिता और माध्यन्दिन शतपथ आदि में अक्षरों के नीचे _१, ..., = इत्यादि चिह्नों को देख कर वैयाकरण पण्डित और उन के विद्यार्थी विस्मित होते हैं कि न मालूम ये क्या हैं। सो इस कमी को यथावकाश द्विप्पण में पूरा किया गया है। नये स्वरचिह्न बनवाने में वैदिक-यन्त्रालय के अध्यक्ष ने जो हमारा सहयोग दिया है, उस के लिये पाठकवर्ग यन्त्रालयाध्यक्ष को अत्यन्त धन्यवाद देंगे, क्योंकि ये सूक्ष्म टाइप के स्वरचिह्न योरोप और आर्यावर्त्त में कहीं भी उपलब्ध नहीं। काण्वीय शतपथ का माध्यन्दिन शतपथ से जो स्वरविषय में भेद है^१, स्थानाभाव से हम उस का निर्देश न कर सके ॥

सम्पादन कार्य के विवरण के पश्चात् उपसंहार में हम इतना विशेष कहेंगे कि महर्षि ने इस भाष्य में अनेकानेक विशेषताएं की हैं। जैसे स्थान २ पर अनार्थ वैयाकरणों के भ्रमों का सप्रमाण निराकरण किया है, तथा महाभाष्य के शतशः उद्धरण दे कर ग्रन्थ को बालोपयोगी महाभाष्य प्रवेशिका का रूप दिया है। इ छोटी सी भूमिका में हम इन सब का उल्लेख न कर सके। तथा हमें पूर्ण आशा है कि आर्ष ग्रन्थों के प्रेमी महर्षि के महत्त्व पूर्ण भाष्य को पठन पाठन का अंग बना कर वेद वेदांग को हृदयंगम करने को यत्न करेंगे ॥

रघुवीर

१. जैसे—यदि चन्द्रबिन्दु से पूर्व स्वर उदात्त हो, दोनों के लिये 'ता' हासिरभिदध्यौ मिथुन्येना  त्यामिति ।" (१।२।४।११).

अष्टाध्यायीभाष्यस्थ संकेतसूची

अ०	अव्यय
उ०	उत्तर
का०	कारिका
प०	परिभाषा

प्र०	प्रश्न
मा०	महाभाष्य
वा०	वार्तिक
विधिलि०	प्र० विधिलिङि प्रथमपुरुषः

टिप्पणस्थ संकेतसूची

अ०	अथर्ववेद
अदा०	अदादिगण
अ० । पा० । आ० ।	} अभ्यास । पाद । आह्निक ।
अ० प्रा०	
अष्टा०	अष्टाध्यायी
आ०	आख्यातेक
उ०, उणा०	उणादिकोटी
ऊ०	सकामाहता
ऊ० प्रा०	अथर्वप्रतिशाख्य
ऐ० ब्रा०	ऐतरेयब्राह्मण
का०	कारिका
कौ०	कौमुदी
काश०	काश्यातसूत्र
काश० प्रा०	काश्यातसूत्र ग्रन्थ
काश० भा०	काश्यातसूत्रादिसंज्ञा
गो० प्रा०	गोपथब्राह्मण
गो० ब्रा०	गोपथब्राह्मण
वा० श०	वाजसनेयिब्राह्मण
शु०	शुक्राचार्य
शु० उ०	शुक्राचार्य
शु०	शुक्राचार्य
जै० उ०	जैमिनीयसूत्र
जै०	जैमिनीयसूत्र
दि०	टिप्पण
तु०	तुदादिगण
तै०	तैत्तिरीय
तै० प्रा०	तैत्तिरीय
तै० प्रा०	तैत्तिरीय
दिवा०	दिवा

धा०	धातुपाठ
नपुं०	नपुंसकलिंग
ना०	नाम्निक
नि०	निरुक्त
प०	परिभाषेन्दुशेखर
पं०	पंक्ति
पा०	पारिभाषिक
पृ०	पृष्ठ
प्र० कौ०	प्रक्रियाकौमुदी
वृ० उ०	वृहदारण्यकोपनिषद्
भ्वा०	भ्वादिगण
म० भा०	महाभारत
मै०	मैत्रायणीयसंहिता
रु०	रुधादिगण
व०	वर्णोच्चारणशिखा
वा०	वाजसनेयिसंहिता
वा० प्रा०	वाजसनेयिप्रतिशाख्य
श० ब्रा०	शतपथब्राह्मण
शा०	शाकटायन (जैन)
श्लो०	श्लोक
स०	सन्धिविषय
सा०	सामवेद
सा० पृ०...	सामासिक पृष्ठ...
सि० कौ०	सिद्धान्तकौमुदी
सू०	सूत्र
सौ०	सौवर
स्त्री०	स्त्रीलिङ्ग
स्त्री०	स्त्रीलिङ्ग



अथ शब्दानुशासनीभाष्यम्

अथ शब्दानुशासनम् ॥ १ ॥

‘अथ’ इत्यन्यथाशब्दः । ‘शब्दानुशासनम्’ प्रथमैकवचनम् । शब्दानामनुशासनं = शब्दानुशासनम् । अथेत आरम्भ शब्दानामनुशासनं करिष्यामीत्याचार्याणां प्रतिज्ञा । अथ शब्दाः सेध्याः, सम्बन्धनीत्याः, प्रयोक्तव्याश्चेति ॥

इदं सूत्रं पाणिनीयम् । प्राचीनलिखितपुस्तकेषु आदाविदमेवास्ति । दृश्यन्ते च सर्वेष्वर्षेषु ग्रन्थेष्वेव प्रतिज्ञासूत्राणीदृशानि । १ ॥

इस सूत्र में ‘अथ’ शब्द अधिकार के लिये है । ‘शब्दानुशासनम्’ यह अधिकार

१. अत्र मेधातिथिमुपमाहः । प्रथमश्लोकव्याख्यान एनेमेव प्रमादिराव—“ योरुपेयैष्वपि ग्रन्थेषु नैव सर्वेषु प्रयोजनाभिवानमाद्रियते, तथा हि भगवान् पाणिनिस्तु नैव प्रयोधनं ‘अथ शब्दानुशासनम् ॥’ इति सूत्रसन्दर्भमारभते ॥ ”

सृष्टिधरश्चात्र पूर्वोक्तमेव वक्तुं भाषावृत्तेष्टीकायां भाषावृत्त्यर्थविवृत्याभिवानमाह—“ व्याकरणशास्त्रमारभमाणो भगवान् पाणिनिस्तु नैव प्रयोजनाभिवानमाद्रियते, तथा हि भगवान् पाणिनिस्तु नैव प्रयोधनं ‘अथ शब्दानुशासनम् ॥’ इति ॥ ”

अतः सिद्धं यत् पुरातनानां कथयादानामाधुनिकानां च शिवदत्तादीनां प्रलापमानवमतद यत् कथयन्ति भाष्यकारस्यैव मुक्तिर्न सूत्रकारस्येति ॥

२. भगवद्भयानन्दसरस्वतीरुक्तं—“ सङ्ग्रहे प्रामाण्यमष्टाध्याय्यां ‘अथ शब्दानुशासनम् ॥’ इत्यनेनैव ज्ञेयारम्भः कियते । ” इत्यनेनैव

६६२ इति—

‘संवे

प्रावृत्काले शुभे मासि श्रावये नवमीतिथौ ॥ [नि]शानाथे तु लिखितं महाव्याकरणं शुरुम् ॥ ” लवपुरीयश्रीमद्भयानन्दमहाविद्यालयस्यानुसन्धानपुस्तकालयेऽपि वर्तत एकमष्टाध्यायीपुस्तकं यस्मिन्नादाविदमेव सूत्रमस्ति ॥

आपे च १६४४ तमे विक्रमाब्दे जर्मनीदेशे ओटोबोदलिङ्गमहोदयेन सम्पादिताष्टाध्याय्येतेनैव सूत्रेणारभ्यते । युक्तं चैतद्, यतः ‘शब्दानुशासनम्’ इति नामैतदस्याः । यथा पूर्वोद्धृतं सृष्टिधरमतं, तथैव न्यासकारोऽप्यत्र “व्याकरणस्य चेदमन्वर्थं नाम ‘शब्दानुशासनम्’ इति ॥” इति कथयति ॥

भाष्ये तु स्पष्टमेव—“ शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् ॥ ”

३. यथा “ अथ योगानुशासनम् ॥ ” इति योगसूत्रे ॥

अन्यानि प्रमाणवचनानि भगवद्भयानन्दसरस्वतीकृते संत्यर्थप्रकाशे प्रथमसमुल्लासे दृश्यन्ति ॥

है, अर्थात् यहां से लेके शब्दों के सिद्धि, सम्बन्ध और प्रयोग इस प्रकार करने चाहियें। सो इस ग्रन्थ में कहेंगे, यह पाणिनिजी महाराज की प्रतिज्ञा है ॥

‘अथ शब्दाः॥’ यह सूत्र पाणिनिजी का बनाया है, क्योंकि प्राचीन लिखे हुए मुस्तकों में सर्वत्र लिखा है, और आर्ये सब ग्रन्थों में इस प्रकार के प्रतिज्ञासूत्र देखने में आते हैं ॥१॥

अइउण् ॥ २ ॥

‘अ, इ, उ’ इत्येतान् त्रीन् वर्णानुपदिश्यान्ते ‘णकारमितं’ करोति । प्रत्याहारार्थम् वेनाणु-प्रत्याहारसिद्धिः । अणु-प्रदेशानि सूत्राणि ‘उरण रपरः ॥’ इत्यादीनि । अनेन णकारेणाणोवैकः प्रत्याहारो वेद्यः ।

भा०—अकारस्य विवृतोपदेशः आकारग्रहणार्थः^१ ॥

किं प्रयोजनम् । अकारः सर्वर्णग्रहणेनाऽऽकारमपि यथा गृह्णीयात्॥^२

अयमकार इह शास्त्रे विवृत उपदिश्यते, प्रयोगे तु संवृत एव । कथम् । इह शास्त्रादौ संवृतस्य विवृतं प्रतिपीद्य शास्त्रान्ते ‘अ अँ ॥’ इत्यत्र विवृतस्य संवृतं प्रतिपादयति । एवमिकारोकारविषयेऽपि बोध्यम् ॥

शब्दलक्षणमाह—

भा०—श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाश-देशः शब्दः॥^३ २ ॥

‘अ, इ, उ’ इस क्रम से इन तीन वर्णों का उपदेश करके अन्त में णकार हल् पड़ा है । एक अणु-प्रत्याहार की सिद्धि के लिये । अणु-प्रत्याहार के सूत्र ‘उरण रपरः^२ ॥’ इत्यादि जानना चाहिये । इस सूत्र में ‘अ, इ, उ’ इन तीन वर्णों को सब अष्टाध्यायी में दीर्घ और प्लुत के साथ ग्रहण होने के लिये विवृत उपदेश किया है । उच्चारण के लिये तो उन को ह्रस्व ही समझना चाहिये, क्योंकि अष्टाध्यायी की समाप्ति में विवृत के स्थान में ह्रस्व उच्चरण किया है ॥

शब्द उस को कहते हैं कि जो कान से सुनने में आवे, बुद्धि से जिस का अच्छी ग्रहण हो, वाणी से बोलने से जो जाना जाय और आकाश जिसका स्थान है ॥ २ ॥

१. स०—सू० १ ॥

२. १।१।५० ॥

३. वार्तिकमिदम् ॥

४. अ० १।५० १। श्रौ० ३ ॥

५. ८।४।६८ ॥

‘ऋलृक्’ ॥ ३ ॥

‘ऋ, लृ’ इति द्वौ वर्णौपदिश्य ककारमितं करोति । प्रत्याहारत्रयसिद्धयर्थम् । अक् । इक् । उक् ॥ निदर्शनम्—‘अकः सवर्णे दीर्घः’ ॥ ‘इको गुणवृद्धी’ ॥ ‘उगितश्च’ ॥

(प्रश्नः) अकारादयो वर्णा बहुप्रयोजनाः, लृकारस्तु स्वल्पप्रयोजन एव । कथम् । इह शब्दशास्त्रे लृकारः क्लृपिस्थ एक एव । तस्य च ‘पूर्वत्रासिद्धम्’ ॥ इति लत्वमसिद्धम् । तस्यासिद्धत्वाद् ऋकारे सर्वाणि कार्याणि सेत्स्यन्ति । पुनर्लृकारोपदेशः किमर्थः । (उत्तरम्) लत्वविधानात् पराणि यान्यच्कार्याणि तानि यथा स्युः—प्लुति-द्विर्वचन-स्वरिताः । क्लृप्तशिखः । क्लृप्तः । प्रक्लृप्तः ॥

भा०—चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः । जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः ॥

त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः । जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दा इति । न सन्ति यदृच्छाशब्दाः ॥

(प०) प्रकृतिवदनुकरणं भवति ॥

इति किं प्रयोजनम् । द्विः पचन्त्वित्याह । ‘तिङ्ङितिङः’ ॥

इति निघातो यथा स्यात् ॥ ३ ॥

‘ऋ, लृ’ इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में ककार हल् पड़ा है । उस से तीन प्रत्याहार सिद्ध होते हैं । उन के सूत्र ये हैं—‘अकः सवर्णे दीर्घः’ ॥ ‘इको गुणवृद्धी’ ॥ ‘उगितश्च’ ॥

अकारादि वर्णों के उपदेश करने में तो प्रयोजन बहुत हैं । परन्तु लृकार के उपदेश में कम प्रयोजन देखने में आते हैं । (शङ्का) व्याकरणशास्त्र में ‘क्लृप् सामर्थ्ये’ धातु में एक ही जगह लृकार है । उस को लृकार-विधि के असिद्ध होने से लृकार के काम ऋकार से हो सकते हैं । फिर इस सूत्र में लृकार का उपदेश क्यों किया । (समाधान) इस के करने में तीन प्रयोजन हैं । एक तो प्लुतविधान—‘क्लृप्तशिखः’ इस शब्द में स्वर

१. स०—सू० २ ॥

२. ६ । १ । १०१ ॥

३. १ । १ । ३ ॥

४. ४ । १ । ६ ॥ ६ । ३ । ४५ ॥

५. ८ । २ । १ ॥

६. = अच्कार्याणि ॥

७. = वा ॥

८. पा०, प०—सू० ३६ ॥

९. ८ । १ । २८ ॥

१०. अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥

का धर्म जो प्लुत है, सो लृकार में हुआ । दूसरा—‘कृत्प्लु’ यहां स्वर से परे पकार को द्विव हो गया है । तीसरा—‘प्रकृत्प्लु’ यहां लृकार के ऊपर स्वरित हो गया है ॥

शब्द चार प्रकार के होते हैं । एक जातिशब्द—मनुष्य, पशु इत्यादि । दूसरे गुणशब्द—शुक्ल, कृष्ण इत्यादि । तीसरे क्रियाशब्द—भवति, पठति इत्यादि । चौथे यदृच्छाशब्द—लुतक^१ । एक पद में तीन प्रकार के ही शब्द माने हैं । वहां यदृच्छाशब्द का खण्डन है ॥ ३ ॥

एओङ् ॥ ४ ॥

‘ए, ओ’ इत्येतौ द्वौ वर्णौपदिश्य ङकारमितं करोति । एकप्रत्याहारसिद्धयर्थम् । एङ् । निदर्शनम्—‘एङि पररूपम्’ ॥ इति ॥ ४ ॥

‘ए, ओ’ इन दो वर्णों का उपदेश करके ङकार हल् पड़ा है । उस से एक एङ्-प्रत्याहार बनता है । उस का सूत्र—‘एङि पररूपम्’ ॥ यह है ॥ ४ ॥

ऐऔच् ॥ ५ ॥

‘ऐ, औ’ इति द्वौ वर्णौपदिश्य चकारमितं करोति । प्रत्याहारचतुष्टयसिद्धयर्थम् । अच् । इच् । एच् । ऐच् । निदर्शनम्—‘अचः परस्मिन् पूर्वविधौ’ ॥ ‘नादिचि’ ॥ ‘वृद्धिरेचि’ ॥ ‘वृद्धिरादैच्’ ॥

इमानि चत्वारि सन्ध्यक्षरणि । तत्र ये वर्णैकदेशा वर्णान्तरसमानाकृतयस्तेषु लकार्य्यं न भवति । तदर्थं नुङ्विधि-लादेश-विनामेषु ऋकारग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥ नुङ्विधौ—आनृधतुः, आनृधुः । ल-आदेशे—कलृप्तः, कलृप्तवान् । विनामे—कर्त्तृणाम् ॥ ५ ॥

‘ऐ, औ’ इन दो वर्णों का उपदेश करके चकार हल् अन्त में पड़ा है । इस से चार प्रत्याहार बनते हैं । अच् । इच् । एच् । ऐच् । इन के सूत्र ये हैं—‘अचः परस्मिन् पूर्वविधौ’ ॥ ‘नादिचि’ ॥ ‘वृद्धिरेचि’ ॥ ‘वृद्धिरादैच्’ ॥ अर्थात् पूर्वोक्त स्वरों को मिलके बनते हैं । अकार इकार को मिलके ओकार, तथा अकार एकार को मिलके ऐकार, और अकार ओकार को मिलके औकार बनता है । परन्तु इन में अवयवों का काम नहीं ले सकते, अर्थात् एकार से अकार और इकार के भिन्न २ कार्य नहीं हो सकते ।

१. किसी व्यक्ति का नाम ॥

२. स०—सू० ३ ॥

३. ६ । १ । ६४ ॥

४. स०—सू० ४ ॥

५. १ । १ । ५६ ॥

६. ६ । १ । १०४ ॥

७. ६ । १ । ८८ ॥

८. १ । १ । १ ॥

इसी से रेफ का काम ऋकार से नहीं हो सकता । इसलिये तीन जगह ऋकार का ग्रहण करना चाहिये । जुड्-विधि में—‘आनुधतुः’ यहाँ ऋकार के पूर्व जुट् का आगम हो गया । ‘कृतुस्तः’ [यहाँ] ऋकार में रेफ मानके लकारादेश होता है । ‘कर्तृणां’ यहाँ ऋकार से परे नकार को गत्व हो गया । ये कार्य रेफ से परे विधान थे ॥ ५ ॥

हयवरट् ॥ ६ ॥

‘ह य, व, र’ इति चतुरो वर्णानुपदिश्य टकारमितं करोति । एक-प्रत्याहारसिद्धयर्थम् । अट् । निदर्शनम्—शश्छोऽटि^१ ॥’

भा०—सर्वे वर्णाः सकृदुपदिष्टाः, अयं हकारो द्विरुपदिश्यते, पूर्वश्चैव परश्च ॥^३

उभयत्र ग्रहणस्य प्रयोजनम् । पुरुषो हसति, ब्राह्मणो हसतीति हश्-प्र-त्याहारार्थं पूर्वोपदेशः । अधुक्षत्, अलिक्षदिति शल्-प्रत्याहारार्थं परोपदेशः ॥

रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति ॥

इमेऽयोगवाहा न कचिदुपदिश्यन्ते श्रूयन्ते च, तेषां कार्यार्थं उपदेशः कर्तव्यः । के पुनरयोगवाहाः^५ । विसर्जनीय-जि-ह्वामूलीय-उपध्मानीय-अनुस्वार-यमाः^४ । कथं पुनरयोगवा-हाः । यद्युक्ता वहन्ति, अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते ॥

अयोगवाहानामट्सु गत्वम्^६ ॥

उरःकेण । उरःकेण । उरःपेण । उरःपेण । ‘अद्व्यवाये^७’ इति णत्वं सिद्धं भवति ॥ अथ किमर्थमन्तःस्थानामणसूपदेशः क्रियते । इह—सँय्यन्ता, सँवत्सरः, यँल्लोकं, तँल्लोकमिति परसवर्ण-स्यासिद्धत्वादननुस्वारस्यैव द्विर्वचनम् । तत्र परस्य परसवर्णो कृते तस्य यय्-ग्रहणेन ग्रहणात् पूर्वस्यापि परसवर्णो यथा स्यात् ॥

१. स०—सू० ५ ॥

२. न । ४ । ६३ ॥

३. अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥

४. इत्यतां चात्र वर्णोच्चारणशिक्षायां प्रथमप्रक-
रयेऽयोगवाहवर्गः ॥

५. अत्र भाष्यकोशेषु पाठभेदाः—

०नुस्वारानुनासिक्यमाः ।

०नुस्वारानुनासिक्ययमाः ।

०नुस्वारानासिक्ययमाः ॥

६. वाक्तिकमिदम् ॥

७. परीक्ष्यतां न । ४ । २ ।

यदि य-व-लानामण्मु पाठो नो चेत्, तर्हि य-व-लाः सर्वणग्राहका न स्युः । कथम् । 'अणुदित्सवर्णस्य' चाप्रत्ययः^१ ॥' इत्येव सर्वणस्य ग्राहको भवति । य-व-ला उदितोऽपि न सन्ति । य-व-लाः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च भवन्ति । [य-व-लानां निरनु^२] नासिकानां सर्वर्णाः सानुनासिका य-व-ला एव भवन्ति । तेन [अनुस्वारस्य परसवर्णे कैर्त्तव्ये^३] यँल्लोकं, तँल्लोकमित्यादिषु 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः^३ ॥' इति [मूत्रेणानुस्वारस्य स्थाने निरनु^२] नासिकानां य-व-लानां सर्वर्णाः सानुनासिका य-व-ला यथा स्युः ॥ [रेफ-ग्रहणं^४] हश्-प्रत्याहारार्थम् । [ख^५] रौतीत्यादिषूत्वं यथा स्यात् ॥ ६ ॥

'ह, य, व, र' इन चार वर्णों का उपदेश करके अन्त में टकार हल् पड़ा है । इससे एक प्रत्याहार बनता है । अद् । उस का सूत्र—'शश्छोऽटि' ॥^५

इस वर्णसमाम्नाय में हकार दो बार इसलिये पड़ा है कि पहले हकार के पढ़ने से 'पुरुषो हसति' इस प्रयोग में हश्-प्रत्याहार में हकार को मानके 'पुरुषो' ओकारान्त शब्द हो जाता है । अन्त के हकार का प्रयोजन यह है कि 'अधुक्षत्, अलिक्षत्' यह प्रयोग सिद्ध होते हैं ॥

रेफ और स, ष, श, ह के सर्वर्णी नहीं हैं । इस के कहने का प्रयोजन यह है कि परसवर्ण-कार्य-अनुनासिक के स्थान में होता है । सो 'य, व, ल' ये तीनों वर्ण सानुनासिक निरनुनासिक दोनों ही हैं । इससे रेफ और ऊष्म के परे अनुस्वार को कुछ नहीं होता । वेदादि ग्रन्थों में ञ्कार तो कर देते हैं ॥

अयोगवाह उन को कहते हैं कि जिन का कहीं उपदेश तो किया नहीं, और सुनने में आते हैं । वे ये हैं—विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, यम् । इनका उपदेश अद्-प्रत्याहार में करना चाहिये, जिससे कि 'उर्' केण, उर्ःपेण' इत्यादि शब्दों में ञकारादेश हो जावे ।

(प्र०) 'य, र, ल, व' इन अक्षरों का उपदेश अण्-प्रत्याहार में क्यों किया । (उ०) अण्-प्रत्याहार में पढ़ने से 'सँय्यन्ता, सँव्वत्सरः, यँल्लोकम्' में अनुस्वार को परसवर्ण होता है, क्योंकि अण् और उदित् सर्वर्ण के ग्राहक होते हैं । तो यह अण् में न होते, तो उदित् भी नहीं थे, फिर सर्वर्ण के ग्राहक कैसे होते ॥ ६ ॥

लण् ॥ ७ ॥

'ल' इत्येकं वर्णमुपदिश्य णकारमितं करोति । प्रत्याहारत्रयसिद्धयर्थम् ।

१. १ । १ । ६८ ॥

२. कोशेऽप्राचाराणि श्रुतितानि ॥

३. ८ । ४ । ५८ ॥

४. ८ । ४ । ६३ ॥

५. स०—स० ६ ॥

अण् । इण् । यण् । निदर्शनम्—‘अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः’॥ ‘इणो यण्’॥ इण्-ग्रहणानि सूत्राणि सर्वाणि परेण णकारेण । अण्-ग्रहणानि पूर्वेण, ‘अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः’॥ इत्येतं त्रिहाय ॥

अण्-ग्रहणे प्रमाणम् । यदयं ‘उर्ध्वत्’॥ इत्युकारे तपरकरणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः, परेण न पूर्वेण । यदि पूर्वेण स्यात्, ऋकारे तपरकरणमनर्थकं स्यात् । तपरकरणमेतदर्थं, ऋकारः सवर्णात् गृहीयात् । अन्येष्वण्-ग्रहणेषु परेण चेत्, तत्राज्-ग्रहणं कुर्यात् ॥

इण्-ग्रहणेषु प्रमाणम् । ‘अचि शुधातुभ्रुवां खोरियङ्ङुवडौ’॥ यदि इण्-ग्रहणं पूर्वेण स्यात्, तर्हि ‘खोः’ इत्यस्य स्थाने ‘इणः’ इति ब्रूयात् ॥

अत्र काशिकाकृज्जयादित्य-भट्टोजिदीक्षितादीभिरुक्तं—हकारादिष्वकार उच्चारणार्थो नानुबन्धः । लकारे त्वनुनासिकः प्रतिज्ञायते । तेन ‘उरण् रफः’॥ इत्यत्र ‘प्रत्याहारग्रहणाल्लपरत्वमपि भवति’॥ तदिदमवयवम् । कुतः । इह व्याकरणे क्लृपिस्थ एक एव लृकारः । स च रपरकरणेऽसिद्धः । तेन लृकारस्य कार्य्याणि ऋकारे भविष्यन्तीति लपरप्रयोजनाभावात् ॥ ७ ॥

‘ल’ इस एक वर्ण का उपदेश करके णकार अन्त में हल् पड़ा है । उस से तीन प्रत्याहार बनते हैं । अण् । इण् । यण् । इन के सूत्र ये हैं—‘अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः’॥ ‘इणो यण्’॥ वर्णसमाम्नाय में णकार दो बार पड़ा है । इससे अण्- और इण्-प्रत्याहार के ग्रहण में सन्देह होता है कि किस सूत्र में पूर्व णकार से जानें, किस में पर से । अण्-प्रत्याहार का सर्वत्र पूर्व णकार से ग्रहण होता है, क्योंकि जो पर णकार से होता, तो उन सूत्रों में अच्-ग्रहण करते । और ‘अणुदित्’॥ इस सूत्र में पर णकार से अण् का ग्रहण होता है, क्योंकि ‘उर्ध्वत्’॥ इस सूत्र में तपरकरण इसलिये है कि ऋकार सवर्ण का आह्वन न हो । जो पूर्व णकार से ग्रहण होता, तो सवर्ण का ग्रहण होता ही नहीं, फिर तपरकरण किसलिये किया जाय ॥ इण्-प्रत्याहार सर्वत्र पर णकार से ग्रहण होता है, क्योंकि पाणिनि आदि ऋषियों को जहां पूर्व णकार से लेना होता, तो वहां वे लोग ‘अचि शुधातुभ्रुवां खोरियङ्ङुवडौ’॥ इस सूत्र में ‘खोः’ इस के स्थान में ‘इणः’ ऐसा पढ़ते ॥

१. १ । १ । ६८ ॥

२. ६ । ४ । ८१ ॥

३. ७ । ४ । ७ ॥

४. ६ । ४ । ७७ ॥

५. १ । १ । ५० ॥

६. इदं काशिकावचनम् । इदं शान्तेव वचनानि मिताक्षरावृत्ति-प्रक्रियाकौमुदी-सिद्धान्तकौमुदी-शब्द-कौस्तुभादिषु ग्रन्थेषूपलभ्यन्ते ॥

इस सूत्र में काशिका के बनाने वाले परिणत जयादित्य और सिद्धान्तकौमुदी के बनाने वाले भट्टोजिदीक्षितादि ने कहा है कि हकारादि वर्णों में तो अकार उच्चारण करने के लिये है, परन्तु लकार में जो अकार है, वह अनुनासिक होने से इत्-संज्ञक होता है। उस से एक र-प्रत्याहार नया बनता है। उस का काम 'उरस् रपरः' ॥ सूत्र में लपर होने के लिये पड़ता है। अब देखना चाहिये, पाणिनिजी महाराज ने सब प्रत्याहार हल् अक्षरों से बांधे हैं। ये लोग उन से विरुद्ध चलते हैं कि अकार की इत्-संज्ञा करके र-प्रत्याहार बनाते हैं। यह बात महाभाष्य में भी कहीं नहीं। उन के अभिप्राय से इस बात का खण्डन तो होता है। यहां व्याकरण में लृकार एक क्लृप् धातु में है। उस को जो लत्व होता है, सो एक पाद और सात अध्वन्य में आसिद्ध है। उस के आसिद्ध होने से लृकार के काम ऋकार से हो जावेंगे। फिर लृकार का उपदेश.... कायों के लिये किया है। 'उरस् रपरः' ॥ इस में लपर ऋकार से ही हो जायगा। फिर इन लोगों का विरुद्ध चलना, नवीन प्रत्याहार का बनाना, केवल मिथ्या ही है ॥ ७ ॥

जमङणनम् ॥ ८ ॥

'ज, म, ङ, ण, न' इति पञ्च वर्णानुपदिश्य मकारमितं शास्ति । प्रत्याहारत्रयसिद्धयर्थम् । अम् । यम् । ङम् । निदर्शनम्—'पुमः स्वयम्परे' ॥ 'हलो यमां यमि लोपः' ॥ 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' ॥ उणादौ तु 'वमन्ताद्ङः' ॥ इति चतुर्थोऽपि ॥ ८ ॥

'ज, म, ङ, ण, न' इन पांच वर्णों का उपदेश करके अन्त में मकार हल् पड़ा है। इस से तीन प्रत्याहार बनते हैं। अम् । यम् । ङम् । इनके सूत्र—'पुमः स्वयम्परे' ॥ 'हलो यमां यमि लोपः' ॥ 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' ॥ उणादिपाठ में मकार से चौथा प्रत्याहार नम् भी है ॥ ८ ॥

भभञ् ॥ ९ ॥

'भ, भ' इति द्वौ वर्णानुपदिश्य नकारमन्त इतं प्रतिपादयति । एकप्रत्याहारार्थम् । यञ् । निदर्शनम्—'अतो दीर्घो यञि' ॥ ९ ॥

'भ, भ' इन दो वर्णों का उपदेश करके नकार हल् किया है। इस से एक प्रत्याहार बनता है। यञ् । उस का सूत्र—'अतो दीर्घो यञि' ॥ ९ ॥

१. १।१।५० ॥

५. ८।४।६४ ॥

२. यहां से अक्षर वृद्धि है। पं० भगवद्दत्तजी

६. ८।३।३२ ॥

सम्पादित अङ्क में "क्यों किया ? (उत्तर) लपर"

७. ३०—१।११४ ॥

इस प्रकार से है ॥

८. ३०—सू० ८ ॥

३. ३०—सू० ७ ॥

९. ७।३।१०१ ॥

४. ८।३।६ ॥

घढधष् ॥ १० ॥

‘घ, ढ, ध’ इति त्रीन् वर्णानुपदिश्यान्ते षकारमितं करोति । प्रत्याहारद्वयसिद्ध्यर्थम् । भष् । ऋष् । निदर्शनम्—‘एकाचो वशो भष् ऋषन्तस्य स्रध्वोः’ ॥ इति ॥ १० ॥

‘घ, ढ, ध’ इन तीन वर्णों का उपदेश करके अन्त में षकार हल् पड़ा है । इस से दो प्रत्याहार सिद्ध होते हैं । भष् । ऋष् । इन का सूत्र—‘एकाचो वशो भष् ऋषन्तस्य स्रध्वोः’ ॥ १० ॥

जवगडदश् ॥ ११ ॥

‘ज, व, ग, ड, द’ इति पञ्चवर्णानुपदिश्य शकारमन्त इतं शास्ति । षट्-प्रत्याहारसिद्ध्यर्थम् । अश् । हश् । वश् । जश् । ऋश् । बश् । निदर्शनम्—‘भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि’ ॥ ‘हशि च’ ॥ ‘नेद्वशि कृति’ ॥ ‘भृलां जश् ऋशि’ ॥ ‘एकाचो वशो भष् ऋषन्तस्य स्रध्वोः’ ॥ ११ ॥

‘ज, व, ग, ड, द’ इन पांच वर्णों का उपदेश करके अन्त में शकार हल् किया है । इस से छः प्रत्याहार बनते हैं । अश् । हश् । वश् । जश् । ऋश् । बश् । इन के सूत्र—‘भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि’ ॥ ‘हशि च’ ॥ ‘नेद्वशि कृति’ ॥ ‘भृलां जश् ऋशि’ ॥ ‘एकाचो वशो भष् ऋषन्तस्य स्रध्वोः’ ॥ ११ ॥

खफछठथचटतव् ॥ १२ ॥

‘ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त’ इत्यष्टौ वर्णानुपदिश्यान्ते वकारमितं करोति । एकप्रत्याहारसिद्ध्यर्थम् । छव् । निदर्शनम्—‘नश्छव्यप्रशान्’ ॥ १२ ॥

‘ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त’ इन आठ वर्णों का उपदेश करके वकार अन्त में हल् किया है । इस से एक प्रत्याहार बनता है । छव् । ‘नश्छव्यप्रशान्’ ॥ १२ ॥

कपय् ॥ १३ ॥

‘क, प’ इति द्वौ वर्णानुपदिश्य पूर्वाश्चान्ते यकारमितं करोति । तेन प्रत्याहारपञ्चतयसिद्धिः । यय् । मय् । ऋय् । खय् । चय् । [निदर्शनम्—] ‘अनु-

१. स०—सू० ६ ॥

२. ङ । २ । ३७ ॥

३. स०—सू० १० ॥

४. ङ । ३ । १७ ॥

५. ङ । १ । ११४ ॥

६. ७ । २ । ८ ॥

७. ङ । ४ । ५३ ॥

८. स०—सू० ११ ॥

९. ङ । ३ । ७ ॥

१०. स०—सू० १२ ॥

स्वारस्य ययि परसवर्णः^१॥' 'मय उञो वो वा^२॥' 'भयो होऽन्यतरस्याम्^३॥'
'पुमः खय्यम्परे^४॥' [वा०—] 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः^५॥' १३ ॥

'क, प' इन दो वर्णों का उपदेश करके यकार अन्त में चार प्रत्याहारों की सिद्धि के लिये हल् किया है। यय् । मय् । भय् । खय् । इन के सूत्र ये हैं—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः^१॥' 'मय उञो वो वा^२॥' 'भयो होऽन्यतरस्याम्^३॥' 'पुमः खय्यम्परे^४॥' 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः^५॥' [चय्] यह वार्तिक का प्रत्याहार है ॥ १३ ॥

शषस्^६ ॥ १४ ॥

'श, ष, स' इत्येताव् वर्णानुपदिश्य पूर्वश्चान्ते रेफमितं प्रशास्ति । तेन पञ्च प्रत्याहाराः सिद्धयन्ति । यर् । भर् । खर् । चर् । शर् । निदर्शनम्—
'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा^१॥' 'भरो भरि सवर्णे^२॥' 'खरि च^३॥' 'अभ्यासे चर्च^४॥' 'वा शरि^५॥' १४ ॥

'श, ष, स' इन तीन वर्णों का उपदेश करके अन्त में रेफ हल् पड़ा है। इस से पांच प्रत्याहार सिद्ध होते हैं। यर् । भर् । खर् । चर् । शर् । इन के सूत्र ये हैं—'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा^१॥' 'भरो भरि सवर्णे^२॥' 'खरि च^३॥' 'अभ्यासे चर्च^४॥' 'वा शरि^५॥' १४ ॥

हल्^७ ॥ १५ ॥

'ह' इत्येकं वर्णमुपदिश्य सर्वेषां वर्णानामन्ते लकारमितं करोति । तेन षट् प्रत्याहारा भवन्ति । अल् । हल् । वल् । रल् । भल् । शल् । निदर्शनम्—
'अलोऽन्त्यस्य^१॥' 'हलोऽनन्तराः संयोगः^२॥' 'लोपो व्योर्वलि^३॥' 'रलो व्युपधाद्वलादेः सँश्च^४॥' 'भलो भलि^५॥' 'शल इगुपधादनिटः कसः^६॥'

१. न । ४ । ५८ ॥

८. न । ४ । ६५ ॥

२. न । ३ । ३३ ॥

९. न । ४ । ५५ ॥

३. न । ४ । ६२ ॥

१०. न । ४ । ५४ ॥

४. न । ३ । ६ ॥

११. न । ३ । ३६ ॥

५. कोशे त्विदं वार्तिकं 'चयो द्वितीयादिः पौष्क-

१२. स०—सू० १४ ॥

र्षादेः ॥' इत्येवम् ॥ सिद्धान्तकौमुद्यां '०देरिति

१३. १ । १ । ५१ ॥

वाच्यम् ॥' इति । हरदत्तमिश्रः 'खयो द्वितीयाः०॥'

१४. १ । १ । ७ ॥

(न । ३ । २८ ॥ न । ४ । ४८) इत्येवं पठति । अस्मा-

१५. ६ । १ । ६६ ॥

भिस्तु सन्धिविषयसम्मतो भाष्यपाठः स्वीकृतः ॥

१६. १ । २ । २६ ॥

६. स०—सू० १३ ॥

१७. न । २ । २६ ॥

७. न । ४ । ४५ ॥

१८. ३ । १ । ४५ ॥

सर्वे प्रत्याहारा मिलित्वा ४३ त्रयश्चत्वारिंशद् भवन्ति । तद्यथा—

[१] अण् । [२] अक्, [३] इक्, [४] उक् । [५] एङ् । [६] अच्, [७] इच्, [८] एच्, [९] ऐच् । [१०] अट् । [११] अण्, [१२] इण्, [१३] यण् । [१४] अम्, [१५] यम्, [१६] नम्, [१७] ङम् । [१८] यञ् । [१९] भष्, [२०] मष् । [२१] अश्, [२२] हश्, [२३] वश्, [२४] जश्, [२५] ऋश्, [२६] बश् । [२७] छव् । [२८] यय्, [२९] मय्, [३०] ऋय्, [३१] खय्, [३२] चय् । [३३] यर्, [३४] ऋर्, [३५] खर्, [३६] चर्, [३७] शर् । [३८] अल्, [३९] हल्, [४०] वल्, [४१] रल्, [४२] मल्, [४३] शल् ॥

अस्मिन् व्याकरणेऽक्षरसमाम्नायस्थाः सर्वे प्रत्याहारा एतावन्त एव सन्ति ॥

भा०—प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न ।

आचारादप्रधानत्वाल्लोपश्च बलवत्तरः ॥ १ ॥

उकालोऽजिति वा योगस्तत्कालानां यथा भवेत् ।

अचां ग्रहणमच्कार्यं तेनैषां न भविष्यति ॥ २ ॥

एवमपि 'कुक्कुटः' इत्यत्र^३ प्राप्नोति । तस्मात् पूर्वोक्त एव परिहारः ॥ अपर आह—

ह्रस्वादीनां वचनात् प्राग्यावत्तावदेव योगोऽस्तु ।

अच्कार्याणि यथा स्युस्तत्कालेष्वनु कार्याणि ॥ ३ ॥^४

(प्र०) प्रत्याहारेषु येऽनुबन्धाः सन्ति, तेषामज्ग्रहणेन ग्रहणं कथं न भवति ।

(उ०) 'आचाराद्'—आचार्याणां सूत्रेषु तत्कार्यव्यवहाराभावात् । 'अप्रधानत्वात्'—तेषां प्राधान्येन पाठो हल्षु, अप्राधान्येनाक्षु । 'लोपश्च बलवत्तरः'—इत्-सञ्ज्ञकत्वाल्लोपो भविष्यति ॥ १ ॥

१. तथा च काशिकायां प्रक्रियाकौमुद्याञ्च—

वार्त्तिकोणादिसन्नप्रत्याहारौ न गणितौ ॥

एकस्मात् ङण्यवटाः, द्वाभ्यां षः, त्रिभ्य एव कणमाः स्युः । २. चान्द्रेऽप्युणादिपाठे— २ । ३६ ॥

त्रेयौ चयौ चतुर्भ्यः, रः पञ्चभ्यः, शलौ षड्भ्यः ॥ ३. पाठान्तरम्—० क्षापि ॥

प्रक्रियाकौमुदीटीकाकारो विट्ठलाचार्योऽयं (व्याडी- ४. नागेशः—वार्त्तिककृतोक्त इत्यर्थः ॥

कृत—)सङ्ग्रहस्य श्लोक इत्यस्मभ्यो विज्ञापयति ।

५. अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥

सृष्टिधरस्त्वेतत् प्रमादाद् भाष्यवचनमाह । अत्र सूत्रव्याख्याने ॥

अथ वा 'ऊकालोऽर्च' इति सूत्रं विभज्य 'ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः' इति प्रथक्करणेन तत्कालानामचां ग्रहणेन तेषामनुबन्धानां ग्रहणमच्चार्य्यं च नैव भविष्यति ॥ २ ॥

एतदेव प्रयोजनं तृतीयस्यापि ॥ ३ ॥

अत्र प्रत्याहारेषु केचिद् भट्टोजिदीक्षितादयः^१ सग्रवदन्ति^२—इमानि माहेश्वराणि सूत्राणीति । महेश्वरादागतानि महेश्वरेण प्रोक्तानि वा । तदिदमसत्यम् । कथम् । तत्र प्रमाणाभावात् । अत्र तु प्रमाणम्—

भा०—एषा ह्याचार्य्यस्य शैली लक्ष्यते यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति । अचोऽद्भु, हलो हल्षु ॥^३

अत्र 'उपदिशति' इति क्रियायाः कर्ता पूर्वस्याः षष्ठ्या विपरिणामादाचार्य्यः पाणिनिरौयाति । येषामेतावज्ज्ञानं नास्तीमानि सूत्राणि केन रचितानि, ते व्याकरणस्य ग्रन्थान् रचितुमुद्यताः, महदाश्चर्यमेतत् ॥ १५ ॥

'ह' इस एक वर्ण का उपदेश करके सब प्रत्याहारों के अन्त में लकार हल् पढ़ा है । इस से छः प्रत्याहार सिद्ध होते हैं । अल् । हल् । वल् । रल् । ऋल् । शल् । इन के सूत्र ये हैं—
'अलोऽन्त्यस्य' ॥^४ 'हलश्च' ॥^५ 'लोपो व्योर्वलि' ॥^६ 'रलो व्युपधाद्धलादेः सँश्च' ॥^७
'भल्लो भालि' ॥^८ 'शल इगुपधादनिटः कस्' ॥^९

ये सब प्रत्याहार मिलके ४२ बयालास^{१२} होते हैं । वे ये हैं—

१. १ । २ । २७ ॥

२. यथा कथासरित्सागरे—

तल तीव्रेण तपसा तोषितादिन्दुशेखरात् ।

सर्वविद्यामुखं तेन प्राप्तं व्याकरणं नवम् ॥

(१ । ४ । २२)

नन्दिकेश्वरकृतकाशिकायाम्—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् । ६. १ । १ । ५१ ॥

उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शो शिवसूत्रजालम् ॥ ७. ३ । ३ । १२१ ॥

विशेषविस्तार उपमन्युव्याख्याने द्रष्टव्यः ॥

तथैवावाचीनपाणिनीयशिष्यायां (श्लो० ५८ ॥,

याजुषशास्त्रीयायां श्लो० ३४) अन्यत्र च ॥

३. परिवादपरमिदं वचनम् ॥

४. अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥ ह्यवरट्—

सूत्रव्याख्याने ॥

५. नागेशस्य महान् अमो जातो यत् कथयति

“आचार्यशब्देनानादिः शब्दपुरुषः।” एष एवा-

चार्य-शब्दोऽन्यत्र नागेशेन स्वयमनादिशब्दपुरुष-

परतया न कचिद् व्याख्यातः । यथा 'प्राक्कडा-

रात् समासः ॥' (२ । १ । ३) इत्यस्य सूत्रस्य

व्याख्याने, “एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते० ।”

इत्यत्र ॥

८. ६ । १ । ६६ ॥

९. १ । २ । २६ ॥

१०. ८ । २ । २६ ।

११. ३ । १ । ४५ ।

१२. संस्कृत में सङ्ख्या ४३ दी गई है । वहां पूर्व

और पर खकार से होने वाले अणु-प्रत्याहार को

दो बार गिना गया है ॥

[१] अण् । [२] अक्, [३] इक्, [४] उक् । [५] एङ् । [६] अच्, [७] इच्, [८] एच्, [९] ऐच् । [१०] अट् । [११] इण्, [१२] यण् । [१३] अम्, [१४] यम्, [१५] जम्, [१६] ङम् । [१७] यञ् । [१८] भष्, [१९] ऋष् । [२०] अश्, [२१] हश्, [२२] वश्, [२३] जश्, [२४] ऋश्, [२५] वश् । [२६] छ्व् । [२७] यय्, [२८] मय्, [२९] ऋय्, [३०] खय्, [३१] चय् । [३२] यर्, [३३] ऋर्, [३४] खर्, [३५] चर्, [३६] शर् । [३७] अल्, [३८] हल्, [३९] वल्, [४०] रल्, [४१] ऋल्, [४२] शल् ॥

व्याकरणशास्त्र में इतने ही प्रत्याहार हैं ॥

अब यह विचार करते हैं कि प्रत्याहारों में सूत्रों के अन्त में जो हल्-अक्षर पड़े हैं, उन का प्रत्याहारों के साथ ग्रहण क्यों नहीं होता ।

(उ०) 'आचारात्'—सूत्र रचने वाले आचार्य ऋषि लोगों का व्यवहार सूत्रों में नहीं दिखाता । जैसे—'इको गुणवृद्धी' ॥' इस सूत्र में ककार का ग्रहण अच्-प्रत्याहार में होता, तो ककार को अच् मानके इकार के स्थान में य हो जाता । 'अप्रधानत्वात्'—उन हलों का पाठ मुख्य करके हलों ही में किया है, अर्थात् गौणता से है । इससे भी उन को अच् नहीं मान सकते । 'लोपश्च वलवत्तरः'—और इन इत्-सञ्ज्ञक वर्णों का बलवान् होने से लोप हो जाता है ॥ १ ॥

'ऊकालो' अथवा ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत धर्म वाले वर्णों को अच् कहते हैं । सो धर्म उन में नहीं है, इससे उन का ग्रहण न होगा ॥ २ ॥

तीसरी कारिका का अभिप्राय भी दूसरी के तुल्य है ॥ ३ ॥

प्रत्याहारसूत्रों के विषय में सिद्धान्तकौमुदी के बनाने पढ़ने वाले लोगों ने कहा और कहते हैं कि प्रत्याहारसूत्र माहेश्वर अर्थात् महादेव के बनाये हैं । सो देखो इन लोगों को कैसा अम हुआ है कि जिन पाणिनिजी महाराज ने सब व्याकरण के सूत्र बनाये, तो क्या प्रत्याहारसूत्र नहीं बना सकते थे । तथा इन लोगों के कहने में कोई प्रमाण भी नहीं है । यहाँ तो पाणिनि के बनाने में प्रमाण बहुत हैं । 'एषा०' इस पंक्ति में प्रत्यक्ष उपदेश करने वाले आचार्य पाणिनिजी महाराज हैं । जिन लोगों को इतना भी बोध नहीं कि ये सूत्र किस ने बनाये हैं, वे लोग व्याकरण के ग्रन्थ बनाने लगते हैं, बड़े आश्चर्य की बात है ॥ १५ ॥

इत्यक्षरसमाम्नायः ॥

ओ३म्

अथ प्रथमाध्याये प्रथमः पादः ॥

अथ सञ्ज्ञासूत्राणि ॥

वृद्धिरादैच् ॥ १ ॥

वृद्धिः । १ । १ । आदैच् । १ । १ । आच्च ऐच्च [=आदैच् ।] समाहारद्वन्द्वः ।
वृद्धिः सञ्ज्ञा । आदैचः सञ्ज्ञानः । तद्भावितातद्भावितानां 'आ, ऐ, औ' इत्ये-
तेषां वर्णानां प्रत्येकं वृद्धिः सञ्ज्ञा भवति । आरण्याः । ऐतिकायनः । औपगवः ।
वृद्धि-प्रदेशानि सूत्राणि—'वृद्धिरेचि' ॥' इत्यादीनि ॥

भा०—कुत्वं कस्मान्न भवति 'चोः कुः' ॥ 'पदस्य' ॥' इति ।
भत्वात् । कथं भ सञ्ज्ञा । 'अयस्पयादीनि छन्दसि' ॥' इति ।
'छन्दसि' इत्युच्यते, न चेदं छन्दः । छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति ॥
सञ्ज्ञासञ्ज्ञानोरसन्देहो वक्तव्यः । कुतो हेतत् । वृद्धि-शब्दः
सञ्ज्ञा, आदैचः सञ्ज्ञान इति । न पुनरादैचः सञ्ज्ञा,
वृद्धि-शब्दः सञ्ज्ञीति ॥

अनाकृतिः सञ्ज्ञा, आकृतिमन्तः सञ्ज्ञानः । लोकेऽपि ह्याकृ-
तिमतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति सञ्ज्ञा क्रियते ॥

अथ वाऽऽवर्त्तिन्यः सञ्ज्ञा भवन्ति । वृद्धि शब्दश्चावर्त्तते, ना-
दैच्-छन्दः । तद्यथा—इतरत्रापि देवदत्त-शब्द आवर्त्तते, न
मांसपिण्डः ॥

अथ वा पूर्वोच्चारितः सञ्ज्ञी, परोच्चारिता सञ्ज्ञा । कुत एतत्^१ ।
सतो हि कार्यिणः कार्य्येण भवितव्यम् । तद्यथा—इतरत्रापि
सतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति सञ्ज्ञा क्रियते ॥

१. स०—सू० १७ ॥

२. ६ । १ । ८८ ॥

३. ८ । २ । ३० ॥

४. ८ । १ । १६ ॥

५. १ । ४ । २० ॥

६. लेखकप्रमादादत्रापि "तद्यथा" इति ॥

कथं 'वृद्धिरादैच्॥' इति । एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम् ।
माङ्गलिक आचार्यों महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धि-शब्दमा-
दितः प्रयुङ्क्ते । मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रयन्ते वीरपुरुषाणि^१
भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युः॥^२

त-परकरणमुभाभ्यां सह सम्बध्यते ।

तः परो यस्मात् सोऽयं=त-परः ।

तादपि परः=त-परः ॥

तेन तत्कालस्य ग्राहकत्वात् त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा
आदेशा न भवन्ति ॥ १ ॥

'आदैच्' आ, ऐ, औ, इन का 'वृद्धिः' वृद्धि नाम है । ये नामी हैं । यहां
वृद्धि सञ्ज्ञा और आदैच् सञ्ज्ञी हैं । यौगिक शब्दों में जो आ, ऐ, औ हैं, उन को तद्भावित
कहते हैं । तथा रुद्धि शब्दों में जो हैं, वे अतद्भावित होते हैं^४ । इन दोनों प्रकार के आ, ऐ,
औ, प्रत्येक की वृद्धि-सञ्ज्ञा है । आरण्याः—यहां 'आ' वृद्धि हुई है । इत्यादि ॥

(प्र०) इस सूत्र के अन्त में ['चोः कुः' ॥ पदस्य^५ ॥] इन दो सूत्रों से] चकार के
स्थान में ककार पाता है, सो क्यों नहीं होता । (उ०) पद-सञ्ज्ञा होने से पाता है । यहां
तो 'अयस्म^६॥' इस सूत्र करके वेद में भ-सञ्ज्ञा होती है । वेदों के समान सूत्रों को भी
मानके कार्य कर लेते हैं ॥

अब सञ्ज्ञा और सञ्ज्ञी का विचार करते हैं । (प्र०) यहां कैसे जानते हो कि वृद्धि
सञ्ज्ञा है, आदैच् सञ्ज्ञी हैं । इस से उलटा क्यों नहीं समझें कि वृद्धि सञ्ज्ञी और
आदैच् सञ्ज्ञा । (उ०) सञ्ज्ञा वह कहाती है कि जिस की कुछ आकृति न हो, और
सञ्ज्ञी वह, जो आकृतिवाला हो । क्योंकि लोक में भी आकृतिवाला मांस का पियण्ड, जो
बालक होता है, उस का नाम देवदत्त धरते हैं । अथवा, जिस का आवर्त्तन, अर्थात् व्यवहार
में बारंवार उच्चारण हो, वह सञ्ज्ञा । वृद्धि-शब्द का ही बारंवार उच्चारण होता है,
आदैच् का नहीं । लोक में भी देवदत्त-शब्द का बारंवार उच्चारण होता है, मांसपियण्ड का

१. पाठान्तरम्—० पुरुषकाणि । मरुहरिविरचित-
श्रीमहाभाष्यटीकाया (जर्मनीदेशराजधानी-) बर्लिन-
पुस्तकालयस्थकोशो भगवद्दयानन्दसरस्वतीपठितं
पाठं पुष्पाति ॥

२. अ० १ । पा० १ । आ० ३ ॥

३. महाभाष्ये—“अथ क्रियमाणेऽपि तकारे कस्मा-
देव त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा
आदेशा न भवन्ति । 'तपरस्तत्कालस्या' (१।१।६६)

इति नियमात् ॥” (अ० १ । पा० १ । आ० ३)

४. जिनेन्द्रदुडिकृत काशिकाविवरणपञ्जिका में इन
शब्दों की व्याख्या इस प्रकार से की है—“ते त-
द्भाविता ये वृद्धि-शब्देनोत्पादिताः । ततोऽन्येऽत-
द्भाविताः ॥”

५. क्रम से ८ । २ । ३० ॥ ८ । १ । १६ ॥

६. १ । ४ । २० ॥

महीं । अथवा, पहले जिस का उच्चारण हो, वह सञ्ज्ञी, पीछे हो, वह सञ्ज्ञा । क्योंकि जब कोई वस्तु विद्यमान है, तब उस का नाम धरेंगे । तो विद्यमान का प्रथम उच्चारण होता है, इससे वह सञ्ज्ञी । और जिस का पीछे उच्चारण किया जाय, वह सञ्ज्ञा । इस सूत्र में वृद्धि-शब्द सञ्ज्ञा है । उस का प्रथम उच्चारण ग्रन्थ के आदि में मङ्गलार्थ पढ़ा है । मङ्गल है प्रयोजन जिन का, ऐसे आचार्य, अर्थात् पाणिनिजी महाराज ने बड़े व्याकरणशास्त्र के आदि में मङ्गल के लिये वृद्धि-शब्द का प्रयोग किया है । प्रयोजन यह है कि इस ग्रन्थ के पढ़ने पढ़ाने वालों वीर पुरुष हों, और उन की उमर अधिक हो, और उन की सब प्रकार बढ़ती हो । यह ~~सब~~ लोगों का आशीर्वाद पढ़ने पढ़ाने वालों के लिये है ॥

त-पर का अर्थ यह है कि त जिस से परे हो, और त से परे जो हो, इन दोनों को त-पर कहते हैं । सो इस सूत्र में इसलिये है कि तीन मात्रा चार मात्रा के स्थान में तीन मात्रा चार मात्रा के आदेश न हों ॥ १ ॥

अदेङ् गुणः ॥ २ ॥

अदेङ् । १ । १ । गुणः । [१ । १ ।] अच्च एङ् च=अदेङ् । समाहार-
द्वन्द्वः । तद्भावितातद्भावितानां 'अ, ए, ओ' इत्येतेषां वर्णानां प्रत्येकं गुण-सञ्ज्ञा
भवति । तपरकरणं पूर्ववत्^१ । कर्त्ता, हर्त्ता । चेता । स्तोता । गुण-प्रदेशानि—
'मिदेर्गुणः'^२ इत्येवमादीनि ॥ २ ॥

पूर्वोक्त तद्भावित और अतद्भावित 'अदेङ्' अ, ए, ओ, इन वर्णों की 'गुणः' गुण-सञ्ज्ञा है । [अथवा] यहां 'अ, ए, ओ' ये सञ्ज्ञी, और 'गुण' यह सञ्ज्ञा है । जैसे—'कर्त्ता' इस पद में 'कृ+ता' इस को गुण हो गया, तो 'कर्त्ता' हो गया । तथा 'चेता, स्तोता' इन दोनों प्रयोगों में 'इ, उ' इन के स्थान में ए और ओ गुण हुआ है ॥ २ ॥

इको गुणवृद्धी^३ ॥ ३ ॥

इकः । ६ । १ । गुणवृद्धी । १ । २ ।

'वृद्धिर्भवति', 'गुणो भवति' इति यत्र ब्रूयाद्, 'इकः' इति^४

तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् ॥

गुणश्च वृद्धिश्च=गुणवृद्धी । द्वन्द्वसमासः ।

'द्वन्द्वे धि'^५ इति वृद्धेः पूर्वनिपाते प्राप्ते 'धर्मादिषुभयं पूर्वं निपतति'^६ ॥

१. स०—स० १८ ॥

२. ७ । ३ । ८२ ॥

३. स०—स० ५० ॥

४. पाठान्तरम्—इत्येतत् ॥

५. २ । २ । ३२ ॥

६. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥

'अल्पात्तरम् ॥' (२ । २ । ३४) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्याने 'धर्मादिषुभयम्' इति वार्तिकम् । तत्र चेदं भाष्यम् ॥

(भट्टोजिदीक्षितः सिद्धान्तकौमुद्यां, अत्रम्भट्टश्च अष्टाध्यायीवृत्तौ मितान्तरायां 'धर्मादिष्वनियमः ॥' इति पठतः । शब्दकौस्तुभे 'इष्यते' इत्यधिकम् ॥)

इति गुण-शब्दस्य पूर्वनिपातः । तत्रोभयं भवति—गुणवृद्धी, वृद्धिगुणौ ॥

अनियमप्रसङ्गे नियन्त्रीयं परिभाषा । औपगवः ॥

‘इक्’ इति किम् । व्यञ्जनस्य गुणवृद्धी मा भूताम् । अन्त-नाः । अन्त-उपपदे गमि-धातोर्दे प्रत्यये कृते ओष्ठ्यस्य मकारस्य ओकारो गुणः प्राप्नोति । ‘इक्’ इति वचनान्न भवति ।

‘गुणवृद्धी’ इति किम् । गुण-वृद्धि-शब्दाभ्यां यत्र वृद्धिगुणावुच्येते, तत्रैवेकः स्थाने भवतः । इह मा भूताम्—द्यौः, पन्थाः, स इति ॥

‘इहान्ये’ वैयाकरणा मृजेरजादौ सङ्क्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते । परिमृजन्ति । परिमार्जन्ति । परिममृजतुः । परिममार्जतु-रित्याद्यर्थम् ॥

‘अजादौ सङ्क्रमे’=अजादौ किञ्चित् ॥ ३ ॥

जिन सूत्रों में ‘गुणवृद्धी’ सञ्ज्ञा किये हुए गुण और वृद्धि शब्द कहें, वहां वे इक् के स्थान में हों । उक्त वृद्धि और गुण सञ्ज्ञाओं का नियम करने वाली यह परिभाषा है । जैसे ‘औपगवः’ इस शब्द में इक् के स्थान में गुण और वृद्धि दोनों कार्य हुए हैं । अर्थात् ‘उपगु’ [यहां] आदि में तो वृद्धि और अन्त में गुण हुआ है ॥ ‘इक्’ यह पद इस सूत्र में इसलिये है, कि व्यञ्जन के स्थान में गुण, वृद्धि न हों । अर्थात् ‘अन्त+गम्+ङ’ इस अवस्था में मकार के स्थान में ओकार गुण पाता है, सो नहीं हुआ । और ‘गुणवृद्धी’ इसलिये पदे हैं, कि जिन सूत्रों में ‘गुण, वृद्धि’ इन्हीं शब्दों से गुण, वृद्धि विधान किये हों, वही इक् के स्थान में होने का नियम रहे । यहां न हों—‘द्यौः’ । इस शब्द में ओकारादेश व्यञ्जन [व्] के स्थान में हुआ है । ओकार की वृद्धि-सञ्ज्ञा होने से इक् के स्थान में पाता था, सो नहीं हुआ ॥

अन्य वैयाकरण लोग मृज् धातु को अजादि कित्, छित् में विकल्प करके वृद्धि कहते हैं ॥ ३ ॥

न धातुलोप आर्धधातुके ॥ ४ ॥

न । अव्ययपदम् । धातुलोपे । ७ । १ । आर्धधातुके । ७ । १ ।

आर्धधातुकनिमित्ते लोपे सति ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः ॥

१. “इहान्ये” इत्यस्मात् पूर्व “वा०—” इति कोशे दृश्यते । इदं वार्तिककर्तुर्मतमित्यर्थः ॥

२. अल्ल नागेशः—“सङ्क्रम इति गुणवृद्धिप्रतिषेधविषयविशेषः प्राचां सञ्ज्ञा ॥”

३. आ०—सू० ५५३ ॥

४. कोशे “लोपे” इत्यतः पूर्व “धातु—” इति पङ्क्त्युपरिभागेऽर्थस्य स्पष्टीकरणार्थं परञ्जालिखितम् ॥

धातोरवयवः=धात्ववयवः । धात्ववयवस्य लोपः=धातुलोपः । उत्तरपदलोपी समासः ॥

आर्धधातुक-ग्रहणं लोप-विशेषणम् १. लोलुवः । पोपुवः । मरीमृजः । सरीसृपः ॥

धातु-ग्रहणं किमर्थम् । [इह मा भूत्] लूञ्—लविता, लवितुम् । 'आर्धधातुके' इति किमर्थम् । त्रिधा वद्धो वृषभो रोरवीति ॥

इग्लक्षणयोगुणवृद्धयोः प्रतिषेधः ॥

इह मा भूत्—अभाजि, रागः॥ ४ ॥^२

'आर्धधातुके' आर्धधातुकनिमित्तं जहां 'धातुलोपे' धातु के अवयव का लोप हो, वहां 'इकः' इक् के स्थान में 'गुणवृद्धी' गुण, वृद्धि 'न' न हों। गुण, वृद्धि का जो विधान किया है, उस का यह अपवाद है । जैसे—'लोलुवः' । यहां गुण नहीं हुआ । तथा 'मरीमृजः' यहां वृद्धि नहीं हुई ॥

इस सूत्र में 'धातु' का ग्रहण इसलिये है, [कि] 'लविता' यहां गुण का निषेध न हो । 'आर्धधातुक' ग्रहण इसलिये है कि 'रोरवीति' यहां सार्वधातुक में गुण का निषेध न हो । इक् के स्थान में जो गुण, वृद्धि प्राप्त हों, उन का निषेध है । इससे 'राग' यहां प्रतिषेध नहीं हुआ ॥ ४ ॥

क्विडति च^३॥ ५ ॥

'न' इत्यनुवर्त्तते । क्विडति । ७ । १ । च । अ० । [क्विडत्-] प्रत्यय-निमित्ते इकः स्थाने ये गुणवृद्धी प्राप्नुतः, ते न भवतः । गश्च कश्च ङश्च =क्क्ङः । इच्च इच्च इच्च=इतः । कक्ङ इतो यस्य तत् [क्विडत्] । चितः । चितवान् । भिन्नः । भिन्नवान् ॥

डिति—चिनुतः । सुनुतः ॥

१. ऋ०—४ । ५८ । ३ ॥

वा०—१७ । ६१ ॥

का०—४० । ७ ॥

नि०—१३ । ७ ॥

मैत्रायणीयसंहितायां—“त्रेधा वद्धो वृषभो रोरवीति ।” इति ॥ (१ । ६ । २ ॥ ८७ । १८)

२. अत्र कोशे “आ० ४ [=भाष्यस्य चतुर्थादिके] व्याख्यातम्” इति ॥

३. आ०—सू० ४५ ॥

कोशे 'क्विडति' इत्येक एव ककारः । अत्र ककारद्वयवानेव पाठः साधीयानिति सूत्र-वार्तिक-भाष्येभ्यो निश्चीयते । सूत्रं यथा—“ग्लाजि०॥” (३ । २ । १३६) भाष्ये तु स्पष्टमेव—“ककारे गकारश्च-त्वंभूतो निर्दिश्यते 'क्विडति च' इति ॥” वार्तिक-कृतापि चोक्तम्—

“क्स्तोर्गित्त्वान्न रथ ईकार क्विडतेरीत्त्वशासनात् । गुणाभावशिषु स्मार्यः श्र्युकोऽनिद्वं गकोरितोः॥” इति ॥

[ककारे] गकारश्चत्वंभूतो निर्दिश्यते ।

‘ग्लानिस्थश्च कस्तुः’ ॥’ जिष्णुः । भूष्णुः ॥ ५ ॥^३

‘किञ्छति’ क्, ङ् और ग् जिन प्रत्ययों के इत्-संज्ञक होके लोप होते हैं, वे प्रत्यय परे हों, तो ‘इक्’ इक् के स्थान में ‘गुणवृद्धी’ जो गुण, वृद्धि प्राप्त हैं, वे ‘न’ न हों । जैसे—चितः । चितवान् । यहां कित्-प्रत्यय के परे गुण प्राप्त था, सो न हुआ । ‘चिनुतः’ यहां कित्-प्रत्यय के परे गुण न हुआ । तथा ‘जिष्णुः’ यहां गित्-प्रत्यय के परे गुण का निषेध हो गया ॥ ५ ॥

दीधीवेवीटाम् ॥ ६ ॥

‘न’ इत्यनुवर्त्तते । दीधीवेवीटाम् । ६ । ३ । ‘दीधी, वेवी, इट्’ एषां गुण-वृद्धी न भवतः । दीधी च वेवी च इट् च, तेषां द्वन्द्वः । ‘दीधीङ्’ दीप्तिदेवन-योः^४ । ‘वेवीङ्’ वेतिना तुल्ये^५ । आन्दसौ धातू^६ । ‘इट्’ चागमः । आदीध्यनम् । आदीध्यकः । आवेव्यनम् । आवेव्यकः । इट्—अः कणिता । ओ रणिता ॥ ६ ॥^३

‘दीधीवेवीटाम्’—‘दीधीङ्’ दीप्तिदेवनयोः^४ । ‘वेवीङ्’ वेतिना तुल्ये^५ । ये दोनों वेद के धातु और इट् का आगम, इन को ‘गुणवृद्धी न’ गुण, वृद्धि न हों । जैसे—‘आदीध्यनम्’ यहां दीधी धातु को गुण, [और] ‘आदीध्यकः’ यहां वृद्धि, [तथा] ‘आवेव्यनम्’ यहां वेवी धातु को गुण [और] ‘आवेव्यकः’ यहां वृद्धि, और ‘अः’ कणिता यहां इट् के आगम को गुण प्राप्त है, सो न हुआ ॥ ६ ॥

हलोऽनन्तराः संयोगः ॥ ७ ॥

हलः । १ । ३ । अनन्तराः । १ । ३ । संयोगः । १ । १ । अतज्जातीयै-स्त्वरैरव्यवहिता हलः संयोग-सञ्ज्ञा भवन्ति^७ । हल् च हल् च=हलौ । हल् च हल् च हल् च^८=हलः । हलौ च हलश्च=हलः । अविद्यमानमन्तरमेषां ते

१. अ० ३ । पा० २ । आ० ३ ॥ “ग्लानि०”

(३।२।१३६) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्यानान्तर्गतम् ॥

२. ३ । २ । १३६ ॥

३. कोशेऽत्रापि—“आ० ४ व्याख्यातम्” इति ॥

४. आ०—सू० ५२ ॥

५. धा०—अदा० ६७ ॥

६. धा०—अदा० ६८ ॥

७. भाष्ये “दीधीवेवीं द्वन्द्वेविषयौ ॥” इति ॥

(अ० १ । पा० १ । आ० ४)

८. दीधीङ् धातु=चमकना और खेलना ॥

६. वेवीङ् धातु=गति करना ॥

१०. स०—सू० १६ ॥

शौनकप्रातिशाख्ये ऽपि—

“संयोगस्तु व्यञ्जनसन्निपातः ॥” इति ॥

“संयोगं विधाद् व्यञ्जनसङ्गमम् ॥” इति च ॥

(क्रमेण १ । १ । १७ ॥ ३ । १८ । १६)

११. भाष्ये—“स्वरैरनन्तरहिता हलः संयोगसञ्ज्ञा भवन्ति । सर्वत्रैव हलज्जातीयकं व्यवधायकं भवति ॥”

(अ० १ । पा० १ । आ० ४)

१२. कोशे “हल् च ३” इति दृश्यते ॥

अनन्तराः । उक्तसमासेन द्वयोर्बहुनां च संयोग-सञ्ज्ञा भवति । गोमान् । यवमान् ॥

‘हलः’ इति किम् । तितउच्छ्रमम् । ‘संयोगान्तस्य लोपः’ ॥’ इत्युकारलोपः प्राप्नोति । ‘अनन्तराः’ इति किम् । ‘पचति पनसम् ।’ इति सकारमकारयोः संयोग-सञ्ज्ञायां सत्यां ‘स्कोः संयोगाद्योरन्ते च’ ॥’ इति सकारलोपः प्राप्नोति ॥ ७ ॥^३

‘अनन्तराः’ जिन के बीच में कोई अच् न हो, इस प्रकार के जो ‘हलः’ हल् हैं, वे दो और बहुत भी ‘संयोगः’ संयोग-सञ्ज्ञक हों । जैसे—गोमान् । यवमान् । यहां संयोग-सञ्ज्ञा के होने से अन्त के तकार का लोप हो गया है ॥

हलों की संयोग-सञ्ज्ञा इसलिये की है, कि ‘तितउच्छ्रमम्’ यहां अचों की संयोग-सञ्ज्ञा होके उकार का लोप न हो जाय । अनन्तर, अर्थात् स्वरों से रहित हलों की संयोग-सञ्ज्ञा इसलिये की है कि ‘पचति पनसम्’ यहां स्वरों के व्यवधान में सकार मकार की संयोग-सञ्ज्ञा से सकार का लोप पाता है, सो न हो ॥ ७ ॥

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥ ८ ॥

मुखनासिकावचनः । १ । १ । अनुनासिकः । १ । १ । मुखनासिकमावचनं यस्य वर्णस्य सोऽनुनासिक-सञ्ज्ञो भवति ।

मुखं च नासिका च=मुखनासिकम् ।

‘द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्’ ॥’ इत्येकवद्भावः । आवचनं च आवचनं च=आवचनम् । ईषद् वचनम्=आवचनम् ॥

भा०—अथ वा मुखनासिकमावचनमस्य सोऽयं मुखनासिकाऽऽवचनः । अथ किमिदमावचनमिति । ईषद् वचनं=आवचनमिति । किञ्चिन्मुखवचनं, किञ्चिन्नासिकावचनम् । मुखद्वितीया वा नासिका वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः । मुखोपसंहिता वा नासिका वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः ॥^६

[अनुनासिक-प्रदेशानि सूत्राणि—] ‘आङोऽनुनासिकश्छन्दसि’ ॥^७

[इत्यादीनि । अत्रोदाहरणे—] ‘अभ्र आँ अपः’ । ‘चन आँ इन्द्रः’ ॥

१. ८ । २ । २३ ॥

५. २ । ४ । २ ॥

२. ८ । २ । २६ ॥

६. अ० १ । पा० १ । आ० ४ ॥

३. अत्र पुनः कोशे “आ० ४ व्याख्यातम्” इति ॥

७. ६ । १ । १२६ ॥

४. वाचसनेयिनां प्रातिशब्देषु—“मुखनासिका-

८. ऋ०—५ । ४८ । १ ॥

करणोऽनुनासिकः ॥” इति ॥ (१ । ७५)

नि०—५ । ५ ॥

मुख-ग्रहणं किमर्थम् । 'नासिकावचनोऽनुनासिकः ॥' इतीयत्यु-
च्यमाने यमानुस्वाराणामेव प्राप्नोति^१ ॥

नासिका-ग्रहणं किमर्थम् । 'मुखवचनोऽनुनासिकः ॥' इतीयत्यु-
च्यमाने क-च-ट-त-पानामेव प्राप्नोति^१ ॥ ८ ॥^३

'मुखनासिकावचनः' कुछ मुख और कुछ नासिका से जिस का उच्चारण हो, ऐसा जो वर्ण है, उस की 'अनुनासिकः' अनुनासिक-संज्ञा है । जैसे—'अभ्र औं अपः' ।^४ यहाँ आकार के ऊपर अनुनासिक हो गया है ॥

मुख-ग्रहण इसलिये है कि अनुस्वार और म-प्रत्याहार की ही अनुनासिक-संज्ञा हो जाय ।
नासिका-ग्रहण इसलिये है कि क, च, ट, त, प, इन वर्णों की अनुनासिक-संज्ञा न हो ॥ ८ ॥

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥ ६ ॥

तुल्यास्यप्रयत्नम् । १ । १ । सवर्णम् । १ । १ । तुल्य आस्यप्रयत्न एषां
ते वर्णाः सवर्ण-संज्ञा भवन्ति । तुला-शब्दो भिदादित्वात्^५ स्त्रियां वर्तते, तस्मात्
'नौदयोधर्मः' ॥^६ इति सम्मितार्थे यत् ॥

अस्यन्ति वर्णाननेन, तदास्यं = मुखम् । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' ॥^७ इति करणे
एयत् । ततः शरीरावयवाद् यत् । आस्ये = मुखे भवं ताल्वादित्थानं = आस्यम् ॥

देता यमां प्र-
हि मकार-
लोपे प्रयतनं = प्रयत्नः^८ ॥ प्र-पूर्वाद् यततेर्भावसाधनो नङ्-प्रत्ययः ॥

समानं च तद्वर्णं = सवर्णम् । 'ज्योतिर्जनपदः' ॥^९ इति समानस्य सः । वर्ण-
शब्दस्यार्धर्चादिपाठान्नपुंसकत्वम् ॥

त्रिपदोऽयं बहुव्रीहिः—तुल्य आस्ये प्रयत्न एषाम् [इति] ।

अथ वा पूर्वस्तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः—तुल्य आस्ये = तुलास्यः,

तुलास्यः प्रयत्न एषाम् [इति] । अथ वा परस्तत्पुरुषस्ततो

१. कोशे पङ्क्त्युपरिमाणे "अ" इति ॥

२. पाठान्तरम्—"प्रसज्येत" इति ॥

३. कोशे "आ० ४ व्याख्यातम्" इत्यत्र दृश्यते ॥

४. ऋ०—५ । ४८ । १ ॥

नि०—५ । ५ ॥

५. कोश में यहाँ "न" लिखा है । इस पर वि-
स्तारपूर्वक विचार हम अपनी टीका में करेंगे ॥

६. स०—सू० २१ ॥

शुक्लयजुःप्रातिशाख्येऽपि—"समानस्थानकरणा-
स्यप्रयत्नः सवर्णः" (१ । ४३)

७. "भिदादिराकृतिगणः" इति भाषावृत्तिः ॥ (३ ।

३ । १०४)

वाचस्पत्याभिधाने—"तुला स्त्री तुल भिदा०

अङ् ।" इति ॥

[वर्तते ॥

गणरत्नमहोदधौ चापि तुला-शब्दो भिदादिगणे

८. ४ । ४ । ६१ ॥

९. ३ । ३ । १२३ ॥

१०. वर्णोच्चारणशिक्षायामष्टमप्रकरणे ननुयं धर्म

"प्रयतनं प्रयत्नः ॥" इति ॥

११. ३ । ३ । ८५ ॥

बहुव्रीहिः—आस्ये प्रयत्नः = आस्यप्रयत्नः, [तुल्य आस्य-
प्रयत्न एषामिति ॥]

आभ्यन्तरप्रयत्नाः—

भा०—स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम् ॥ ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम् ॥
विवृतमूष्मणाम् ॥ ईषदित्येवानुवर्त्तते ॥ स्वराणां च ॥ विवृ-
तम् । ईषदिति निवृत्तम् ॥^३

स्पर्शानां कादि-मपर्यन्तानां पञ्चवर्गाणां स्पृष्टः प्रयत्नः । अन्तःस्थानां य-व-रं-
लानामीषत्स्पृष्टः प्रयत्नः । ऊष्मणां स-ष-श-हानामीषद्विवृतः प्रयत्नः । स्वराणाम-
कारादि-औकारान्तानां विवृत एव ॥

अथ बाह्याः प्रयत्नाः—

भा०—विवारसंवारी, श्वासनादौ, घोषवदघोषवता, अल्पप्रा-
णता, महाप्राणतेति । तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीया विवृतक-
ण्ठाः, श्वासानुप्रदानाः, अघोषाश्च । एकेऽल्पप्राणाः,
इतरे^३ महाप्राणाः^४ ॥ तृतीयचतुर्थाः संवृतकण्ठाः, नादानुप्रदानाः,
घोषवन्तः । एकेऽल्पप्राणाः, इतरे^३ महाप्राणाः^४ ॥ यथा तृती-
यास्तथा पञ्चमाः^५ ॥ आनुनासिक्यवर्जम् । आनुनासिक्यमेषाम-
धिको गुणः^५ ॥^६

अत्र स्थानानि^६—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।

१. शौनकप्रातिशाख्यसूत्राणीमानीति शिवदत्तः, परं
तत्र नोपलभ्यन्ते ॥

२. अ० १ । पा० १ । आ० ४ ॥ “नाङ्गलौ ॥”
(१ । १ । १०) इति सूत्रस्य व्याख्याने ॥

३. “अपरे” इति पाठान्तरम् ॥

४. व०—४ । ३, ५, ६, ७ ॥

५. अ० १ । पा० १ । आ० ४ ॥

६. उपरिष्टास्त्रिखिताः श्लोका अर्वाचीनपाणिनीयशि-
क्षाया उद्धृताः । एषा शिक्षा षष्ठिश्लोकप्राया ऋग्वे-
दीया, पञ्चत्रिंशच्छ्लोकमिता यजुर्वेदीया चाधुना
द्विधोपलभ्यते । नन्दनगरस्थभारतीयकार्यालयपु-

स्तकभण्डारे (India Office Library, Lon-
don) सार्धैर्विशतिश्लोका एषा शिक्षा (Ms.no.
544. 3193).

इमां शिक्षां भगवद्भयानन्द आचार्यपाणिनिकृतां
न मेन इति “ऋतुरामाङ्गचन्द्रेऽब्दे माघमासे सिते
दले” मुद्रिताया वर्णोच्चारणशिक्षायाः सुस्पष्टं
ज्ञायते । तत्र भगवद्भयानन्दसरस्वतीस्वामिना पाणि-
नीयानि सूत्राणि महानुसन्धानपरिश्रमेण प्रकाशि-
तानि । अत्र तानि सूत्राणि नोद्धृतानीत्यतो ज्ञायते
नास्य भाष्यस्य काले भगवद्भिः सूत्राण्युपलब्धा-
नीति ॥

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥ १ ॥

हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम् ।

औरस्यं तं विजानीयात्, कण्ठयमाहुरसंयुतम् ॥ २ ॥

कण्ठ्यावहौ, इ-चु-य-शास्तालव्याः, ओष्ठजावुपू ।

स्युर्मूर्द्धन्या ऋ-दु-र-पाः, दन्त्या ल-तु-ल-साः स्मृताः ॥ ३ ॥

जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः, दन्त्योष्ठो वः स्मृतो बुधैः ।

ए ऐ तु कण्ठतालव्यौ, ओ औ कण्ठोष्ठौ स्मृतौ ॥ ४ ॥

संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं, विवृतं तु द्विमात्रिकम् ।

घोषा वा संवृताः सर्वे, अघोषा विवृताः स्मृताः ॥ ५ ॥

स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम् ।

तेभ्योऽपि विवृतावेडौ, ताभ्यामैचौ तथैव च ॥ ६ ॥

अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमुच्यते ।

अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानमाग्निः ॥ ७ ॥

अक्षरसमाभ्यायस्थानां सर्वेषां वर्णानामुच्चारणायाष्टौ स्थानानि सन्ति । तद्यथा

[१] उरः । [२] कण्ठः । [३] शिरः । [४] जिह्वामूलम् । [५]

१. याजुषशाखीयायां शिखायां क्रमेण श्लोकाः १३, २४, २५, २७ (उत्तरार्धम्) च । नन्दनगर-स्थकोशे तु १६, १२, १३, १४ (उत्तरार्धम्) इति क्रमः ॥

२. ऋग्वेदीयशिखायां श्लोकाः १३, १६, १७, १८, २०, २१, २२ ॥

“अथ शिखां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा ।”

इत्यतो जानीमोऽस्ति पाणिनेः काचित् कृतिरेतद्विषया, न चेमे श्लोकाः सा कृतिरिति । पुण्यनगरे दक्षिणमहाविद्यालये (Deccan College, Poona) वर्तत एकश्चान्द्रवर्णसूत्राणां कोशो (Ms. no. 289 of 1875-76) यतः शक्यते निश्चेतुं पाणिनिनाऽपि भगवता स्वशिखां सूत्रैर्निबद्धेति । यथा हि चन्द्रेण पाणिनीयं शब्दानुशासनमनुकृत्य स्वकीयं शब्दलक्षणं, पाणिनीयान्युणादिसूत्राणि चा-नुकृत्य स्वोणादयो निर्ममिरे, तथैवैमानि तस्य वर्ण-

सूत्राण्यपि पाणिनेर्ग्रन्थस्यानुकृतिरेव । तस्य च चान्द्रवर्णसूत्राणामाधारभूतग्रन्थस्येदं प्रथमं प्रकरणम् — अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः । हविसर्जनीयौ उरस्यावेकेषाम् । जिह्वामूलीयो जिह्व्यः । कवर्गऋवर्णश्च जिह्व्यः । सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके । कण्ठ्यान् आस्यमालान् इत्येके । इचुयशास्तालव्याः । ऋदुरपा मूर्द्धन्याः । रेफो दन्तमूलीय एकेषाम् । दन्तमूलस्तु तवर्गः । लुलुलसा दन्त्याः । वकारो दन्त्योष्ठ्यः । सुक्लिषीस्थानमेके । उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः । अनुस्वारयमा नासिकाः । कण्ठ्यनासिक्यमनुस्वारमेके । यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम् । एदैतौ कण्ठ्यतालव्यौ । ओदैतौ कण्ठ्योष्ठ्यौ । उष्मणमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः । द्वे द्वे वर्णे सन्ध्यक्षराणामारम्भके भवत इति । सरेफऋवर्णः ॥

दन्ताः । [६] नासिका । [७] ओष्ठौ । [८] तालु च । एषु स्थानेषु यथोक्ता वर्णा उच्चारणीयाः ॥ १ ॥

यदा हकारः पञ्चमैर्व-म-ङ-ण-नैः, अन्तःस्थैर्य-र-ल-वैश्च संयुक्तो भवेत्, तदो-रस्युच्चारणीयः । केवलो हकारः कण्ठेनोच्चारणीयः । यथा—‘गृह्णाति’ [इति] एका-रेण संयुक्तः, ‘हूनुते’ इति नकारेण युक्तः, ‘ब्रह्म’ इति मकारेण संयुक्तः ॥ २ ॥

अकारहकारयोः कण्ठ-स्थानम् । इकार-चवर्ग-यकार-शकाराणां तालु-स्था-नम् । उकार-पवर्गयोरौष्ठ-स्थानम् । ऋकार-टवर्ग-रेफ-षकाराणां मूर्ध्ना स्थानम् । लृकार-तवर्ग-लकार-सकाराणां दन्ताः स्थानम् ॥ ३ ॥

कवर्गस्य जिह्वामूलं स्थानम् । वकारस्य दन्तोष्ठम् । ए ऐ कण्ठतालव्यौ । ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ ॥ ४ ॥

पञ्चमषष्ठौ स्पष्टार्थौ ॥ ५ ॥ ६ ॥

‘अयोगवाहा आश्रयस्थानभागिनः ।’ यस्य वर्णस्य संयोगेऽयोगवाहा भवन्ति, तस्य यत् स्थानं, तत्तेषामपीति ॥ ७ ॥

अकारादि-ऋकारान्तानां वर्णानामेकैकस्याष्टादश भेदाः । तद्यथा—ह्रस्वो-दात्तः । ह्रस्वानुदात्तः । ह्रस्वस्वरितः । दीर्घोदात्तः । दीर्घानुदात्तः । दीर्घस्वरितः । प्लुतोदात्तः । प्लुतानुदात्तः । प्लुतस्वरितः । इमे नव सानुनासिक-निरनुनासिक-भेदेनाष्टादश भवन्ति । अष्टादशाष्टादशप्रकारका ‘अ, इ, उ, ऋ’ इत्येते वर्णा भवन्ति । लृकारस्य दीर्घाभावात्, सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वाभावाद् द्वादश द्वादश भेदा भवन्ति । एवं द्वात्रिंशदुत्तरं शतं स्वरभेदा भवन्ति । य-व-लाः सानुनासिक-निरनुनासिकभेदेन षट् । कादि-मपर्यन्ताः पञ्चविंशतिः । रेफोष्माणः पञ्च । एषां सवर्णा न सन्ति । एवं सभेदा व्यञ्जनाः षट्त्रिंशत् ॥

तुल्यस्थानप्रयत्नानामेतेषां वर्णानां परस्परं सवर्ण-सञ्ज्ञा भवति । निशाऽग्रम् । खट्वाऽग्रम् । अत्र सवर्ण-सञ्ज्ञत्वादकाराऽऽकारयोर्दीर्घैकादेशः ॥

आस्य ग्रहणं किमर्थम् । भिन्नस्थानानां तुल्यप्रयत्नानां क-च-ट-त-पानां मा भूत् । किञ्च स्यात् । ‘तप्ता, तर्पुम्’ इत्यत्र ‘भूरो भूरि सवर्णे’ ॥’ इति पका-रस्य तकारे लोपः प्राप्नोति ॥

प्रयत्न-ग्रहणं किम् । तुल्यस्थानानां भिन्नप्रयत्नानामि-चु-य-शानां मा भूत् । किञ्च स्यात् । ‘अरुश्च्योतति’ इत्यत्र ‘भूरो भूरि सवर्णे’ ॥’ इति शकारस्य

उज ऊँ ॥१७॥

शाकल्यस्य तावन्नार्थ इत्युवर्तते। उजः ॥६१॥ ऊँ ॥ ३०॥ उजः प्रगल्भस्य
मवति। उजः स्यात् नै ऊँ इत्ययमादेशो भवति। शाकल्यस्य चाप्यस्य म
ते ^{नाना} ~~अर्थ~~ इति शक्यं परतः। उ इति विति। ऊँ इति। प्रगल्भसंज्ञनात्प्रकृतनात्
भा०। उज इति योगविभागः कर्तव्यः। उजः शाकल्यस्य चाप्यस्य मतेन प्रगल्भ
संज्ञा भवति। उ इति विति। नुत ऊँ। उज ऊँ इत्ययमादेशो भवति शाकल्य
स्याचार्यस्य मतेन ^{रीधो} ~~नुनासिकः~~ प्रगल्भसंज्ञकश्च ऊँ इति। किं थो
योगविभागः। शाकल्यस्य चाप्यस्य मतेन ऊँ विभाषा यथा स्यात्। ऊँ इति
उ इति। अल्पेणाम्ना चाप्यस्य मतेन विति। अने नै तत्सिध्यति पाणिना
यमूत्रमेकमेव कुशम्। सत्येकस्मिन् सूत्रे व्याख्यानीया योगविभागः
संभवति। यदि द्वे वेदस्यानां धर्तृ योगविभागक रासमनकस्यात्। ए
तसिद्दः पिजयादित्यादयो व्याचक्षते। महामाध्यकार कृतं योगविभागः
द्वयं कथयन्ति तर्हि यत्र यत्र महामाध्यकारै योगविभागः कृतोस्ति तत्र
तत्र पृथक् पृथक् सूत्राणि कर्तव्यानि। अतो ज्ञायते एतेषां महान् भ्रमो जायते।
उज रसनी प्रगल्भसंज्ञा हो शाकल्य आचार्यो के मतेने अतो अ इति शब्द के परे। त
अतः के त्याजने परीर्य अनुनासिक ऊँ अदेशो यस्मिन् प्रगल्भसंज्ञक होय

अष्टाध्यायीभाष्य की हस्तलिखित प्रति

पृष्ठ २५ (पूर्वार्द्ध)

चकारे लोपः प्राप्नोति ॥

भा०—ऋकारलृकारयोः सवर्णविधिः^१ ॥ होतृ+लृकारः=होतृकारः।

किं प्रयोजनम् । ‘अकः सवर्णो दीर्घः’^२ ॥ इति दीर्घत्वं यथा स्यात् ॥^३

उभयोरन्तरतमः सवर्णो दीर्घो नास्तीति कृत्वा ऋकार एव दीर्घो भवति ।
अनेनैतदपि सिध्यति, लृकारस्य दीर्घत्वं न भवति । ऋकार-लृकारयोः सवर्णो
ऋकार एव दीर्घो भवति । ऋकार-लृकारयोः सवर्णविधानं भिन्नस्थानत्वान्न प्राप्तम् ॥

भा०—वर्णानामुपदेशस्तावत् । उपदेशोत्तरकालेत्-सञ्ज्ञा ।
इत्-सञ्ज्ञोत्तरकालः ‘आदिरन्त्येन सहेता’^४ ॥ इति प्रत्याहारः ।
प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्ण-सञ्ज्ञा । सवर्ण-सञ्ज्ञोत्तरकालं ‘अणु-
दित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः’^५ ॥ इति सवर्ण-ग्रहणम् ॥^३

कार्येषु शब्देषु व्याकरणस्य प्रवृत्तिक्रमोऽयम् ॥ ६ ॥^६

‘तुल्यास्यप्रयत्नम्’ जिन वर्णों का तालु आदि स्थानों में समान प्रयत्न हो, उन की
‘सवर्णम्’ सवर्ण-सञ्ज्ञा हो ॥

आभ्यन्तर प्रयत्न । ककार से लेके मकार पर्यन्त वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न, अर्थात् स्थानों में
सामान्य स्पर्श होने से इन का उच्चारण होता है । ‘य, र, ल, व’ इन वर्णों का ईषत्-स्पृष्ट
प्रयत्न, अर्थात् स्थानों में थोड़ा स्पर्श करने से उच्चारण होता है । ‘स, ष, श, ह’ इन वर्णों
का ईषद्-विवृत, अर्थात् थोड़ा अधिक स्पर्श से उच्चारण होता है । तथा स्वरों का बिना
स्पर्श के उच्चारण होना चाहिये ॥

अब वर्णों के स्थान ये हैं—हृदय, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और
तालु । वर्णों के उच्चारण करने के लिये ये आठ स्थान हैं ॥ १ ॥

[ङ,] ञ, म, ण, न, य, र, ल, व, इन अक्षरों के साथ जो हकार मिला हो, तो उसका उच्चा-
रण हृदय से होना चाहिये । जैसे—ब्रह्म, गृह्णाति, जहनुः, ह्यः, हीः, ह्लादः, हरः । इन
शब्दों में पूर्वोक्त वर्ण हकार के साथ मिले हैं, सो यथोक्त उच्चारण करना चाहिये ॥ २ ॥

१. वार्तिकमिदम् ॥

२. ६।१।१०१ ॥

३. भा० १।पा० १।आ० ४ ॥

४. १।१।७१ ॥

५. १।१।६६ ॥

६. कोशेऽत्रापि “आ० ४ व्याख्यातम्” इति ॥

७. कोश में “स्वरों का अधिक स्पर्श होने से”

ऐसा लिखा है । यह लेखक पुरातन अथवा अनव-
स्थित ध्यान के कारण लिखाया गया है । देखो
वर्णोच्चारणशिखा (४।८)—“जिसलिये उक्त
स्थानों में जीम को अलग रखके स्वरों का उच्चा-
रण करना योग्य है, इसलिये इन का विवृत प्र-
यत्न है ॥”

८. ङ, ञ, के उदाहरण नहीं है ॥

अकार और हकार का कण्ठ-स्थान है। किसी २ का मत है कि अकार का सबमुख-स्थान^१ है। इकार, चवर्ग, यकार और [शकार], इन का तालु-स्थान; उकार और पवर्ग का ओष्ठ-स्थान; ऋकार, टवर्ग, रेफ और षकार, इन का मूर्धा-स्थान; लृकार, तवर्ग, लकार और सकार, इन का दन्त-स्थान है ॥ ३ ॥

कवर्ग का जिह्वामूल; वकार का दन्त और ओष्ठ; ए, ऐ, इन का कण्ठ और तालु; ओ, औ, इन का कण्ठ और ओष्ठ स्थान है। जिन २ वर्णों का जो २ स्थान उच्चारण के लिये नियत किया गया है, उन २ वर्णों का उसी २ स्थान में उच्चारण होना चाहिये ॥ ४ ॥

‘अस्मान्तसु तत्र चोदय^२।’ यहां सु और नकार के बीच में जो तकार है, उस की यम-सम्ज्ञा है। इस प्रकार बीच में हो जाने वाले वर्णों को यम कहते हैं^३। यम और अनुस्वार, इन का नासिका-स्थान है। तथा विसर्जनीय, जिह्वामूलीय [और] उपध्मानीय, ये जिस वर्ण के आश्रित हों, उस का जो स्थान है, वही इन का भी जानना चाहिये ॥ [७^४ ॥]

एक मात्रा के वर्ण को संवृत और दो मात्रा के वर्ण को विवृत कहते हैं, अथवा घोष वर्णों को संवृत और अघोषों को विवृत कहते हैं ॥ [५ ॥]

स्वर और स, ष, श, ह, इन वर्णों को विवृत कहते हैं। इन से अधिक विवृत ‘ए, ओ’ ये दोनों, और इन से भी अधिक विवृत ‘ऐ, औ’ ये दोनों हैं ॥ [६ ॥]

अ, इ, उ, ऋ, इन वर्णों के अठारह २ भेद होते हैं, अर्थात् ह्रस्व उदात्त। ह्रस्व अनुदात्त। ह्रस्व स्वरित। दीर्घ उदात्त। दीर्घ अनुदात्त। दीर्घ स्वरित। प्लुत उदात्त। प्लुत अनुदात्त। प्लुत स्वरित। साधुनासिक, निरनुनासिक भेद से इन नव के दूने अठारह होते हैं।

१. वर्णोच्चारणशिक्षा में—

“सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके ॥” (१।५)

भाष्य में—“सर्वमुखस्थानमवर्णस्य एक इच्छान्ति।”

तथा अभयचन्द्रसुरिप्रणीत शाकटायनीयशब्दानुशासनव्याख्यान प्रक्रियासङ्ग्रह में “स्वः स्थानस्थै-क्ये ॥” (शा० १।१।६) इति सूत्र के व्याख्या-नान्तर्गत पाणिनिशिष्यानुकारि यह सूत्र है—

“सर्वमुखस्थानमित्येके ॥” (सन्ज्ञाप्रकरण)

२. ऋ०—१।६।६ ॥

अ०—२०।७१।१२ ॥

३. वर्णोच्चारणशिक्षा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् दयानन्द सरस्वती स्वयं इस यम के लक्षण को न मानते थे। वर्णोच्चारणशिक्षा की भूमिका में यम के प्रचलित लक्षण की समालोचना इस प्रकार है—“और जैसे पाणिनिद्वारा शिक्षा में तिरसठ अक्षर वर्णमाला में माने हैं, उन की गण-

ना पूरी करने के लिये कई एक लोगों ने ‘कुं, खुं, गुं, बुं’ इन चार को यम मानके तिरसठ अक्षर पूरे किये हैं। भला यहां विचारना चाहिये कि जब पूर्वोक्त यम हैं, तो चुं, छुं, जुं, भुं, डं, ठं इत्यादि यम क्यों नहीं। और जो कोई कहे कि पत्नी, चरुखनतुः, जग्मिः, जच्चुः इत्यादि में ‘क्, ख्, ग्, घ्’ ये वर्ण यम कहाते और प्रातिशाख्य में भी प्रसिद्ध हैं। परन्तु इस बात को क्या नहीं जानते कि वे वर्णान्तर कभी नहीं हो सकते, क्योंकि वे तो कवर्ग में पड़े ही हैं ॥”

४. चौथे श्लोक के पश्चात् सातवें का अनुवाद किया है। संस्कृत अनुवाद में पांचवें और छठे श्लोक सरल होने से छोड़ दिये गये हैं। भाषा में भी प्रथम संस्कृतभाग का व्याख्यान करके तत्पश्चात् संस्कृत में अननुदित पांचवें और छठे श्लोकों को स्पष्ट किया है ॥

सो ये अकारादि चार वर्ण दीर्घ; प्लुत अपने सवर्णियों को ग्रहण करते हैं। तथा लृकार दीर्घ नहीं होता। और ए, ऐ, ओ, औ, ये ह्रस्व नहीं होते, इससे इन के धारह २ भेद होते हैं। ये लृकारादि पांच वर्ण अपने सवर्ण प्लुतों का ग्रहण करते हैं। तथा य, च, ज, इन तीन वर्णों के सानुनासिक और निरनुनासिक दो भेद हैं। इन सब वर्णों की परस्पर सवर्ण-संज्ञा होती है। जैसे—‘खट्वा+अग्रम्’। यहां सवर्ण-संज्ञा के होने से ‘खट्वाऽग्रम्’ यह सवर्णदीर्घ एकादेश हो गया है ॥

इस सूत्र में आस्य-ग्रहण इसलिये किया है कि क, च, ट, त, प, इन की परस्पर सवर्ण-संज्ञा न हो, क्योंकि ‘तर्ता’ यहां तकार पकार की जो सवर्ण-संज्ञा हो जाय, तो ‘भरो भरि सवर्णे’ ॥ इस सूत्र से तकार के परे पकार का लोप हो जाय, [क्योंकि] इन के स्थान भिन्न २ और प्रयत्न एक है। प्रयोजन यह है कि आस्य नाम स्थान में जिन के प्रयत्न तुल्य हों, उन की सवर्ण-संज्ञा हो। प्रयत्न-ग्रहण इसलिये है कि जिन वर्णों का स्थान एक हो और प्रयत्न भिन्न हो, उन की सवर्ण-संज्ञा न हो। जैसे ‘अरुश्च्योतति’ यहां सवर्ण-संज्ञा हो, तो चकार के परे शकार का लोप पाता है, सो न हुआ ॥

अकार लृकार की सवर्ण-संज्ञा का विधान करना चाहिये, क्योंकि इन दोनों का स्थान भिन्न है, इससे सवर्ण-संज्ञा नहीं पाती। प्रयोजन यह है कि ‘होतृ+लृकारः’ यहां सवर्ण-संज्ञा के होने से दोनों के स्थान में ‘होतृकारः’ सवर्णदीर्घ एकादेश हो गया ॥

सवर्णविषयक शब्दों की सिद्धि में व्याकरण की प्रवृत्ति इस क्रम से है कि प्रथम अकारादि वर्णों का उपदेश, पीछे अन्य हलों की इत्-संज्ञा, इस के पीछे प्रत्याहार-संज्ञा, उस के पीछे सवर्ण-संज्ञा। इस के पीछे सवर्ण का ग्रहण होता है ॥ १ ॥

नाज्भलौ ॥ १० ॥

‘तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्’ इति सर्वमनुवर्तते। अच्च हल् च=अज्भलौ। आस्ये स्थाने तुल्यप्रयत्नावप्यज्भलौ परस्परं सवर्ण-संज्ञौ न भवतः। दण्डहस्तः। कुमारी शेते। अत्र अकारहकारौ ईकारशकारौ तुल्यस्थानौ यदि सवर्ण-संज्ञौ स्यातां, तर्हि सवर्णदीर्घत्वं प्राप्नोति। स न भवति ॥ १० ॥^३

‘तुल्यास्यप्र०’ आस्य नाम स्थान में ‘अज्भलौ’ जिन अच् और हल् के तुल्य प्रयत्न भी हों, वे परस्पर सवर्ण-संज्ञक ‘न’ न हों। जैसे—दण्डहस्तः। कुमारी शेते। [यहां] अ, ह और ई, श, इन की परस्पर जो सवर्ण-संज्ञा हो, तो अ, ह और ई, श, इन के स्थान में सवर्णदीर्घ एकादेश पाता है, सो न हो ॥ १० ॥

ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम् ॥ ११ ॥

ईदूदेद्विवचनम् । १।१। प्रगृह्यम् । १।१। ईदाचन्तं यद् द्विवचनं तत् प्रगृह्य-सञ्ज्ञं भवति । ईच्च ऊच्च एच्च=ईदूदेतः । ईदूदेतोऽन्ते^२ यस्य तद् ईदूदेदन्तम् । ईदूदेदन्तं च तद् द्विवचनं=ईदूदेद्विवचनम् । उत्तरपदलोपी समासः । इन्द्राग्नी इमौ । इन्द्रवायू इमे सुताः^३ । खद्वे इमे । पचेते इति—इत्यादिषु प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावो भवति ॥

‘ईदूदेद्’ इति किम् । वृत्ताविमौ । अत्र प्रकृतिभावो मा भूत् । ‘द्विवचनम्’ इति किम् । कुमारीयम् ॥^४

भा०—‘कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषम्’ ॥^५ यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् । ‘प्रगृह्यः प्रकृत्या’ इत्युपस्थितामिदं भवति—ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम् ॥ [इति ॥^६]

कार्यस्य कर्तव्यस्य काले सञ्ज्ञा परिभाषा चोपस्थिता भवति ॥

अस्मिन् सूत्रे काशिकाकृज्जयादित्यादयो^७ ‘मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥’ इति नवीनं वार्त्तिकं पठन्ति । महाभारतादिग्रन्थेषु दृष्ट्वोदाहरणानि ददति^८ । तत्तेषां भ्रम एव । कथम् । मूलव्याकरणग्रन्थमहाभाष्यपाठाभावात् । प्रयोजनमपि नास्ति । ‘म णी वो ष्ट् स्य’ इत्यत्र इव-शब्द एव नास्ति । किन्तु-

१. स०—सू० ३६ ॥

५. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

चतुरध्यायिकायां (१ । ७३—८१) अशेषतः प्रगृह्यविवरणं दृश्यते । वाजसनेयिनां प्रातिशाख्ये —‘एकार-ईकार-ऊकारा द्विवचनान्ताः ॥’ (१ ।

६. मित्ताचरावृत्तौ “मणीवादिर्न ॥” इति ॥

प्रक्रियाकौमुद्याम् “मणीवादेर्न ॥” इति पाठः ॥

भाषावृत्तौ चापि “मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य इत्येके ॥” इति ॥

६३) चान्द्रशब्दलक्षणे च—‘ईदूदेद्विवचनम् ॥’ इत्येके ॥” इति ॥

(५ । १ । १२५) इति ॥

७. न हि व्याकरणं दृष्ट्वा महाभारतादिग्रन्थाः प्रवृत्ताः,

न च तान् दृष्ट्वा व्याकरणं प्रवृत्तम् । अतो व्याकर-

णमहाभारतादीनां मिथः प्रामाण्यं नोपपद्यते ।

अनुन्यासकृता सम्यगुक्तम्—(दुर्घटवृत्तौ ७।२।६३)

न हि व्यासप्रभृतीनाधिकृत्याष्टाध्यायी कृता ।

ते हि भगवन्तो वाग्विषये स्वतन्त्राः ॥” इति ॥

८. “मणीवोष्टस्य लम्बेते पित्र्यौ वत्सतरौ मम ।”

इति काशिकायां महाभारतोद्धरणमिति दृश्यतां “ इ-

ण्डियन ऐण्टिकरी” (Indian Antiquary

Vol. XIV. P. 327 n. 5) इत्यादिषा प-

त्रिका—भा० १४।५०३२७। टिप्पणं ५॥

२. दृश्यतां तैत्ति० प्रा० (४ । ३)—“अन्तः ॥”

इति । अत्र च सोमयार्यकृतव्याख्यानम्—“पद-

स्यान्तः प्रग्रह-सञ्ज्ञो भवति ॥” इति ॥

३. ऋ०—१ । २ । ४ ॥

वा०—७ । ८ ॥

तै०—१ । ४ । ४ । १ ॥

मै०—१ । ३ । ६ ॥

का०—४ । २ ॥

४. पा०—सू० २ ॥

५०—सू० ३ ॥

पमार्थे वा-शब्दः' ॥ ११ ॥^२

‘ईदूदेद्विवचनम्’ ई, ऊ, ए, ये जिन के अन्त में हों। ऐसे जो द्विवचन शब्द हैं, वे ‘प्रगृह्यम्’ प्रगृह्य-सम्बन्धक हों। जैसे—इन्द्राग्नी इमौ। यहां प्रगृह्य-सम्बन्ध के होने से सन्धि नहीं हुई ॥

इस सूत्र में ‘ईदूदेत्’ यह पाठ इसलिये है कि ‘वृत्ताविमौ’ यहां सन्धि का निषेध न हो, ‘द्विवचनम्’ इसलिये है कि ‘कुमारीयम्’ यहां सन्धि हो जाय ॥

सम्बन्ध और परिभाषा सूत्र कार्य करने के समय उपस्थित होते हैं। जैसे प्रगृह्य-सम्बन्ध यहां की, तो ‘प्लुतप्रगृह्या अवि नित्यम्’ ॥ [यह] प्रगृह्य-सम्बन्ध का सूत्र यहां उपस्थित हो जायगा ॥

इस सूत्र पर काशिका चर्चाने वाले जयादित्य आदि पण्डितों ने ‘मणीवा० ॥’ यह नवीन वार्तिक बनाया है, सो केवल उन का भ्रम है, क्योंकि वार्तिकादि का मूल न्याकरणग्रन्थ जो महाभाष्य है, उसी में नहीं। और उस के बनाने का कुछ प्रयोजन भी नहीं, क्योंकि महा-भारतादि ग्रन्थों में ‘मणीवोष्ट्य’ [इत्यादि प्रयोग] देखके यह प्रयोजन दिया है। सो यहां इव-शब्द ही नहीं, किन्तु उपमावाची वा-शब्द है ॥ ११ ॥

अदसो मात् ॥ १२ ॥

‘ईदूदेतः प्रगृह्यम्’ इति चानुवर्तते। ‘द्विवचनम्’ इति निवृत्तम्। अदसः। ६।१।मात्। ५।१। अदस्-शब्दस्य मकारात् पर ईदूदेतः प्रगृह्य-सम्बन्ध भवन्ति। अमी अत्र। अमी आसते। अमू अत्र। अमू आसाते। [अत्र] प्रगृह्य-सम्बन्धत्वात् प्रकृतिभावः। एकारस्योदाहरणं नास्ति ॥

‘अदसः’ इति किम्। गम्यत्र। अत्र प्रकृतिभावो न भवति। ‘माद्’

१. अत्र कैयटः—“भाष्यवार्तिककाराभ्यामपठितत्वादप्रमाणमेतत्। ‘मणी वोष्ट्य’ इति तु प्रयोगो वा-शब्दस्योपमानार्थस्य। ‘रोदसीव’ इत्यादिस्तु छान्दसः प्रयोगः ॥”

प्रयोगाश्च भवन्ति—

“जातां मन्ये तुहिनमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्।”

(मेघदूत ओ० ८३)

“इष्टो गर्जति चातिदरपितवलो दुर्योधनो वा शिखी।”

(मृच्छकटिके ५।६)

अथापि मालविकाग्निमित्रे (५।१२), शि-

शुपालवधे (३।६३ ॥ ४।३५ ॥ ७।६४),

किरातार्जुनाय (३।१३), गणरत्नमहोदधौ (१।४)

अन्यत्र च वा-शब्द उपमार्थे प्रयुक्तो दृश्यते ॥

२. कोशे—“आ० ५ [व्याख्यातम्]” इति ॥

३. ६।१।१२५ ॥

४. स०—स० ४० ॥

चतुरध्यायिकायाम्—“अमी बहुवचनम् ॥”

(१।७८) वा० प्रा०—“अमी-पदम् ॥” (१।६८)

चान्द्रे शब्दलक्षणे—“अमू अमी ॥” (५।१।१२६)

५. वस्तुतः ईदन्तममी-शब्दमधिकृत्येदं सूत्रं प्रवृ-

त्तम्। अमू-शब्दस्य प्रगृह्यत्वं पूर्वसूत्रेण सिध्य-

त्येव। अत एव ऋग्यजुःप्रातिशाख्ययोश्चतुरध्या-

यिकायां चामी-शब्दो गणितः, नाम्-शब्दः। च-

न्द्रस्तु “ईदूदेद्विवचनम् ॥” इति सूत्रं पठित्वा

“अमू अमी ॥” (५।१।१२६) इति अमू-

शब्दं परिगणयन्नश्च एव ॥

इति किम् । असुकेऽत्र । अत्र प्रकृतिभावो न भवति ॥ १२ ॥^१

‘अदसः’ अदस्-शब्द के ‘मात्’ मकार से परे जो ‘ईदूदेत्’ ई. ऊ, ए, सो ‘प्रगृह्यम्’ प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हों । जैसे—अमी आसते । अमू आसाते । यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से सन्धि न हुई । अदस्-शब्द में एकार का उदाहरण नहीं है ॥

इस सूत्र में अदस्-शब्द इसलिये है कि ‘गम्यत्र’ यहां प्रकृतिभाव न हो । ‘मात्’ इसलिये है कि ‘असुकेऽत्र’ यहां प्रकृतिभाव न हुआ ॥ १२ ॥

शे^२ ॥ १३ ॥

सुपामादेशः ‘शे’ वेदे प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति । ‘अस्मे इन्द्राबृहस्पती^३’

[अत्र] प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः ॥

भा०—इह कस्मान्न भवति—काशे, कुशे, वंशे इति । ‘शेऽर्थ-वद्ग्रहणात्^४’ ‘अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य^५’ इति ॥^६ १३ ॥

‘शे’ सुपों के स्थान में वेद में जो शे-आदेश होता है, वह ‘प्रगृह्यम्’ प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हो । ‘अस्मे इन्द्राबृहस्पती^३’ यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से प्रकृतिभाव हुआ है । जहां एक प्रकार के कई शब्द होते हैं, वहां अर्थ वाले का ग्रहण होता है, अनर्थक का नहीं ॥ १३ ॥

निपात एकाजनाङ् ॥ १४ ॥

निपातः । १ । १ । एकाच् । १ । १ । अनाङ् । १ । १ । आङ्-व-
र्जितो य एकाच् निपातः, स प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति । एकआसौ अच्च=एकाच् ।
कर्मधारयसमासः । अ अपक्राम । इ इन्द्रं पश्य । उ उत्तिष्ठ । चादिषु पाठादका-
रादिस्वराणां निपात-सञ्ज्ञा । तेषां प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः ॥

‘निपातः’ इति किमर्थम् । चकारात्र । जहारात्र ।

‘चकार’ इत्यत्र णल्-प्रत्ययस्य योऽस्त्यकारस्तस्य प्रगृह्य-सञ्ज्ञा प्राप्ता । सा
निपात-ग्रहणान्न भवति ॥

१. कोशे—“आ० ५ व्या०” इति ॥

२. स०—स० ४१ ॥

अ० प्रा०—“अस्मे युष्मे त्वे अमी च प्रगृह्याः ॥”
(१ । ६ । २६)

तै० प्रा०—“अस्मे ॥” (४ । ६)

छन्दोविषयत्वाच्चेदं सूत्रं चान्द्रशब्दलक्षणे प्रतिपा-
दितम् ॥

३. अ०—४ । ४६ । ४ ॥

तै०—३ । ३ । ११ । १ ॥

मै०—४ । १२ । १ ॥ १७६ । १० ॥

का०—१० । १३ ॥ २३ । ११ ॥

४. वाचिकमिदम् ॥

५. पा०, प०—स० १४ ॥

६. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

७. स०—स० ४२ ॥

चा० श०—“अजनाङ् ॥” (५ । १ । १२७)

‘एकाच्’ इति किमर्थम् । ‘प्रेदं ब्रह्म’ ।

यत्र केवलोऽच् निपातस्तत्रैव स्यात् । प्र-शब्दे तु त्रयो वर्णाः ॥

‘अनाङ्’ इति किमर्थम् । आ+उदकान्तात् = ओदकान्तात् ।

अत्र प्रगृह्य-सञ्ज्ञाप्रतिषेधात् प्रकृतिभावो न भवति ॥

मा०—इह कस्मान्न भवति—‘आ एवं नु मन्यसे’, ‘आ एवं किल तद्’ इति । सानुबन्धकस्येदमाकारस्य ग्रहणं, अननुबन्धकश्चात्राऽऽकारः । क पुनरयं सानुबन्धकः, क निरनुबन्धकः ।

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः ।

एतमातं डितं विद्याद्, वाक्यस्मरणयोरङित् ॥^१ ॥^३

ईषदर्थे—आ+इदं धनं=एदं धनम् । ईषदित्यर्थः । क्रियायोगे—आ+इहि=

एहि । मर्यादायाम्—आ+उदकान्तात्=ओदकान्तात् । अभिविधौ—आ+इन्द्रप्रस्थाद्

वृष्टिः=इन्द्रप्रस्थाद् वृष्टिः । इन्द्रप्रस्थमभिव्याप्य वृष्टिर्जातित्यर्थः । एषु चतुर्वर्षे

सानुबन्धकस्याऽऽकारस्य प्रगृह्य-सञ्ज्ञाप्रतिषेधात् प्रकृतिभावाभावः । वाक्ये—आ

एवं नु मन्यसे । स्मरणे—आ एतं विद्याद् । अनयोर्द्वयोरर्थयान्ननुबन्धकस्या-

ऽऽकारस्य प्रगृह्य-सञ्ज्ञात्वात् प्रकृतिभावः ॥ १४ ॥^४

‘अनाङ्’ आङ् को छोड़के ‘एकाच्’ केवल जो एक ही अच् ‘निपातः’ निपात है, सो ‘प्रगृह्यम्’ प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हो । जैसे—अ अपक्राम । इ इन्द्रं पश्य । उ उत्तिष्ठ । यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से ‘अ, इ, उ’ इन वर्णों की सन्धि नहीं हुई । अकारादि स्वरों का चादिगण में पाठ होने से [इन की] निपात-सञ्ज्ञा है ॥

इस सूत्र में निपात-ग्रहण इसलिये है कि ‘चकारात्र’ यहां केवल एक अच् के होने से शल्-प्रत्यय के अकार की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा प्राप्त थी, सो न हुई । एकाच्-ग्रहण इसलिये है कि जिस निपात में हल् और अच् दोनों हों, उस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो । जैसे—‘प्रेदं ब्रह्म’ । यहां प्र-शब्द की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के न होने से सन्धि हो गई । प्रयोजन यह है कि जिस निपात में कोई हल् न मिला हो, केवल एक अच् ही हो, उस का [यहां] ग्रहण है । और ‘अनाङ्’ इसलिये

१. महाभाष्ये “प्रेदं ब्रह्म प्रेदं चतुर्म् ।” इति ॥ पाठः—

इदमैतरेयब्राह्मणस्य (३ । ११ । ८) शा-

ङ्ख्यायनश्रौतसूत्रस्य (८ । १६ । १ ॥ १६ ।

१ ॥ २० । १) वा वचः सम्भवति, न ऋग्वेद-

स्य (८ । ३७ । १) । ऋग्वेदे तु “प्रेदं ब्रह्म

चतुर्वर्षाविध ।” इति पाठः ॥

२. मुग्धबोधव्याकरणस्य दुर्गादासकृतटीकायां कृतः

“मर्यादायामभिविधौ क्रियायोगेऽर्थयोः ।

य आकारः सङ्घित्प्रोक्तः, वाक्यस्मरणयोरङित् ॥”

(४० सूत्रे)

३. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

४. कोशे—“आ० ५ व्या०” इति ॥

पदा है कि 'ओदकान्तात्' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के न होने से प्रकृतिभाव न हुआ। इस सूत्र में सानुबन्ध अर्थात् ङकारान्त आकार का निषेध है, केवल का नहीं। उस के जानने के लिये यह कारिका है—'ईषदर्थे० ॥' ईषदर्थ, क्रियायोग, मर्यादा और अभिविधि, इन चार अर्थों में तो आकार छिद् होता है। इसी चार प्रकार के आकार की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने का निषेध है। जैसे—'एदं धनम्' यहां ईषदर्थ अर्थात् थोड़े के वाची आकार के होने से उस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं हुई। 'एहि' यहां क्रियायोग अर्थात् इहि-क्रिया के साथ संयुक्त है, इससे प्रगृह्य-सञ्ज्ञा का निषेध हुआ। 'ओदकान्तात्' यहां मर्यादा अर्थ में आकार है, इससे प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं हुई। तथा 'एन्द्रप्रस्थं वृष्टिः' यहां अभिविधि अर्थ के वाची आकार की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के निषेध के होने से प्रकृतिभाव नहीं हुआ। वाक्य और स्मरण अर्थ में आकार निरनुबन्धक अर्थात् छिद् नहीं, इससे इन अर्थों में इस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जाती है। जैसे—'आ एवं नु मन्यसे' यहां वाक्य, और 'आ एषं किल तत्' यहां स्मरण अर्थ में प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से प्रकृतिभाव हो गया ॥ १४ ॥

ओत्' ॥ १५ ॥

[ओत् । १ : १ ।] ओद्-अन्तो निपातः प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति । 'निपातः' हो । तदन्तविधिनान्न-ग्रहणं भवति । आहो इति । उताहो इति । नो इदानीम् । अथो इति । अत्र प्रगृह्य-सञ्ज्ञा प्रकृतिभावः ॥

भा०—'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' ॥

तद्यथा—'गौणबन्धोऽजोऽग्नीषोमीयः ।' इति न वाहीकोऽनुबध्यते ॥

तेनेह न भवति—अगौः गौः समपद्यत गोऽभवत् ॥ १५ ॥

'ओत्' ओकारान्त जो 'निपातः' निपात है, वह 'प्रगृह्यम्' प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हो। जैसे—आहो इति । उताहो इति । यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से प्रकृतिभाव हो गया ॥

'गौण० ।' यह परिभाषा इसलिये है [कि] गौण और मुख्य के बीच में मुख्य को ही कार्य हो, गौण को नहीं। इससे 'गोऽभवत्' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हुई ॥ १५ ॥

१. स०—स० ४३ ॥

वृश्यतां वा० प्रा०—'ओकारश्च पदान्तेऽन-
वग्रहः ॥' (१ । ६४)

चा० श०—'ओत् ॥' (५ । १ । १२८)

२. अत्र प्रक्रियाकौमुद्यां (पूर्वार्थेऽच्सन्धिप्रकरणे)
"हेहयोः प्रगृह्यत्वमिति केचित् ।" इति मतान्तरत्वे-
नोदाहृतम् । प्रयोगौ च—'हे अन्न । हे ईश ।' इति ॥

३. पा०, प०—स० १५ ॥

४. कोशे—'०नुबध्यो' इति ॥

५. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

६. दुर्घटवृत्तौ "च्यन्तेऽध्यारोपितगोत्वाद् गौण-
त्वम् ।" इति ॥

७. कोशे—'आ० ५ व्या०' इति ॥

सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्थे ॥ १६ ॥

‘ओत्’ इत्यनुवर्तते । ‘निपातः’ इति निवृत्तम् । सम्बुद्धौ । ७ । १ । शाकल्यस्य । ६ । १ । इतौ । ७ । १ । अनार्थे । ७ । १ । यः सम्बुद्धिनिमित्त ओकारः, स शाकल्यस्याचार्यस्य^१ मतेन प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति^२, अनार्थे इति-शब्दे परतः । ‘सम्बुद्धौ’ इति निमित्तार्थे सप्तमी । पूर्णविद्यावतामनूचानानामाप्तानां पुरुषाणां यद् वाक्यं, तदार्थं भवति । अत्र प्रमाणम्—

तस्माद् यदेव किञ्चानूचानोऽभ्युहति, आर्षं तद् भवति ॥^३

अस्माद् भिन्ने सामान्यविद्वदुक्तमनार्थं, तस्मिन् । वायो इति । वायविति ॥ १६ ॥

पूर्णविद्यावान् आस पुरुषों का वाक्य आर्षं, इस से भिन्न अनार्थ कहाता है । ‘शाकल्यस्य’ शाकल्य ऋषि के मत से ‘सम्बुद्धौ’ सम्बुद्धिनिमित्त ‘ओत्’ ओकार की ‘प्रगृह्यम्’ प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो, ‘अनार्थे इतौ’ अनार्थ इति-शब्द परे हो तो । जैसे—वायो इति । वायविति । यहाँ प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के विकल्प से सन्धि का विकल्प हो गया ॥

सम्बुद्धि-ग्रहण इसलिये है कि ‘गवित्याह’ यहाँ प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो । इसलिये है कि विकल्प से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो । ‘इति’ इसलिये है कि ‘वायो’ — ‘अनार्थ’ इसलिये है कि ‘ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्’^४ यहाँ प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो ॥ १६ ॥

१. स०—सू० ४४ ॥

ऋ० प्रा०—“ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्यः ॥”

(१ । ६ । २८) इति, “प्रकृत्यतिकरणादौ प्रगृह्याः ॥” (२ । ६ । २७) इति च ॥

चा० श०—“सौ वेतौ ॥” (५ । १ । २२६)

२. अथमृग्वेदस्य पदपाठं कृतवान् । एष येतरेय-शाङ्ख्यायनारण्यकयोः (क्रमेण ३ । १ । १ ॥ ७ । १), निरुक्ते (६ । २८) अन्यत्र च प्रसिद्धोऽस्ति । अस्य मतत्वेनोदाहृता नियमाः प्रायेण शाकलपदपाठ उपयुक्ता दृश्यन्ते ॥

शतपथब्राह्मणे (११ । ६ । ३ । ३) बृहदारण्यकोपनिषदि (३ । ६ । १ ॥ ...) च श्रूयत एकोऽपरः शाकल्यो विदग्धः, यं वायुपुराण-कारः (६० । ५८ ॥ ...) पदकारं मन्यते । अतः केचित् कथयन्ति शाकल्यो विदग्धः, शाकल्यश्च न भिन्नाविति ॥

तथा च व्याङ्कितसङ्ग्रहादावयं श्लोको भवति—

५

“नमामि शाकलाचार्यं शाकल्यं स्थविरं तत्रा ।”

इति । एष शाकल्यस्थविर येतरेय-शाङ्ख्यायनारण्यकयोः (क्रमेण ३ । १ । १ । ६ ॥ ७ । १६ ॥ ...) ऋक्प्रातिशाख्ये (२ । ६ । ४४ ॥ ...) चापि श्रूयते । एषां सर्वेषां शाकल्याभिधानां कः सम्बन्ध इत्यथावधि निश्चेतुं न शक्यते ॥

३. ऋग्-वाजसनेयि-अथर्वसंहितानां पदपाठेषु सम्बुद्धिनिमित्त ओकारः सर्वत्र प्रगृह्यो भवति । तैत्तिरीयसंहितापदपाठे तु कचिद् कचिद्, सामवेदपदपाठे च न कचिदपि ॥

४. कोशोऽत्र “निरुक्ते अ० १३ । खण्ड १२” इत्युद्धरणस्थलम् ॥ वात्स्यायनभाष्ये (२ । १ । ६७)

—“य एवासा वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ।”

५. देखो येतरेयब्राह्मण (७ । २७)—“यत्त्वं कथं वेत्त ब्रह्मबन्धविति ।” काठकसंहिता (१० । ६) में “पता गा ब्रह्मबन्ध इत्यब्रवीत् ।” और काशिका में “पता गा ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत् ।” इस प्रकार है ॥

उञ्ज ऊँ ॥ १७ ॥

‘शाकल्यस्येतावनार्षे’ इत्यनुवर्तते । उञ्जः । ६ । १ । ऊँ । अ० । उञ्जः प्रगृह्य-सञ्ज्ञा भवति । उञ्जः स्थाने ‘ऊँ’ इत्ययमादेशो भवति । सोऽपि प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति, शाकल्यस्याचार्यस्य मतेनानार्षे इति-शब्दे परतः । उ इति । विति । ऊँ इति । प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः । शाकल्य-ग्रहणं विभाषार्थम् । ‘इतौ’ इति किम् । उ अस्य = वस्य^१ ॥

भा०—‘उञ्जः ॥’ इति योगविभागः कर्त्तव्यः । ‘उञ्जः’ शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्य-सञ्ज्ञा भवति । उ इति । विति । ततः ‘ऊँ ॥’ उञ्जः ‘ऊँ’ इत्ययमादेशो भवति शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्य-सञ्ज्ञकश्च । ऊँ इति ॥ किमर्थो योगविभागः । शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन ऊँ विभाषा यथा स्यात् । ऊँ इति । उ इति । अन्येषामाचार्याणां मतेन विति ॥^२

अनेनैतद् सिद्धयति, पाणिनीयमिदं सूत्रमेकमेव । कथम् । सत्येकस्मिन् सूत्रे व्याख्यानरीत्या योगविभागः सम्भवति । यदि द्वे एव स्यातां, तर्हि योगविभाग-करणमनर्थकं स्यात् । एतत् सिद्धेऽपि जयादित्यादयः^३ पृथक् पृथक् द्वे सूत्रे व्याचक्षते । यदि महाभाष्यकारकृतं योगविभागं दृष्ट्वा कथयन्ति, तर्हि यत्र यत्र महाभाष्यकारैर्योगविभागः कृतोऽस्ति, तत्र तत्र सर्वत्र पृथक् पृथक् सूत्राणि कर्त्तव्यानि । अतो ज्ञायत एतेषां महान् भ्रमो जातः ॥ १७ ॥

‘उञ्जः’ उञ्, इस की ‘प्रगृह्यम्’ प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो, ‘शाकल्यस्य’ शाकल्य आचार्य के मत

१. स०—स० ४५, ४६ । अस्मात् सूत्रविभाग-ज्जायते, न भगवता दयानन्दसरस्वतीस्वामिना स्वयमेव ग्रन्थः संशोधित इति ॥

वा० प्रा०—‘उकारोऽपृक्तो दीर्घमनुनासिकम् ॥’ (४ । १३)

अ० प्रा०—‘आमन्त्रित उकार इतावनार्षे अकृत्या ॥’ (३ । १ । ३)

अनुरध्यायिकायाम्—‘उकारस्येतावपृक्तस्य ॥ दीर्घः प्रगृह्यश्च ॥’ (१ । ७२, ७३)

चा० श०—‘उञ् ॥ ऊँ ॥’ (५ । १ । १३०, १३१)

२. दृश्यतामृगवेदे—‘घृतं वस्य धाम ॥’ (२ । ३ । ११)

३. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

४. अत्रम्भट्टो रामचन्द्रश्चापि द्वे सूत्रे कृतवन्तौ । जयादित्यात् पूर्व चन्द्रेणैतत् सूत्रं ‘उञ् ॥ ऊँ ॥’ इत्येकाक्षरलाघवार्थं द्विधा विभक्तम् । जयादित्यादिकृते विभागे तु न केवलमक्षरलाघवं न भवति, परं सूत्रपाठविरोधोऽपि जायते ॥

५. यथा ‘सह सुपा ॥’ (२ । १ । ४) इत्यत्र ॥

में, 'अनार्षे इतौ' अनार्ष इति-शब्द के परे। तथा 'उञः' उञ् के स्थान में 'ऊँ' दीर्घ अनुनासिक ऊँ आदेश हो। वह भी प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हो, अनार्ष इति-शब्द के परे शाकल्य आचार्य के मत में, अर्थात् विकल्प करके। जैसे—उ इति। ऊँ इति। यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से प्रकृतिभाव हो गया। 'विति' यह दोनों का एकसा ही है। यहां विकल्प के होने से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं हुई। शाकल्य-ग्रहण विकल्पार्थ और इति-शब्द इसलिये है कि 'उ अस्य = वस्य' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं होती ॥

भाष्यकार ने इस सूत्र के दो विभाग किये हैं, इसलिये कि दो अर्थों से तीन उदाहरण सिद्ध हों। इस भाष्यकार के कथन से यह बात सिद्ध है कि पाणिनि महाराज का बनाया एक ही सूत्र है, क्योंकि जो दो ही होते, तो विभाग करना कैसे बनता। और जो भाष्यकार के विभाग करने से दो सूत्र बनालें, तो भाष्यकार ने जहां २ विभाग किया है, वहां २ सर्वत्र दो २ सूत्र कर लेना चाहिये। इस से सिद्ध हुआ कि एक ही सूत्र है। फिर पाण्डित जयादित्य आदि ने दो सूत्र अलग २ करके व्याख्यान किया है, सो केवल इन लोगों की भूल ही है ॥ १७ ॥

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥ १८ ॥

'शाकल्यस्येतावनार्षे' इति निवृत्तम्। ईदूतौ। १।२।च। अ०। सप्तम्यर्थे। ७।१। सप्तम्यर्थे वर्त्तमानाधीदूतौ प्रगृह्य-सञ्ज्ञौ भवतः। ईच्च ऊच्च = ईदूतौ। द्वन्द्वः। सप्तम्या अर्थः = सप्तम्यर्थः, तस्मिन्। सोमो गौरी अधि श्रितः^१। गौर्यामित्यर्थः। मामकी तनू इति^२। मामक्यां तन्वामित्यर्थः। प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः ॥

'ईदूतौ' इति किम्। आकारस्य सा भूत् ॥

सप्तमी-ग्रहणं किम्। धीती, मती^३, सुष्टुती = धीत्या, मत्या, सुष्टुत्या इति प्राप्ते

[प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न भवति] ॥

१. छन्दोविषयमिदं सूत्रम् ॥ अथर्वप्रातिशाख्ये (२।१।६) चतुरध्यायिकायां (१।७४) च—“ईकारोकारौ च सप्तम्यर्थे ॥”

अपि च छन्दसि आदन्तं द्विवचनं परेण उकारेण न कचिद् सन्धीयते। “रोदसीमे” (ऋ० ७।६०।३), “वेचस्याम्” (ऋ० २।३।४) इत्यत्रापि प्रगृह्यभावः ॥

तथा च “पृथिवी, (“पृथिवी उत द्यौः” १।६६।६) पृथुजयी, (“पृथुजयी असुर्या” १।१६८।७) सम्राज्ञी” (“सम्राज्ञी अधि देवेषु” १०।८५।४६) इत्येते प्रथमैकवचना ईदन्ताः शब्दा ऋग्वेदे न सन्धीयन्ते ॥

२. ऋ०—६।१२।३ ॥

सा०—२।५४८ ॥

३. अत्र न्यासकारः—“ “अध्यस्यां मामकी तनू इति।” एतद् वेदवाक्यं वेदितव्यम्। अत्र ‘मामकी, तनू’ इति शब्दौ ‘सुपां सुलुक् ॥’ (७।१।३६) इति लुप्तसप्तमीकौ। तत्र यदा अर्थाद् व्यवच्छिन्न-स्वरूपे व्यवस्थापनाय इति-शब्दः प्रयुज्यते, तदैते उदाहरणे ॥”

संहितासु ब्राह्मणेषु च गवेषणीयमिदं वचः ॥

४. “धीत्ये मे मनसा सं हि जग्मे।” (ऋ० १।१६४।८ ॥ अ० ६।६।८) “नवस्या मत्या-द्विष्यन्तं न भोजसे।” (ऋ० ८।५६।३ ॥)

अर्थ-ग्रहणं किमर्थम् । वाप्यामश्वो = वाप्यश्वः । नद्यामातिः = नद्यातिः । अत्र सप्तमी लुप्ता, तस्मान्न भवति । यः 'सुपां सुलुक्०' ॥' इति सप्तम्याः पूर्वसवर्णो भवति, तस्यात्र ग्रहणम् ॥

चकार-ग्रहणं प्रगृह्य-सञ्ज्ञापूर्त्यर्थम् ॥

भा०—एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यः 'न प्रगृह्य-सञ्ज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवति ॥' इति । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । कुमार्योरंगारं = कुमार्यंगारम् । बध्वोरंगारं = बध्वंगारम् । प्रत्ययलक्षणेन प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न भवति^३ ॥

'ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम् ॥' इति प्रगृह्य-सञ्ज्ञा प्राप्ता । सानेन ज्ञापनेन अतिषिद्धयते ॥ १८ ॥

'सप्तम्यर्थे' सप्तमी के अर्थ में वर्तमान 'ईदूतौ' जो ईं, ऊ हैं, सो 'च' भी 'प्रगृह्यम्' प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हों । जैसे—'सोमो गौरी अधि श्रितः' ॥' यहां गौरी-शब्द में ईकार सप्तमी के अर्थ में है, उस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से प्रकृतिभाव हो गया । तथा 'मामकी तनू इति ।' यहां तनू-शब्द का ऊकार सप्तमी के अर्थ में वर्तमान है, इससे उस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा है ॥

इस सूत्र में ईकार ऊकार का ग्रहण इसलिये है कि सप्तमी के अर्थ में वर्तमान जो आकार हो, उस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो । सप्तमी-ग्रहण इसलिये है [कि] 'धीती' यहां तृतीया के अर्थ में वर्तमान ईकार की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो । अर्थ-ग्रहण इसलिये है कि जहां सप्तमी का लुक् हो जाय, वहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो । चकार-ग्रहण इसलिये है कि प्रगृह्य-सञ्ज्ञा इस सूत्र में समाप्त हुई ॥

प्रगृह्य सञ्ज्ञा के सूत्रों में प्रत्ययलक्षण से जो प्रगृह्य-सञ्ज्ञा पाती है, सो अर्थ-ग्रहण के ज्ञापक से नहीं होती । इसी सूत्र से 'न प्रगृह्य० ॥' यह परिभाषा निकली है ॥

इस सूत्र पर दो कारिका हैं^६ ॥ १८ ॥

दाधा ध्वदाप् ॥ १९ ॥

१. ७।१।३६॥

२. कोशेऽत्र "इति" इत्यपि ॥

३. आ०. १।पा०. १।आ०. ५॥

४. १।१।११॥

५. आ०—६॥१२।३॥

स्मृ०—२।५४८॥

६. देखो महाभाष्य—

"ईदूतौ सप्तमीत्येव लुप्तेऽर्थग्रहणाद् भवेत् ।

पूर्वस्य चेत् सवर्णोऽसावाढाम्भावः प्रसज्यते ॥

वचनाद् यत्र दीर्घत्वं, तत्रापि सरसी यदि ।

ज्ञापकं स्यात् तदन्तत्वे मा वा पूर्वपदस्य भूत् ॥"

७. आ०—सू० २४६॥

दाधाः । १ । ३ । घु । १ । १ । 'सुपां सुलुक्०' ॥' इति सोर्लुक् ।
अदाप् । १ । १ । दाश्च धाश्च = दाधाः । द्वन्द्वः । दाधा घु-सञ्ज्ञा भवन्ति,
प्रकृतयश्चैषां घु-सञ्ज्ञा भवन्ति । दाप् लवने^२ । दैप् शोधने^३ । एतौ वर्जयित्वा ।
डुदाब् [दाने^४]—प्रणिदीयते । दाण् दाने^५—प्रणिदाता । दोऽवखण्डने^६—
प्रणिद्यति । देङ् रक्षणे^७—प्रणिदयते । डुधाब् [धारणपोषणयोः]—प्रणिधीयते ।
धेद् [पाने^८]—प्रणिधयति वालो मातरम् । अत्र सवर्त्त घु-सञ्ज्ञत्वाभेर्नकारस्य
णत्वम् ॥

'अदाप्' इति किमर्थम् । दाप् लवने^२—अवदातं कुशकाशम् । दैप् शोधने^३
—अवदातं मुखम् । अत्र घु-सञ्ज्ञाभावाद् 'अच उपसर्गात्तः' ॥' इति तत्त्वं न
भवति ॥

भा०—अर्थवत् आगमस्तद्गुणीभूतोऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते' ॥

लविता । चिकीर्षिता ॥^{१३}

अत्र तृज्-ग्रहणेनेडागमस्य ग्रहणाद् गुणादीनि कार्याणि भवन्ति । इमामेव
परिभाषां केचिद् भट्टोजिदीक्षितादयो^{१३} महाभाष्यविरुद्धां पठन्ति । 'यदागमस्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ॥' इति । एतत् तेषां भ्रम एवास्ति ॥

दीङः प्रतिषेधः स्था-घोरित्वे^{१४} ॥

उपादास्तस्य स्वः शिन्नकस्य ॥

'स्थाध्वोरेच्च' ॥' इतीत्त्वं प्राप्तं, तन्न भवति ॥

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति 'नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्'^{१५} ॥' इति । यदयं
'उदीचां माडो व्यतीहारे'^{१६} ॥' इति मेडः सानुबन्धकस्याऽऽत्त्वभू-
तस्य ग्रहणं करोति ॥

१. ७ । १ । ३६ ॥

२. धा०—अदा० ५० ॥

३. धा०—स्वा० ६७१ ॥

४. धा०—जुहो० ६ ॥

५. धा०—स्वा० ६७७ ॥

६. धा०—दि० ४० ॥

७. धा०—स्वा० १०११ ॥

८. धा०—जुहो० १० ॥

९. धा०—स्वा० ६५१ ॥

१०. ७ । ४ । ४७ ॥

११. पा०—सू० ११ ॥

१२. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

१३. भट्टोजिदीक्षितादिगणे नागेशस्यापि नाम आ-
द्यम् ॥ (इत्यतां परिभाषेन्दुशेखर एकादशं सूत्रम्)

१४. वार्त्तिकमिदम् ॥

१५. १ । २ । १७ ॥

१६. पा०—सू० ६ ॥

प०—सू० ७ ॥

१७. ३ । ४ । १६ ॥

अनयां परिभाषया दाब्-ग्रहणे दैपोऽपि ग्रहणं भवतीति ॥ १६ ॥^१

‘दाधाः’ डुधान्, दाण्, दो, देङ्, डुधान्, धेद्, इन धातुओं की घु-सञ्ज्ञा हो, दाप्, दैप् इन दो धातुओं को छोड़के । जैसे—प्राणिदीयते, प्राणित्रीयते इत्यादि उदाहरणों में नकार को णकार, आकार को ईकार इत्यादि कार्य घु-सञ्ज्ञा के होने से होते हैं ॥

इस सूत्र में अदाप्-ग्रहण इसलिये किया है कि ‘अवदातं कुशकाशम्, अवदातं मुखम्’ यहां भी जो घु-सञ्ज्ञा हो जाती, तो द के स्थान में त हो जाता, सो नहीं हुआ ॥

‘अर्थवत० ॥’ इस परिभाषा से अर्थवान् शब्द को जो आगम होता है, वह उसी के साथ गिना जाता है । जैसे—लविता । यहां तृच् के साथ इद् के आगम के ग्रहण होने से गुण आदि कार्य होते हैं ॥

इस परिभाषा को भट्टोजिदीक्षितादि लोग महाभाष्य से विरुद्ध पढ़ते हैं, सो उन की भूल है ॥

‘दीङः प्रति० ॥’ इस वार्तिक से ‘उपादास्त’ यहां घु-सञ्ज्ञा के न होने से आकार को इकार पाता था, सो न हुआ ॥

‘नानुबन्ध० ॥’ इस परिभाषा से इस सूत्र में दाप् के निषेध में दैप् का भी निषेध हो जाता है ॥ १६ ॥

आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥ २० ॥

आद्यन्तयोर्ह्यपरिभाषा । आद्यन्तवत् । अ० । एकस्मिन् । ७ । १ ।

न्ताभ्यां तुल्यं = अर्थमेकस्मिन्नपि भवति । आदिश्चान्तश्च = आद्यन्तौ । आद्य-

रिव = आद्यन्तवत् । औपम्येन वा प्रत्यये वा प्रत्यये आद्युदात्तो भवति । अणुप्रत्ययस्य च

रादिवद्भावादुदात्तो भव[ति] । एधते । ‘अचोऽन्त्यादि टि’ ॥’ इति टि-सञ्ज्ञा भवति, तत्र केवलस्याप्यकारस्य टि-सञ्ज्ञा यथा स्यात् ॥

‘एकस्मिन्’ इति किम् । सभासन्नयने भवः = साभासन्नयनः । आकारमाश्रित्य वृद्ध-सञ्ज्ञा न भवति ॥

भा०—किमर्थमिदमुच्यते ।

सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेकस्मिन्नाद्यन्तवद्वचनम्^२ ॥

सत्यन्यस्मिन् यस्मात् पूर्वं नास्ति, परमस्ति, स आदिरित्युच्यते । सत्यन्यस्मिन् यस्मात् परं नास्ति, पूर्वमस्ति, सोऽन्त

१- कोशेऽत्र—“आ० ५ व्या०” इति ॥

२. स०—सू० ५१ ॥

इत्यतां तै० प्रा०—“आद्यन्तवच्च ॥” (१।५५)

३. १।१।६३ ॥

४. वार्तिकमिदम् ॥

इत्युच्यते । सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेतस्मात् कारणाद् ए-
कस्मिन्नाद्यन्तापदिष्टानि कार्याणि न सिद्धयन्ति । इष्यन्ते च
स्युरिति । तान्यन्तरेण यत्नं न सिद्धयन्ति इत्येकस्मिन्नाद्यन्त-
वद्वचनम् । एवमर्थमिदमुच्यते ॥^१

आद्यन्तविधायकानि कार्याण्येकस्मादन्यस्मिन् भवन्ति । तान्येकस्मिन्नपि
स्युरिति सूत्रप्रयोजनम् ॥ २० ॥^२

यह अतिदेश विधायक परिभाषासूत्र है । अतिदेश उस को कहते हैं कि-जो एक के तुल्य
दूसरे को कार्य का विधान हो । 'आद्यन्तवत्' आदि और अन्त को जो कार्य विधान हों, वे
'एकस्मिन्' एक में भी हो जाएं । जैसे प्रत्यय को आद्युदात्त विधान किया है, तो 'औपगयः'
यहां एक अक्षर के प्रत्यय को भी आद्युदात्त हो गया । अच् [= अचों] को लेके जो अन्त,
और [यह अन्तिम अच् जिस के] आदि [में] है, वह टि-सञ्ज्ञक होता है । सो 'एधते'
यहां एक अक्षर की भी टि-सञ्ज्ञा हो गई । आदि उसे कहते हैं कि जिस के पूर्व कोई न हो,
और पर हो । अन्त उसे कहते हैं कि जिस के पर कोई न हो, और पूर्व हो । अर्थात् ये दोनों
सम्बन्धी शब्द हैं, इससे आदि अन्त को कहे हुए कार्य एक के बीच में
इस प्रयोजन के लिये यह सूत्र है ॥ २० ॥

तरप्-तमपौ घः ॥ २१ ॥

तरप्-तमपौ । १ । २ । घः । १ । १ । तरप् च तमप् च तौ तरप्-तमपौ
प्रत्ययौ घ-सञ्ज्ञौ भवतः । कुमारितरा । कुमारितमा । 'घरूपकल्प०'^३ ॥ इति
घ-सञ्ज्ञके प्रत्यये कुमारी-शब्दस्य ह्रस्वत्वम् । भवतितराम् । भवतितमाम् । अत्र
घ-सञ्ज्ञकात् प्रत्ययात् 'किमेत्तिङ्ङव्ययादा०'^४ ॥ इत्यामु-प्रत्ययः । घ-प्रदेशानि
सूत्राणि—'नाद् घस्य०'^५ ॥ इत्यादीनि ॥ २१ ॥^६

'तरप्-तमपौ' तरप्, तमप् इन दोनों प्रत्ययों की 'घः' घ-सञ्ज्ञा हो । जैसे—'कुमारि-
तरा, कुमारितमा' । यहां कुमारी-शब्द को घ-सञ्ज्ञक प्रत्यय के परे ह्रस्व हो गया ॥ २१ ॥

बहु-गण-वतु-डति सङ्ख्या ॥ २२ ॥

बहु-गण-वतु-डति । १ । १ । सङ्ख्या । १ । १ । बहुश्च गणश्च वतुश्च
डतिश्च, एषां समाहारः = बहु-गण-वतु-डति । बहु-गणौ वतुप्रत्ययान्त-डतिप्र-

१. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

२. कोशेऽत्र—“आ० ५ व्या०” इति ॥

३. ६ । ३ । ४३ ॥

४. ५ । ४ । ११ ॥

५. ८ । २ । १७ ॥

६. कोशेऽत्र—“आ० ५ व्या०” इति ॥

७. चा० १०—“कतिगणौ तद्वत् ॥ वतोः ॥”

(४ । १ । ३३, ३४)

त्ययान्तौ च शब्दाः सङ्ख्या-सञ्ज्ञा भवन्ति । बहुकृत्वः । बहुशः । गणकृत्वः । गणशः । तावत्कृत्वः । कतिकृत्वः । अत्रैतेषां सङ्ख्या-सञ्ज्ञत्वात् कृत्वसुच्-
शस्-प्रत्ययौ ॥

भा०—कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः^१॥

यथा लोके । तद्यथा लोके—‘गोपालकमानय’ ‘कटजकमा-
नय’ इति यस्यैषा सञ्ज्ञा भवति, स आनीयते, न यो गाः
पालयति, यो वा कटे जातः ॥

अध्यर्धग्रहणं च समासकन्विध्यर्थम्^२॥

समासविध्यर्थं तावत्—अध्यर्धशूर्पम् । कन्विध्यर्थम्—अध्य-
र्धकम् ॥

अर्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः सङ्ख्या-सञ्ज्ञो भवतीति वक्त-
व्यम् । समास-कन्-विध्यर्थमेव । अर्धपञ्चमशूर्पम् । अर्धप-
ञ्चमकम् ॥^३

अध्यर्धरूपेणक्रीतिमित्यर्थे तद्धितप्रत्ययस्य लुकि सङ्ख्या-सञ्ज्ञत्वात् तद्धितार्थे
समासः । अध्यर्ध-शब्दस्य सङ्ख्या-सञ्ज्ञत्वात् ‘सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः
कन्’॥’ इति कन् ॥ अर्धः पञ्चमो येषामिति बहुव्रीहौ कृतेऽर्धपञ्चमैः शूर्पैः
क्रीतमिति सङ्ख्या-सञ्ज्ञत्वात् ‘सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः’॥’ इति द्विगु-सञ्ज्ञा । द्विगु-
सञ्ज्ञत्वात् तद्धितप्रत्ययस्य लुक् । तदा तद्धितार्थे समासः, कन्-प्रत्ययश्च ॥ २२ ॥^४

‘बहु-गण-वतु-डति’ बहु, गण, वतुप्-प्रत्ययान्त और डति-प्रत्ययान्त शब्दों की ‘सङ्-
ख्या’ सङ्ख्या-सञ्ज्ञा हो । जैसे—बहुकृत्वः । गणकृत्वः । तावत्कृत्वः । कतिकृत्वः । यहां
सङ्ख्या-सञ्ज्ञा के होने से कृत्वसुच्-प्रत्यय हो गया । ‘कृत्रिमा० ॥’ इस परिभाषा का प्रयौ-
जन यह है कि एक गोपाल-शब्द दो अर्थों का वाची है, अर्थात् एक तो किसी मनुष्य का
गोपाल नाम है, और जो गौश्रों का पालन करे, उस का भी गोपाल नाम है । तो गोपाल
के कहने से उस को समझना चाहिये कि जिस का गोपाल नाम है ॥

‘अध्यर्ध० ॥’ इस वार्तिक से अध्यर्ध-शब्द की सङ्ख्या-सञ्ज्ञा इसलिये की है कि जिससे

१. पा०—सू० ८ ॥

३. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

अस्मिन् स्थले महामाष्ये “कार्यसम्प्रत्ययो
भवति ॥” इति पठ्यते । अन्यत्र तु महामाष्येऽपि
भवति-शब्दो नास्ति ॥

४. ५ । १ । २२ ॥

५. २ । १ । ५२ ॥

६. कोशेऽत्र—“आ० ५ [व्या०]” इति ॥

२. वार्तिकमिदम् ॥

‘अर्धधर्म’ यहां समास और ‘अर्धधर्मकम्’ यहां कन्-प्रत्यय हो जाय । तथा ‘अर्ध-पूर्व० ॥’ इस दूसरे वार्तिक से अर्धपञ्चम-शब्द की सङ्ख्या-सञ्ज्ञा करने का भी, समास और कन्-प्रत्यय का होना ये ही दो प्रयोजन हैं ॥ २२ ॥

ष्णान्ता षट् ॥ २३ ॥

‘सङ्ख्या’ इत्यनुवर्तते । ष्णान्ता । १ । १ । षट् । १ । १ । षश्च नञ्च = षणौ । ष्णावन्तौ यस्याः सा । षकारान्ता नकारान्ता सङ्ख्या षट्-सञ्ज्ञा भवति । षट् तिष्ठन्ति । पञ्च गच्छन्ति । षट्-सञ्ज्ञत्वाज्जसः ‘षट्भ्यो लुक् ॥’ इति लुक् । ‘शतानि, सहस्राणि’ इत्यत्र सन्निपातलक्षणत्वात् षट्-सञ्ज्ञा न भवति ॥ २३ ॥^३

इस सूत्र में ‘सङ्ख्या’ की अनुवृत्ति है । ‘ष्णान्ता’ षकारान्त नकारान्त जो ‘सङ्ख्या’ सङ्ख्यावाची शब्द हैं, उन की ‘षट्’ षट्-सञ्ज्ञा हो । षट् तिष्ठन्ति । पञ्च गच्छन्ति । यहां षट्-सञ्ज्ञा के होने से षट्-शब्द और पञ्च-शब्द की जस्-विभक्ति का लुक् हो गया ॥ २३ ॥

डति च ॥ २४ ॥

‘सङ्ख्या’ इत्यनुवर्तते । [डति । १ । १ । च । अ० ।] डति-प्रत्ययान्ता सङ्ख्या षट्-सञ्ज्ञा भवति । कति पठन्ति । षट्-सञ्ज्ञत्वाज्जसो लुक् ॥ २४ ॥^४
‘च’ और ‘डति’ डति-प्रत्ययान्त जो ‘सङ्ख्या’ सङ्ख्या है, सो ‘षट्’ षट्-सञ्ज्ञक हो । कति पठन्ति । यहां षट्-सञ्ज्ञा के होने से जस्-विभक्ति का लुक् हो गया ॥ २४ ॥

कक्त्वतु निष्ठा ॥ २५ ॥

[क-क्त्वतु । १ । २ ।] कश्च क्वतुश्च तौ । [निष्ठा । १ । १ ।] क-क्त्वतु प्रत्ययौ निष्ठा-सञ्ज्ञौ भवतः । कृतः । कृतवान् । निष्ठाविधायकानि सर्वाणि कार्याणि क-क्त्वत्वोर्भवन्ति । ककारो गुणप्रतिषेधार्थः । उकारो ङीवाद्यर्थः ॥

निष्ठाविधायकानि सूत्राणि—‘निष्ठायां सेटि^६ ॥’ इत्यादीनि ॥ २५ ॥

[‘क-क्त्वतु’] क, क्वतु इन दोनों प्रत्ययों की [‘निष्ठा’] निष्ठा-सञ्ज्ञा है । कृतः । कृतवान् । यहां कृ धातु से निष्ठा-प्रत्यय विधान है, सो कृ, क्वतु होते हैं । क-क्त्वतु-प्रत्ययों में ककार गुण के प्रतिषेध के लिये, और उकार ङीप्-प्रत्यय होने के लिये है ॥ २५ ॥

१. ना०—सं० १३८ ॥

चा० श०—“ष्यः सङ्ख्याया लुक् ॥”

(२ । १ । २१) अस्मिन् चान्द्रसूत्रे “बहुगणव-

तुडति सङ्ख्या ॥” (१ । १ । २२) इत्येकं,

“षट्भ्यो लुक् ॥” (७ । १ । २२) इत्यपरञ्च

पश्चिमीयं सूत्रं प्रतिनिहितम् ॥

२. ७ । १ । २२ ॥

३. कोशेऽत्र—“आ० ५ व्या०” इति ॥

४. चा० श०—“कतेः ॥” (२ । १ । २३)

५. कोशेऽत्र—“आ० ५ व्या०” इति ॥

६. ६ । ४ । ५२ ॥

अथ सर्वनाम-सञ्ज्ञाधिकारः ॥

सर्वादीनि सर्वनामानि ॥ २६ ॥

सर्वादीनि । १ । ३ । सर्वनामानि । १ । ३ । सर्वादीनां शब्दानां सर्वना-
म-सञ्ज्ञा भवति । सर्व-शब्द आदिर्येषां तानीमानि सर्वादीनि । तद्गुणसंवि-
ज्ञानबहुव्रीहि-समासः । सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वनामानि । तेनैकस्य करय-
चित् सर्वो नाम, तत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञा न भवति । सर्वाय देहीति । सर्वस्मै, सर्व-
स्मात्, सर्वस्मिन्, विश्वस्मै, विश्वस्मात्, विश्वस्मिन्—अत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञाविधा-
नात् डेः स्थाने स्मै, डसेः स्थाने स्मात्, डेः स्थाने स्मिन् ॥

सर्वनामविधायकानि—‘सर्वनाम्नः स्मै’ ॥’ इत्यादीनि ॥

भा०—सर्वनाम-सञ्ज्ञायां निपातनाणत्वं न भविष्यति ।
किमेतन्निपातनं नाम । अविशेषेण शत्वमुक्त्वा विशेषेण
निपातनं क्रियते । तत्र व्यङ्ग्यमाचार्यस्याभिप्रायो गम्यते—इदं
न भवतीति ॥

महतीयं सञ्ज्ञा क्रियते । सञ्ज्ञा च नाम यतो न लिखीयः ।
कुत एतत् । लघ्वर्थं हि सञ्ज्ञाकरणम् । तत्र महत्याः सञ्ज्ञायाः
करण एतत् प्रयोजनम्—अन्वर्थसञ्ज्ञा यथा विज्ञायेत ।
सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि भवन्ति । सर्वेषां नामानीति चातः
सर्वनामानि । सञ्ज्ञोपसर्जने [च] विशेषेऽवतिष्ठेते ॥”

[१] सर्व । [२] विश्व । [३] उभ । [४] उभय ।

[५] डतर । [६] डतम् । [७] अन्य । [८] अन्यतर । [९] इतर ।

१. सर्वादिगणेऽपाठिताः केवलादिशब्दा अपि छन्दसि साक्षि विश्वस्मिन् भरे ।” (ऋ० १०।४६।१)

यत्र तत्र सर्वनामानीव रूपाणि लभन्ते । यथा—

केवले । १ । ३ (ऋ० १० । ५१ । ६),

समानस्मात् । ५ । १ । (ऋ० ५ । ८७ । ४),

मध्यमस्याम् । ७ । १ । (ऋ० १ । १०८ । ६),

अवमस्याम् । ७ । १ । (ऋ० १ । १०८ । ६)

इत्यादीनि ॥

२. प्रायेण छन्दसि प्रयुक्तत्वात् तत्रैवेमानि रूपाणि
अन्वेष्टव्यानि । यथा—“इरा विश्वस्मै भुवनाय
जायते ।” (ऋ० ५ । ८३ । ४) “विश्वस्मादि-
न्द्र उत्तरः ” (का० ८ । १७) “अयज्वनः

३. ७ । १ । १४ ॥

४. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

५. प्रायशो लोकेऽस्य सर्वनामसञ्ज्ञस्य प्रयोगा न
सन्ति । छान्दसाः प्रयोगाश्च—

विश्वेभिः । ३ । ३ । (ऋ० १ । ६ । १ ॥

का० २ । १५ ॥...), विश्वाय । ४ । १ ।

(ऋ० १ । ५० । १ ॥ का० ४ । ६ ॥ ...),

विश्वात् । ५ । १ (ऋ० १ । १८६ । ६ ॥

का० ३८ । ५ ॥...) इत्यादयः ॥

[१०] त्वत् । [११] त्व^१ । [१२] नेम^२ । [१३] सम^३ । [१४] सिम^४ ॥ [१५-२१]
 'पूर्व-पर-अवर-दक्षिण-उत्तर-अपर-अधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' ॥ [२२]
 'स्वमज्ञातिथनाख्यायाम्' ॥ [२३] 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः' ॥^५

[२४] त्यद् । [२५] तद् । [२६] यद् । [२७] एतद् । [२८] इदम् ।
 [२९] अदस् । [३०] एक ।^६

[३१] द्वि । [३२] युष्मद् । [३३] अस्मद् । [३४] भवतु । [३५]
 किम् ॥^७ इति सर्वादः ॥

भा०—अथोमस्य सर्वनामत्वे कोऽर्थः । उमस्य सर्वनामत्वेऽक-
 जर्थः पाठः क्रियते । उमकौ ॥

१. अनुदात्तमिदं पदम् । प्रयेण विंशतिवारमिदं ऋ-
 ग्वेदे प्रयुक्तम् । लोकेऽस्य प्रयोगो न कचिदुपलभ्य-
 ते । ऋग्वेदे प्रयुक्तानि रूपाणि—त्वः । १ । १ ।
 त्वे । १ । ३ । त्वं । २ । १ । त्वेन । ३ । १ ।
 त्वस्मै । ४ । १ । त्वा । स्त्री० । १ । १ । त्वस्यै ।
 स्त्री० । ४ । १ । त्वद् । नपुं० । १ । १ ॥

निरुक्ते (१ । ७-६) च—

“त्व इति विनिग्रहाधीनं सर्वनामानुदात्तमर्ध-
 नामेत्येके । ... निपात इत्येके । तत्कथमनुदात्त-
 प्रकृति नाम स्यात् । दृष्टव्यं तु भवति । ‘उत
 त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः ।’ इति द्वितीयायां, ‘उतो
 त्वस्मै तत्त्वं विसृजे ।’ इति चतुर्थ्याम् । ...”

यथा “ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं
 त्वो गायति शकरीषु ।” (ऋ० १० । ७१ । ११)
 इति निरुक्तोदाहृते मन्त्रे, तथैवान्येष्वपि बहुषु
 मन्त्रेषु “त्वः...त्वः” इति “एकः...अपरः”
 इत्यर्थे त्व-शब्दो द्विमिथः सापेक्ष्यत्वेन प्रयुज्यते ॥

मैत्रायणीयसंहितायां (४ । २ । २)
 प्रयुक्तोऽनुदात्तः त्वदानीं-शब्दोऽपि अस्मादेव ॥

२. ऋग्वेदे प्रयुक्तान्यस्य रूपाणि—नेमे । १ । ३ ।

नेमानाम् । ६ । ३ । नेमस्मिन् । ७ । १ ।

नेमम् । नपुं १ । १ ॥

३. इदमप्यनुदात्तं पदम् । ऋग्वेदे प्रयुक्तान्यस्य रू-
 पाणि—सिमे । १ । ३ । समम् । २ । १ ।
 समस्मै । ४ । १ । समस्मात् । ५ । १ । सम-
 स्य । ६ । १ । समस्मिन् । ७ । १ ॥

४. ऋग्वेदे प्रयुक्तान्यस्य रूपाणि—सिम । सम्बु० ।
 सिमः । १ । १ । सिमे । १ । ३ । सिमस्मै । नपुं०
 ४ । १ । सिमस्मात् । ५ । १ ॥

लोके सर्वनाम-संज्ञयोः सम-सिम-शब्दयोः
 प्रयोगाः प्रायशो नोपलभ्यन्ते ॥

५. १ । १ । ३३ ॥

६. १ । १ । ३४ ॥

७. १ । १ । ३५ ॥

८. ५-२३ सङ्ख्याका इतरादयः (७ । १ । २५) ॥

९. ऋग्वेदे भूयिष्ठमस्य प्रयोगाः । वाजसनेयितैत्ति-
 रीयसंहितयोर्ब्राह्मणेषु चापि पञ्चषाः प्रयोगाः सन्ति ॥
 वाक्यादौ “उ, चिद्, नु, सु” इत्येतैः पदै-
 रनुगम्यमान एवैष दृश्यते ॥

१०. २४-३० सङ्ख्याकाः त्यदादयः (१ । १ ।
 ७३ ॥...) ॥

११. ३१-३५ सङ्ख्याका इत्यादयः (५ । ३ । २) ॥

अथ भवतः सर्वनामत्वे कानि प्रयोजनानि । भवतोऽकच्छेषा-
त्वानि प्रयोजनानि । अकच्—भवकान् । शेषः—स च भवां-
श्च = भवन्तौ । आत्वम्—भवादगिति ॥^१

उभ-भवत्-शब्दौ न्यूनप्रयोजनौ । तस्मात् तयोः प्रयोजनानि दर्शितानि ।
अन्ये तु सर्वादयो बहुप्रयोजनाः, तस्मान्न दर्शिताः । सर्व-शब्दपर्यायस्य सम-
शब्दस्य सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवति । 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् ॥'^२ इति
तिर्देशात् तुल्यवाचिनः समस्य सर्वनामत्वे निषेधः ॥ २६ ॥^३

प्रब सर्वनाम-सञ्ज्ञा का अधिकार है ॥

'सर्वादीनि' सर्व-शब्द जिन्ह के आदि में है, उन सर्व-शब्द के सहित सर्वादिगण में
पड़े हुए शब्दों की 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा हो । सर्वस्मै । विश्वस्मै । यहां सर्वनाम-
सञ्ज्ञा के होने से डे-विभक्ति के स्थान में स्मै-आदेश हो गया है । सर्वनाम-शब्द में नकार को
णकार आदेश पाता था, सो निपातन से नहीं हुआ । निपातन उस को कहते हैं कि जो सामान्य
विधान से कोई कार्य पाता है, और विशेष करके उस का निषेध कर देना । जैसे मात्वविधान
सामान्य से पाता है, फिर यहां उसके न होने से प्रकट पाणिनिजी महाराज का अभिप्राय
सालूम होता है कि यह न हो ॥

सञ्ज्ञा उस को कहते हैं कि जो सब से छोटी हो, क्योंकि उस का करना ही इसलिये है कि
बहुतसा काम थोड़े से निकले । फिर इस सूत्र में बड़ी सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन यह है कि
जिससे 'अन्वर्था० ॥' अर्थात् सार्थक सञ्ज्ञा समझी जाय । सर्वनाम-सञ्ज्ञा का अर्थ यह है
कि जो सब के नाम हों, वे सर्वनाम कहावें । इससे प्रयोजन यह है कि सर्वादि-शब्द किसी एक
वस्तु के वाचक हों, तो वहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो । जैसे—सर्वाय देहि । यहां किसी एक
समुच्चय का नाम 'सर्व' है । इससे सर्वनाम-सञ्ज्ञा का कार्य नहीं हुआ ॥

सर्वादिगण के शब्द संस्कृत में सब लिख दिये हैं । उस गण में उभ-शब्द का प्रयोजन
यह है कि 'उभकौ' यहां उस की सर्वनाम-सञ्ज्ञा के होने से अकच्-प्रत्यय हो जाय । और
भवत्-शब्द के प्रयोजन ये हैं कि 'भवकान्' यहां भी अकच्-प्रत्यय हो जाय । 'भवन्तौ'
यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा से एकशेष हो गया, और 'भवादक्' यहां इस की सर्वनाम-सञ्ज्ञा होने से
अन्त्य को आकारादेश हो गया । इन दो शब्दों के प्रयोजन कम थे, इससे दिखा दिये । और शब्दों
के प्रयोजन बहुत हैं, इससे नहीं दिखाये । सम-शब्द, जो सर्वादिगण में पड़ा है, वह जहां
सर्व-शब्द का पर्यायवाची हो, वहीं उस की सर्वनाम-सञ्ज्ञा हो । इससे 'यथासङ्ख्यमनुदे-
शः समानाम् ॥'^२ यहां तुल्यवाची सम-शब्द की सर्वनाम-सञ्ज्ञा नहीं हुई ॥ २६ ॥

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ ॥ २७ ॥

१. अ० १।पा० १।आ० ६ ॥

२. कोरोड्व—“आ० ६ [व्या०]” इति ॥

३. १।३।१० ॥

‘सर्वादीनि सर्वनामानि ॥’ इति सर्वमनुवर्तते । विभाषा [१।१।] दिक्समासे । ७।१। बहुव्रीहौ । ७।१। दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि विभाषा भवन्ति । अप्राप्तविभाषेयम् । ‘न बहुव्रीहौ’ ॥’ इति निषेधे प्राप्ते विभाषाऽऽरभ्यते । दिशां समासः = दिक्समासः । अथ वा ‘दिक्०’ ॥’ इति सूत्रेण समासः = दिक्समासः, तस्मिन् । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तरपूर्वायै । अत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञत्वात् ‘सर्वनाम्नः स्याद्द्वस्वश्च’ ॥’ इति छितः स्याद्-आगमः, सर्वनाम्नो ह्रस्वत्वं च ॥

भा०—दिग्-ग्रहणं किमर्थम् । ‘न बहुव्रीहौ’ ॥’ इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । तत्र न ज्ञायते—क विभाषा, क प्रतिषेध इति । दिग्-ग्रहणे क्रियमाणे ज्ञायते—दिगुपदिष्टे विभाषा, अन्यत्र प्रतिषेधः ॥

अथ समास-ग्रहणं किमर्थम् । समास एव यो बहुव्रीहिः, तत्र यथा स्यात् । बहुव्रीहिवद्भावेन यो बहुव्रीहिः, तत्र मा भूदिति । दक्षिणदक्षिणस्यै देहि ॥’

अत्र ‘नित्यवीप्सयोः ॥’ इति द्वित्वं, न तु मुख्येन समासः ॥

अथ ‘बहुव्रीहौ’ इति किमर्थम् । उत्तरार्थम् । ‘न बहुव्रीहौ’ ॥’ इत्यत्र अवयवभूतस्याऽपि बहुव्रीहेः प्रतिषेधो यथा स्यात् । इह मा भूत्—वस्त्रमन्तरमेषां त इमे वस्त्रान्तराः । वसनमन्तरमेषां त इमे वसनान्तराः । वस्त्रान्तराश्च वसनान्तराश्च = वस्त्रान्तर-वसनान्तराः ॥

अत्र बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः । तत्र ‘अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः’ ॥’ इति विकल्पेन जसि सर्वनाम-सञ्ज्ञा प्राप्ता, सा ‘न बहुव्रीहौ’ ॥’ इति सूत्रे प्रतिषिध्यते ॥ २७ ॥

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा अर्थात् बहुव्रीहि दिक्समास में ‘न बहुव्रीहौ’ ॥’ इस सूत्र से निषेध की प्राप्ति में विकल्प का आरम्भ किया है। ‘दिक्समासे’ दिशावाची सर्वनाम-सञ्ज्ञक

१. १।१।२८॥

५. अ० १।पा० १।आ० ६॥

२. २।२।२६॥

६. ८।१।४॥

३. ७।३।११४॥

७. १।१।३५॥

४. पाठान्तरम्—‘दिग्-ग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति—’

८. कोशेऽत्र—‘आ० ६ [व्या०]’ इति ॥

शब्दों के 'बहुव्रीहौ' बहुव्रीहि समास में 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा 'विभाषा' विकल्प करके होती है। उत्तरपूर्वस्यै। उत्तरपूर्वायै। यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के विकल्प करके होने से डे-विभक्ति को स्याद् का आगम, और सर्वनाम को ह्रस्व विकल्प करके होता है ॥

इस सूत्र में दिक्-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'न बहु०' ॥ इस सूत्र से बहुव्रीहि समास में निषेध किया है, सो यह मालूम नहीं होता कि कहां विकल्प और कहां निषेध है, सो दिक्-शब्द के ग्रहण से जाना गया कि दिक्-समास में विकल्प और केवल बहुव्रीहि समास में निषेध है। समास-ग्रहण इसलिये है कि 'दक्षिणदक्षिणस्यै' यहां विकल्प करके सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो। और बहुव्रीहि-ग्रहण इसलिये है कि 'न बहु०' ॥ इस सूत्र में 'वृत्तान्तर-वसनान्तराः' यहां बहुव्रीहिगर्भद्वन्द्व समास में भी सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो ॥ २७ ॥

न बहुव्रीहौ ॥ २८ ॥

'समासे' इत्यनुवर्तते। सर्वाद्यन्तस्याऽपि तदन्तविधिना सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवतीति मत्वा प्रतिषेध आरभ्यते। [न। अ०। बहुव्रीहौ। ७। १।] बहुव्रीहौ समासे सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि न भवन्ति। प्रियं विश्वं यस्य तस्मै प्रियविश्वाय। प्रियावुभौ यस्य तस्मै प्रियोभाय। अत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञाप्रतिषेधाद् डेः स्मै न भवति ॥ २८ ॥

'बहुव्रीहौ' बहुव्रीहि समास में 'सर्वादीनि' सर्वादिकों की 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा 'न' न हो। सर्वादि जिस के अन्त में हों, उस की भी सर्वनाम-सञ्ज्ञा होती है, ऐसा जानके इस सूत्र का आरम्भ किया है। 'प्रियविश्वाय' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के नहीं होने से डे-विभक्ति के स्थान में स्मै-आदेश नहीं हुआ ॥ २८ ॥

तृतीयासमासे ॥ २९ ॥

'न' इत्यनुवर्तते। [तृतीयासमासे। ७। १।] तृतीयया समासः = तृतीया-समासः, तस्मिन्। सर्वाद्यन्ते तृतीयासमासे सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि न भवन्ति। मासपूर्वाय देहि। संवत्सरपूर्वाय देहि। असत्यां सर्वनाम-सञ्ज्ञायां स्मै न भवति ॥

'समासे' इत्यनुवर्तमाने पुनः समास-ग्रहणं तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि प्रतिषेधो यथा स्यात्। मासेन पूर्वाय। संवत्सरेण पूर्वाय। अत्रापि सर्वनाम-सञ्ज्ञा न भवति ॥ २९ ॥

'तृतीयासमासे' तृतीया समास में 'सर्वादीनि' सर्वादिकों की 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा 'न' न हो। 'मासपूर्वाय' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के न होने से डे के स्थान में स्मै-

आदेश न हुआ। समास की अनुवृत्ति चली आती है, फिर समास-ग्रहण इसलिये है कि तृतीया समास के लिये 'मासेन पूर्वाय' यह जो वाक्य है, वहां भी सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो ॥२६॥

द्वन्द्वे च ॥ ३० ॥

[द्वन्द्वे । ७ । १ । च । अ० ।] द्वन्द्वसमासे सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि न भवन्ति । दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । अत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञाप्रतिषेधाद् 'आमि सर्वनाम्नः सुट् ॥' इति सुट् न भवति ॥

चकारः सर्वनाम-सञ्ज्ञाया निषेधपूर्त्यर्थः ॥ ३० ॥

'द्वन्द्वे' द्वन्द्व समास में 'च' भी 'सर्वादीनि' सर्वादिकों की 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा ['न'] न हो । जैसे—दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के नहीं होने से सुट् का आगम नहीं हुआ । इस सूत्र में चकार इसलिये है कि निषेध पूरा हुआ, आगे नहीं जायगा ॥ ३० ॥

विभाषा जसि ॥ ३१ ।

[विभाषा । १ । १ । जसि । ७ । १ ।] 'द्वन्द्वे' इत्यनुवर्तते । द्वन्द्वे समासे जसि विभाषा सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि भवन्ति । अप्राप्तविभाषेयम् । पूर्वेण सूत्रेण प्रतिषेधे प्राप्ते विभाषाऽऽरभ्यते । कतरकतमे । कतरकतमाः । सर्वनाम-सञ्ज्ञाविकल्पात् 'जसः शी' ॥' इति शी-आदेशो वा भवति ॥

भा०—जसः कार्यं प्राति विभाषा । अकञ्जि न भवति, 'द्वन्द्वे च ॥' इति प्रतिषेधात् ॥^१

कतरकतमकाः । अकच्-प्रतिषेधे कः प्रत्ययः ॥ ३१ ॥

पूर्व सूत्र से द्वन्द्व समास में सर्वनाम-सञ्ज्ञा प्राप्त नहीं । इससे अप्राप्तविभाषा अर्थात् सर्वनाम-सञ्ज्ञा की अप्राप्ति में विकल्प का आरम्भ है । 'द्वन्द्वे' द्वन्द्व समास में 'जसि' जस्-विभक्ति के परे 'सर्वादीनि' सर्वादिकों की 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा 'विभाषा' विकल्प करके हो । कतरकतमे । कतरकतमाः । यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के विकल्प होने से जस् के स्थान में शी-आदेश विकल्प करके होता है । जस् को विधान जो कार्य हैं, उन्हीं में यह विकल्प है । इस से 'कतरकतमकाः' यहां अकच्-प्रत्यय नहीं होता । पूर्व सूत्र से सर्वनाम-सञ्ज्ञा का निषेध हो जाता है ॥ ३१ ॥

१. चा० श०—“चार्यसमासे ॥” (२।१।१२)

५. १ । १ । ३० ॥

२. ७ । १ । ५२ ॥

६. “ ‘द्वन्द्वे च ॥’ इति प्रतिषेधात् ॥” इति पाठो

३. चा० श०—“शी वा ॥” (२ । १ । १३)

भाष्यकोशेषु न सार्वत्रिकः ॥

४. ७ । १ । १७ ॥

७. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

प्रथमचरमतयाल्पार्द्धकतिपयनेमाश्च' ॥ ३२ ॥

‘विभाषा जसि’ इत्यनुवर्तते । ‘द्वन्द्वे’ इति निवृत्तम् । एषां द्वन्द्वः । प्रथमं, चरमं, तयप्-प्रत्ययान्त, अल्प, अर्द्ध, कतिपय, नेम—इत्येते शब्दा जसि विभाषा सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवन्ति । प्रथमे, प्रथमाः । चरमे, चरमाः । द्वितये, द्वितयाः । अल्पे, अल्पाः । अर्धे, अर्धाः । कतिपये, कतिपयाः । नेमे, नेमाः । अत्र सर्वत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञाविकल्पात् जसः स्थाने शी विकल्पेन भवति । प्रथमादिव्यप्राप्त-विभाषा । नेम-शब्दः सर्वादिषु पठ्यते । तस्मिन् प्राप्तविभाषा ॥ ३२ ॥

‘प्रथम, चरम, तयप्-प्रत्ययान्त, अल्प, अर्द्ध, कतिपय, नेम’ इन शब्दों की भी जस्-विभक्ति के परे सर्वनाम-सञ्ज्ञा विकल्प करके होती है । प्रथमे । प्रथमाः इत्यादि । इसी प्रकार के उदाहरण सब शब्दों के बनते हैं । यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के विकल्प के होने से जस् के स्थान में शी-आदेश विकल्प करके होता है । प्रथमादि शब्दों में अप्राप्तविभाषा और नेम-शब्द के सर्वादिकों में पाठ होने से प्राप्तविभाषा है ॥ ३२ ॥

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम् ॥ ३३ ॥

ईदृशमेव सूत्रं गणो ण्ठितं; तस्मान्नित्यायां सर्वनाम-सञ्ज्ञायां प्राप्तायां जसि विभाषाऽऽरम्भ इति प्राप्तविभाषा । पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर—इत्येतेषां शब्दानां जसि विभाषा सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवति । नियमपूर्वक-स्थितिर्व्यवस्था । तस्यां व्यवस्थायां सत्यामसञ्ज्ञायाम् । सञ्ज्ञायां वर्तमानाः स्युश्चेत् तदा न । पूर्वे, पूर्वाः । परे, पराः । अवरे, अवराः । दक्षिणे, दक्षिणाः । उत्तरे, उत्तराः । अपरे, अपराः । अधरे, अधराः ॥

‘व्यवस्थायाम्’ इति किमर्थम् । दक्षिणा इमे गाथकाः । प्रवीणा इत्यर्थः ॥

‘असञ्ज्ञायाम्’ इति किम् । उत्तराः कुरवः ॥

सत्यामेव व्यवस्थायां तेषामियं सञ्ज्ञा ॥ ३३ ॥

पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर—इन शब्दों की सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था में जस् के परे विकल्प करके सर्वनाम-सञ्ज्ञा होती है । यह सूत्र इसी प्रकार का गणपाठ में भी पड़ा है, इससे सर्वनाम-सञ्ज्ञा नित्य प्राप्त है । उस में [अर्थात् सर्वनाम-सञ्ज्ञा की नित्य प्राप्ति में] जस् के परे [यहां] विकल्प का आरम्भ है । इससे प्राप्तविभाषा है । पूर्वे । पूर्वाः इत्यादि उदाहरणों में सर्वनाम-सञ्ज्ञा से जस् के स्थान में शी-भाव विकल्प करके होता है ॥

व्यवस्था उसे कहते हैं, जो नियम पूर्वक स्थिति हो। सो व्यवस्था-शब्द इस सूत्र में इसलिये पड़ा है कि 'दक्षिणा इमे गाथकाः' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो। 'असञ्ज्ञा' इसलिये है कि 'उत्तराः कुरवः' यहां सञ्ज्ञा में सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो ॥ ३३ ॥

स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ॥ ३४ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । अस्यापि सूत्रस्य गणे पठितत्वात् । स्वम् । १ । १ । अज्ञातिधनाख्यायाम् ँ ७ । १ । ज्ञातिश्च धनं च = ज्ञातिधने, तयोराख्या = ज्ञातिधनाख्या, न ज्ञातिधनाख्या = अज्ञातिधनाख्या, तस्याम् । ज्ञाति-धनपर्यायवाचिनं स्व-शब्दं विहायान्यवाचिनः स्व-शब्दस्य जसि विभाषा सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवति । स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः । स्वे गावः, स्वाः गावः ॥

'अज्ञातिधनाख्यायाम्' इति किम् । स्वाः = ज्ञातयः । प्रभूताः स्वा न दीयन्ते [प्रभूताः स्वाः =] प्रभूतानि धनानीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

'अज्ञातिधनाख्यायाम्' ज्ञाति और धन के पर्यायवाची स्व-शब्द को छोड़के अन्यवाची 'स्वम्' स्व-शब्द की 'जसि विभाषा' जस् के परे विकल्प करके 'सर्वनाम' सर्वनाम-सञ्ज्ञा हो। यह सूत्र भी गणपाठ में पड़ा है, इससे यहां भी प्राप्तविभाषा है। जैसे—'स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के विकल्प के होने से जस् के स्थान में शी-आदेश विकल्प से होता है ॥

इस सूत्र में अज्ञातिधनाख्या-ग्रहण इसलिये है कि 'स्वाः = ज्ञातयः', स्वाः प्रभूता न दीयन्ते' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो ॥ ३४ ॥

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ॥ ३५ ॥

अन्तरम् । १ । १ । बहिर्योग-उपसंव्यानयोः । ७ । २ । अस्य सूत्रस्य गणे पाठादियमपि प्राप्तविभाषा । अतिसामीप्ये वर्तमानमुपसंव्यानम् । किञ्चिद् बाह्यं वर्तमानं बहिर्योगः । अन्तरे गृहाः, अन्तरा गृहाः । नगराद् बहिःस्थाश्चाण्डालादिगृहा भवन्तीति । अन्तरे शाटकाः, अन्तराः शाटकाः । [अन्तरे, अन्तराः =] अतिसामीप्य आच्छादिता इत्यर्थः ॥

'बहिर्योगोपसंव्यानयोः' इति किम् । अनयोर्ग्रामयोरन्तरा इमे वृक्षाः । [अन्तराः =] मध्यस्था इत्यर्थः ॥

भा० — अपुरीति वक्तव्यम् । इह मा भूत् — अन्तरायां पुरि वसति ॥^२

१. "क्रीकृतौ पुत्रैर्नपुमिर्मोदमानौ स्वे गृहे ।" "स्वसिन्नञ्जसि क्राणस्य स्वसिन्नञ्जसि ।" (१० । ८५ । ४२) इत्यत्र अन्येषु च ३१ (१ । १३२ । २) इत्येकं मन्त्रं विहाय ॥ मन्त्रेषु ऋग्वेदे स्व-शब्दे सिन्-आदेशो न भवति, २. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

गणसूत्रस्येदं प्रत्युदाहरणम् । तेन पुरिसामान्येन सर्वत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञा निषिध्यते ॥

भा०— वा-प्रकरणे तीयस्य डित्सूपसङ्ख्यानम्^१ ॥^२

द्वितीयायै । द्वितीयाय । तृतीयायै । तृतीयाय । द्वितीयस्यै । द्वितीयस्मै । तृतीयस्यै । तृतीयस्मै । डित्सु = डे, डसि, डस्, डि, एतासां विभक्तृनां कार्येषु ॥३५॥

इति सर्वनाम-सञ्ज्ञाधिकारः ॥

‘बहिर्योग-उपसंख्यानयोः’ बहिर्योग और उपसंख्यान अर्थ में वर्तमान जो ‘अन्तरम्’ अन्तर-शब्द है, उस की ‘जस्ति विभाषा’ जस् के परे सर्वनाम-सञ्ज्ञा विकल्प करके हो । यहां भी प्रासविभाषा है । उपसंख्यान उस को कहते हैं कि जो अत्यन्त समीप वर्तमान हो । और बहिर्योग वह होता है कि जो कुछ बाहर को वर्तमान हो । बहिर्योग का उदाहरण यह है— ‘अन्तरे गृहाः’, अन्तरा गृहाः’ अर्थात् चारुडाल आदि नीच मनुष्यों के घर नगर से बाहर होते हैं । और उपसंख्यान का उदाहरण यह है कि ‘अन्तरे शाटकाः’, अन्तराः शाटकाः’ [अर्थात्] अत्यन्त शरीर से लगे हुए डुपट्टे । यहां दोनों जगह सर्वनाम-सञ्ज्ञा होने से जस् के स्थान में शी-आदेश विकल्प करके होता है ॥

इस सूत्र में बहिर्योग और उपसंख्यान-ग्रहण इसलिये है कि ‘अनयोर्ग्रामयोरन्तरा इमे वृक्षाः’ यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो । ‘अपुरीति० ॥’ इस वार्तिक से पुरि अर्थ में अन्तर-शब्द की सर्वनाम-सञ्ज्ञा सर्वत्र नहीं होती । ‘वा-प्रकरणे० ॥’ इस वार्तिक से तीय-प्रत्ययान्त अर्थात् द्वितीय-तृतीय-शब्दों की डित्-विभक्तियों के कार्यों में सर्वनाम-सञ्ज्ञा विकल्प करके होती है ॥ ३५ ॥

यह सर्वनाम-सञ्ज्ञा का अधिकार पूरा हुआ ॥

अथाव्यय-सञ्ज्ञाधिकारः ॥

स्वरादिनिपातमव्ययम्^३ ॥ ३६ ॥

स्वरादि-निपातम् । १ । १ । अव्ययम् । १ । १ । स्वरादयश्च निपाताश्च = स्वरादिनिपातम् । समाहारद्वन्द्वः । स्वरादयः शब्दा वक्ष्यमाणा निपाताश्चाव्यय-सञ्ज्ञा भवन्ति ॥

१. वार्तिकमिदम् ॥

२. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

३. अव्ययानां सोदाहरणा अर्थां भगवद्दयानन्दस्वरस्वतीकृतेऽव्ययार्थे श्रीवर्धमानकृतौ गणरत्नमहोदधौ (प्रथमाध्याये) च द्रष्टव्याः । विचारिणां सुखावबोध-

यासांभिवैदिकानां शब्दानामुदाहरणाणि टिप्पणेषु दत्तानि । भगवद्दयानन्दकृता अर्था अपि ऊर्ध्वकोष्ठकेषु निर्दिष्टाः । परं नैतेन मन्तव्यं, एतावन्त एवार्थास्तेषां सन्तीति । विभिन्नमतानि च तत्र तत्र भाष्येषु सम्यग् ज्ञातव्यानि ॥

[१] स्वर^१, [२] अन्तरं, [३] प्रातर—अन्तोदात्ताः ।

[४] पुनर—आद्युदात्ताः ।

[५] सनुतर^२ [=सर्वदा^३], [६] उच्चैस्, [७] नीचैस्, [८] शनैस्, [९] ऋधक्^४ [स्वीकारे^५], [१०] आरात्^६, [११] ऋते, [१२] युगपत्, [१३] पृथक्—अन्तोदात्ताः^७ ।

[१४] ह्यस्, [१५] श्वस्, [१६] दिवा, [१७] रात्रौ, [१८] सायम्, [१९] चिरम्, [२०] मनाक्, [२१] ईषत्^८, [२२] जोषम्, [२३] तूष्णीम्, [२४] बहिस्, [२५] आविस्, [२६] अवस् [= अधस्तात्], [२७] अधस्, [२८] समया, [२९] निकषा, [३०] स्वयम्, [३१] मृषा, [३२] नक्तम्, [३३] नञ्, [३४] हेतौ^९, [३५] अद्वा^{१०} [= साक्षात्], [३६] इद्वा^{११} [प्रकाशे], [३७] सामि^{१२} [अर्द्धजुगुप्सयोः]^{१३}—अन्तोदात्ताः ।^{१४}

[३८] सन्, [३९. सनत्^{१५} = सदा], [४०] सनात्^{१६} [= सदा], [४१] तिरस्—आद्युदात्ताः ।

[४२] अन्तरा—अन्तोदात्ताः ।

१. तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण-आरण्यकेषु (क्रमेण

५।५।५।३॥ १।१।५।१॥ ३।

६।१॥...) सूत्रादिषु च “सुवर” इति

पाठान्तरम् ॥

“एता वै व्याहृतयः (= भूर्भुवःस्वः) सर्व-
प्रायश्चित्तयः ।” “भूर्भुवस्स्वरिति सा त्रयी
विद्या ।” इति च ॥ (जै० उ०—क्रमेण ३।

१७।३॥ २।६।७)

२. “आराचिद् द्वेषस्सनुतयुयोतु ।” (का० ८।१६)

३. निषयटौ (३।२५) अन्तर्हितनामसु पठितम् ॥

४. “ऋधक् सोम स्वस्तये ।” (ऋ० ६।६४।३०)

५. गण० म०—“ऋधगिति सत्ये ।”

६. अन्यत्र “आरात्” इत्यतः परं “अन्तिकात्”
इति ॥

७. श्रीबोयल्लिङ्गसम्पादिते गणपाठे—“एत आद्यु-
दात्ताः ।” इति । परस्येवेदे “शनैस्, पृथक्” इत्येवा-
द्युदात्तौ, “शनकैत्” (८।६६।३) इति तु

अन्तोदात्त एव ॥

८. अन्यत्र “ईषत्” इत्यतः परं “शश्वत्” इति ॥

९. “अवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम् ।” (वा० २६।१७)

१०. अन्यत्र “हेतौ” इत्यस्मात् परं क्वचित् “हे,
हे” इत्यपि ॥

११. “को अद्वा वेद ।” (ऋ० ३।५४।५)
निषयटौ सत्यनामसु (३।१०) पठितम् ॥

१२. “इद्वा तपत्यं राजा ।” इत्यव्ययार्थे उदाहरणम् ॥

१३. “न सामि प्रज्ञावयेताग्निष्टोममेवासीत् ।”
(का० २८।१)

१४. अत्र काशिकायामन्यत्र च—“वत् । वदन्तम-
व्ययसङ्गं भवति । ब्राह्मणवत् । क्षत्रियवत् ॥”
अथाप्यस्मात् परमपरत्र “वत्” इति ॥

१५. “सनत् कक्षीवो अभिपित्ने अहाम् ।”

(ऋ० १।१२६।३)

१६. “सनात् सनीळा अवनीरवाता व्रता रचन्ते
अमृताः सहोमिः ।” (ऋ० १।६२।१०)

[४३] अन्तरेण^१, [४४] ज्योक्^२ [चिरार्थे], ^३[४५] कम्, [४६] शम्, [४७] सना^४, [४८] सहसा, ^५[४९] स्वस्ति, [५०] स्वधा^६, [५१] अलम्, [५२] वषट्^७, [५३] अन्यत्, [५४] अस्ति, [५५] उपांशु, [५६] क्षमा, [५७] विहायसा, [५८] दोषा, [५९] मुधा, ^{१०}[६०] मिथ्या, ^{११}[६१] वृथा, [६२] पुरा, [६३] मिथो, [६४] मिथस्, ^{१२}[६५] प्रवाहुकम्^{१३} [प्राबल्ये], ^{१४}[६६] आर्य्य-हलम्^{१५}, [६७] अभीक्ष्णम्, [६८] साकम्, [६९] सार्द्धम्, ^{१६}[७०] समम्, [७१] नमस्, [७२] हिरुक्^{१७} [= पृथक्], ^{१८}[७३] प्रतान्, [७४] प्रशान्, ^{१९}[७५] तथा, [७६] माङ्, [७७] श्रम्, [७८] कामम्, [७९] प्रकामम्, [८०] भूयस्, [८१] परम्, [८२] साक्षात्, [८३] साचि, [८४] सत्यम्, [८५]

१. उपरिष्ठाल्लिखितेषु शब्देषु कस्मिंश्चिदपि गण-
पाठे स्वरनिर्देशो न विद्यते ॥

अन्यत्र “अन्तरेण” इत्यस्मात् परं “मक्” इति ॥

२. “ज्योक् च सूर्य्य दूरो ।” (ऋ० १।२३।२१)

३. अन्यत्र “ज्योक्” इत्यतः परं “योक्, नक्” इति ॥

“अप स्वसुरषसो नग् जिहीते ।” (ऋ० ७।

७१।१) नक्तमित्यर्थः ॥

४. दृश्यतां निरुक्ते (१।६) — “अथ ये प्रवृत्ते-
ऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति
पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कम्, ईम्, इद्,
उ इति । ‘शिशिरं जीवनाय कम् ।’ ...”

५. “सना पुराणमध्येमि ।” (ऋ० ३।५४।६)

६. “सहसा” इत्यतः परं काशिकायां “विना,
चाना” इति । कश्चित् “श्रद्धा” इत्यतोऽप्यधिकम् ॥

७. “स्वस्त्युत्तरमशीय ।” (मै० १।२।१)

८. “पितृभ्यः स्वधास्तु ।” (आन्ध्रशास्त्रीयतैत्तिरी-
यारण्यके १०।६७।२) इति सम्प्रदानार्थः ॥

९. “कस्मै देव वषट्स्तु तुभ्यम् ।” (वा० ११।३६)

१०. अन्यत्र “मुधा” इत्यतः परं “दिष्ट्या” इत्यपि ॥

११. “मिथ्या” इत्यतः परं काशिकायां “कृत्वातो-
मुक्कमुनः (१।१।३६) कृन्मकारान्तः

सन्ध्यक्षरान्तोऽप्ययीभादृश्चः (दृश्यतां १।१।

३८, ४०)” इति ॥

१२. अन्यत्र “मिथस्” इत्यतः परं “प्रायस्, मु-
हुस्” इति ॥

१३. “प्रवाहुक्” इति पाठान्तरम् ॥

“देवा वा असुरान् यज्ञमभिजित्य ते प्रवाहुग्
ग्रहान् गृह्णाना आयन् ।” (का० २६।६)

१४. अन्यत्र “प्रवाहुकम्” इत्यतः परं “प्रवा-
हिका” इति ॥

१५. गण० म० — “आर्य्यहलमिति बलात्कारे ।
आर्य्यहलं गृह्णाति । आर्येति प्रीतिबन्धने, हलमिति
च प्रतिषेधविषादयोः ।” इति शाकटायनः ॥”

१६. अन्यत्र “सार्द्धम्” इत्यतः परं “सत्रम्” इति ॥

१७. “य ई ददर्श हिरगिन्नु तस्मात् ॥”
(ऋ० १।१६४।३२)

निघण्टौ (३।२५) अन्तर्हितनामसु पाठितम् ॥

१८. अन्यत्र “हिरुक्” इत्यतः परं “तसिलादयस्त-
द्धिता पथाच्पर्यन्ताः, शस्तसी, कृत्वमुच्, मुच्,
आस्थालौ (पाठान्तरं—आन्ध्रालौ) च्यर्थश्च,
अथ, अम्, आम्, प्रताम् ।” इति ॥

१९. अत्र काशिकायां स्वरादिः समाप्तः । अतः
परमन्यत्र “आकृतिगणोऽयम् । तेनान्येऽपि ।
तथाहि, माङ् ...” इति ॥

५। इस सूत्र में एक ग्रहण का पूरा प्रयोजन है कि (सब) जपटका
 हां विप्रत्यय की अपृक्त संज्ञान हो जो एक ग्रहण न करते और ग्रह
 पकहते तो भी अनेकाल में नही होती फिर अलग्रहण व्यर्थ होकर यह
 शीपक होता है कि ॥ १०६ - अर्थात् अतो जतिग्रहणम् ॥ १०७ ॥
 बर्ण के ग्रहण में बर्ण जति का ग्रहण होता है इससे एक ग्रहण तो सार्थक
 हो गया क्योंकि अल मात्र पढ़ते तो जति ग्रहण होने से अनेक अतो का ग्रहण
 हो जाता फिर एक ग्रहण से नही ॥ १०८ ॥ और धीसति धिसति यहा रम्भ
 धातु के हो हल है तो भी हल जाति मानकर हलना च सूत्र से एक समी
 १०९ ॥ अर्थात् अतो जतिग्रहणम् ॥ ११० ॥
 अतो श्रीमत्परमहंस पारब्राज का चार्मरां श्रीयुत विरजाने सरस्वती स्वामि
 नां शिष्येण श्रीमच्छ नन्दसर स्वामिना विरचिते वेदांग प्रकाशे द्वाद
 शोऽध्यायायां नवमश्च पारिभाषिको ग्रन्थो संकलितः ॥

पारिभाषिक की हस्तालेखित प्रति

पृष्ठ ५२ (उत्तरार्द्ध)

मञ्जु^१ [=शीघ्रम्], [८६] संवत्, [८७] अवश्यम्, [८८] सपदि, [८९] प्रा-
दुस्^२, [९०] अनिशम्, [९१] नित्यम्, [९२] नित्यदा,^३ [९३] अञ्ज-
सम्^४, [९४] सन्ततम्, [९५] उषा, [९६] ओम्^५ [= प्रणवः], [९७] मूर्^६,
[९८] मुवर्^६, [९९] ऋदिति, [१००] तरसा, [१०१] सुष्टु, [१०२] कु, [१०३]
अञ्जसा, [१०४] अ, [१०५] मिथु^७, [१०६] विथक्, [१०७] भाजक्,
[१०८] अन्वक्, [१०९] चिराय, [११०] चिरम्, [१११] चिररात्राय,
[११२] चिरस्य, [११३] चिरेण, [११४] चिरात्, [११५] अस्तम्, [११६]
आनुषक्^८ [= अनुकूलतया], [११७] अनुषक्^८, [११८] अनुषट्, [११९]
अन्नस्^९, [१२०] अन्नर्^९, [१२१] स्थाने, [१२२] वरम्, [१२३] दुष्टु,
[१२४] बलात्, [१२५] शु^{१०}, [१२६] अर्वाक्, [१२७] शुदि^{११}, [१२८]
वदि^{१२} [इत्यादि] ॥ एतेषामव्यय-सञ्ज्ञत्वाद् विभक्तैर्लुक् ॥

निपाताः, 'प्राग्ग्रीश्वरा०'^{१३} ॥ [इति] अस्मिन्नधिकारे येषां येषां निपात-
सञ्ज्ञोक्ता, ते ते प्राह्याः ॥

अत्र स्वरादिगणे केनचिद् भाष्यसिद्धान्तमविज्ञाय कृत्-तद्धितानां गणना
कृता, सा सूत्रैः सिद्धा । गणोऽस्ति चेत्, सूत्राणि व्यर्थानि स्युः ॥ ३६ ॥

१. अन्यत्र "मञ्जु" इति । लोके न कश्चित्
"मञ्जु" इति दृश्यते । वेदे च न कश्चित् "मञ्जु"
इति । निषण्णौ (२ । १५) चिप्रनामसु पठितः ।

"प्रातर्मञ्जु धियावसुर्जगत्यात् ।" (ऋ० १ ।
६० । ५), "मञ्जुदपाति परितः पटलैरली-
नाम् ।" (शिशुपालवधे ५ । ३७) इति वेद-
लोकयोः स्वरूपौ ॥

२. अन्यत्र "प्रादुस्" इत्यतः परं "आविस्" इति ॥

३. अन्यत्र "नित्यदा" इत्यतः परं "सदा" इति ॥

४. कश्चिद् "अजस्रम्" इति ॥

५. दृश्यतां गोपथब्राह्मणे— "ओङ्कारस्य को धा-
तुरिति । अवतिमप्येके रूपसामान्यादर्थसामान्या-
न्नेदीयः, तस्मादापेरोङ्कारः, सर्वमाप्नोतीत्यर्थः ।"
(पू० १ । २६)

६. दृश्यतां "स्वर्" इति ॥

७. "क्षिद्रा गात्रायसिन्ना मिथु कः ।" (ऋ०

१ । १६२ । २०)

"न मिथु ब्रूयाद्, यन्मिथु ब्रूयात्, प्रियतमेन
यातयेत् ।" (का० ३६ । ५)

८. "आ धा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बहिरानु-
षक् ।" (वा० ७ । ३२)

९. गण० म०— "अनुमानेऽनुषगिति शाकटायनः ।
'आनुषट्' इति आकारं दकारं च केचित् ॥"

१०. "यावद् वै कुमारोऽग्नौ जात एनस्तावदेतस्मि-
न्नेनो भवति ।" (का० ३६ । ५)

गण० म०— "अन्न इति शीघ्रसाम्प्रतिकयोः ।"

११. दृश्यतां— "अन्नर्-ऊषर्-अवरित्युभयथा ऊ-
न्दसि ॥" (न । २ । ७०)

१२. निषण्णौ (२ । १५) चिप्रनामसु पठितम् ॥

१३. "शुक्लदिने, बहुलदिने" इत्येतयोः सङ्केतो
सम्भवतः ॥

१४. १ । ४ । ५६ ॥

‘स्वरादि-निपातम्’ स्वरादि और निपात इन की ‘अव्ययम्’ अव्यय-संज्ञा हो। उन की अव्यय-संज्ञा के होने से विभक्तियों का लुक् होता है। स्वरादि-शब्द पूर्व संस्कृत में लिख दिये। निपात ‘चादयोऽसत्त्वे’^{११} इत्यादि सूत्रों से विधायक आवेंगे ॥ ३६ ॥

तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ॥ ३७ ॥

तद्धितः । १ । १ । च । अ० । असर्वविभक्तिः । १ । १ । नोत्पद्यन्ते सर्वा विभक्तयो यस्मात्, सोऽसर्वविभक्तिस्तद्धित-प्रत्ययान्तः शब्दोऽव्यय-संज्ञो भवतीति । ततः । यतः । यदा । तदा । विना । नाना । अव्यय-संज्ञत्वाद् विभक्तेर्लुक् ॥

तद्धित-ग्रहणं किमर्थम् । एकः । द्वौ । बहवः । अत्रासर्वविभक्तिशब्दा अव्यय-संज्ञा न भवन्ति ॥

‘असर्वविभक्तिः’ इति किम् । औपगवः । औपगवौ । औपगवाः । अत्र मा भूत् ॥

[१] तसिल्^२, [२] त्रल्, [३] ह, [४] अत्, [५] दा, [६] हिल्, [७] अधुना, [८] दानीम्, [९] थाल्, [१०] थमु, [११] था, [१२] अस्ताति, [१३] अतसुच्, [१४] आति, [१५] एनप्, [१६] आच्, [१७] आहि, [१८] असि, [१९] धा, [२०] ध्यमुञ्, [२१] धमुञ्, [२२] एधाच्^३, [२३] शस्^३, [२४] तमि^४, [२५] च्वि^५, [२६] साति^६, [२७] त्रा^७, [२८] ङाच्^८, [२९] वति^९, [३०] आम्^{१०}, [३१] अम्^{११}, [३२] कृत्वसुच्^{१२}, [३३] सुच्^{१३}, [३४] धा^{१४}, [३५] ना^{१५}, [३६] नाञ्^{१६}—एतत्प्रत्ययान्ताः शब्दास्तथा ॥

[१] सद्यः^{१७}, [२] परुत्, [३] परारि, [४] ऐषमः, [५] परेद्यवि, [६] अद्य, [७] पूर्वेद्युः, [८] अन्येद्युः, [९] अन्यतरेद्युः, [१०] इतरेद्युः, [११] अपरेद्युः, [१२] अधरेद्युः, [१३] उभयेद्युः, [१४] उत्तरेद्युः^{१८}, [१५] प्राक्^{१९}, [१६] उपरि, [१७] उपरिष्ठात्, [१८] पश्चात्, [१९] पश्च, [२०] पश्चा^{२०}—

१. १।४।५७॥

२-२. दृश्यतां सन्नाशि ५।३।७-४६॥

३. ५।४।४२॥

४. ५।४।४४॥

५. ५।४।५०॥

६. ५।४।५२॥

७. ५।४।५५॥

८. ५।४।५७॥

९. ५।१।११५॥

१०. ५।४।११॥

११. “अमु च छन्दसि” (५।४।१२)

इत्युकारोऽनुबन्धार्थः ॥

१२. ५।४।१७॥

१३. ५।४।१८॥

१४. ५।४।२०॥

१५. ५।२।२७॥

१६-१६. ५।३।२२॥

१७-१७. ५।३।३०-३३॥

ऐते सर्वे शब्दास्तद्धितोपदिष्टा अव्यय-सञ्ज्ञका भवन्ति ॥

भा०—किञ्चिदव्ययं विभक्त्यर्थप्रधानं, किञ्चित् क्रियाप्रधानम् । उच्चैः, नीचैरिति विभक्त्यर्थप्रधानम्, हिरूक्, पृथगिति क्रियाप्रधानम् । तद्धितश्चापि कश्चिद् विभक्त्यर्थप्रधानः, कश्चित् क्रियाप्रधानः । तत्र, यत्रेति विभक्त्यर्थप्रधानः, विना, नानेति क्रियाप्रधानः ॥

महतीयं सञ्ज्ञा क्रियते । सञ्ज्ञा च नाम यतो न लघीयः । कुत एतत् । लघ्वर्थं हि सञ्ज्ञाकरणम् । तत्र महत्याः सञ्ज्ञायाः करण एतत् प्रयोजनम्—अन्वर्था सञ्ज्ञा यथा विज्ञायेत—न व्येतीत्यव्ययम् [इति] । क पुनर्न व्येति । स्त्री-पुं-नपुंसकानि सत्त्वगुणाः, एकत्व-द्वित्व-बहुत्वानि च । एतानर्थान् केचिद् वियन्ति, केचिन्न वियन्ति । ये न वियन्ति, तदव्ययम् ।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।

वचनेषु च सर्वेषु यत्र व्येति तदव्ययम् ॥ १ ॥^२

अव्ययं द्विविधं भवति, विभक्त्यर्थः प्रधानं यस्मिन् तत्, क्रियार्थः प्रधानं च यस्मिन् तत् । यत् स्त्री-पुं-नपुंसकेषु, सर्वासु विभक्तिषु, वचनेषु सर्वेषु चैकरसमेव तिष्ठति, तदव्ययम् । इदमव्ययलक्षणं सामान्येन परमा[त्म]न्यपि सङ्घटितमस्ति^३ ॥ ३७ ॥

‘असर्वविभक्तिः’ सब विभक्ति जिन से उत्पन्न न हों, ‘तद्धितः’ उन तद्धित-प्रत्ययान्त शब्दों की ‘च’ भी ‘अव्ययम्’ अव्यय-सञ्ज्ञा हो । ‘तत्’, ‘यत्’, ‘विना’, ‘नाना’, इत्यादि शब्दों की अव्यय-सञ्ज्ञा के होने से विभक्ति का लुक् हो जाता है । इस सूत्र के व्याख्यान संस्कृत में तसिल् से लेके नाञ् पर्यन्त प्रत्यय गिने हैं । उन से जो शब्द बनते हैं, तथा सद्यः-शब्द से लेके पश्चा-शब्द तक इन तद्धित में उपदेश किये शब्दों की अव्यय-सञ्ज्ञा है ॥

अव्यय दो प्रकार के होते हैं । एक विभक्त्यर्थप्रधान अर्थात् ‘यदा, तदा’ = जब, तब इत्यादि में विभक्तियों का अर्थ मुख्य है । दूसरे क्रियार्थप्रधान अर्थात् ‘विना, नाना’ इत्यादि में क्रियार्थ मुख्य है ॥

१. गो० ब्रा०—पू० १।२६ ॥

२. अ० १।पा० १।आ० ६ ॥

३. वृश्यतां कठोपनिषदि—“अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् ।” (३. १-१५.) अथाश्वतरोपनिषदि—

“ईशानो ज्योतिरव्ययः ।” (३।१२) मुण्ड-

कोपनिषदि—“सुसङ्गमं तदव्ययम् ।” (१।१।१६)

गौडपादकारिकासु—“अनपरः प्रणवोऽव्ययः ।”

(१।२६) : ३

सञ्ज्ञा इसलिये होती है कि बहुतसा काम थोड़े से ही निकले । सो इस सूत्र में बड़ी सञ्ज्ञा करने का यह प्रयोजन है कि अन्वयार्थ अर्थात् सार्थक सञ्ज्ञा समझी जाय ॥

‘सदृशं० ॥’ स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग, सात विभक्ति और तीनों वचनों में जो शब्द एकतार बने रहते हैं, अर्थात् कहीं जिन का विपरीतभाव नहीं होता, वे अव्यय कहाते हैं । यह अव्यय का लक्षण सर्वत्र के लिये सामान्य है ॥ ३७ ॥

कृन्मेजन्तः ॥ ३८ ॥

मश्च एच्च = मेचौ । मेचावन्तावस्य सः = मेजन्तः । कृचासौ मेजन्तश्च = कृन्मे-
जन्तः । मकारान्त एजन्तश्च कृदन्तः शब्दोऽव्यय-सञ्ज्ञो भवति । भोक्तुम् । उदर-
पूरं मुङ्क्ते । जीवसे^१ । स्तेच्छितवै^२ । अत्राव्यय-सञ्ज्ञाश्रयाद् विभक्तेर्लुक् । तुमुन्-
णमुल्-कमुलो^३ मान्ताः । [१] से, [२] सेन्, [३] असे, [४] असेन्, [५] कसे,
[६] कसेन्, [७] अध्यै, [८] अध्यैन्, [९] कध्यै, [१०] कध्यैन्, [११] शध्यै,
[१२] शध्यैन्, [१३] तवै, [१४] तवैङ्, [१५] तवेन्, [१६] केन्^४
—एजन्ताश्च [एते] प्रत्ययाः । एतदन्ताः शब्दास्तथा । [१] प्रयै^५, [२] रोहिष्यै^६,
[३] अव्यथिष्यै, [४] दृशे, [५] विख्ये, [६] अवचक्षे^७—एते कृदन्तोपदिष्टाः
शब्दा अव्यय-सञ्ज्ञा भवन्ति ॥

भा०—सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य^{१०} ॥ इति ॥
अवश्यमेषा परिभाषा कर्तव्या । बहून्येतस्याः परिभाषायाः
प्रयोजनानि । शतानि । सहस्राणि । नुमि कृते ‘ष्यान्ता षट्’^{११} ॥
इति षट्-सञ्ज्ञा प्राप्नोति । ‘सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्वि-
धातस्य’^{१२} ॥ इति न दोषो भवति ॥^{१२}

१. ऋ०—३ । ३६ । १० ॥...

अपि च सूत्रं—३ । ४ । १० ॥

२. महाभाष्ये—(अ० १ । पा० १ । आ० १)

७. का०—३ । ७ ॥

“तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः परावभूदुः ।

८. ऋ०—४ । ११ । १ ॥...

तस्माद् ब्राह्मणेन न स्तेच्छितवै नापभाषितवै,

अपि च सूत्रं—३ । ४ । ११ ॥

स्तेच्छो ह वा एष यदपशब्दः” इति कस्याश्चि-

९. ऋ०—४ । ५८ । ५ ॥

च्छाखाया वचनम् ॥

अपि च सूत्रं—३ । ४ । १५ ॥

३. क्रमेण ३ । ३ । १० ॥ ३ । ४ । १२ ॥

१०. पा०—सू० ७४ ॥

४-४. ३ । ४ । ६ ॥

५०—सू० ८५ ॥

५. ३ । ४ । १४ ॥

११. १ । १ । २३ ॥

६. ऋ०—१० । १०४ । ३ ॥...

१२. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

यै संत्वा यः समर्थो भवति, स तद्विघातस्यानिमित्तं, तद्विहन्तुं न शक्नोति ।

महाभाष्येऽस्याः परिभाषाया बहूनि प्रयोजनानि सन्ति ॥ ३८ ॥

‘मेजन्तः’ म और एच्-प्रत्याहार हैं अन्त में जिन के, ऐसे जो ‘कृत्’ कृदन्त शब्द हैं, उन की ‘अव्ययम्’ अव्यय-सञ्ज्ञा हो । ‘भोक्तुं, उदरपूरं भुङ्क्ते, जीवसे, म्लेच्छितवै’ इत्यादि शब्दों में अव्यय-सञ्ज्ञा से विभक्ति का लुक् हो जाता है । इस सूत्र के संस्कृत में तुमुन् से लेके केन् पर्यन्त प्रत्ययों से जो शब्द बनते हैं, तथा प्रयै-शब्द से लेके अवचचे-पर्यन्त, इन कृदन्त में उपदेश किये हुए शब्दों की अव्यय-सञ्ज्ञा होती है ॥

‘सन्निपात० ॥’ इस परिभाषा का यह प्रयोजन है कि जिस को मानके जो कोई कार्य करने को समर्थ होता है, वह उस के नाश करने को समर्थ नहीं हो सकता ॥ ३८ ॥

क्वातोसुन्कसुनः ॥ ३९ ॥

क्त्वा, तोसुन्, कसुन्—एतत्प्रत्ययान्ताः शब्दा अव्यय-सञ्ज्ञा भवन्ति । कृत्वा । भुक्त्वा । पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः^१ । अत्र इण्-धातोस्तोसुन् । पुरा सूर्यस्य विसृपः^२ । ‘सृपि-तृदोः कसुन् ॥’ इति कसुन्-प्रत्ययः । अव्यय-सञ्ज्ञत्वाद् विभक्तेर्लुक् ॥ ३९ ॥

‘क्वा-तोसुन्-कसुनः’ क्त्वा, तोसुन्, कसुन्—इतने प्रत्ययान्त जो शब्द हैं, उन की ‘अव्ययम्’ अव्यय-सञ्ज्ञा है । जैसे—भुक्त्वा । उदेतोः । विसृपः । यहाँ अव्यय-सञ्ज्ञा से विभक्ति का लुक् होता है ॥ ३९ ॥

अव्ययीभावश्च^३ ॥ ४० ॥

अव्ययीभावः समासोऽव्यय-सञ्ज्ञो भवति । चकारोऽव्यय-सञ्ज्ञापूर्त्यर्थः ॥

भा०—अव्ययीभावस्याव्ययत्वे प्रयोजनं किम् । लुक्^४ मुखस्वर-उपचाराः । लुक्—उपाग्नि । प्रत्यग्नि । ‘अव्ययात्^५ ॥’ इति लुक् सिद्धो भवति । मुखस्वरः—उपाग्निमुखः । प्रत्यग्निमुखः । ‘नाव्ययदिक्शब्दगोमहत्स्थूलमुष्टिपृथुवत्सेभ्यः^६ ॥’

१. यथा—“इयेष । उवोष । गुये कृते ‘इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ॥’ (३ । १ । ३६) इत्याम् प्राप्नोति । ‘सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य ।’ इति न दोषो भवति ।” इत्यादीनि ॥

२. काठकसंहितायाम् (८ । ३)—“व्युष्टायां पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः, एतस्मिन् वै लोके प्रजापतिः प्रजा असृजत, ताः प्राजायन्त । प्रजननायैवमाधेयः ॥” इति ॥

३. वृश्यतां वाजसनेयि-काठकादिसंहितासु—“पुरा क्रूरस्य विसृपः ।” (क्रमेण १ । २८ ॥ १ । ६)

४. ३ । ४ । १७ ॥

५. चा० श०—“ततः प्राक्कारकात् ॥” (३ । १ । ४०)

६. २ । ४ । ८२ ॥

७. ६ । २ । १६८ ॥

इत्येष प्रतिषेधः सिद्धो भवति । उपचारः—उपपयः-
कारः । उपपयःकाम इति । 'अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णी-
ष्वनव्ययस्य' ॥' इति प्रतिषेधः सिद्धो भवति ॥^१

मुख्यत्वेन त्रीण्येव प्रयोजनानि ॥ ४० ॥

[इत्यव्यय-सञ्ज्ञाधिकारः]

'अव्ययीभावः' अव्ययीभाव जो समास है, सो 'च' भी 'अव्ययम्' अव्यय-सञ्ज्ञक हो । जैसे—उपाग्नि । प्रत्यग्नि । यहां अव्ययीभाव समास में अव्यय-सञ्ज्ञा के होने से विभक्ति का लुक् हो गया । इस सूत्र में चकार-ग्रहण अव्यय-सञ्ज्ञा की पूर्ति जनाने के लिये है ॥ ४० ॥

[यह अव्यय-सञ्ज्ञा का अधिकार पूरा हुआ]

[अथ सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञाधिकारः]

शि सर्वनामस्थानम् ॥ ४१ ॥

जश्शसोरादेशः शिः सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञो भवति । कुण्डानि तिष्ठन्ति । व-
नानि पश्य । अत्र सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञाश्रयात् 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' ॥^२
इति नान्तस्योपधाया दीर्घत्वम् ॥ ४१ ॥

'शि' जस् और शस्-विभक्ति के स्थान में शि-आदेश होता है । उस की 'सर्वनाम-
स्थानम्' सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा होती है । कुण्डानि । यहां सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा के आश्रय
से नान्त की उपधा को दीर्घ-आदेश हो गया है ॥ ४१ ॥

सुडनपुंसकस्य ॥ ४२ ॥

सुट् । [१।१।] अनपुंसकस्य । ६।१। नपुंसकाद् भिन्नस्य यः
सुट् = पञ्चवचनानि, स सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञो भवति । राजा । राजानौ । राजानः ।
राजानम् । राजानौ । अत्र सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञत्वात् पूर्ववद् दीर्घः ॥

'सुट्' इति किम् । राज्ञा छिन्नः । अत्र मा भूत् । 'अनपुंसकस्य' इति किम् ।
साम । सामनी । अत्र एा भूत् ॥

भा०—नायं प्रसज्यः प्रतिषेधः—नपुंसकस्य नेति । किं

१. ८।३।४६ ॥

२. अ० १।पा० १।आ० ६ ॥

३. ना०—सू० ४४-॥

४. ६।४।८ ॥

५. पाठान्तरम्—प्रसज्यप्रतिषेधः ॥

तर्हि । पर्युदासोऽयम्—यदन्यन्नपुंसकादिति । नपुंसके न व्यापारः । यदि केनचित् प्राप्नोति, तेन भविष्यति । पूर्वेण च प्राप्नोति ॥^१

तथा च शिष्टवाक्यम्—

प्राधान्यं तु विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।

पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥ १ ॥

यथा—अब्राह्मणमानय । ब्राह्मणादन्यमानयेत्यर्थः । यदि कस्मिंश्चिद् विषये ब्राह्मणस्य कार्यं भवति, तर्हि सोऽप्यानीयते ।

अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।

प्रसज्यः स तु विज्ञेयः^२ क्रियया सह यत्र नञ् ॥ २ ॥

यथा ‘न बहुव्रीहौ’^३ ॥ इति सर्वादीनां सर्वनाम-सञ्ज्ञा सर्वतो न भवतीति भवतिना सह नञ् । अस्मिन् सूत्रे तु पर्युदासः प्रतिषेधः, तेन ‘कुण्डानि, वनानि’ इत्यत्र प्रतिषेधो न भवति ॥ ४२ ॥

[इति सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञाधिकारः]

‘अनपुंसकस्य’ स्त्रीलिङ्ग और पुँलिङ्ग शब्दों से परे ‘सुट्’ सु, औ, जस्, अस्, औद्—इन पांच वचनों की ‘सर्वनामस्थानम्’ सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा हो। जैसे—राजा । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ । यहां सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा के होने से राजन्-शब्द के जकार को दीर्घ हो गया ॥

इस सूत्र में सुट्-ग्रहण इसलिये है कि ‘राज्ञा छिन्नः’ यहां सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा न हो । तथा ‘अनपुंसकस्य’ इस का ग्रहण इसलिये है कि ‘साम, सामनी’ यहां सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा से दीर्घ-आदेश न हो ॥

निषेध दो प्रकार का होता है—एक पर्युदास, दूसरा प्रसज्य । पर्युदास उस को कहते हैं कि जहां मुख्य करके विधान, और गौण करके निषेध किया जाय । जैसे—‘अब्राह्मणमानय’ अर्थात् ब्राह्मण को छोड़के और मनुष्य को ले आ । इससे ब्राह्मण का सर्वथा निषेध नहीं हुआ । जो कहीं ब्राह्मण का भी काम पड़े, तो ले आ सकते हैं । और प्रसज्य उस को कहते हैं कि जो सर्वथा निषेध ही हो जाय । जैसे—‘अनृतं न वक्तव्यम्’ अर्थात् झूठ नहीं बोलना । यहां सर्वथा निषेध ही है । इस विषय में किसी प्रकार की विधि नहीं ॥ ४२ ॥

[यह सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा का अधिकार पूरा हुआ]

१. कोरोऽत्र—“आ० ६ [व्या०]” इत्युद्धरण-स्थलम् ॥

—प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् (अन्यत्र “अयं” इत्यस्य स्थाने “असौ” इति) ॥

२. प्रक्रियाकौमुदीटीकायां विट्ठलाचार्योदाहृतः पाठः ३. १।१।२८॥

[अथ विभाषा-सञ्ज्ञासूत्रम्]

न वेति विभाषा ॥ ४३ ॥

न । [अ० ।] वा । [अ० ।] इति । [अ० ।] विभाषा । [१ । १ ।]
 सकारः प्रतिषेधार्थः । वा-शब्दो विकल्पार्थः । अनयोर्योऽर्थस्तस्य विभाषा-सञ्ज्ञा
 भवति । विभाषा-प्रदेशेषु सूत्रेषु प्रतिषेधविकल्पावुपतिष्ठेते । तेन 'विभाषा
 दिक्समासे बहुव्रीहौ' ॥' इति विधिनिषेधावुभौ भवतः ॥

भा०—इति-करणोऽर्थनिर्देशार्थः ३ ॥

इति-करणः क्रियते सोऽर्थनिर्देशार्थो भविष्यति ॥

महत्याः सञ्ज्ञायाः करण एतत् प्रयोजनम्—उभयोः सञ्ज्ञा
 यथा विज्ञायेत, नेति च वेति च । या^३ तावदप्राप्ते विभाषा, तत्र
 प्रतिषेध्यं नास्तीति कृत्वा नेत्यनेन विकल्पो भविष्यति । या
 हि प्राप्ते विभाषा, तत्रोभयमुपस्थितं भवति, नेति च वेति च ।
 तत्र नेत्यनेन प्रतिषिद्धे, नेत्यनेन विकल्पो भविष्यति ॥

आचार्यः खल्वपि सञ्ज्ञाभारभमाणो भूयिष्ठमन्यैरेव^४ शब्दैरेत-
 मर्थं सम्प्रत्याययति—बहुलम्,^५ अन्यतरस्याम्,^६ उभयथा,^७
 वा,^८ एकेषामिति ॥^९

अस्मिन् शब्दशास्त्रे शब्दानां सञ्ज्ञाः क्रियन्ते । तत्र शब्दानामेव प्रतीतिर्भ-
 वति नार्थस्य । अतोऽस्मिन् सूत्रे इति-शब्दः पठ्यते । तेन न-वा-शब्दयोर्योऽर्थस्तस्य
 विभाषा-सञ्ज्ञा भवति ॥

त्रिधा विभाषा भवन्ति—प्राप्ता, अप्राप्ता, प्राप्ताप्राप्ता च । ता महाभाष्यका-
 रेण बह्व्यो^{१०} दर्शिताः । अत्र लेखितुमशक्याः । तत्र अप्राप्तविभाषायां 'वा' इत्युपति-

१. १ । १ । २७ ॥

२. वार्त्तिकमिदम् ॥

३. पाठान्तरम्—तत्र या ॥

४. पाठान्तरम्—० मन्यैरपि ॥

५. यथा—“बहुलमासीदण्ये ॥” (३ । २ । ८१)

६. यथा—“वश्चास्थान्यतरस्यां किति ॥” (६ ।

१ । ३६)

७. यथा—“उभयथर्तु ॥” (८ । ३ । ८)

८. यथा—“वा जाते ॥” (६ । २ । १७१)

९. यथा—“यजुष्येकेषाम् ॥” (८ । ३ । १०४)

१०. कोशेऽत्र—“आ० ६ [व्या०]” इत्युद्धरण-

स्थलम् ॥

११. = बहुधा ॥

ष्ठते, निषेधस्य प्रयोजनाभावात् । प्राप्तविभाषायां पूर्वं निषेधे प्राप्ते 'वा' इत्यनेन विकल्पो भवति । प्राप्ताप्राप्तविभाषायामुभयमुपतिष्ठते ॥

‘आचार्यः०’ अनेन सूत्रं प्रत्याख्याति । कथम् । विकल्पसिद्धयर्थो विभाषा-सञ्ज्ञा क्रियते । विभाषा-शब्देन विनाऽन्यैरपि बहुलादिभिर्विकल्पसिद्धिर्भवति ॥४३॥

‘न वेति’ नकार का अर्थ है निषेध, वा का अर्थ है विकल्प । इन दोनों के अर्थ की ‘विभाषा’ विभाषा-सञ्ज्ञा हो । विभाषाविधायक सूत्रों में निषेध और विकल्प दोनों ही उपस्थित होते हैं । जैसे—‘विभाषा श्वेः’ ॥’ इस सूत्र में निषेध और विकल्प से ‘शुशाव, शिश्वाय’ ये दो उदाहरण बनते हैं । इस सूत्र में इति-शब्द अर्थ की सञ्ज्ञा होने के लिये है, अर्थात् ‘न’ और ‘वा’ इन के अर्थ की विभाषा-सञ्ज्ञा है ॥

बड़ी सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन यह है कि न, वा, इन दोनों की विभाषा-सञ्ज्ञा हो । विभाषा तीन प्रकार के होते हैं—प्राप्त, अप्राप्त और प्राप्ताप्राप्त । प्राप्त-विभाषा उसे कहते हैं कि जो किसी कार्य की प्राप्ति में विभाषा का आरम्भ हो । अप्राप्त-विभाषा उसे कहते हैं, जो कार्य किसी से प्राप्त न हो, और विभाषा का आरम्भ किया जाय । तथा प्राप्ताप्राप्त-विभाषा वह कहाता है कि जो किसी से नित्य प्राप्त हो और किसी से निषेध पाता हो, तब विभाषा का आरम्भ हो । ये तीनों प्रकार के विभाषा महाभाष्यकार ने इसी सूत्र की व्याख्या में बहुत प्रकार से दिखाये हैं । सब अध्यायायी में ये तीन प्रकार के ही विभाषा हैं ॥

‘आचार्यः०’ इस पंक्ति से सूत्र का खण्डन जाना जाता है, क्योंकि अध्यायायी में जिस की विभाषा-सञ्ज्ञा है, उस में ‘अन्यतरस्याम्’ आदि भिन्न शब्दों से भी विभाषा का काम निकलता है ॥ ४३ ॥

[अथ सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा सूत्रम्]

इग्यणः सम्प्रसारणम् ॥ ४४ ॥

इक् । १ । १ । यणः । ६ । १ । सम्प्रसारणम् । १ । १ । सूत्रशाटक-
न्यायेनात्र भाविनी सञ्ज्ञा विधीयते । यणः स्थाने भावी य इक्, स सम्प्रसारण-
सञ्ज्ञो भवति । इष्टम् । उत्तम् । गृहीतम् । अत्र ‘इ, उ, ऋ’ इत्येतेषां सम्प्रसारण-
सञ्ज्ञा । तदाश्रयं ‘सम्प्रसारणाच्च’ ॥’ इति पूर्वसवर्णत्वम् । सङ्ख्यातानुदेशा-
दिह न भवति—अदुहितराम् ॥ ४४ ॥

१. ६ । १ । ३० ॥

२. महाभाष्ये—‘कश्चित् कञ्चित् तन्तुवायमाह
‘अस्य सूत्रस्य शाटकं वयं’ इति । स पश्यति,
यदि शाटको न वातव्यः, अथ वातव्यो न शा-
टकः, शाटको वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम् । भा-

विनी खल्वस्य सञ्ज्ञाऽभिप्रेता । सः, मन्ये,
वातव्यः, यस्मिन्नुते ‘शाटकः’ इत्येतद् भवतीति ।
एवमिहापि स यणः स्थाने भवति, यस्यामिनिर्वृ-
त्तस्य ‘सम्प्रसारणम्’ इत्येषा सञ्ज्ञा भविष्यति ॥’
३. ६ । १ । १०८ ॥

‘यणः’ यण के स्थान में जो ‘इक्’ इक् होने वाले हैं, उन की ‘सम्प्रसारणम्’ सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा हो। इष्टम्। उत्तम्। गृहीतम्। यहां ‘इ, उ, ऋ’ ये तीनों वर्ण यण के स्थान में हुए हैं। इन की सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा हो। इन के परे जो अकार था, उस को पूर्वसवर्ण हो गया। यथासङ्ख्य यण के स्थान में होने वाले इक् की सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा होती है। जैसे—अदुहितराम्। यहां लङ् के स्थान में इट्-प्रत्यय हुआ है। इससे हलुत्तर-सम्प्रसारण को कहा दीर्घ यहां नहीं होता। यथासङ्ख्य से य के स्थान में होने वाले इकार की सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा होगी ॥ ४४ ॥

अथ परिभाषाः ॥

आद्यन्तौ टकितौ ॥ ४५ ॥

आद्यन्तौ । १ । २ । टकितौ । १ । २ । आदिश्च अन्तश्च तौ [= आद्यन्तौ ।] टश्च कश्च = टकौ । टकावितौ ययोस्तौ आगमौ [= टकितौ ।] टिट्-आगमः परस्यादौ, किट्-आगमः पूर्वस्यान्ते भवति । लविता । भीषयते । अत्रार्धधातुकस्य इट्-आगमस्तस्य [लृ-धातोः] आदौ, भी-धातोः षुक्-आगमस्तस्यान्ते भवति ॥ ४५ ॥

‘टकितौ आद्यन्तौ’ टिट्-आगम जिस को विधान हो, उस के आदि में, और किट्-आगम जिस को विधान हो, उस के अन्त में होता है। ‘लविता’ यहां इट्-आगम आर्धधातुक को विधान है, सो उस के आदि में होता है। ‘भीषयते’ यहां भी धातु को षुक्-आगम विधान है, सो उस के अन्त में होता है ॥ ४५ ॥

मिदचोऽन्त्यात् परः ॥ ४६ ॥

मिद् । १ । १ । अचः । ६ । १ । अन्त्यात् । ५ । १ । परः । १ । १ । ‘अचः’ इति निर्द्धारणे षष्ठी । जातावेकवचनम् । अचां मध्ये योऽन्त्योऽच्, तस्मात् परो मिद्-आगमो भवति । कुण्डानि । वनानि । पयांसि । यशांसि । अत्र नुमागमोऽन्त्यादचः परो भवति ॥

भा०—अन्त्यात् पूर्वो मस्जेर्मिदनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम्^३ ॥

अनुषङ्गलोपार्थं तावत्—मग्रः । मग्रवान् ।

संयोगादिलोपार्थम्—मङ्क्ता, मङ्क्लुम् ॥^४

१. स०—स० ५२ ॥

२. स०—स० ५३ ॥

३. वार्तिकमिदम् ॥

४. अत्र जिनेन्द्रबुद्धिकृतौ काशिकाविवरणपञ्जिका-

याम्—“नकारस्योपधायाः ‘अनुषङ्गः’ इति पूर्वाचार्यैः सञ्ज्ञा कृता ।” इति ॥

५. कोशेऽत्र—“आ० ७ [व्या०]” इत्युद्धरण-स्थलम् ॥

मस्ज्-धातोः सकारजकारयोर्मध्ये नुम्-आगमो भवति । अन्यथा 'स्कोः सं-
योगाद्योरन्ते च' ॥' इति सकारलोपो न स्यात् । 'ममः' इत्यत्रान्त्यादचः परे नुमि
कृते सति सकारलोपस्यासिद्धत्वादुपधाऽभावे न-लोपो न प्राप्नोति ॥ ४६ ॥

'अचः' अचों के बीच में जो 'अन्त्यात्' अन्त्य अच्, उस से 'परः' परे 'मित्' मित्
का आगम होता है । कुण्डानि । पयांसि । यहां नुम् का आगम [अन्त्य] अच्
से परे होता है । 'अन्त्यात् पूर्वो० ।' इस वार्तिक से मस्ज् धातु के सकार जकार के बीच
में नुम् का आगम होता है । इस के होने से 'मङ्क्ता' यहां संयोग के आदि के सकार का लोप
हो जाता है । तथा 'ममः' यहां नकार का लोप नुम् के [सकार और जकार के] बीच में होने
से हुआ है ॥ ४६ ॥

एच इग्रस्वादेशे ॥ ४७ ॥

एचः । ६ । १ । इक् । १ । १ । ह्रस्वादेशे । ७ । १ । एचो ह्रस्वादेशे
कर्त्तव्ये इगेव ह्रस्वो भवति, नान्यः । रै—अतिरि । नौ—अतिनु । गो—उपगु ।
'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' ॥' इति विधीयमानो ह्रस्व एचः स्थाने इग्
भवति ॥

'एचः' इति किम् । अतिखट्वः । अतिमालः । अत्र आकारस्थाने ह्रस्व इग्
न भवति । 'ह्रस्वादेशे' इति किम् । देशवदत्त । अत्र एचः प्लुतो विधीयते, अत
इग् न भवति ॥ ४७ ॥

'एचः' एच् के स्थान में 'ह्रस्वादेशे' जहां ह्रस्व करना हो, वहां 'इक्' इक् ह्रस्व होते
हैं । [जैसे—] अतिरि । अतिनु । उपगु । यहां 'ह्रस्वो नपुंसके०' ॥' इस सूत्र से ऐ,
औ, ओ, इंन के स्थान में इ, उ, उ, ये ह्रस्व हुए हैं ॥

इस सूत्र में एच्-ग्रहण इसलिये है कि 'अतिखट्वः' यहां एच् के स्थान में ह्रस्व नहीं
है, इससे इक् नहीं हुआ । ह्रस्वादेश-ग्रहण इसलिये है कि 'देशवदत्त' यहां एच् के स्थान में
ह्रस्व विधान नहीं है, इससे इक् नहीं हुआ ॥ ४७ ॥

षष्ठी स्थानेयोगा ॥ ४८ ॥

षष्ठी । १ । १ । स्थानेयोगा । १ । १ । अनियतसम्बन्धा षष्ठी स्थाने-
योगा भवति ।

भा०—किमिदं स्थानेयोगेति । स्थाने योगोऽस्याः, सेयं स्थाने-

१. ८ । २ । २६ ॥

२. स०—स० ५४ ॥

३. १ । २ । ४७ ॥

४. स०—स० ५५ ॥

वाजसनेयिप्रातिशाख्येऽपि—“षष्ठी स्थाने-
योगा ॥” (१ । १३६)

योगा । समस्यलोपो निपातनात् । तृतीयाया वा एत्वम् ।
स्थानेन योगोऽस्याः, सेयं स्थानेयोगेति ॥

एत्वमपि निपातनादेव । योगनियमार्थं परिभाषेयम् । सूत्रेषु यां षष्ठी, सां
स्थानेयोगैव भवति । स्थान-शब्दः प्रसङ्गवाची । 'ब्रुवो वचिः' ॥ इति ब्रूप्रसङ्गे
वचिर्भवति । ब्रुवो हि षष्ठ्यर्थः—समीप-समूह-विकार-अव्ययवाद्याः, तत्र याव-
न्तः शब्दे सम्भवन्ति, तेषु सर्वेषु प्राप्तेषु नियमः क्रियते, षष्ठी स्थानेयोगेति ॥४८॥^३

'षष्ठी' जिस का सम्बन्ध नियत नहीं, ऐसी सूत्रों में जो षष्ठी विभक्ति आती है, उस का
'स्थानेयोगा' स्थान में, वा स्थान के साथ योग हो । 'ब्रुवो वचिः' ॥ यहां ब्रू धातु में जो षष्ठी
है, उस का स्थान के सार्थ योग होता है, कि ब्रू के स्थान में वचि-आदेश हो । उस से 'वक्ता'
इत्यादि उदाहरण बनते हैं ॥

षष्ठी के बहुत से अर्थ हैं । उन में से जितने शब्दों में सम्भव होते हैं, उन सब की प्राप्ति
में इस परिभाषा सूत्र से नियम किया है कि स्थान में ही योग हो ॥ ४८ ॥

स्थानेऽन्तरतमः ॥ ४९ ॥

स्थाने । ७ । १ । १ अन्तरतमः । १ । १ । स्थाने प्राप्यमाण आदेशोऽन्तर-
तमः = सदृशतमः भवति । चेता । स्तोता । अत्र स्थानकृतमान्तर्यम् । इकारस्य
तालुस्थानस्य एकारः । उकारस्य ओष्ठस्थानस्य ओकारो गुणो भवति ॥

भा०—'तस्यस्यमिपां तान्तन्तामः' ॥ इति एकार्थस्यैकार्थः,
द्व्यर्थस्य द्व्यर्थः, बह्वर्थस्य बह्वर्थो यथा स्यात् ॥
'अकः सवर्णो दीर्घः' ॥ इति दण्डाग्रं, लुपाग्रं, दधीन्द्रः, मधूष्णः ।
कण्ठस्थानयोः कण्ठस्थानः, तालुस्थानयोस्तालुस्थानः, ओष्ठ-
स्थानयोरौष्ठस्थानो यथा स्यात् ॥

अथ 'स्थाने' इत्यनुवर्तमाने पुनः स्थान-ग्रहणं किमर्थम् । यत्रा-
ऽनेकविधमान्तर्यं, तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयो यथा स्यात् ।
किं पुनस्तत् । चेता । स्तोता । प्रमाणतोऽकारो गुणः प्राप्नोति,

१. कोशेऽत्र—“आ० ७ [व्या०]” इत्युदाहरण-
स्थलम् ॥

२. २ । ४ । ५३ ॥

३. कोशेऽत्र पुनः—“आ० ७ [व्या०]” इति ॥

४. स०—सू० ५६ ॥

५. ३ । ४ । १०१ ॥

६. ६ । १ । १०१ ॥

७. पाठान्तरम्—मधूष्णः ॥

८. पाठान्तरम्—इति वर्तमाने ॥

९. पाठान्तरम्—यत्राऽनेकमान्तर्यम् ॥

स्थानत एकारौकारौ । पुनः स्थानग्रहणादेकारौकारौ भवतः ॥
अथ तम-ग्रहणं किमर्थम् । ‘अयो होऽन्यतरस्याम्’^१ इत्यत्र सो-
ष्मणः सोष्माण इति द्वितीयाः प्रसक्ताः, नादवतो नादवन्त
इति तृतीयाः प्रसक्ताः । तमब्-ग्रहणाद् ये सोष्माणो नादवन्तश्च,
ते भवन्ति चतुर्थाः । वाग् घसति । त्रिष्टुब् भसति ॥^३

आन्तर्यं चतुर्विधं भवति—स्थानकृतं, अर्थकृतं, प्रमाणकृतं, गुणकृतं चेति ।
स्थानकृतम्—‘अकः सवर्णे दीर्घः’^५ ॥’ दण्डाग्रम् । दधीन्द्रः । अत्र द्वयोरकारयोः
कण्ठस्थानयोः कण्ठस्थान आकार एव दीर्घो भवति । एवं तालुस्थानयोरिकारयो-
स्तालुस्थान ईकारः । इति स्थानकृतमान्तर्यम् ॥

अर्थकृतम्—‘तस्म्यस्यमिपां तान्तन्तामः’^५ ॥’ अभवम् ।^अभवतम् ।^अभवत—
इत्येकवचनद्विवचनबहुवचनस्थानेषु एकद्विवह्वर्थवाचका आदेशा भवन्ति । इत्यर्थ-
कृतमान्तर्यम् ॥

प्रमाणकृतम्—अमुष्मै । अमूभ्याम् । ‘अदसोऽसेर्दादु दो मः’^६ ॥’ अकारस्य
ह्रस्वस्य ह्रस्व उकारः, दीर्घस्य आकारस्य दीर्घ उकारो भवति । इति प्रमाणकृत-
मान्तर्यम् ॥

गुणकृतम्—‘चजोः कु घिण्यतोः’^७ ॥’ भागः । रागः । अल्पप्राणस्य
जकारस्य अल्पप्राणो गकार आदिश्यते । इति गुणकृतं [आन्तर्यम्] ॥

‘स्थाने’ इति किमर्थम् । चेता । स्तोता । अकारोऽत्र गुणः प्राप्तः, स स्थान-
ग्रहणान्न भवति । तमब्-ग्रहणं किमर्थम् । वाग् घसति, त्रिष्टुब् भसतीति द्वितीय-
तृतीयाः प्राप्ताः, तमब्-ग्रहणाच्चतुर्था भवन्ति ॥ ४६ ॥

‘स्थाने’ स्थान में जो आदेश प्राप्त हैं, वे ‘अन्तरतमः’ स्थानी के तुल्य हों, अर्थात् जैसे
स्थानी हों, वैसे ही आदेश भी हों । चेता । स्तोता । यहां तालु-स्थान [नीय] इकार के
स्थान में तालु-स्थान [नीय] एकार गुण होता है, तथा ओष्ठ-स्थान [नीय] उकार के स्थान
में ओकार गुण होता है ॥

व्याकरणशास्त्र में आन्तर्य अर्थात् पद और वर्णों की तुल्यता चार प्रकार की होती है—
स्थानकृत, अर्थकृत, गुणकृत, प्रमाणकृत । स्थानकृत उसे कहते हैं कि जो तालु आदि स्थान

१. ८।४।६२॥

४. ६।१।१०१॥

२. पाठान्तरम्—तम-ग्रहणाद् ॥

५. ३।४।१०१॥

३. कोरोऽत्र—‘आ० ७ [व्या०]’ इत्युद्धरण-
स्थलम् ॥

६. ८।२।८०॥

७. ७।३।५२॥

आदेशी का हो, वही आदेश का भी । जैसे—दण्डाग्रम् । दधीन्द्रः । यहां कण्ठ-स्थान [नीय] दो अकारों के स्थान में कण्ठ-स्थान वाला दीर्घ आकार होता [है] , तथा तालु-स्थान [नीय] दो हकारों के स्थान में तालु-स्थान वाला दीर्घ ईकार होता है ॥

अर्थकृत उसे कहते हैं कि जो एक पदार्थ के वाची शब्द के स्थान में एक का ही वाची आदेश हो । जैसे—अभवम् । यहां एक वचन के स्थान में एक वचन ही आदेश हुआ है ॥

प्रमाणकृत वह होता है कि जो ह्रस्व के स्थान में ह्रस्व, और दीर्घ के स्थान में दीर्घ-आदेश हो । जैसे—अमुष्मै । अमूभ्याम् । यहां ह्रस्व अकार के स्थान में ह्रस्व उकार, और दीर्घ आकार के स्थान में दीर्घ उकार होता है ॥

और गुणकृत आन्तर्य उस को कहते हैं कि जो अल्पप्राण वर्ण के स्थान में अल्पप्राण, और महाप्राण वर्ण के स्थान में महाप्राण आदेश हो । जैसे—रगः । यहां अल्पप्राण जकार के स्थान में अल्पप्राण गुण वाला गकार-आदेश, तथा 'घातः' यहां महाप्राण हकार के स्थान में महाप्राण वाला घकार हो गया ॥

इस सूत्र में पीछे के सूत्र से स्थान-शब्द की अनुवृत्ति हो जाती, फिर स्थान-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि चार प्रकार के आन्तर्य की प्राप्ति में स्थानकृत आन्तर्य सब से बलवान् हो । 'चेता, स्तोता' इन शब्दों में प्रमाणकृत आन्तर्य से अकार गुण पाता है, सो नहीं हुआ, किन्तु स्थानकृत आन्तर्य से एकार ओकार गुण हो जाता है ॥

और तम-ग्रहण इसलिये है कि 'वाग्धसति' यहां हकार के स्थान में खकार, गकार पाते हैं, सो न हों, किन्तु घकार हो जाता है ॥ ४६ ॥

उरण् रपरः^१ ॥ ५० ॥

उः । ६ । १ । अण् । १ । १ । र-परः । १ । १ । ऋ-वर्णस्य स्थाने अण् प्रसज्यमान एव र-परो भवति । कर्त्ता । किरति । अत्र ऋकारस्थाने 'अर्, इर्' [इति अकार-इकारौ] रेफपरौ भवतः ॥

अण्-ग्रहणं किमर्थम् । होतापोतारौ । अत्र ऋकारस्य स्थान आनङ्-आदेशो विधीयते, स रपरो न भवति ॥

भा०—स्थान इति वर्त्तते । स्थान-शब्दश्च प्रसङ्गवाची । यद्ये-वमादेशो विशेषितो भवति । आदेशश्च विशेषितः । कथम् । द्वितीयं स्थान-ग्रहणं [प्रकृतेम्] अनुवर्त्तते । तत्रैवमभिसम्बन्धः करिष्यते—उः स्थाने अण् स्थान इति । उः प्रसङ्गेऽण् प्रसज्य-मान एव रपरो भवति ॥^३

१. स०—स० ५७ ॥

२. "प्रकृतम्" इति कोशे न दृश्यते ॥

३. कोशेऽत्र—"आ० ७ [व्या०]" इत्युद्धरण-

स्थलम् ॥

एकं स्थान-ग्रहणं षष्ठीस्थानेयोगः । द्वितीयं स्थानेऽन्तरतमः । द्वयमप्यनुवर्त्तते ॥ ५० ॥

‘उः’ ऋ-वर्ण के स्थान में प्राप्त जो ‘अण्’ अण् हैं, वे ‘र-परः’ र-पर अर्थात् उन से परे रेफ हुआ करे, यह इस सूत्र का प्रयोजन है । जैसे—कर्त्ता । यहां कृ धातु को अकार गुण हुआ, और रेफ उस से पर आया ॥

इस सूत्र में अण्-ग्रहण इसलिये है कि ऋ के स्थान में और कोई आदेश विधान किया हो, तो वह रपर न हो । जैसे—होतापोतारौ । यहां ऋकार के स्थान में आनङ्-आदेश रपर नहीं हुआ ॥ ५० ॥

अलोऽन्त्यस्य^१ ॥ ५१ ॥

अलः^२ । ६ । १ । अन्त्यस्य । ६ । १ । स्थानेऽप्रसक्तस्यानुसंहारः क्रियते । स्थाने विधीयमान आदेशोऽन्त्यस्यालः स्थाने विज्ञेयः । ‘त्यदादीनाम्ः^३ ॥’ सः । एषः । अकारादेशोऽन्त्यस्य तकारस्य स्थाने भवति ॥ ५१ ॥

स्थान में जो आदेश का विधान किया है, सो जिस को विधान हो, उस के ‘अन्त्यस्य’ अन्त के ‘अलः’ वर्ण के स्थान में हो । जैसे—‘त्यदादीनाम्ः^३ ॥’ इस सूत्र में त्यदादि-शब्दों को अकारादेश विधान है, सो अन्त्य तकार के स्थान में हो गया ॥ ५१ ॥

डिच्च^४ ॥ ५२ ॥

‘अनेकाल्शित् सर्वस्य^५ ॥’ इत्यस्य पूर्वमेवापवादः । अनेकालपि डिदादेशोऽन्त्यस्यालः स्थाने वेद्यः । मातापितरौ । ‘आनङ्-तो द्वन्द्वे^६ ॥’ इत्यानङ्-आदेशोऽन्त्यस्य स्थाने भवति ॥

भा०—तातडन्त्यस्य स्थाने कस्मान्न भवति । एवं तर्हेतदेक ज्ञापयति, न तातडन्त्यस्य स्थाने भवतीति । यदेतं डितं करोति । इतरथा हि लोट एरुप्रकरण एव ब्रूयात्—तिङ्गोस्तादाशिष्यन्यतरस्यामिति^७ ॥

तातडि डित्करणं गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थम् । अन्त्यादेशार्थं डित्करणं चेत्, तर्हि एरुप्रकरणे ताति विधीयमाने लोट इकारस्य स्थाने ताति सत्यन्त्यस्य स्थाने भविष्यत्येव । पुनर्डित्करणं गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थमेव ॥ ५२ ॥

१. स०—स० ५८ ॥

२. ७ । २ । १०२ ॥

३. स०—स० ५६ ॥

४. १ । १ । ५४ ॥

५. ६ । ३ । २५ ॥

६. इत्यतः—७ । १ । ३५ ॥

७. कोशेऽत्र—“आ० ७ [व्या०]” इत्युदरणं

स्थलम् ॥

इस सूत्र में 'अनेकाल्' ० ॥' इस सूत्र का प्रथम ही अपवाद किया है । ['अनेकाल्'] अनेकाल् 'च' भी 'ङित्' ङित्-आदेश हो, तो अन्य अल् के स्थान में हो । जैसे—मातापि-तरौ । यहां आनङ्-आदेश अन्य अल् के स्थान में हुआ ॥

(प्र०) तातङ्-आदेश अन्य अल् के स्थान में क्यों नहीं होता । [उ०] तातङ्-शब्द में ङित्करण इसलिये है कि ङित् के परे गुण वृद्धि का निषेध हो । और जो अन्य [अल्] के स्थान में होने के लिये होता, [तो] इस को ङित् नहीं करते, क्योंकि 'एरुः' ॥' इस सूत्र के प्रकरण में 'तात्' ऐसा करते, तो लोट् के इकार के स्थान में होने से अन्य को हो जाता । फिर ङित्-करण किया है, इससे अन्य के स्थान में नहीं होता ॥ ५२ ॥

आदेः परस्य ॥ ५३ ॥

'अलः' इत्यनुवर्तते । 'तस्मादित्युत्तरस्य' ॥' इत्यस्यापवादः । परस्य कार्य-मुच्यमानं तस्यादेरलः स्थाने बोध्यम् । 'द्वयन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' ॥' [इति] द्वीपम्, अन्तरीपम्, प्रतीपम्, समीपम् । अत्र द्वि, अन्तर, उपसर्ग, एतेभ्यः पर-स्याप-शब्दस्य ईत्वं विधीयते । तत्तस्यादेरकारस्य भवतीति ॥ ५३ ॥

यह सूत्र 'तस्मादित्युत्तरस्य' ॥' इस का अपवाद, अर्थात् इस की प्राप्ति में इस का आरम्भ है । 'परस्य' किसी से पर शब्द को जो कार्य कहा हो, वह पर के 'आदेः' आदि के वर्ण को हो । जैसे—द्वीपम् । अन्तरीपम् । यहां द्वि और अन्तर-शब्द से परे अप-शब्द को ईकारादेश कहा है, सो उस के आदि अकार को होता है ॥ ५३ ॥

अनेकाल्शित् सर्वस्य ॥ ५४ ॥

'अलोऽन्त्यस्य' ॥' इत्यस्यापवादः । [अनेकाल्शित् । १ । १ ।] अनेकाल् च शित्, अनयोः समाहारः । अनेकाल्शित् य आदेशः, स सर्वस्य षष्ठी-निर्दिष्टस्य स्थाने भवति । अनेकाल्—ब्रुवो वचिः सर्वस्य स्थाने भवति । शित्—'इदम् इर्' ॥' [इति] इह । इदं-शब्दस्य इशादेशः शित्त्वात् सर्वस्य स्थाने भवति ॥

भा०—एवं तर्हि सिद्धे सति यच्छित्सर्वस्येत्याह, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—भवत्येषा परिभाषा—नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वं भवति ॥ इति ॥

१. १।१।५४ ॥

२. ३।४।५६ ॥

३. स०—स० ६० ॥

दृश्यतां काजसनेयिनां प्रातिशब्दये—'तस्मा-

दित्युत्तरस्यादेः ॥' (१।१३५)

४. १।१।६६ ॥

५. ६।३।६७ ॥

६. स०—स० ६१ ॥

७. १।१।५२ ॥

८. ५।३।३ ॥

९. पाठान्तरम्—अस्त्येषा ॥

१०. दृश्यतां पा०—स० ५ ॥

पा०—स० ६ ॥

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । तत्राऽसरूपसर्वादेशदापप्रतिषेधेषु
पृथग् निर्देशोऽनकारान्तत्वादित्युक्तम्, तन्न वक्तव्यं भवति ॥'

अत्राऽनुबन्धकृतं 'अष्टाभ्य औश्' ॥' इति शित्त्वादनेकाल्त्वं न भवति ।
अन्यथा 'अनेकाल् सर्वस्य ॥' इत्येव सिद्धे शिद्-ग्रहणमनर्थकं स्यात् । एवं सतीयं
परिभाषा निःसृता ॥ ५४ ॥

[इति परिभाषाः]

यह सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य' ॥' इस सूत्र का अपवाद है । 'अनेकाल्' अनेक वर्णों का
आदेश और शित्, अर्थात् शकार जिस का इत्-सञ्ज्ञक हुआ हो, ये दोनों आदेश [समस्त] वर्णों
समुदाय [=शब्द] के स्थान में हों । अनेकाल्—जैसे ब्रू धातु को ध्वि-आदेश होता है । तथा
शित्—इह । यहां इदम्-शब्द को इश्-आदेश हुआ है, सो शित् के होने से सब के स्थान में
हो गया ॥

इस सूत्र में शित्-ग्रहण के ज्ञापक से 'नानुबन्धकृतम् ॥' यह परिभाषा निकली है ।
इस का अर्थ यह है कि जिन शब्दों के अन्त में इत्-सञ्ज्ञा के लिये हल् अक्षर पड़ा जाता है,
इससे उस शब्द को अनेक वर्णों वाला नहीं मान सकते, क्योंकि शकार के होने से एक वर्णों
का आदेश अनेकाल् हो जाता, फिर 'अनेकाल् सर्वस्य ॥' इत्यादी ही सूत्र बनाते । इससे
सिद्ध हुआ कि अनुबन्ध के होने से अनेकाल् नहीं होता ॥ ५४ ॥

[यह परिभाषाप्रकरण पूरा हुआ]

[अथातिदेशसूत्राणि]

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥ ५५ ॥

स्थानिवत् । [अ० ।] आदेशः । १ । १ । अनल्विधौ । ७ । १ । अन-
त्ताश्रयविधिषु स्थान्याश्रयेषु कार्येषु कर्त्तव्येष्व्वादेशः स्थानिवद् भवति । अति-
देशोऽयम् ॥

भा०—किमर्थं पुनरिदमुच्यते । अन्यः स्थानी, अन्य आदे-
शः । स्थान्यादेशपृथक्त्वादेतस्मात् कारणात् स्थानिकार्यमा-
देशे न प्राप्नोति । तत्र को दोषः । 'आडो यमहनः' ॥' इति^६
आत्मनेपदं भवतीति हन्तेरेव स्यात्, वधेर्न स्यात् । इष्यते च,

१. कोशेऽत्र—'आ० ७ [व्या०]' इत्युक्त-
रणस्थलम् ॥

२. ७ । १ । २१ ॥

३. १ । १ । ५१ ॥

४. स०—सू० ६२ ॥

५. १ । ३ । २८ ॥

६. महाभाष्ये इति-शब्दो न दृश्यते ॥

वधेरपि स्यात्^१ । तच्चान्तरेण यत्नं न सिद्धयतीति तस्मात्
स्थानिवदनुदेशः । एवमर्थमिदमुच्यते ॥^२

सर्वमेतत् स्पष्टम् । स्थानिना तुल्यं = स्थानिवत् ॥

सर्वविभक्त्यन्तः समासोऽत्रविज्ञेयः ।

अलः परस्य विधिः = अल्विधिः । अलो विधिः = अल्विधिः । अलि विधिः = अल्विधिः । अला विधिः = अल्विधिः ।

न अल्विधिः = अनल्विधिः, तस्मिन् । आवधिषीष्ट । अत्र हन्-धातोर्वधादेशस्य स्थानिवद्भावदात्मनेपदं भवति ।

भा०—वत्करणं किमर्थम् । ‘स्थान्यादेशोऽनल्विधौ’ इतीयत्युच्यमाने सञ्ज्ञाधिकारोऽयं, तत्र स्थानी आदेशस्य सञ्ज्ञा स्यात् । तत्र को दोषः । ‘आङो यमहनः^३ ॥’ आत्मनेपदं भवतीति वधेरेव स्याद्, हन्तेर्न स्यात् । वत्करणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति । स्थानिकार्यमादेशोऽतिदिश्यते ॥^४

अथादेश-ग्रहणं किमर्थम् । आदेशमात्रं स्थानिवद् यथा स्यात् ।

तेनैकदेशोऽपि भवति । भवतु । पचतु । अत्र इकारस्य उकार-आदेशः स्थानिवद् भवति । तेन तिङ्-ग्रहणेन ग्रहणं भवतीति ॥

अथ विधि-ग्रहणं किमर्थम् ।

अलः परस्य विधौ स्थानिवन्न भवति । द्यौः । अत्र वकारस्थान औकार-आदेशो यदि स्थानिवत् स्यात्, तर्हि ‘हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्^५ ॥’ इति सु-लोपः प्रसज्येत । अलो वर्णसम्बन्धिनि विधौ कर्तव्ये स्थानिवन्न भवति । बुकामः । अत्र दिव्-शब्दस्य वकारस्थान उकार-आदेशो यदि स्थानिवत् स्यात्, तर्हि वकार-लोपः प्राप्नुयात् । ‘अनल्विधौ’ इति प्रतिषेधात् स्थानिवद्भावोऽत्र न भवति ॥

भा०—स्थानी हि नाम—भूत्वा यो^६ न भवति । आदेशो हि नाम—योऽभूत्वा भवति । एतच्च नित्येषु शब्देषु नोप-

१. पाठान्तरम्—स्यादिति ॥

४. अ० १ । पा० १ । आ० ८ ॥

२. कोशोऽत्र—‘आ० ८ [व्या०]’ इत्युद्धरण-स्थलम् ॥

५. ६ । १ । ६८ ॥

६. पाठान्तरम्—यो भूत्वा ॥

३. १ । ३ । २५ ॥

पद्यते—यत् सतो नाम विनाशः स्यात्, असतो वा प्रादुर्भाव
इति ॥

कार्यविपरिणामाद् वा सिद्धम् ॥

किमिदं 'कार्यविपरिणामाद्' इति । कार्या बुद्धिः, सा विपरिण-
म्यते । तद्यथा कश्चित् कस्मैचिदुपदिशति—प्राचीनं ग्रामादात्रा
इति । तस्य सर्वत्राग्नबुद्धिः प्रसक्ता । ततः पश्चादाह—ये क्षीरिणोऽ-
वरोहवन्तः पृथुपर्णाः, ते न्यग्रोधा इति । स तत्राग्नबुद्ध्या न्यग्रो-
धबुद्धिं प्रतिपद्यते । स ततः पश्यति बुद्ध्या आग्रांश्चापकृष्यमा-
णान् न्यग्रोधांश्चाधीयमानान् । नित्या एवं च स्वस्मिन् विषये
आग्राः, नित्याश्च न्यग्रोधाः । बुद्धिस्त्वस्य विपरिणम्यते ।
एवमिहाप्यस्तिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः । तस्य सर्वत्रास्तिबुद्धिः
प्रसक्ता । सः 'अस्तेर्भूः' ॥ इत्यनेनास्तिबुद्ध्या भवतिबुद्धिं
प्रतिपद्यते । स ततः पश्यति बुद्ध्या अस्ति चापकृष्यमाणं,
भवति चोपादीयमानम् । नित्य एवं च स्वस्मिन् विषयेऽस्तिः,
नित्यो भवतिश्च । बुद्धिस्त्वस्य विपरिणम्यते ॥

आदेशविधायकेषु सूत्रेषु सत्त्वपि शब्दनित्यत्व इदं समाधानम् ॥ ५५ ॥

एक के तुल्य दूसरे को जो कहना है, उस को अतिदेश कहते हैं, सो यह अतिदेशविधायक
सूत्र है । (प्र०) इस सूत्र का उपवेश क्यों किया है । (उ०) स्थानी और आदेश के पृथक् २
होने से स्थानी का कार्य आदेश में नहीं पाता है । इस के नहीं पाने से दोष यह आता है कि
हन् धातु को आत्मनेपद विधान किया है, तो हन् के स्थान में जो वध्-आदेश होता है, उस को
आत्मनेपद नहीं पाता । इष्ट है कि उस को भी हो, कि हन्-स्थानी को जो कार्य होता है, वह
वध्-आदेश को भी हो जाय । इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है ॥

स्थानी के आश्रित कार्यों के करने में 'आदेशः' आदेश 'स्थानिवत्' स्थानी के तुल्य
माना जाय, अर्थात् स्थानी को जो कार्य होते हैं, वे आदेश को भी हों । परन्तु 'अनल्विधौ'
अल्विधि अर्थात् प्रत्याहार और एक वर्ण के आश्रय जो विधि हों, उन में उक्त स्थानिवद्भाव
न हो । जैसे—आवधिषीष्ट । यहां हन् धातु के स्थान में जो वध्-आदेश हुआ है, [सो]
हन् धातु का कार्य आत्मनेपद वध् को भी हो गया । इसी प्रकार प्रातिपदिक, प्रत्यय और
निपात आदि के आदेशों का भी उन के ग्रहण से ग्रहण होता है ॥

१. वार्तिकमिदम् ॥

४. पाठान्तरम्—चोपधीयमानम् ॥

२. पाठान्तरम्—०चोपधीयमानान् ॥

५. अ० १ । पा० १ । आ० ८ ॥

इ. २ । ४ । ५२ ॥

इस सूत्र में वत्-शब्द इसलिये पड़ा है कि यह सञ्ज्ञाधिकार है। तो आदेश की स्थानी-सञ्ज्ञा हो जाती, फिर स्थानी का कार्य आदेश को ही हुआ करता, स्थानी को न होता, क्योंकि जिस की सञ्ज्ञा करते हैं, उसी से काम लिया जाता है, और सञ्ज्ञा से कुछ भी काम नहीं निकलता। इसलिये वत्-शब्द का ग्रहण किया है ॥

आदेश-ग्रहण इसलिये है कि आदेशमात्र स्थानिवत् हो जाय, अर्थात् अवयव के स्थान में जो आदेश हो, वह भी स्थानिवत् हो जाय। जैसे—भवतु। यहां इकार के स्थान में उकार हुआ है, वह भी स्थानिवत् हो जाय। और अनन्विधि-ग्रहण इसलिये है कि अन्विधि में स्थानिवद्भाव न हो ॥

अन्विधि-शब्द में कई प्रकार का समास होता है, अर्थात् अल् से परे जो विधि, अल् की जो विधि, अल् में जो विधि, और अल् करके जो विधि करना हो, वहां स्थानिवद्भाव न हो। जैसे—द्यौः। यहां दिव्-शब्द के वकार को औकार-आदेश होता है। उस वकार से परे विभक्ति का लोप पाता है, सो नहीं हुआ ॥

स्थानी उस को कहते हैं कि प्रथम वर्तमान होके फिर न रहे। और आदेश उसे कहते हैं कि जो पहिले न हो, और पीछे प्रकट हो जाय। [प्र०] सो यह बात नित्य शब्दों के मानने में नहीं बन सकती कि जो वर्तमान है, उस का तो विनाश हो, और जो नहीं है, उस की उत्पत्ति हो। (उ०) इस विषय में समस्त का भेद है। इस से शब्द अनित्य नहीं हो सकते, केवल बुद्धि का फेर है। जैसे कोई किसी से कहता है कि ग्राम से पूर्व दिशा में आम के वृक्ष हैं। उस की सर्वत्र पूर्व दिशा में जितने वृक्ष हैं, उन में आम-बुद्धि हुई। उस के पीछे कहा कि जो दूध वाले और मोटे २ पत्तों वाले वृक्ष हैं, वह गूलरि के हैं। उस ने वहां आम-बुद्धि को छोड़के गूलरि की बुद्धि कर ली। यह मनुष्य अपनी बुद्धि से दोनों प्रकार के वृक्षों को देखता है, अर्थात् जैसा उपदेश सुनता समझता है, वैसे ही बुद्धि फिरती जाती है। नित्य अपने विषय में आम और नित्य गूलरि के वृक्ष हैं। केवल आम से गूलरि-बुद्धि हो जाती है, यह बुद्धि का ही फेर है। इसी प्रकार अस्ति धातु का उपदेश मनुष्यों के लिये सामान्य से किया, तो सर्वत्र अस्ति-बुद्धि हो गई। फिर 'अस्तेभूः' ॥ इस विशेष सूत्र से उपदेश किया कि आर्द्धधातुक विषय में अस् धातु के प्रसङ्ग में 'भवति' हो जाता है, इससे आर्द्धधातुक विषय में अस्ति-बुद्धि बदल के भवति-बुद्धि हो गई। नित्य ही तो अपने विषय में 'अस्ति' और नित्य 'भवति' है। केवल मनुष्यों की बुद्धि बदलती रहती है। इससे शब्द अनित्य नहीं है। आदेशविधायक सूत्रों के करने में भी शब्द नित्य ही मानने चाहिये। इसलिये ये पूर्वोक्त सब समाधान हैं ॥ ५५ ॥

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ ॥ ५६ ॥

अचः । ६ । १ ॥ ५ । १ । परस्मिन् । ७ । १ । पूर्वविधौ । ७ । १ ।
योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तस्य विधिं प्रति परनिमित्तकोऽनादेशः स्थानिवद् भवति ।
'अचः' इति पञ्चमी षष्ठी वा । 'परस्मिन्' इति निमित्तसप्तमी । 'पूर्वविधौ' इति

विषयसप्तमी । पूर्वैण सूत्रेणाल्लिख्यौ स्थानिवद्भावः प्रतिषिद्धः, तत्रैवानेन विधीयते ॥

पटयति । लघयति । अवधीत् । बहुखट्वकः । 'पटयति, लघयति' इति पटु-लघु-शब्दाभ्यां 'आचष्टे' इत्यस्मिन्नर्थे णिचि कृते, तत्र टि-लोपे कृते 'अत उपधायाः' ॥' इति वृद्धिः प्राप्नोति । टि-लोपस्य स्थानिवद्भावान्न भवति । 'अवधीत्' इति अत्र हन्-धातोर्वध-आदेशस्य अकारलोपे कृते 'अतो हलादेर्लघोः' ॥' इति विभाषा वृद्धिः प्राप्नोति । अ-लोपस्य स्थानिवद्भावान्न भवति । बहुखट्वक इति अत्र बह्वचः खट्वा यस्येति बहुव्रीहौ कपि कृते 'आपोऽन्यतरस्याम्' ॥' इति खट्वा-शब्दस्य ह्रस्वे कृते 'ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम्' ॥' इत्येष स्वरः प्राप्नोति । ह्रस्वस्य स्थानिवद्भावान्न भवति ॥

'अचः' इति किमर्थम् । आगत्य । आभिगत्य । अनुनासिक-लोपः परनिमित्तकः । तस्य स्थानिवद्भावाद् 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' ॥' इति तुग् न प्राप्नोति । 'अचः' इति वचनाद् भवति ॥

अथ 'परस्मिन्' इति किमर्थम् । आदीध्ये । इकारस्यैकारो न पर-निमित्तकः । तस्य स्थानिवद्भावाद् 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः' ॥' इति ईकार-लोपः प्राप्नोति । 'परस्मिन्' इति वचनान्न भवति ॥

अथ 'पूर्वविधौ' इति किमर्थम् । नैधेयः । आकारलोपः पर-निमित्तकः । तस्य स्थानिवद्भावाद् द्व्यञ्जलक्षणो ढग् न प्राप्नोति । 'पूर्वविधौ' इति वचनाद् भवति ॥

अथ विधि-ग्रहणं किमर्थम् । विधिमात्रे स्थानिवद्भावो यथा स्यात् ॥

नियमार्थमेतत् स्यात् । स्वाश्रयमपि कार्यं न भवेत् ॥

१. ७।२।११६॥

२. ७।२।७॥

३. ७।४।१५॥

४. ६।२।१७४॥

५. ६।१।७१॥

६. पाठान्तरम्—'ह्रस्वस्य ७' इति ॥

७. ७।४।५३॥

भा०—‘असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे’ ॥’ इत्यसिद्धत्वाद् बहिरङ्गलक्षणस्य [पर-] यणादेशस्यान्तरङ्गलक्षणः पूर्वयणादेशो भविष्यति । अवश्यं चैषा परिभाषा आश्रयितव्या स्व-
रार्थम् । ‘कर्त्र्या, हर्त्र्या’ इति ‘उदात्तयणो हल्पूर्वात्’ ॥’ इत्येष स्वरो यथा स्यात् ॥

साचाप्येषा लोकतः सिद्धा । कथम् । प्रत्यङ्गवर्त्ती लोको लक्ष्यते । तद्यथा—पुरुषोऽयं प्रातरुत्थाय यान्यस्य प्रतिशरीरं कार्याणि तानि तावत् करोति, ततः सुहृदां, ततः सम्बन्धिनाम् ॥^३

‘असिद्धं बहिरङ्ग०’ ॥^१ इतीयं परिभाषा ‘पटव्या’ इत्यत्र घटते । तद्यथा—
‘पटु+ई+आ’ इत्यवस्थायां परत्वादीकारस्य यणादेशः, तस्यानयाऽसिद्धत्वादुकारस्य यणादेशो भवतीति । अन्यत् स्पष्टम् ॥ ५६ ॥

पूर्व सूत्र से जो अलिविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया है, उसी विषय में इस सूत्र से स्थानिवद्भाव का विधान है । जिस अच् के स्थान में आदेश होने वाला हो, उस ‘अचः’ अच् से ‘पूर्वविधौ’ पूर्व की विधि करने में ‘परस्मिन्’ पर को मानके अच् के स्थान में जो ‘आदेशः’ आदेश है, वह स्थानिवत् हो जाय । उदाहरण—पटयति । यहां पटु-शब्द से णिच्-प्रत्यय के परे उस के उकार का लोप हुआ है, उस उकार को इस सूत्र से स्थानिवत् मानने से ‘पटयति’ [में] पकार [के अकार] को वृद्धि पाती है, सो न हुई ॥

इस सूत्र में अच्-ग्रहण इसलिये है कि हल् के स्थान में जो आदेश है, सो स्थानिवत् न हो । जैसे—आगत्य । यहां मकार का लोप हुआ है । वह जो स्थानिवत् होता, तो तुक् का आगम [जो] यकार के पूर्व होता है, सो नहीं पाता ॥

परस्मिन्-ग्रहण इसलिये है कि जो परनिमित्त अच् को आदेश न हो, वहां स्थानिवद्भाव न हो । जैसे—आदीध्ये । यहां अन्त के इकार को एकारादेश परनिमित्त नहीं है । उस के स्थानिवत् होने से दीधी के ईकार का लोप पाता है, सो नहीं हुआ ॥

पूर्वविधि-ग्रहण इसलिये है कि जहां परविधि कर्त्तव्य हो, वहां स्थानिवद्भाव न हो । जैसे—नैत्रेयः । यहां निधि-शब्द में आकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से निधि-शब्द से ढक्-प्रत्यय नहीं प्राप्त होता, इसलिये वह स्थानिवत् न हो । और विधि-ग्रहण इसलिये है कि विधिमात्र में स्थानिवद्भाव हो जाय ॥

‘असिद्धं बहि० ॥’ इस परिभाषा से प्रयोजन यह है कि समीप का कार्य प्रथम होता है, और दूर का पीछे, और जो किसी प्रकार से दूर का कार्य हो भी जाय, तो वह सिद्ध नहीं माना

१. पा०—सू० ४४ ॥

प०—सू० ५० ॥

३, ६।१।१७४ ॥

३. कोशेऽत्र—“आ० न [व्या०]” इत्युद्धरण-
स्थलम् ॥

जाता । जैसे—पदव्या । इस उदाहरण में 'पङ्क्तु+ई+आ' इस अवस्था में परस्व से ईकार को पहिले यणादेश हो गया, फिर उस को असिद्ध मानके पूर्व-उकार को भी यणादेश हो गया ॥२६॥

न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्च- विधिषु ॥ ५७ ॥

‘न’ इति पृथगव्ययपदम् । अन्यत् सर्वं सप्तम्या बहुवचनं, द्वन्द्वगर्भस्तत्पुरुषः समासश्च । पदान्त, द्विर्वचन, वरे, यलोप, स्वर, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ, जश्, चर् — एषां विधिषु कर्त्तव्येषु परनिमित्तकोऽजादेशो न स्थानिवद् भवति । पदान्तविधौ—कौ स्तः । यौ स्तः । कानि सन्ति । यानि सन्ति । अत्र अस्ति-धातो-रकारो लुप्यते । तस्य स्थानिवद्भावादावादेशो यणादेशश्च प्राप्नोति, सोऽनेन प्रतिषिध्यते ॥

द्विर्वचनविधौ—द्वद्वयत्र । मद्ध्वत्र । यणादेशः परनिमित्तकः, तस्य स्थानिवद्भावाद् ‘अनचि च’ ॥’ इति धकारस्य द्विर्वचनं न प्राप्तं, तद् भवति ॥

वरे प्रत्यये परेऽजादेशो न स्थानिवत् । ‘अप्सु यायावरः प्रवपेत् पिण्डान्’ ॥’ यङन्ताद् ‘या प्रापणे’ ॥’ इत्यस्माद् धातोर्वरचि प्रत्यये कृते ‘अतो लोपः’ ॥’ इत्यलोपे ‘लोपो व्योर्वलि’ ॥’ इति य-लोपे च कृते ‘आतो लोप इटि च’ ॥’ इत्याकार-लोपः प्राप्नोति, स न भवति, यकारस्य स्थानिवत्प्रतिषेधात् ॥

य-लोपविधावजादेशो न स्थानिवत् । कण्डूतिः । कण्डूयतेः क्तिन्-प्रत्यये कृते, अ-लोपे च कृते ‘लोपो व्योर्वलि’ ॥’ इति य-लोपे कर्त्तव्ये अ-लोपः स्थानिवन्न भवति ॥

स्वरविधौ स्थानिवद्भावो न भवति । चिकीर्षकः । एटुलि कृते अतो लोपः परनिमित्तको लित्-प्रत्ययात् पूर्वमुदात्ते कर्त्तव्ये स्थानिवन्न भवति ॥

१. स०—सू० ६४ ॥

२. ८ । ४ । ४७ ॥

३. महाभाष्ये क्त्विकमिदमुद्धरणम् ॥

कठकसंहितायां च यायावरविषयं वचनम्
—‘तस्माद् यायावरः क्षेमस्येश, तस्माद् यायावरः
क्षेममध्यवस्यति ।’ अपि च तत्रैव श्रूयतेऽप्सु
भस्मप्रवापः—‘यथाहृन्दसमेवापो देवीः प्रति-
गृह्णात भस्मेतदित्यप्सु भस्म प्रवपति ।... परा वा
प्लवोऽग्निं वपति, योऽप्सु भस्म प्रवपति ।....

ऊर्जा वा एष पशुमिर्व्यृध्यते, योऽप्सु भस्म
प्रवपति ।’ (१६ । १२) :

अत्र मैत्रायणीय-तैत्तिरीयसंहितयोरपि ईदृ-
शानि (क्रमेण ३ । २ । २ ॥ ५ । २ । १)
वचनान्यनुसन्धेयानि ॥

४. धा०—अदा० ४० ॥

५. ६ । ४ । ४८ ॥

६. ६ । १ । ६६ ॥

७. ६ । ४ । ६४ ॥

सवर्णानुस्वारविध्योः स्थानिवद्भावो न भवति । रुन्धः । रुध्-धातोर्लट्प्रथमपु-
रुषस्य द्विवचने 'श्नसोरल्लोपः' ॥' इत्यकारलोपे कृते 'नश्चापदान्तस्य झलि' ॥'
इत्यनुस्वारे कर्त्तव्येऽकारलोपो न स्थानिवद् भवति । तथा 'रुन्धः' इत्यत्रैव नका-
रस्यानुस्वारे कृते 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' ॥' इति सवर्णविधौ अ-लोपः
स्थानिवन्न भवति ॥

दीर्घविधावजादेशः स्थानिवन्न भवति । प्रतिदीन्ना । प्रतिदीन्ने । प्रतिदिवन्-
शब्दात् तृतीयैकवचने चतुर्थ्यैकवचने प्रयोगौ । तत्र भ-सञ्ज्ञत्वाद् 'अल्लोपोऽ-
नः' ॥' इति परनिमित्तेऽकारलोपे कृते 'हलि च' ॥' इति दीर्घे कर्त्तव्ये अ-लोपः
स्थानिवन्न भवति ॥

जश्विधौ स्थानिवद्भावो न भवति । 'सग्धिश्च मे' ॥' अद्-धातोः क्तिनि
प्रत्यये कृते 'बहुलं छन्दसि' ॥' इति घस्लृ-आदेशे कृते 'घसिभसोर्हलि च' ॥'
इत्युपधालोपः । 'झलो झलि' ॥' इति सकारलोपः । 'झपस्तथोर्धोऽधः' ॥'
इति घत्वम् । उपधालोपस्य स्थानिवद्भावाद् 'झलां जश झशि' ॥' इति जश्त्वं
न प्राप्तम् । तदनेन स्थानिवत्प्रतिषेधाद् विधीयते । समानाऽग्धिः = सग्धिः ।
समानस्य सकारादेशः ॥

चर्विधिं प्रति चाजादेशो न स्थानिवद् भवति । जत्तुः । जत्तुः । अद्-धातो-
र्लिटि प्रथमनरि द्विवचन-बहुवचनयोः प्रयोगौ । 'गमहनजनखनघसां' ॥' इत्यु-
पधालोपे कृते, तत्रोपधालोपस्य स्थानिवद्भावात् 'खरि च' ॥' इति घकारस्य
चत्वम् न प्राप्नोति । तदनेन स्थानिवद्भावाभावाद् भवति ॥

१. ६ । ४ । १११ ॥

२. ८ । ३ । २४ ॥

३. ८ । ४ । ५८ ॥

४. ६ । ४ । १३४ ॥

५. ८ । २ । ७७ ॥

६. "सग्धिश्च मे, सपीतिश्च मे" इति दृश्यतां—

वा०—१८ । ६ ॥

है०—४ । ७ । ४ । १ ॥

झै०—२ । ११ । ४ ॥

का०—१८ । ६ ॥

॥ देवी कर्जाकुता इमूर्जमन्या वक्ष्य सग्धि

सपीतिमन्या ... ॥" (मै० ४ । १३ । ८ ॥

का० १६ । १३) इत्यस्य मन्त्रव्याख्याने निरु-

क्तकारः "सग्धिम्" इत्येतत् पदं "सहजग्धिम्"

इत्येवं व्याख्याति ॥ (नि० ६ । ४३)

७. कोशे "२ । ४ । ३६ ॥" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

८. ६ । ४ । १०० ॥

९. ८ । २ । २६ ॥

१०. ८ । २ । ४० ॥

११. ८ । ४ । ५३ ॥

१२. ६ । ४ । ६८ ॥

१३. ८ । ४ । ५५ ॥

भा०—प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानिवत् । यो ह्यन्य आदेशः, स्थानिवदेवासौ भवति । पञ्चारत्न्यः । दशारत्न्यः । किर्योः । गिर्योः । वाय्वोः ।^१

अत्र स्थानिवत्त्वात् स्वरदीर्घ-यलोपा न भवन्ति । 'पञ्चारत्न्यः, दशारत्न्यः' इत्यत्र 'इगन्तिकालकपाल०'^२ ॥' इति सूत्रेण पूर्वपदप्रकृतिस्वरो भवति । स यणादेशे कृते स्थानिवद्भावप्रतिषेधान्न प्राप्नोति । स्वरविधौ लोपाजादेशः स्थानिवन्न भवतीति स्थानिवद्भावात् प्रकृतिस्वरो भविष्यति । 'किर्योः, गिर्योः' इत्यत्र ओसि यणादेशे कृते 'हलि च'^३ ॥' इति दीर्घत्वं प्राप्नोति । दीर्घविधौ लोपाजादेशो न स्थानिवदिति स्थानिवद्भावाद् दीर्घत्वं न भविष्यति । 'वाय्वोः' इत्यत्र यणादेशे कृते 'लोपो व्योर्वलि'^४ ॥' इति यकारलोपः प्राप्नोति । य-लोप-विधावपि लोपाजादेशो न स्थानिवदिति स्थानिवद्भावाद् य-लोपो न भवति ॥

भा०—किलुगुपधात्वचङ्परनिर्हासकुत्वेषूपसङ्ख्यानम्^५ ॥

क्रौ—लवमाचष्टे लवयति । लवतेरप्रत्यये लौः । स्थानिवद्भावाद् णेरूण् न प्राप्नोति । क्रौ लुप्तं न स्थानिवदिति भवति ॥

लुकि—पञ्चभिः पद्वीभिः क्रीतः = पञ्चपदुः । दशपदुः ॥

उपधात्वे—पारिखीयः ॥

चङ्परनिर्हासे—वादितवन्तं प्रयोजितवान् = अवीवदद् वीणां परिवादकेन ॥

कुत्वे—अर्चयतेर्मर्कः । मर्चयतेर्मर्कः ॥

पूर्वत्रासिद्धे च^६ ॥

किं प्रयोजनम् । अल्लोप-णिलोपौ संयोगान्तलोपप्रभृतिषु प्रयोजनम् । पापच्यतेः पापक्तिः । यायज्यतेर्यायष्टिः । पाचयतेः पाक्तिः । याजयतेर्याष्टिः ॥

द्विर्वचनादीनि प्रयोजनानि च^७ न पठितव्यानि भवन्ति ।

१. अ० १ । पा० १ । आ० ८ ॥

२. ६ । २ । २६ ॥

३. ८ । २ । ७७ ॥

४. ६ । १ । ६६ ॥

५. वास्तिकमिदम् ॥

६. पाठान्तरम्—द्विर्वचनादीनि च ॥

पूर्वत्रासिद्धेनैव सिद्धानि भवन्ति । किमविशेषेण । नेत्याह ।

वरेयलोपस्वरवर्जम्^१ ॥^२

लवि-धातोः क्विपि परे 'शोरनिटि^३॥' इति णौ लुप्ते तस्य स्थानिवद्भावात्
'छ्वोः शूडनुनासिके च' ॥' इत्यूठ् न प्राप्नोति । सोऽनेन वार्तिकेन स्थानिवद्भावो
निषिद्धयते ॥

'पञ्चपटुः' इत्यत्र क्रीतार्थे ठक् । तस्य 'अध्यर्धपूर्वद्विगोः०'^४ ॥' इति लुक् ।
अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधत इति यणादेशात् पूर्वमेव 'लुक् तद्धित-
लुकि^५ ॥' इति ङीषो लुक् । तत्र ङीष ईकारस्य स्थानिवद्भावाद् यणादेशः प्राप्तः,
स न भवति ॥

'पारिखीयः' इत्यत्र परिखा-शब्दात् सामान्येऽर्थेऽणि कृते तत्राकारलोपे च
कृते, आकारस्य स्थानिवद्भावात् ख-उपधाभावे छः प्रत्ययो न प्राप्नोति । स्थानि-
वद्भावप्रतिषेधाद् भवति ॥

'अवीवदद्' इति व्रादि-धातोर्णिचि लुप्ते 'णौ चङ्गुपधाया ह्रस्वः'^६ ॥' इति
येः स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वत्वं न प्राप्नोति । तदनेन प्रतिषेधेन विधीयते ॥

'अर्कः' इत्यत्र अर्चि-धातोर्णिलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावात् 'चजोः कु
धिरण्यतोः'^७ ॥' इति कुत्वं न प्राप्नोति । तदत्र स्थानिवद्भावात् कुत्वं भवति ॥

'पूर्वत्रासिद्धे च' इति चकारेण 'उपसङ्ख्यानम्' [इति] अनुवर्तते । 'पापक्तिः'
इत्यत्राल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् कुत्वं न प्राप्तं, तद् भवति । 'यायष्टिः' इति यज्ञ-धातो-
र्जकारस्य षत्वे कर्तव्ये अल्लोपो न स्थानिवद् भवति ॥ ५७ ॥

पूर्व सूत्र से जो स्थानिवद्भाव का विधान किया है, उसी का नियत स्थानों में यह सूत्र
निषेध करता है । 'पदान्त...विधिषु' पदान्त, द्विवर्चन, वरे, यलोप, स्वर, सवर्ण, अनुस्वार,
दीर्घ, जश्, चर्, इन 'पूर्वविधौ' विधियों के करने में 'परस्मिन्' पर को निमित्त मानके
'अचः' अच् के स्थान में जो 'आदेशः' आदेश हुआ है, वह 'स्थानिवत्' स्थानिवत् ['न']
न हो ॥

पदान्तविधि—कौ स्तः । कानि सन्ति । यहाँ अस् धातु के अकार का लोप पर को

१. वार्तिकमिदम् ॥

५. ५।१।२८ ॥

२. कोशेऽत्र—“आ० न [व्या०]” इत्युद्धरण-
स्थलम् ॥

६. १।२।४६ ॥

७. ७।४।१ ॥

३. ६।४।५१ ॥

८. ७।३।५२ ॥

४. ६।४।१६ ॥

मानके हुआ है। उस के स्थानिवत् होने से पदान्त जो 'कौ' का औकार, उस को आत् और 'नि' के इकार को यण्-आदेश पाता है, सो पदान्तविधि में स्थानिवत् के निषेध होने से नहीं हुआ ॥

द्विर्वचनविधि—द्व्यथत्र । मद्धवत्र । यहां इकार [और उकार] को यण्-आदेश पर को मानके हुआ है। उस के स्थानिवत् होने से धकार को द्विर्वचन नहीं पाता, इसलिये द्विर्वचनविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया है ॥

वरेविधि—अर्थात् वरच्-प्रत्यय के परे जो लोप हुआ हो, वहां स्थानिवत् न हो । यायावरः । यहां अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से आकार का लोप पाता-है, सो न हो, इसलिये वरच्-प्रत्यय के परे स्थानिवत् होने का निषेध है ॥

य-लोपविधि—ब्राह्मणकण्डूतिः । यहां अकार का लोप हुआ है, उस के स्थानिवत् होने से यकार का लोप नहीं पाता, इससे य-लोपविधि में स्थानिवत् न हो ॥

स्वरविधि—चिकीर्षकः । यहां एबुल्-प्रत्यय के परे चिकीर्ष धातु के अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से लित्-प्रत्यय से पूर्व 'की' में उदात्त स्वर विधान है, सो नहीं हो सकता । इससे स्वरविधि में स्थानिवद्भाव न हो ॥

सवर्णविधि—रुन्धः । यहां रनम्-प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से अनुस्वार को धकार के परे परसवर्ण अर्थात् नकारादेश नहीं हो सकता, इसलिये सवर्ण-विधि में स्थानिवत् का निषेध है ॥

अनुस्वार[विधि]—शिषन्ति । यहां रनम्-प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है, उस के स्थानिवत् होने से नकार को अनुस्वार नहीं पाता, इसलिये अनुस्वारविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया है ॥

दीर्घविधि—प्रतिदीप्ता । प्रतिदीप्ते । यहां प्रतिदिवन्-शब्द से तृतीया और चतुर्थी विभक्ति के एक वचन में प्रतिदिवन्-शब्द के अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से 'दि' के इकार को दीर्घ नहीं पाता, इसलिये दीर्घविधि में स्थानिवत् न हो ॥

जश्विधि—सग्भिः । यहां घस् धातु के अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से तकार को धकारादेश नहीं पाता । सो जश्विधि में स्थानिवत् के नहीं होने से हो गया ॥

चर्विधि—जक्षतुः । यहां अद् धातु के अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से घकार को ककारादेश नहीं पाता, इसलिये चर्विधि में स्थानिवत् होने का निषेध किया है ॥

'प्रतिषेधे०॥' इस वार्तिक से स्वर, दीर्घ और य-लोप, इन तीन विधियों में नियम है कि इन तीन विधियों के करने में लोपरूप जो अच् के स्थान में आदेश है, सो स्थानिवत् न हो । अन्य आदेश तो स्थानिवत् हो जाय । [स्वरविधि में] जैसे—पञ्चारत्न्यः । यहां इकार के स्थान में यण्-आदेश हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से 'इगन्तकाल० ॥' इस सूत्र से पूर्वपदप्रकृति स्वर हो जाता है । दीर्घविधि—फिर्योः । यहां इकार के स्थान में यण् हो गया है । उस के स्थानिवत् होने से दीर्घ नहीं होता । य-लोपविधि—वाय्वोः । यहां उकार के



स्थान में व् हुआ है। उस के स्थानिवत् होने से यकार का लोप नहीं होता ॥ १ ॥

‘क्विलुगुपधा०’ । यह दूसरा वार्त्तिक सूत्र के विषय से अलग स्थानिवद्भाव का निषेध करता है। ‘को लुप्ते न स्थानिवत्’ । क्तिप्-प्रत्यय के परे किसी का लोप हुआ हो, तो वहां स्थानिवद्भाव न हो। लौः । यहां क्तिप्-प्रत्यय के परे ‘णि’ का लोप हुआ है, उस के स्थानिवत् नहीं होने से वकार को ऊङ्-आदेश होता है। ‘लुकिं न स्थानिवत्’ । लुक् होने में स्थानिवद्भाव न हो। पञ्चपटुः । यहां तद्धित प्रत्यय के लुक् के होने से ङीष्-प्रत्यय के ईकार का लुक् हुआ है। उस के स्थानिवत् नहीं होने से पटु के उकार को वकार-आदेश नहीं हुआ। ‘उपधा-त्वे न स्थानिवत्’ । उपधा के कार्य के करने में स्थानिवद्भाव न हो। पारिखीयः । यहां पारिखा-शब्द से अण्-प्रत्यय के परे उस के आकार का लोप हुआ है। उस के स्थानिवत् नहीं होने से पारिख-शब्द से ङ्-प्रत्यय होता है। ‘चङ्परिनिर्द्वासे’ । अवीवदत् । यहां णि के परे णि का लोप हुआ है। उस के स्थानिवत् नहीं होने से उपधा को ह्रस्व हो जाता है। ‘कुत्वे न स्थानिवत्’ । कुत्वविधि करने में स्थानिवद्भाव न हो। अर्कः । यहां अर्च् धातु से ‘णि’ का लोप हुआ है। उस के स्थानिवत् नहीं होने से चकार को ककार-आदेश होता है ॥ [२॥]

‘पूर्वत्तासिद्धे च’ । इस तीसरे वार्त्तिक से अष्टाध्यायी के अन्त के तीन पादों के कार्य करने में स्थानिवत् न हो। जैसे—यायष्टिः । यहां अकार का लोप हुआ है, सो यज् धातु के जकार को षकार करने में स्थानिवत् न हो। इत्यादि ॥ [३॥] ५७ ॥

द्विर्वचनेऽचि ॥ ५८ ॥

‘न’ इति निवृत्तम् । द्विर्वचने । ७ । १ । अचि । ७ । १ । द्विर्वचननिमित्तेऽर्जौ प्रत्यये द्विर्वचनकर्त्तव्येऽजादेशः स्थानिरूपो भवति^१ । ‘द्विर्वचने’ इति निमित्तसप्तमी ॥

अतिदेशो द्विविधो भवति—कार्यातिदेशः, रूपातिदेशश्च । तत्र कार्यातिदेशो कार्यसिद्धयर्थमादेशं स्थानितुल्यं मत्वाऽऽदेशेनैव कार्याणि क्रियन्ते । तेन स्थान्यादेशोभयाश्रयाणि कार्याण्यादेशो भवन्ति । रूपातिदेशो तु स्थानिनो यद् रूपं, तदेव तत्रागच्छति । तेन स्थान्याश्रयाण्येव कार्याणि भवन्ति, नैवादेशाश्रयाणि । अस्मिन् सूत्रे तु रूपातिदेशोऽस्ति । तद्यथा— पपतुः । पा-धातोरतुसि-प्रत्यये ‘आतो लोप इटि च’ ॥’ इत्याकार-लोपे कृते ‘एकाचो द्वे प्रथमस्य’ ॥’ इत्यजभावाद् द्विर्वचनं न प्राप्नोति । आकारस्तत्रागच्छतीति द्विर्वचनं भवति । जग्मतुः । गमि-धातोरतुसि परत्वाद् ‘गमहन०’ ॥’ इत्युपधालोपे कृतेऽजभावाद् द्विर्वचनं न प्राप्नोति । रूपं स्थानिवद् भवतीति द्विर्वचनं भविष्यति ॥

१. सं०—५० ६८ ॥

३. ६ । ४ । ६४ ॥

२. परन्तु सि० कौ०—“द्विर्वचननिमित्तेऽचि परे ४. ६ । १ । १॥

अच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये ।” ५. ६ । ४ । ६८ ॥

(भ्रादिप्रकरणे)

‘द्विर्वचने’ इति किम् । ‘गोदः । गो-शब्द उपपदे हुदाब्-धातोः के प्रत्यये
‘आतो लोप इटि च’ ॥’ इत्याकारलोपे कृते तस्य स्थानिवत्त्वाद् अकः सवर्गे
दीर्घत्वं प्राप्नोति । तन्न भवति ॥

‘अचि’ इति किमर्थम् । जेघ्नीयते । देघ्नीयते । अत्र यदीकारः स्थानिवत्
स्यात्, तर्हि आकारस्य द्विर्वचनं प्रसज्येत । अज्-ग्रहणात् भवति ॥

भा० — अज्-ग्रहणं तु ज्ञापकं रूपस्थानिवद्भावस्य^२ ॥

यदयमज्-ग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—रूपं स्थानि-
वद् भवतीति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । अज्-ग्रहणस्यैतत् प्रयो-
जनम् । इह मा भूत्—जेघ्नीयते^३ । देघ्नीयते । यदि च
रूपं स्थानिवद् भवतीति,^४ ततोऽज्-ग्रहणमर्थवद् भवति । अथ
हि कार्यं, नार्थोऽज्-ग्रहणेन, भवत्येवात्र द्विर्वचनम् ॥^५

यद्यत्र कार्यातिदेशोऽस्ति, तर्हि अज्-ग्रहणं व्यर्थं, रूपातिदेशे तु सार्थम् ।
कथम् । ‘जेघ्नीयते, देघ्नीयते’ इत्यत्र कार्यातिदेशे किमपि कर्तव्यं नास्तीति यदर्थ-
मज्-ग्रहणं स्यात् । रूपातिदेशे त्वाकारस्य द्विर्वचनं स्याद् । एतदर्थमज्-ग्रहणम् ॥

भा०—एवं तर्हि, ‘द्विर्वचननिमित्ते अच्यजादेशः स्थानिवद्’
इति वक्ष्यामि । स तर्हि निमित्त-शब्द उपादेयः । न ह्यन्तरेण
निमित्त-शब्दं निमित्तार्थो गम्यते । अन्तरेणाऽपि निमित्त-शब्दं
निमित्तार्थो गम्यते । तद्यथा—दधिप्रपुष्^६ प्रत्यक्षो ज्वरः । ज्वरनिमि-
त्तमिति गम्यते । नड्वल्लोदकं पादरोगः । पादरोगनिमित्तमिति ग-
म्यते । आयुध्वर्तम्^७ । आयुषो निमित्तमिति गम्यते ॥^८

स्पष्टम् ॥ ५८ ॥

[इत्यतिदेशाधिकारः]

१. ६ । ४ । ६४ ॥

२. वात्तिकमिदम् ॥

३. पाठान्तरम्—जेघ्नीयते ॥

४. पाठान्तरम्—भवति ॥

५. कोशेऽत्र—“आ० ८ [व्या०]” इत्युद्धरण-
स्थलम् ॥

६. पाठान्तरम्—०त्रपुसम् ॥

७. मैत्रायणीयसंहितायां काम्येष्टिप्रकरणे (२ ।

३ । ५)—हिरण्यादधि धृतं निष्पाययन्ति ।

अमृतं वै हिरण्यम् । आयुध्वतम् । अमृतादेवैनम-

ध्यायुनिष्पाययन्ति, निरिव धयति ।”

एवमेव काठकसंहितायां (११।८) इडिमिकायां

मासते नास्ति एकादशे स्थानके—“तेजो वै हिर-

ण्यम् । आयुध्वतम् । तेजस एवाध्यायुरात्मन्धत्ते ।”

तथा च तैत्तिरीयसंहितायामायुष्कामेष्टिविधौ

(१ । ३ । ११)—

“आयुर्वै ध्वतम् । अमृतं वै हिरण्यम् । अमृता-

देवायुनिष्पिबति, शतमानं भवति ।”

‘द्विर्वचने’ द्विर्वचन का (नेमित्त ‘अचि’ अजादि प्रत्यय परे हो, तो द्विर्वचन करने के लिये ‘अचः’ अच् के स्थान में जो ‘आदेशः’ आदेश है, सो ‘स्थानिवत्’ स्थानी का ही रूप हो जाय ॥

इस सूत्र में स्थानिवद्भाव का विधान किया है। अतिदेश उस को कहते हैं कि आदेश को स्थानी के तुल्य मानना। सो दो प्रकार का होता है—एक कार्यातिदेश, दूसरा रूपातिदेश। कार्यातिदेश उस को कहते हैं कि जो आदेश को स्थानी के तुल्य मानके स्थानी का काम आदेश से ले लेना। और रूपातिदेश उसे कहते हैं कि आदेश के स्थान में स्थानी स्वयं आ जाय। क्योंकि जहां स्थानीतुल्य मानने से काम नहीं चलता, वहां रूपातिदेश माना जाता है। सो इस सूत्र में रूपातिदेश है। जैसे—पपतुः। यहां अतुस्-प्रत्यय के परे [होने से] पा धातु के आकार का लोप हुआ है। उस के स्थानिवत् होने से ही द्विर्वचन होता है ॥

इस सूत्र में द्विर्वचन-ग्रहण इसलिये है कि ‘गोदः’ यहां आकार का लोप अजादि प्रत्यय के परे हुआ है, परन्तु द्विर्वचननिमित्त प्रत्यय नहीं, और द्विर्वचन करना भी नहीं। इससे स्थानिवद्भाव नहीं होता ॥

और अच्-ग्रहण इसलिये है कि ‘देध्मीयते’ यहां अजादि प्रत्यय परे नहीं, इससे स्थानिवत् नहीं होता। इस सूत्र में अच्-ग्रहण से यह भी जाना जाता है कि यहां रूपातिदेश है, क्योंकि अच्-ग्रहण का यही प्रयोजन है कि हल्-आदि प्रत्यय में न हो। सो ‘देध्मीयते’ इस प्रयोग के लिये अच्-ग्रहण नहीं करना, क्योंकि कार्यातिदेश से तो कुछ काम करना ही नहीं। फिर अच्-ग्रहण व्यर्थ होके ज्ञापक होता है कि यहां रूपातिदेश है। इसलिये अच्-ग्रहण किया है ॥

‘अचि’ यहां निमित्तार्थ में सप्तमी है। सो निमित्त-शब्द के बिना ही उस का अर्थ जाना जाता है। जैसे—आयुर्धृतम्। यहां निमित्त-शब्द के बिना उस का अर्थ स्पष्ट मालूम होता है। इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये ॥ ५८ ॥

[यह अतिदेशाधिकार पूरा हुआ]

[अथ लोप-सञ्ज्ञासूत्रम्]

अदर्शनं लोपः ॥ ५९ ॥

अस्मिन् सूत्रे मण्डूकप्लुतगत्या ‘न वेति विभाषा’ ॥ इत्यस्मात् सूत्राद् इति-शब्दानुवर्तनादर्थस्य सञ्ज्ञा भवति। [अदर्शनम् । १ । १ । लोपः । १ । १ ।] इन्द्रियैर्ग्राह्यं भूत्वाऽप्राह्यम् अदर्शनम्। यत्रास्ति, तस्याऽदर्शन-सञ्ज्ञा न भवति, किन्तु यद् भूत्वा न भवति, तद् अदर्शनम्। विद्यमानस्याऽदर्शनं लोप-सञ्ज्ञं

१. वाजसनेयिब्रातिशाख्येऽपि—“वर्णस्यादर्शनं लोपः ॥” (१ । १४१)

३. १ । १ । ४३ ॥

भवति । भगवान् । धनवान् । अत्र 'संयोगान्तस्य लोपः' ॥' इति तकारस्या-
दर्शनम् ॥ ५६ ॥

'अदर्शनम्' किसी विद्यमान वस्तु का जो अदर्शन है, सो 'लोपः' लोप-सञ्ज्ञक ही ।
जैसे—धनवान् । इस शब्द के अन्त में तकार का लोप अर्थात् अदर्शन हुआ है ॥

मण्डूकप्लुतगति, 'अर्थात् मण्डूक जैसे कूद कर दूर जा पड़ते हैं और बीच में जगह छूट
जाती है, इसी प्रकार सूत्रों में अनुवृत्ति भी होती है, कि एक सूत्र की अनुवृत्ति दूर जाती है,
और बीच में सूत्र छूट भी जाते हैं । सो इस सूत्र में 'न वेति विभाषा' ॥' इस सूत्र से इति-
शब्द की अनुवृत्ति से अर्थ की [लोप-]सञ्ज्ञा होती है । अदर्शन उस को कहते हैं कि जो
किसी का वर्तमान होके किसी प्रकार का अभाव हो । उस को अदर्शन नहीं कह सकते कि
जो सदा अभाव ही हो ॥ ५६ ॥

[अथ लुक्-श्लु-लुप्-सञ्ज्ञासूत्रम्]

प्रत्ययस्य लुक्-श्लु-लुपः ॥ [६० ॥]

प्रत्ययस्य । ६ । १ । लुक्-श्लु-लुपः । १ । ३ । द्वन्द्वसमासः । अत्राप्य-
र्थस्यैव सञ्ज्ञास्ति । भाविनः प्रत्ययादर्शनस्य 'लुक्-श्लु-लुप्' इति प्रत्येकमेताः
सञ्ज्ञा भवन्ति । विशाखः । अत्र जातार्थे तद्धितलुकि सति स्त्रीप्रत्ययस्य टापो
लुगू भवति । जुहोति । अत्र 'श्लौ' ॥' इति द्विर्वचनम् । पञ्चालाः^४ । अत्र
निवासार्थे प्रत्ययस्य लुप् ॥

१. ८ । २ । २३ ॥

२. १ । १ । ४३ ॥

३. ६ । १ । १० ॥

४. पञ्चालानामैतिह्यं यत्र कचिद् संहितान्नाह्वया-
दीषूपलभ्यमानमत्र पाठकानां रुच्यर्थमुद्दिश्यते ।
यथा—“स होवाच त्र्यनीकमस्य प्रजा भविष्य-
तीति, ततः पञ्चालास्त्रेधाभवन् ।” (का०
३० । २)

“अथो यद्युच्चं मा नेष्यन्ति, ततस्त्वाभीत्य
ज्यास्यन्तीति ते मीमांसित्वेते नो भयं नास्तीति
दक्षिणाः प्रत्यञ्चं निन्द्युः । ततः कुन्तयः पञ्चा-
लानभीत्य जिनन्ति ।” (का० २६ । ६)

“क्रिय इति ह वै पुरा पञ्चालानाचक्षते,
तदेतद् गाथयामिगीतम् अखं मेध्यमालभत ।
क्रिवीणामतिपूरुषः पाञ्चालः परिव(पाठान्तरम्

—च)क्रायां सहस्रशतदक्षिणमिति ।” (श०
आ० १३ । ५ । ४ । ७)

“तस्मादस्यां ध्रुवायां मध्यमस्यां प्रतिष्ठायां
दिशि ये के च कुरुपञ्चालानां राजानः सवरो-
शीनराणां राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते, राजेत्ये-
तान् अभिषिक्तानाचक्षते ।” (प० आ० ८ । १४)

अन्यत्रापि कुरूणां पञ्चालैस्तादृचर्यं लक्ष्यते ।
अपि च श्रूयते तेषां प्रवाहणो नाम राजा—“श्वे-
तकेतुर्होऽऽरुण्यः पञ्चालानां समितिमेयाय । तं
ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच, कुमारान् त्वाशिपत्
पितेत्यनु हि भगव इति ।” (छा० उ० ५ ।
३ । १ ॥ अपि च वृ० उ० ६ । २ । १)

अथ प्राच्यपञ्चाला ऋक्प्रातिशाख्ये—“प्रा-
च्यपञ्चालपदवृत्तप्रस्ताः पञ्चालानामोष्ठ्यपूर्वाः भव-
न्ति ।” (२ । १२ ॥ अपि च २ । ४४)

प्रत्यय-ग्रहणं किमर्थम् । प्रत्ययैकदेशादर्शनस्यैताः सञ्ज्ञा मा भूवन् ॥ ६० ॥

इस सूत्र में भी अदर्शन-शब्द के अर्थ की ही सञ्ज्ञा की है । होने वाले 'प्रत्ययस्य' प्रत्यय के 'अदर्शनम्' अदर्शन की 'लुक्-श्लु-लुप्' लुक्, श्लु, लुप्, ये तीन सञ्ज्ञा होती हैं । विशाखः । यहां जात-अर्थ में प्रत्यय के अदर्शन होने से स्त्रीप्रत्यय का लुक् अर्थात् अदर्शन हुआ है । जुहोति । यहां श्लु के होने से हु धातु को द्विवचन होता है । और 'पञ्चालाः' यहां निवास अर्थ में प्रत्यय का लुप् हुआ है ॥

इस सूत्र में प्रत्यय-ग्रहण इसलिये [है] कि प्रत्यय के अवयव का जो अदर्शन है, उस की ये तीनों सञ्ज्ञा न हों ॥ ६० ॥

[अथ प्रत्ययलक्षणातिदेशसूत्रम्]

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥ ६१ ॥

प्रत्ययलोपे । ७ । १ । प्रत्ययलक्षणम् । १ । १ । प्रत्ययलोपे सति प्रत्यय-
निमित्तं कार्यं भवतीति अभिचित्, सोमसुत् । अत्र लोपस्य बलवत्त्वात् किपो
लोपे सति क्विप्निमित्ते 'इस्वस्य पिति कृति तुक्' ॥' इति तुग् यथा स्यात् ॥

प्रत्यय-ग्रहणं किमर्थम् । कृत्स्नस्य प्रत्ययस्य लोपे^३ प्रत्ययलक्षणं
यथा स्यात्, एकदेशलोपे मा भूत् । आ गीत ।

अत्र सीयुटः सकारे लुप्ते यदि प्रत्ययलक्षणं स्यात्, तर्हि 'गमहन०' ४ ॥
इत्युपधालोपो न स्यात् ॥

द्वितीयं प्रत्यय-ग्रहणं किमर्थम् । प्रत्ययलक्षणं यथा स्यात्,
वर्णलक्षणं मा भूत् । रायः कुलम् = रैकुलम् ।

अत्रैच-प्रत्याहारश्च आय्-आदेशः प्राप्नोति । प्रत्यय-ग्रहणान्न भवति ॥ ६१ ॥

बौद्धजातकेषु रामायणमहाभारतादिषु चोत्तरा
दक्षिणाश्च पञ्चाला भूयिष्ठमुपवर्णिताः । अस्ति
च पुरावृत्तं (म० भा० १ । १३८) यद् द्रोणेन
द्रुपदमभिजित्योत्तरपञ्चालाः स्वायत्तीकृताः । यव-
श्चैवद्विष्ट्रोमणिना श्रीटोलोमिना "अदिसद्र"
इति गृहीतनामथेया उत्तरपञ्चालानामहिच्छत्रनाम्नी
('ओनाक्षरेषु "ओ-हि-क्वि-ट-लो") राजधानी
चोन्नदेशास्तव्येन बौद्धयात्रिणा श्रीबूनत्सांगेन
विक्रमस्य सप्तमे वर्षशतके परमाभ्युदयशालिनीति

वर्णिता ॥

दक्षिणानामपि पञ्चालानां राजधानी महा-
भारतादेव ज्ञायते काम्पिल्यमिति ॥

राजशेखरो बालरामायणे (१० । ८६)

—'इमेऽन्तर्वेदीभूषणं पञ्चालाः ।'

१. स०—सू० ६६ ॥

२. ६ । १ । ७१ ॥

३. माथ्ये—कृत्स्नप्रत्ययलोपे ॥

४. ६ । ४ । ६८ ॥

‘प्रत्ययलोपे’ जहाँ प्रत्यय का लोप हो जाय, वहाँ ‘प्रत्ययलक्षणम्’ उस को मानके कोई कार्य पाता हो, तो हो जाय । अभिचित् । यहाँ लोप के बलवान् होने से प्रथम क्प-प्रत्यय का लोप हो जाता है, पीछे उस को मानके तुक्-आगम होता है ॥

इस सूत्र में प्रत्यय-ग्रहण इसलिये है कि सम्पूर्ण प्रत्यय का जहाँ लोप हो, वहीं प्रत्यय-निमित्त कार्य हो, और जहाँ प्रत्यय के अवयव का लोप हो, वहाँ न हो । जैसे—आ गीत । यहाँ प्रत्यय के अवयव सकार का लोप हुआ है । सो जो प्रत्ययलक्षण हो, तो हन् धातु की उपधा का लोप नहीं पाता ॥

दूसरा प्रत्यय-ग्रहण इसलिये है कि प्रत्यय के लोप में वर्णाश्रय कार्य पाता हो, सो न हो । रायः कुलम् = रैकुलम् । यहाँ प्रत्यय के लोप में एच्-प्रत्याहार के आश्रय ऐकार को आय्-आदेश पाता है, सो नहीं हुआ ॥ ६१ ॥

[अथ पूर्वसूत्रनिषेधसूत्रम्]

न लुमताऽङ्गस्य ॥ ६२ ॥

न । [अ० ।] लुमता । ३ । १ । अङ्गस्य । ६ । १ । लुप् विधीयते यस्मिन् तेन लुक्-श्लु-लुपभिर्यत्र प्रत्ययो लुप्यते, तस्मिन् परे यदङ्गं, तस्य यत् प्रत्ययलक्षणं कार्यं, तन्न भवति । पूर्वस्मिन् सूत्रे सामान्यतया प्रत्ययलोपे प्रत्ययादर्शने प्रत्ययलक्षणं विहितं, तदस्मिन् सूत्रे विशेषतयाऽपवादत्वेन प्रतिषिध्यते । गर्गाः । अत्र प्रत्ययलक्षणेन वृद्धिः प्राप्नोति, सा प्रतिषिध्यते । हतः । अत्र प्रत्ययलक्षणेनाऽनुनासिकलोपो न प्राप्नोति ॥

‘लुमता’ इति किमर्थम् । धार्यते । अत्र णेलोपः ॥ ६२ ॥

‘लुमता’ लुक्, श्लु और लुप्, इन शब्दों से जहाँ प्रत्यय का अदर्शन हो, वहाँ उस प्रत्यय के परे जो ‘अङ्गस्य’ अंग-सञ्ज्ञक शब्द हो, उस को ‘प्रत्ययलक्षणम्’ प्रत्ययलक्षण कार्य ‘न’ न हो । पूर्व सूत्र में जो प्रत्ययलक्षण कार्य सामान्य से कहा है, उस का इस सूत्र में विशेष विषय में प्रतिषेध किया है । गर्गाः । यहाँ यञ्-प्रत्यय को मानके वृद्धि और आद्युदात्त स्वर प्राप्त होता था, सो नहीं हुआ ॥

इस सूत्र में ‘लुमता’ का ग्रहण इसलिये है कि ‘धार्यते’ यहाँ णिच्-प्रत्यय का लोप हुआ है, इससे प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध नहीं हुआ ॥ ६२ ॥

[अथ टि-सञ्ज्ञासूत्रम्]

अचोऽन्त्यादि टि ॥ ६३ ॥

अचः । ५ । १ । अन्त्यादि । १ । १ । [टि । १ । १ ।] ‘अचः’

इति ल्यबलोपे पञ्चमी । अन्त्यश्च आदिश्च, [=तदादिश्च] अनयोः समाहारः ।
अचं प्रगृह्य यदन्त्यादि, तत् टि-सञ्ज्ञं भवति । अग्निचित् । [अत्र] 'इत्' टि-
सञ्ज्ञो भवति । पचेते । [अत्र] 'आम्' टि-सञ्ज्ञो भवति । तस्मात् 'टित्'
आत्मनेपदानां टेरे' ॥' इत्येत्त्वं भवति ॥ ६३ ॥

'अचः' अच् से लेके जो 'अन्त्यादि' अन्त्य और [तद्-] आदि समुदाय है, उस की
'टि' टि-सञ्ज्ञा हो । 'अचः' इस शब्द में ल्यप् के लोप में पञ्चमी विभक्ति हुई है । जैसे
—पचेते । यहां टि-सञ्ज्ञा के होने से अन्त में एकारादेश हो गया है ॥ ६३ ॥

[अथोपधा-सञ्ज्ञासूत्रम्]

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ॥ ६४ ॥

अलः । ५ । १ । अन्त्यात् । ५ । १ । पूर्वः । १ । १ । उपधा । १ ।
१ । धात्वादिवर्णसमुदायेऽन्त्यादलः पूर्वो यो वर्णः, स उपधा-सञ्ज्ञो भवति ।
पाठकः । अकारस्य उपधा-सञ्ज्ञत्वाद् वृद्धिः । छेदकः । बोधकः । [अत्र] इकार-
उकारयोरुपधा-सञ्ज्ञाकरणात्त्वूपधगुणः ॥

अल-ग्रहणं किमर्थम् । समुदायात् पूर्वस्य वर्णस्योपधा-सञ्ज्ञा मा भूत् ।
'शिष्टात्' इति शकारस्योपधा-सञ्ज्ञत्वादित्त्वं प्राप्नोति, तन्न भवति ॥ ६४ ॥

धातु आदि के वर्णसमुदाय में 'अन्त्यात्' अन्त्य 'अलः' वर्ण से 'पूर्वः' पूर्व जो वर्ण है,
उस की 'उपधा' उपधा-सञ्ज्ञा हो । पाठकः । यहां पद धातु के अकार की उपधा-सञ्ज्ञा होने
से उस को वृद्धि हुई है ॥

इस सूत्र में अल-ग्रहण इसलिये है कि वर्णसमुदाय से पूर्व वर्ण की उपधा-सञ्ज्ञा न हो ।
जैसे—शिष्टात् । यहां जो शकार की उपधा-सञ्ज्ञा हो, तो उस को इकारादेश पाता है, सो न
हुआ ॥ ६४ ॥

[अथ परिभाषासूत्रम्]

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥ ६५ ॥

तस्मिन् । ७ । १ । इति । [अ० ।] निर्दिष्टे । ७ । १ । पूर्वस्य । ६ ।
१ । इति-शब्दोऽर्थनिर्देशार्थः । परिभाषेयम् । सप्तम्यर्थनिर्देशाद् यत् पूर्व, तस्य
कार्यं भवतीति व्यवहितपूर्वस्य परस्य च न भवतीति नियमः । दध्यत्र । मध्वत्र ।
'इको यणचि' ॥' इति अव्यवहितस्येकारस्य [उकारस्य च] यण-आदेशो भवति ॥

१. ३ । ४ । ७६ ॥

२. स०—स० ४८ ॥

३. स०—स० ७१ ॥

वा० प्रा०—“तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥”

(१ । १३४)

४. ६ । १ । ७७ ॥

भा०—अथ निर्दिष्ट-ग्रहणं किमर्थम् ।

निर्दिष्ट-ग्रहणमानन्तर्यार्थम् ॥

आनन्तर्यमात्रे कार्यं यथा स्यात्—‘इको यणचि’ ॥^१ दध्यत्र ।

मध्वत्र । इह मा भूत्—समिधौ, समिधः । दृषदौ, दृषदः ॥^२

आनन्तर्यार्थम् = अव्यवधानार्थम् । ‘समिधौ, समिधः’ इति धकारस्य, ‘दृषदौ, दृषदः’ इति षकारस्य व्यवधाने यण्-आदेशो मा भूदित्यर्थः ॥ ६५ ॥

‘तस्मिन् इति’ सप्तमी विभक्ति से ‘निर्दिष्टे’ निर्देश किया हुआ जो शब्द पढ़ा हो, तो उस से जो ‘पूर्वस्य’ पूर्व शब्द हो, उसी को कार्य हो, पर और व्यवधान को न हो । दध्यत्र । मध्वत्र । यहां इकार उकार के स्थान में यण् हुआ है ॥

यह परिभाषा सूत्र है । इस सूत्र में इति-शब्द अर्थ के लिये पढ़ा है । इस सूत्र में निर्दिष्ट-ग्रहण इसलिये है कि व्यवधान में यण्-आदेश न हो । जैसे—समिधः । यहां धकार के व्यवधान में यण्-आदेश न हो ॥ ६५ ॥

[अथ परिभाषासूत्रम्]

तस्मादित्युत्तरस्य ॥ ६६ ॥

० निर्दिष्ट-ग्रहणमनुवर्तते [तस्मात् । ५ । १ । इति । अ० । उत्तरस्य । ६ । १ ।] अत्रापि इति-करणोऽर्थनिर्देशार्थः । पञ्चम्यर्थनिर्देशाद् यत् परं, तस्यैव कार्यं भवति । द्वीपम् । अन्तरीपम् । समीपम् । अत्र ‘द्व्यन्तरूपसर्गेभ्योऽप ईत्’ ॥^३ इति ‘द्वि, अन्तर, उपसर्ग’ इत्येतेभ्यः परस्य अप-शब्दस्य ईकारादेशो भवति ॥

निर्दिष्ट-ग्रहणं किम् । व्यवधाने मा भूत् । अन्तर्दधाना आपः । अत्र ईकारादेशो न भवति ॥ ६६ ॥

‘तस्माद् इति’ पञ्चमी विभक्ति से ‘निर्दिष्टे’ निर्देश किया जो कार्य है, सो व्यवधान-रहित ‘उत्तरस्य’ पर को हो । पूर्व सूत्र से यहां निर्दिष्ट-शब्द की अनुवृत्ति आती है । इति-शब्द यहां भी अर्थ जनाने के लिये है । द्वीपम् । यहां द्वि-शब्द से पर अप-शब्द को ईकारादेश होता है ॥

इस सूत्र में निर्देश-ग्रहण इसलिये है कि अत्यन्त समीप को हो । अन्तर्दधाना आपः । यहां अप-शब्द को ईकारादेश न हुआ ॥ ६६ ॥

१. वार्त्तिकमिदम् ॥

रणस्थलम् ॥

२. ६ । १ । ७७ ॥

४. स०—स० ७२ ॥

३. कोशेऽत्र—“आ० ६ [व्या०]” इत्युक्त्वा

५. ६ । ३ । ६७ ॥

[अथ सञ्ज्ञासूत्रम्]

स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्दसञ्ज्ञा ॥ ६७ ॥

स्वम् । १।१। रूपम् । १।१। शब्दस्य । ६।१। अशब्द-सञ्ज्ञा ।
 १।१। इह व्याकरणे यस्य शब्दस्य कार्यमुच्यते, तस्य स्वं रूपं ग्राह्यं, वाच्यार्थ-
 स्य ग्रहणं न भवेत् । अशब्द-सञ्ज्ञा = शब्दसञ्ज्ञां विहाय । अर्थात् वृद्धिप्रदेशेषु
 वृद्धि-शब्देन कार्यं कदापि न निस्सरति, किन्तु आदैच उपतिष्ठन्ते । यथा—
 ‘अग्नेर्ढक्’ ॥’ इत्यग्नि-शब्दाद्ढगुच्यमानस्तत्पर्यायवाचिनो वह्नि-शब्दात् न भवति ॥

भा०—किमर्थं पुनरिदमुच्यते । शब्देनार्था गतेरर्थे कार्यस्यासम्भवात्
 तद्वाचिनः सञ्ज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वरूपवचनम् ॥

शब्देनोच्चारितेनार्थो गम्यते । गामानय, दध्यशानेति अर्थ
 आनीयते, अर्थश्च भुज्यते । अर्थे कार्यस्यासम्भवादिह च
 व्याकरणेऽर्थे कार्यस्यासम्भवः । ‘अग्नेर्ढक्’ ॥’ इति न शक्य-
 तेऽङ्गारेभ्यः परो ढक् कर्तुम् । शब्देनार्थगतेरर्थे कार्यस्यासम्भ-
 वाद् यावन्तस्तद्वाचिनः शब्दाः, तावद्भ्यः सर्वेभ्य उत्पत्तिः
 प्राप्नोति । इष्यते च—तस्मादेव स्यादिति । तच्चान्तरेण यत्नं
 न सिध्यतीति तद्वाचिनः सञ्ज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वरूपवचनम् ।
 एवमर्थमिदमुच्यते ॥

एतदुक्तौ सूत्रारम्भस्य प्रयोजनं विज्ञेयम् । अथ वार्तिकानि—

[वा० १] सित्तद्विशेषाणां वृत्ताद्यर्थम् ॥

सिन्निर्देशः कर्तव्यः । ततो वक्तव्यं, तद्विशेषाणां ग्रहणं भव-
 तीति । किं प्रयोजनम् । वृत्ताद्यर्थम् । ‘विभाषा वृत्तमृग०’ ॥
 इति । सूक्ष्मग्रोधं, सूक्ष्मग्रोधाः ॥

(वा० २) पितृपर्यायवचनस्य च स्वाद्यर्थम् ॥

पिन्निर्देशः कर्तव्यः । ततो वक्तव्यं, पर्यायवचनस्य च तद्-

१. स०—सू० ७३ ॥

२. ४।२।३३ ॥

३. पाठान्तरम्—शब्देनार्थगते० ॥

४. वार्तिकमिदम् ॥

५. कोशेऽत्र—“आ० ६ [व्या०]” इत्युद्धरण-
 स्थलम् ॥

६. २।४।१२ ॥

विशेषाणां च ग्रहणं भवति, स्वस्य च रूपस्येति । किं प्रयो-
जनम् । स्वाद्यर्थम् । 'स्वे पुषः'॥' स्वपोषं पृष्यति । रैपोषम् ।
धनपोषम् । गोपोषम् । अश्वपोषम् ॥

(वा० ३) जित्पर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम् ॥

जिनिर्देशः कर्तव्यः । ततो वक्तव्यं पर्यायवचनस्यैव ग्रहणं भवति । किं प्रयोजनम् । राजाद्यर्थम् । 'समा राजाऽम-
नुष्यपूर्वा^३ ॥' इनसभम् । ईश्वरसभम् । तस्यैव न भवति—
राजसभा । तद्विशेषाणां च न भवति—पुण्यमित्रसभा ।

२. ३ । ४ । ४० ॥

२. पाठान्तरम्—अश्वपोषम् । गोपोषम् ॥

३. २ । ४ । २३ ॥

४. पाठान्तरम् — पुष्पमित्र० । देवनागरलिपौ
 “व्य” इति “व्य” इत्यनेन समानाकृतिर्लिख्यते ।
 अतो अमो भवति कोऽयं शब्द इति । तन्निवारणाय

प्राक्षालिप्यक्षरां पुष्यमित्रस्य शिलालेखप्रतिलिपि-
मुदाहरामः । न हि तत्र “प्य” इति “प्य”
इत्यनेन सन्दिह्यते—

[illegible]

འཕུལ་པུལ་ལྟུང་པུལ་རྩུ་རྩུ་

4350

(पं० २)

11) ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

[अथोद्धानगरे रानोपाली(= राक्षः पल्ली)-ऋष्याश्रमे देवालयदेहल्यामुत्कीर्णोऽयं लेखः]

चन्द्रगुप्तसभा ॥

[वा० ४] भित्तस्य च तद्विशेषाणां च मत्स्याद्यर्थम् ॥

भित्तिर्देशः कर्त्तव्यः । ततो वक्तव्यं, तस्य च ग्रहणं भवति, तद्विशेषाणां चेति । किं प्रयोजनम् । मत्स्याद्यर्थम् । ‘पक्षि-
मत्स्यमृगान् हन्ति’ ॥^१ मात्सिकः । तद्विशेषाणाम् — शाफ-
रिकः । शाकुलिकः । पर्यायवचनानां न भवति—अजिह्वान्
हन्ति । अनिमिषान् हन्तीति । अस्यैकस्य पर्यायवचनस्येष्यते
—मीनान् हन्ति = मैनिकः ॥^३

सिदादयो निर्देशास्तत्कार्यविधायकेषु वृत्तादिशब्देषु कर्त्तव्याः । वृत्तस् । मृगस्

देवनागराक्षरेषु—

(पङ्क्तिः १) कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः

(पङ्क्तिः २)

अपरं च “पुष्पमित्र” इति न कश्चिच्छोभन-
मर्थं गमयति । “पुष्पमित्र” इति तु शोभनं
नाम—पुष्पो (पुष्पातीति कर्त्तरि यत् । समृद्धिदं
नक्षत्रम्) मित्रमस्येति ॥

अयं सेनापतिः पुष्पमित्रः स्वामिनं मौर्यराजं
बृहद्रथं हत्वा शुङ्ग (पाठान्तरम्—शृङ्ग)-
वंशं व्यवस्थापयत् । (दृश्यतां मत्स्यपुराणे
२७२ । २७ ॥ वायौ ६६ । ३३७ ॥ ब्रह्माण्डे

भिन्नवश्च प्राणैर्विमुक्ता इत्यसम्भवं विज्ञापयति ॥

सेनापतेः पुष्पमित्रस्य षष्ठेन कौशिकीपुत्रेण धन . . .

धर्मराज्ञा पितुः फल्गुदेवस्य केतनं कारितं

३ । ७४ । १५० ॥ विष्णौ ४ । २४ । ६ ॥

भागवते च १२ । १ । १६, १७)

हर्षचरिते—“प्रतिज्ञादुर्वलं च बलदर्शनव्यप-
देशदर्शितारोपसैन्यः सेनानारनार्यो मौर्यं बृहद्रथं
पिपेय पुष्पमित्रः स्वामिनम् ।” (पद्योच्छ्वासते)

त्रिविष्टपदेशवास्तव्यो बौद्धस्तारानाथश्च—
पुष्पमित्रेण आ मध्यप्रदेशात् जालन्धरसीमान्ता-
नि सर्वाणि बौद्धाणामि मससात् कृतानि,

१. अयं चाणक्यसाहाय्येन महापद्मं नन्दराजं
(मुद्राराक्षसादिषु सर्वार्थसिद्धिनामानमिति प्रसिद्धिः)
हत्वा राज्येऽभिषिक्तः । भागवतटीकायां श्रीधर
एवं मुराभिषायां शुद्रायामुत्पन्नं नन्दराजपुत्रं
मन्यते । न त्वेवं बौद्धाः । तैरस्य शाक्यवंशस-
मुद्भवत्वं प्रतिपाद्यते ॥

मत्स्य-वायु-ब्रह्माण्ड-विष्णु-भागवतपुराणेषु, क-
लियुगराजवृत्तान्ते, मुद्राराक्षसे, छण्डिराजकृतत-
टीकायां, कथासरित्सागरे, राजतरङ्गिण्यादिषु, अ-
र्थकथा-महावंश-दीपवंशादिवौद्धग्रन्थेषु, स्थविराव-

लिचरित्र-नन्दिसूत्र-अपिमण्डलप्रकरणवृत्त्यादिजैन-
ग्रन्थेषु च चन्द्रगुप्तोत्पत्तिः, चाणक्येन सहा-
भिसम्बन्धः, नन्दराजनाशः, मौर्यवंशसंस्थापनं,
शासनसमयादिकं च विविधमुपन्यस्तम् । राजव्यव-
स्था च कौटिल्यः (=कुटलगोत्रोद्भवः, न तु कुटि-
लगतिकः कौटिल्यः) स्वार्थशास्त्रे विस्तरेण प्र-
पञ्चितवान् ॥

२. ४ । ४ । ३५ ॥

३. कोशेऽत्र—“आ० ६ [व्या०]” इत्युद्धरण-
स्थलम् ॥

इत्यादि । तन्निर्देशेनैतद् विज्ञेयम् । स्वरूप-ग्रहणादुक्तानामन्येषां तद्विशेषपर्यायवचनानां ग्रहणं भवति । सूत्रेण सर्वत्र स्वरूपविधिः प्राप्तः, स एतैर्वार्तिकैर्निर्दिष्यते ॥

भा०—रूप-ग्रहणं किमर्थम् । एवं तर्हि सिद्धे सति यद् रूप-ग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—अस्त्यन्यद् रूपात् स्वं शब्दस्येति । किं पुनस्तत् । अर्थः । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । ‘अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य’ ॥ इत्येषा परिभाषा न कर्त्तव्या भवति ॥^२

स्पष्टम् ॥ ६७ ॥

व्याकरण में शब्द का जो स्वरूप है, उसी का ग्रहण हो, किन्तु उस के वाच्यार्थ का ग्रहण न हो, शब्दशास्त्र में जो सञ्ज्ञा है, उस को छोड़के । जैसे अग्नि-शब्द को कोई कार्य विधान किया है, वह अग्नि के पर्यायवाची वह्नि-शब्द को न हो ॥

शब्द के उच्चारण से अर्थ की प्रतीति होती है । जैसे कोई किसी से कहे कि पुस्तक लाओ, तो अक्षर लिखे हुए कागज़ से प्रयोजन है, कुछ ‘पुस्तक’ इस तीन अक्षर के शब्द का लाना और उस से काम लेना नहीं बन सकता । इसी प्रकार व्याकरण में भी शब्दों को कार्य कहे हैं । वहां उन के वाच्य अर्थों की प्रतीति होना तो सम्भव नहीं, फिर उन के वाचक अन्य शब्दों से कार्य प्राप्त होंगे । इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है ॥

इस सूत्र के ऊपर चार वार्तिक हैं—

[१] ‘सित्तद्विशेषा० ॥’ इस वार्तिक से ‘विभाषा वृत्त’^३ ॥ इस सूत्र करके वृत्तादि शब्दों के विशेषवाची शब्दों का भी ग्रहण हो, अर्थात् वृत्त तो सामान्य शब्द है, और आत्र आदि उस के विशेषवाची शब्द हैं । वृत्त-शब्द से उन शब्दों का भी ग्रहण होता है ॥

[२] ‘पित्पर्याय० ॥’ इस वार्तिक से ‘स्वे पुषः’^४ ॥ इस सूत्र में स्व-शब्द के पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण होता है । जैसे स्व-शब्द के पर्यायवाची धनादि शब्दों का भी ग्रहण हों ॥

[३] ‘जित्पर्याय० ॥’ इस वार्तिक से ‘सभा राजा’^५ ॥ इस सूत्र में राजन्-शब्द के पर्यायवाचियों का ही ग्रहण होता है, राजन्-शब्द का जो स्वरूप है, उस का भी ग्रहण नहीं होता । अर्थात् इन, ईश्वर इत्यादि शब्दों का तो ग्रहण हो, राजन्-शब्द का नहीं । तथा राजन्-शब्द के विशेषवाची पुण्यमित्र, चन्द्रगुप्त इत्यादिकों का भी ग्रहण न हो ॥

[४] और ‘मित्तस्य च तद्विशेषा० ॥’ इस वार्तिक से ‘पक्षिमत्स्य’^६ ॥ इस सूत्र में मत्स्य-शब्द से अपने रूप और इस के विशेषवाची शब्दों का ग्रहण हो । परन्तु मत्स्य-शब्द

१. पा०, प०—सू० १४ ॥

४. ३।४।४० ॥

२. कोशेऽत्र—“भा० ६ [व्या०]” इत्युद्धरणः स्थलम् ॥

५. २।४।२३ ॥

६. ४।४।३५ ॥

३. २।४।१२ ॥

के पर्यायवाचियों का ग्रहण नहीं होता । मत्स्य-शब्द के विशेषवाची शफर और शकुल इत्यादि । तथा अजिह्वा, अनिमिष इत्यादि मत्स्य-शब्द के पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण नहीं होता । परन्तु 'मीन' इस एक पर्यायवाची शब्द का ग्रहण होता है ॥

इन चार वार्तिकों से जो सिद्ध किया है, उस बात का इस सूत्र से निषेध पाता था । और इन वार्तिकों में सित आदि निर्देश किये हैं, सो वृत्तादि शब्दों में समझना चाहिये ॥

इस सूत्र में रूप-ग्रहण इसलिये है कि शब्द का सम्बन्धी जो अर्थ है, उस का ग्रहण हो ॥ ६७ ॥

अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः ॥ ६८ ॥

'स्वं रूपम्' इत्यनुवर्तते । अणुदित् । १ । १ । सवर्णस्य । ६ । १ । च । [अ० ।] अप्रत्ययः । १ । १ । अण् च उदित् च, अनयोः समाहारः । अण्-प्रत्याहारोऽत्र परेण एकारेण गृह्यते । उद्-इत् = कु, चु, दु, तु, पु [इति] पञ्चवर्गाः । अण्-प्रत्याहार उदिच्च सवर्णस्य ग्राहकौ भवतः, स्वस्य च रूपस्य, अणुदित्प्रत्ययं वर्जयित्वा । 'अस्य च्वौ' ॥' [इत्यत्र] आकारस्यापि ग्रहणम् । 'इको गुणवृद्धी' ॥' [इति] ईकार-ऊकार-ऋकाराणां दीर्घाणामपि गुणवृद्धी भवतः । उदित्—'चुट्' ॥' [इत्यत्र] चवर्गटवर्गौ गृह्यते । 'अट्कुप्वाङनुम्-व्यवायेऽपि' ॥' [इत्यत्र] कवर्गपवर्गौ गृह्यते । ['तोर्लि' ॥' इत्यत्र तवर्गौ गृह्यते ॥]

'अप्रत्ययः' इति किमर्थम् । 'सनाशंसमिच्च उः' ॥

इत्युकारस्य दीर्घस्य ग्रहणं न भवति ॥

भा०—एवं तर्हि सिद्धे सति यद् 'अप्रत्ययः' इति प्रतिषेधं शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः, भवत्येषा परिभाषा—'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' ॥ इति ॥^१

अस्मिन् सूत्रे प्रत्यय-ग्रहणं यौगिकं, नैव धातुप्रातिपदिकेभ्यो विधीयमानाः । अतीत्येऽसौ प्रत्ययः । तेनेयं परिभाषा निस्सरति—'भाव्यमानेन' ॥^२ भा-

१. स०—सू० ७८ ॥

२. ७।४।३२ ॥

३. १।१।३ ॥

४. १।३।७ ॥

५. ८।४।२ ॥

६. ८।४।६० ॥

७. ३।२।१६८ ॥

८. पा०, प०—सू० १६ ॥

९. अ० १।पा० १।आ० ६ ॥

व्यतेऽसौ भाव्यमानः = दीर्घः, स ह्रस्वान् प्लुतांश्च वर्णान् न गृहीयात् । अर्थाद् यादृशां वर्णा अक्षरसमाप्ताय उपदिष्टाः, त एव सवर्णानां ग्राहका भवन्ति, नान्ये । तेनेदमपि सिद्धं भवति—आकारस्य कार्यं विधीयमानं ह्रस्वप्लुतयोर्न भवति । अर्थादक्षरसमाप्तायस्था वर्णाः कारणरूपाः, तेऽन्यान् गृह्णन्ति, दीर्घादियञ्च कार्यरूपाः, ते ग्राहका न भवन्ति, ग्राह्या एव भवन्तीति परिभाषाशयः ॥ ६८ ॥

‘अणुदित्’ अण्-प्रत्याहार और उदित्, ये दोनों अपने ‘सवर्णस्य’ सवर्णों के ग्रहण करने वाले हैं । अर्थात् इन को जो कार्य विधान किया हो, वह इन के सवर्णों ‘च’ और इन सब को हो । [यहां] पूर्व सूत्र से ‘स्वं रूपम्’ इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है । अण्-प्रत्याहार इस सूत्र में पर णकार से लिया जाता है, और उदित् करके कु, चु, दु, उ, पु, इन पांच अक्षर [रों का ग्रहण होता है ।] जैसे— ‘अस्य चवौ’ ॥’ यहां अकार को कार्य कहा है, सो आकार को भी होता है । तथा उदित्— ‘चुदू’ ॥’ यहां चवर्ग टवर्ग का ग्रहण होता है । ‘अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि’ ॥’ यहां कु-पु-शब्दों से कवर्ग पवर्ग का ग्रहण होता है । [तथा ‘तेर्लि’ ॥’ यहां तु-शब्द से तवर्ग का ग्रहण होता है ॥]

इस सूत्र में अप्रत्यय-ग्रहण इसलिये है कि ‘अ, उ’ इन प्रत्ययों में दीर्घ वर्णों का ग्रहण न हो ॥

इस सूत्र में प्रत्यय-शब्द यौगिक है, अर्थात् प्रतीत हो, वह प्रत्यय कहाता है । इसी अर्थ से यह परिभाषा निकली है—‘भाव्यमानेन० ॥’ भाव्यमान उस को कहते हैं, जो सूत्रों से किया हो । जैसे दीर्घ अक्षर सूत्रों से किये जाते हैं, वे सवर्ण के ग्राहक नहीं हैं । अक्षरसमाप्ताय में जो वर्ण पड़े हैं, वे कारणरूप होते हैं । वे ही सवर्ण के ग्राहक अर्थात् अकारादि वर्ण स्वयं सिद्ध हैं । उन एक २ के जितने २ भेद ‘तुल्यास्यप्रयत्नं०’ ॥’ इस सूत्र की व्याख्या में लिखे हैं, उन सब के ग्राहक होते हैं । और दीर्घ आदि भेद सूत्रों से सिद्ध होते हैं, इससे कार्यरूप समझे जाते हैं । वे किसी को ग्रहण नहीं कर सकते । [जहां] कहीं दीर्घ वर्ण को कार्य विधान किया है, वह उसी को होगा, प्लुत और ह्रस्व आदि को नहीं । ह्रस्व के विधान में सब का ग्रहण होगा ॥ ६८ ॥

तपरस्तत्कालस्य^६ ॥ ६९ ॥

‘अण्’ नानुवर्तते । ‘स्वं रूपम्’ इत्यनुवर्तते । त-परः । १।१।तत्कालस्य ।
६ । १ । त-परो वर्णः तत्कालस्य स्वस्य रूपस्य ग्राहको भवति ।

तः परो यस्मात् सोऽयं त-परः ।

तादपि परः त-परः ।

१. ७।४।३२॥

२. १।३।७॥

३. ८।४।३॥

४. ८।४।६०॥

५. १।१।६॥

६. स०—स० ७६॥

‘अतो भिस ऐस्’ ॥’ ‘अतो लोपः’ ॥’ [इति] आकारस्य ग्रहणं न भवति कालाधिक्यात् । ‘आत औ णलः’ ॥’ [इति] आकारे तपरकरणमुदात्तानुदात्त-स्वरितानां ग्रहणार्थम् । ह्रस्वेषु वर्णेषु पूर्वेण सूत्रेण सवर्णग्राहकत्वं सामान्येन प्राप्तं; तदनेन सूत्रेण तपरेषु ह्रस्वेषु कालाधिकयोर्दीर्घप्लुतयोर्ग्रहणं न भवति, परन्तु तत्कालानामुदात्तानुदात्तस्वरितानां सवर्णानां ग्रहणं भवति । दीर्घेषु तपरेषु पूर्वेण सूत्रेण किमपि न प्राप्तम् । अनेन किञ्चिद् विधीयते, किञ्चित् प्रतिषिध्यते । दीर्घ-तपरविधीयमानेषु सूत्रेषूदात्तानुदात्तस्वरितानामपि ग्रहणं भवतीति विधीयते, दीर्घेषु तपरेषु ह्रस्वप्लुतयोर्ग्रहणं कालाधिक्यात् न भवतीति प्रतिषिध्यते ॥ ६९ ॥

‘तपरः’ तकार जिस से परे हो, वा तकार से परे जो वर्ण हो, वह ‘तत्कालस्य’ जैसा पढ़ा हो, उतने ही काल और अपने रूप का बोधक हो । अर्थात् तपर वर्ण ह्रस्व को कार्य विधान किया, तो दीर्घ और प्लुत को न हो । जैसे—अत् । यहां आकार का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उस के उच्चारण में द्विगुण काल लगता है । तथा सूत्रों में आकार जो तपर पढ़ा है, उस का प्रयोजन यह है कि उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का भी ग्रहण हो, क्योंकि इन का कालभेद नहीं । ह्रस्व स्वरों में पूर्व सूत्र से सामान्य करके सवर्ण-ग्रहण प्राप्त था, सो इस सूत्र से ह्रस्व तपर स्वरों में अधिक काल वाले दीर्घ, प्लुत का निषेध किया है । तथा पूर्व सूत्र से दीर्घ स्वरों में सवर्ण-ग्रहण प्राप्त नहीं था, सो इस सूत्र से उदात्त, अनुदात्त और स्वरित, जो एक काल वाले सवर्णी हैं, इन का ग्रहण होता है, अधिक न्यून काल वाले वर्णों का नहीं ॥ ६९ ॥

आदिरन्त्येन सहेता ॥ ७० ॥

‘स्वं रूपम्’ इत्यनुवर्तते । आदिः । १ । १ । अन्त्येन । ३ । १ सह । [अ० ।] इता । ३ । १ । आदिरन्त्येन इता = इत्सञ्ज्ञकेन वर्णेन सह, तयोर्मध्य-स्थानां वर्णानां, स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति । तद्यथा—अण् । अक् । अच् । इत्यादिप्रत्याहारग्रहणेषु सूत्रेषु एकार-ककार-चकारपर्यन्तानां वर्णानां ग्रहणं भवति ॥

‘अन्त्येन’ इति किमर्थम् । ‘सुट्’ इति तृतीयैकवचने ‘टा’ इत्यनेन ग्रहणं न भवति ॥

भा०—सम्बन्धिशब्दैर्वा तुल्यमेतत् । तद्यथा सम्बन्धिश-ब्दाः—मातरि वर्तितव्यम् । पितरि शुश्रूषितव्यमिति । न चो-च्यते ‘स्वस्यां मातरि, स्वास्मिन् पितरि’ इति । सम्बन्धाच्च

गम्यते—या यस्य माता, यो यस्य पितेति । एवमिहापि
'आदिः, अन्त्यः' इति सम्बन्धिशब्दावेतौ । तत्र सम्बन्धा-
देतदवगन्तव्यम्—यं प्रति यः 'आदिः', 'अन्त्यः' इति च
भवति, तस्य ग्रहणं भवति, स्वस्य च रूपस्येति ॥^१

एतत्कथनेन तन्मध्यानामिति वचनमन्तरैव तत्प्रयोजनं सिध्यति ॥ ७० ॥

'आदिः' आदि का जो वर्ण है, वह 'अन्त्येन इता' अन्त्य हल वर्णों के साथ मध्यस्थ
वर्णों और अपने रूप का ग्रहण करने वाला हो । उदाहरण^२—अण् । अक् । अच् । यहाँ
'अकार' [यह] एक आदि वर्ण णकार, ककार और चकार पर्यन्त मध्यस्थ और अपने रूप का
ग्रहण करता है ॥

इस सूत्र में अन्त्य-ग्रहण इसलिये है कि 'सुद्' यहाँ तृतीया विभक्ति के टकारपर्यन्त प्रत्या-
हार न समझा जाय ॥

इस सूत्र में मध्य-शब्द का ग्रहण इसलिये नहीं किया कि आदि और अन्त्य ये दोनों
सम्बन्धिशब्द हैं । जिस का आदि और अन्त होगा, उसी का ग्रहण हो जावेगा ॥ ७० ॥

येन विधिस्तदन्तस्य^३ ॥ ७१ ॥

परिभाषेयम् । येन । ३ । १ । विधिः । १ । १ । तदन्तस्य । ६ । १ ।
सोऽन्ते यस्य, तत् तदन्तं, तस्य । येन विशेषणेन विधिः, सोऽन्ते यस्य, तस्य
स्वस्य रूपस्य च कार्यं भवति । 'अचो यत्' ॥^४ [इति] अजन्ताद् धातोर्यद्
भवति । 'एरच्' ॥^५ [इति] इवर्णान्ताद् धातोः अच्-प्रत्ययो भवति ॥

भा०—समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः^६ ॥

समासविधौ तावत्—द्वितीयां श्रितादिभिः समस्यते । कष्ट-
श्रितः । नरकश्रितः । कष्टं परमश्रित इत्यत्र मा भूत् । प्रत्य-
यविधौ—नडस्यापत्यं = नाडायनः । इह न भवति—सूत्रन-
डस्यापत्यं = सौत्रनाडिः ॥

किमविशेषण । नेत्याह । उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्^७ ॥ उगिद्-ग्रहणम्
—'उगितश्च' ॥^८ भवती । अतिभवती । वर्ण-ग्रहणम्—'अत
इच्' ॥^९ दाक्षिः । स्नाक्षिः ॥

१. कोशेऽत्र—“आ० ६ [व्या०]” इत्युद्धरण-
स्थलम् ॥

२. कोश में “उ०” इस प्रकार से है ॥

३. स०—सू० ८० ॥

४. ३ । १ । ६७ ॥

५. ३ । ३ । ५६ ॥

६. वार्त्तिकमिदम् ॥

७. ४ । १ । ६ ॥

८. ४ । १ । ६५ ॥

अस्ति चेदानीं कश्चित् केवलोऽकारः प्रातिपदिकं यदर्थो
विधिः स्यात् । अस्तीत्याह । अततेर्डः, अः, तस्यापत्यमिः ॥^१

समासविधौ तदन्ताविधिर्न भवति । ‘कष्टं श्रितः’ इति समासो विधीयते ।
‘कष्टं परमश्रितः’ इति न भवति । प्रत्ययविधौ तदन्तविधिर्न भवति । गर्ग-प्रातिप-
दिकाद् यञ् भवति । गर्गान्ताञ् भवति ।

(प०) तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते^२ ॥

तद्यथा—अनेका नदी गङ्गां यमुनां च प्रविष्टा गङ्गा-यमुना-
ग्रहणेन गृह्यते । देवदत्तास्थो गर्भो देवदत्ता-ग्रहणेन गृह्यते ॥^३

अनया परिभाषयाऽकञ्चतः प्रातिपदिकात् प्रातिपदिकाश्रयो विधिर्भवति ।
यथा सर्व-शब्दादकचि कृते ‘सर्वके, विश्वके’ इति जसः स्थाने शीभावो न प्राप्नोति ।
अनया परिभाषया भवति ॥

(प०) यस्मिन् विधिस्तदादावल्-ग्रहणे^४ ॥

किं प्रयोजनम् । ‘अचि श्रुधातुभ्रुवां योरियडुवडौ’ ॥ इति
इहैव स्यात् । श्रियौ । भ्रुवौ । ‘श्रियः, भ्रुवः’ इत्यत्र न स्यात् ॥

यस्मिन् परे कार्यं विधीयते, तच्छब्दरूपमादौ यस्य, तस्मिन् कार्यं भवतीति
बोध्यम् । यथा अचि कार्यमजादौ भवति । मल्लि कार्यं मल्लादौ भवति ॥ ७१ ॥

‘येन’ जिस विशेषण करके ‘विधिः’ विधि हो, ‘तदन्तस्य’ वह जिस के अन्त में हो,
उस को कार्य हो । जैसे—‘अचो यत् ॥’ अच् को कार्य विधान है, सो अजन्त को
होता है ॥

‘समास० ॥’ इस वार्तिक से समासविधान और प्रत्ययविधान में तदन्तविधि का प्रतिषेध
है । परन्तु ‘भवती, अतिभवती, इः’ उगिदन्त के साथ समास और वर्ग से प्रत्ययविधि
में तो तदन्तविधि अवश्य हो जाय ॥

‘तदेकदेश० ॥’ इस परिभाषा का प्रयोजन यह है कि बहुत के बीच में थोड़ा मिलता
है, वह बहुत के ही ग्रहण से ग्रहण किया जाता है । जैसे लोक में गर्भवती स्त्री का गर्भ उसी
स्त्री के ग्रहण से ग्रहण किया जाता है पृथक् नहीं गिना जाता, इसी प्रकार व्याकरण में भी ।
‘सर्वके’ यहां सर्व-शब्द में अकच्-प्रत्यय हुआ है । उस का ग्रहण सर्व-शब्द के साथ होता
है, पृथक् नहीं ॥

१. कोशेऽत्र—“आ० १ [व्या०]” इत्युद्धरण-

स्थलम् ॥

२. पा०—सू० ७८ ॥

३. वार्तिकमिदम् ॥

पा०, प०—सू० ३३ ॥

४. ६।४।७७ ॥

तथा 'यस्मिन् विधि० ॥' इस दूसरी परिभाषा से यह प्रयोजन है कि जिस के परे [होने से] विधि हो, वह जिस के आदि में हो, उस के [परे होने से] कार्य समझना चाहिये । जैसे अच् के परे [होने से कार्य] होता है, तो अजादि [के] परे [होने से] समझना चाहिये ॥ ७१ ॥

[अथ वृद्ध-सञ्ज्ञाधिकारः]

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ॥ ७२ ॥

वृद्धिः । १।१। यस्य । ६।१। अचाम् । ६।३। आदिः । १।१। तत् । १।१। वृद्धम् । १।१। यस्य समुदायस्य अचां मध्य आद्यञ् वृद्धिः, तद् वृद्ध-सञ्ज्ञं भवति । शालीयः । मालीयः । शाला-शब्द आदिवृद्धिः । तस्य वृद्ध-सञ्ज्ञाकरणाद् 'वृद्धाच्छः' ॥ इति छः प्रत्ययः । [एवमेव 'मालीयः' इत्यत्रापि ॥]

वृद्धि-ग्रहणं किम् । पर्वत-शब्दस्य वृद्ध-सञ्ज्ञा न भवति ॥

'यस्य' इति सञ्ज्ञिनो निर्देशः ॥

'अचाम्' इति किमर्थम् । अञ्-ग्रहणमन्तरा 'अपौगवीयाः, ऐतिकायनीयाः' इहैव स्यात् । ['गार्गीयाः, वात्सीयाः' इतीह न स्यात् ॥]

आदि-ग्रहणं किमर्थम् । समासन्नयन-शब्दस्य वृद्ध-सञ्ज्ञा मा भूत् ॥

अथ वार्तिकानि ॥

[१] वा नामधेयस्य^३ ॥

वृद्ध-सञ्ज्ञा वक्तव्या । देवदत्तीयाः । दैवदत्ताः ॥

[२] गोत्रोत्तरपदस्य च^४ ॥

कम्बलचारायणीयाः^५ । ओदनपाणिनीयाः । घृतरौढीयाः ॥

किमविशेषेण । नेत्याह ॥

[३] जिह्वाकात्य-हरितकात्यवर्जम्^६ ॥

जैह्वाकाताः । हारितकाताः^६ ॥^७

१. स्त्रै०—सू० ३४५ ॥

२. ४।२।११४ ॥

३. चा० श०—“नृनाञ्चो वा ॥” (३।२।२६)

४. चा० श०—“गोत्रान्तात्तद्वजिह्वाकात्यहरित-कात्यात् ॥” (३।२।२७)

५. कम्बलप्रियस्य चारायणस्य शिष्या इत्यर्थः ।

उपरिष्ठादयेवमेव ॥

६. अत्र शब्दकौस्तुभे—“कत-शब्दो भर्गोदिः ।

जिह्वाचपलो हरितवर्णश्च (पदभञ्ज्या—“हरितमक्षश्च”) कात्यः, तस्य ज्ञात्रा इत्यर्थेऽण् एव भवति ।”

७. कोशेऽत्र—“ब्रा० ६ [व्या०]” इत्युद्धरणस्थलम् ॥

‘गोत्रोत्तरपदस्य’ इति द्वितीयवार्तिके वा-शब्दो नानुवर्तते । जिह्वाकात्य-शब्दो गोत्रप्रत्ययान्तः ॥ ७२ ॥

‘यस्य’ जिस समुदाय के ‘अचाम्’ अचों में से ‘आदिः’ आदि अच् ‘वृद्धिः’ वृद्धि-सञ्ज्ञक हो, ‘तत्’ उस समुदाय की ‘वृद्धम्’ वृद्ध-सञ्ज्ञा हो । शाला-माला-शब्दों में अचों में आदि अच् ‘आ’ वृद्धि है । [अतः] उन की वृद्ध-सञ्ज्ञा होने से तद्धित में छ-प्रत्यय होता है ॥

‘वा नाम० ॥’ इस वार्तिक से सञ्ज्ञाशब्दों की विकल्प से वृद्ध-सञ्ज्ञा होती है ॥

‘गोत्रोत्तर० ॥’ इस दूसरे वार्तिक से गोत्रप्रत्ययान्त उत्तर पद जिन के, उन शब्दों की वृद्ध-सञ्ज्ञा नित्य हो । परन्तु [तीसरे वार्तिक से] जिह्वाकात्य और हरितकात्य इन दो शब्दों की वृद्ध-सञ्ज्ञा न हो ॥

इस सूत्र में आदि-शब्द इसलिये है [कि] ‘सभासन्नयन’ इस शब्द की वृद्ध-सञ्ज्ञा न हो ॥ ७२ ॥

त्यदादीनि च ॥ ७३ ॥

[त्यदादीनि । १ । ३ । च । अ० ।] : त्यदादीनि प्रातिपदिकानि सर्वा-द्यन्तर्गतानि वृद्ध-सञ्ज्ञानि भवन्ति । त्यदीयम्^१ । तदीयम् । त्वदीयम् । मदीयम् । वृद्ध-सञ्ज्ञात्प्राच्छः प्रत्ययः ॥ ७३ ॥

‘त्यदादीनि’ त्यदादि प्रातिपदिक सर्वादिगण में पड़े हैं, इन की [‘च’ भी] वृद्ध-सञ्ज्ञा हो । त्वदीयम्, तदीयम् इत्यादि शब्दों में वृद्ध-सञ्ज्ञा के होने [से] छ-प्रत्यय हो गया ॥ ७३ ॥

एङ् प्राचां देशे^२ ॥ ७४ ॥

‘यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्’ इति मण्डूकप्लुतगत्यानुवर्तते । ‘वृद्धिः’ इति निवृत्तम् । [एङ् । १ । १ । प्राचाम् । ६ । ३ । देशे । ७ । १ ।] यस्य समुदायस्याचां मध्य आदिरेङ् तद् वृद्ध-सञ्ज्ञं भवति, प्राचीनानां पूर्वदेशनिवासिनामाचार्याणां देशाभिहिते । गोनर्दीयः । गोनर्दः^३ प्राचां देशः, तत्र भवो गोनर्दीयः । एणीपचने भव एणीपचनीयः ॥

१. स्त्रै०—सू० ३५० ॥

चा० श०—“त्यदादिभ्यः ॥”

(३ । २ । २८)

२. उदाहरणान्यनुसन्धेयानि ॥

३. चा० श०—“एङाच्चः प्रादेशात् ॥”

(३ । २ । २५)

४. वराहमिहिरस्तु गोनर्दान् दक्षिणस्यां दिशि गणितवान्—

“कङ्कटकृण्वनवासिशिविकफणिकारकौक्यामीराः ।
आकरवेणावन्तकदशपुरगोनर्दकैरलकाः ॥”

(बृहत्संहितायां १४ । १२ ॥ अपि च ६ ।

१३ ॥ ३३ । २२)

‘एङ्’ इति किम् । अहिच्छत्रः^१ । अत्र वृद्ध-सञ्ज्ञाऽभावाच्छ्रो न भवति ॥
 ‘प्राचाम्’ इति किम् । क्रोडो नामोदीचां ग्रामः, तत्र वृद्ध-सञ्ज्ञाभावाच्छ्रो न
 भवति ॥

‘देशे’ इति किम् । शरावत्यां^२ भवां मत्स्याः = शारावताः ॥

भा०— शौषिकेष्विति वक्तव्यम् । सैपुरिकी, सैपुरिका । स्कौ-
 नगरिकी, स्कौनगरिका ॥^३

सेपुर-स्कौनगरौ वाहीकग्रामौ । ताभ्यां ‘वाहीकग्रामेभ्यश्च’ इति ठविठौ ।
 ‘शौषिकेषु’ इति वचनाच्छेषाधिकारे यानि वृद्धकार्याणि, तान्येव स्युः ॥ ७४ ॥

[इति वृद्ध-सञ्ज्ञाधिकारः]

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

‘यस्य’ जिस समुदाय के ‘अचाम्’ अर्चों के ‘आदिः’ आदि में ‘एङ्’ एकारं, ओकारं
 हों, उस की वृद्ध-सञ्ज्ञा हो, ‘प्राचां’ पूर्व के रहने वाले आचार्यों के ‘देशे’ देश वाच्य हों, तो ।

१. शिलालेखादिषु “अहिच्छत्र, अहिच्छत्र, अहिच्छत्र,
 अभिच्छत्र” इति पाठान्तराणि । अस्ति च यमु-
 नोपकण्ठस्थिते प्रभासग्रामे (प्राकृते—पमोसा)
 महाराजविक्रमसमकालीनः प्राकृतलिखितो गुहान्तर्लेखः
 —“अभिच्छत्राया राज्ञो शोनकायनपुत्रस्य वंगपा-
 लस्य पुत्रस्य राज्ञो तेवणीपुत्रस्य भागवतस्य पुत्रेण
 वैहिदरीपुत्रेण आपाढसेनेन कारितं [॥]”
 २. शराः वृणविशेषाः सन्त्यस्यामिति । (शर+
 मतुप् । “शरादीनां च ॥” ६ । ३ । १२० ॥
 इति दीर्घः)

महाभारते भीष्मपर्वणि—

“चर्मणवतीं चन्द्रमाणां हस्तिसोमां दिशं तथा ।”
 शरावतीं पयोष्णीं च परां भीमरथीमपि ॥”
 (जम्बुखण्डविनिर्माणपर्वणि भारतीयनबादिक-
 थनम्—श्लो० ३२७)

पदमञ्जर्याम्—“शरावती नाम नदी उत्तरं-
 पूर्वोभिमुखी । तस्या दक्षिणपूर्वस्यां दिशि व्यवस्थि-
 ता देशः प्राग्देशः, उत्तरापस्यामुदग्देशः, तौ

शरावती विभजते । तथा मर्यादया तयोर्विभागो
 ज्ञायते ।”

अत्र नागेशः—“देशानीतो नैकृत्यां परिच-
 माग्धिगामिनी सा इत्येके ।”

रघुवंशे (१५ । ६७) लवस्यैतन्नाम्नी राज-
 धानी—

“स निवेश्य कुरावत्यां रिपुनागाङ्कुरां कुराम् ।
 शरावत्यां सतां सृष्टैः जनिताश्रुलवं लवम् ॥”

३. कोशेऽत्र—“आ० ६ [व्या०]” इत्युदर्य-
 स्थलम् ॥

४. अत्र नागेशः—

“वाहीकलक्षणं च—

‘पञ्चानां सिन्धुषष्ठानामन्तरं ये समाश्रिताः ।
 वाहीका नाम ते देशा न तत्र दिवसं वसेत् ॥’
 इति कर्णपर्वणि । एवं च धर्मवर्हिभूतत्वाद्
 वाहीकत्वम् । ‘शतद्रुविपाशां हरावती वितस्तां च-
 न्द्रमाणां इति पञ्च नद्यः, सिन्धुः षष्ठः । तन्मध्य-
 देशो वाहीकः’ इति तद्वाक्याख्यातारः ।”

पर्यापचनीयः । गोनर्दीयः । पर्यापचन और गोनर्द देश वाची शब्दों की वृद्ध-संज्ञा होने से छ-प्रत्यय होता है ॥

इस सूत्र में पङ्-ग्रहण इसलिये है कि आकार जिस के आदि हो, उस की वृद्ध-संज्ञा न हो ॥

प्राचां-ग्रहण इसलिये है कि उत्तर के देश में न हों ॥

देश [-ग्रहण] इसलिये है [कि] 'शरावताः' यहां शरावती नदी का नाम है, इससे वृद्ध-संज्ञा न हुई ॥

'शैषिके० ॥' इस वार्तिक से शेषाधिकार में ही वृद्ध-संज्ञा हो ॥ ७४ ॥

[यह वृद्ध-संज्ञा का अधिकार पूरा हुआ]

यह प्रथमाध्याय का प्रथम पाद पूरा हुआ ॥

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः ॥

[अथातिदेशसूत्राणि]

गाङ्कुटादिभ्योऽञ्जिण् ङित् ॥ १ ॥

अतिदेशोऽयम् । गाङ्-कुटादिभ्यः । ५ । ३ । अञ्जिण् । १ । १ । ङित् । १ । १ । गाङिति इङः स्थाने य आदेशः, तस्य ग्रहणम् । गाङ् च कुटादयश्च^२, तेभ्यः । वश्च णश्च = वणौ । वणौ इतौ यस्य, स ङिण् । न ङिण् = अ-ङ्जिण् । ङ इत् यस्य, स ङित् । गाङ्-आदेशात् कुटादिभ्यो धातुभ्य परे अ-ङ्जिणतः प्रत्यया ङिद्वद् भवन्ति । अध्यगीष्ट । अध्यगीष्यत् । अत्र गाङ्-आदेशात् परौ सिच्-स्य-प्रत्ययौ ङिद्वद् भवतः, तस्माद् 'धुमास्थागापा^३ ॥' इति ईकारादेशः । कुटिता । कुटिष्यति । कुटितव्यम् । पुटिता । पुटिष्यति । पुटितव्यम् । अत्र ङिद्वद्भावाल्लघूपधगुणप्रतिषेधः ॥ १ ॥

यह अतिदेशसूत्र है । अतिदेश का स्वरूप पूर्व लिख दिया है । 'गाङ्-कुटादिभ्यः' इङ् धातु के स्थान में जो गाङ्-आदेश और कुटादि धातुओं से परे 'अञ्जिण्' ङित्, ङित् से अन्य प्रत्यय, सो 'ङित्' ङित्-प्रत्ययों के तुल्य हों । अर्थात् ङित्-सञ्ज्ञक प्रत्ययों के परे जो कार्य होता है, वह उन के परे भी हो । अध्यगीष्ट । यहां जो इङ् धातु के स्थान में गाङ्-आदेश हुआ है, उस से परे सिच्-प्रत्यय के ङिद्वत् होने से आकार को ईकार हुआ है । कुटिता । कुटिष्यति । यहां कुट् धातु से परे तास् और स्य-प्रत्यय [को] ङिद्वत् होने से गुण नहीं हुआ ॥ १ ॥

विज इट् ॥ २ ॥

'ङिद्व' इत्यनुवर्तते । विजः । ५ । १ । इट् । १ । १ । 'ओविजी मय-

१. आ०—सू० ३४५ ॥

तद् यावत् ३६ धातवः ॥

चा० श०—“कुटादीनामञ्जिति ॥ गाङ्

३. ६ । ४ । ६६ ॥

इत्ये च ॥” (६ । २ । १३, २८)

४. आ०—सू० ४२८ ॥

२. तुदादिगणे “कुट कौटिल्ये” (७३) इत्येत-

चा० श०—“विज इटि ॥”

दारस्य “कुङ् (कृङ्) शब्दे” (१०८) इत्ये-

(६ । २ । १४)

चलनयोः^१।' विज्-धातोः पर इडादिः प्रत्ययो ङिद्वद् भवति । उद्विजिता ।
उद्विजितुम् । उद्विजितव्यम् । ङित्त्वाद् गुणो न भवति ॥ २ ॥

‘विजः’ विज् धातु से परे जो ‘इट्’ इडादि प्रत्यय, सो ‘ङित्’ ङिद्वत् हो । उद्विजिता ।
यहां ङिद्वत् होने से गुण नहीं हुआ ॥ २ ॥

विभाषोर्णोः^२ ॥ ३ ॥

‘इट्’ इत्यनुवर्त्तते । अप्राप्तविभाषेयम् । विभाषा । ऊर्णोः । ५ । १ ।
ऊर्णुञ् आच्छादने^३ इत्यस्माद् धातोः पर इडादि-प्रत्ययो विभाषा ङिद्वद्
भवति । ऊर्णुविता । ऊर्णविता । ङिद्वत्पक्षे गुणाभावाद् ‘अचि श्नुधातु^४॥’
इत्युवङ्-आदेशः । ङिद्वद्भावे गुणः ॥

‘इट्’ इति किम् । ऊर्णवनीयम् । अत्र अनीयरि प्रत्यये गुणप्रतिषेधो मा भूत् ॥ ३ ॥
इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है । ‘ऊर्णोः’ ऊर्णुञ् धातु से परे जो ‘इट्’ इडादि प्रत्यय,
सो ‘ङित्’ ङिद्वत् विकल्प करके हो । ऊर्णुविता । ऊर्णविता । यहां एक पक्ष में ङिद्वत्
होने से गुण नहीं हुआ, और दूसरे पक्ष में ङिद्वत् नहीं होने से गुण हो गया ॥ ३ ॥

सार्वधातुकमपित्^५ ॥ ४ ॥

अपित् सार्वधातुकं ङिद्वद् भवति । कुरुतः । हतः । ‘कुरुतः’ इति ङित्त्वाद्
गुणाभावः । ‘हतः’ इति ङित्त्वादनुनासिकलोपः ॥

‘सार्वधातुकम्’ इति किमर्थम् । ‘कर्त्ता, हर्त्ता’ इत्यपिदार्द्धधातुकं ङिद्वद् मा भूत् ॥

‘अपित्’ इति किम् । ‘करोति’ इति ङित्-सञ्ज्ञा मा भूत् ॥ ४ ॥

इति ङिद्वदधिकारः ॥

‘अपित्’ अपित् जो ‘सार्वधातुकम्’ सार्वधातुक-सञ्ज्ञक प्रत्यय हैं, सो ‘ङित्’ ङिद्वत्
हों । कुरुतः । यहां तस्-प्रत्यय के ङिद्वत् होने से गुण नहीं हुआ । हतः । यहां तस्-प्रत्यय
के ङिद्वत् होने से हन् धातु के नकार का लोप हुआ है ॥

इस सूत्र में सार्वधातुक-ग्रहण इसलिये है कि ‘कर्त्ता, हर्त्ता’ यहां ङिद्वद्भाव न हो ॥

अपित्-ग्रहण इसलिये है कि ‘करोति’ यहां गुण का निषेध न हो ॥ ४ ॥

[यह ङिद्वद् अधिकार पूरा हुआ]

१. पा०—तु० ६ ॥

२. आ०—सु० ३२७ ॥

चा० श०—“वोर्णोः ॥”

(६ । २ । १५)

३. पा०—अदा० ३० ॥

४. ६ । ४ । ७७ ॥

५. आ०—सु० ६७ ॥

चा० श०—“तिङ्शित्यपिदासीलिङि ॥

शित्यपिति ॥ तिङि इत्यपिति ॥”

(क्रमेण ६ । २ । ८ ॥ ५ । ३ । २४, ५८)

अथ किदतिदेशाधिकारः ॥

असंयोगाल्लिट् कित् ॥ ५ ॥

‘अपिद्’ इत्यनुवर्त्तते । असंयोगात् । ५ । १ । लिट् । १ । १ । कित् ।
१ । १ । असंयोगान्ताद् धातोः परो [अपित्] लिट्-प्रत्ययः किद्वद् भवति ।
बिभिदतुः । बिभिदुः । कित्त्वाद् गुणाभावः ॥

‘असंयोगाद्’ इति किम् । ममन्थतुः । ममन्थुः । किद्वन्निषेधादनुनासिक-
लोपो न भवति ॥

‘अपित्’ [इति] किम् । बिभेद ॥ ५ ॥

‘असंयोगाद्’ संयोग जिस के अन्त में न हो, उस धातु से परे जो ‘अपित्’ पित्
रहित ‘लिट्’ लिट्-प्रत्यय, वह ‘कित्’ किद्वत् हो । बिभिदतुः । यहां किद्वत् होने से गुण
नहीं हुआ ॥

असंयोग-ग्रहण इसलिये है कि ‘ममन्थतुः’ यहां नकार का लोप न हो, और ‘अपित्’
इसलिये कि ‘बिभेद’ यहां गुण का निषेध न हो ॥ ५ ॥

इन्धिभवतिभ्यां च ॥ ६ ॥

इन्धिश्च भवतिश्च, ताभ्यां परोऽपित् लिट् किद्वद् भवति । पुत्र ईधे
अथर्वणः^३ । अत्र कित्त्वादनुनासिकलोपः । बभूव । बभूविथ । पित्त्वात् पूर्व गुणः
प्राप्नोति ॥

भा०—अन्धि-ग्रन्धि-दम्भि-स्वञ्जीनामिति वक्तव्यम् । अथतुः ।

अथतुः । अथतुः । अथतुः । देमतुः । देभुः । परिष्वजे । परि-
ष्वजते^४ ।

कित्त्वान्नलोपः ॥ ६ ॥

१. आ०—सू० १३७ ॥

चा० श०—“तिङ्शित्यपिदारातिङि ॥”

(६।२।८)

२. आ०—सू० ४४ ॥

चा० श०—“लिट्तिन्धिग्रन्धिग्रन्थाम् ॥

दम्भः स्तानि च ॥ स्वञ्जः ॥”

(५।३।२५-२७)

३. ऋ०—६।१६।१४ ॥

वा०—११।३३ ॥

तै०—३।५।११।४ ॥

मै०—२।७।३ ॥

का०—१६।३ ॥

श० ब्रा०—६।४।२।३ ॥

४. नेदं वार्त्तिकं तदुदाहरणानि वात्र भाष्ये उपलभ्य-
न्ते । पूर्वटिप्पण्योदाहृतचान्द्रसूत्रेभ्यस्तु शक्यते
अनुमातुं भाष्ये पुराऽऽसीदयं पाठः, पश्चाद् लुप्त
इति । चान्द्रवृत्ताबुदाहरणान्यपि—

“अथतुः । अथतुः । अथतुः । अथतुः । देमतुः ।

देभुः । परिष्वजे ।” (५।३।२५, २६,
२७) इति तान्येव ॥

‘इन्धि-भवतिभ्याम्’ इन्धि धातु और भू धातु से परे जो ‘अपित्’ अपित् ‘लिट्’ लिट्-प्रत्यय, सो ‘कित्’ किट् हो । ईधे । यहां किट् होने से नकार का लोप हुआ है । बभूव । यहां किट् होने से गुण नहीं हुआ ॥

‘अन्धि-अन्धि० ॥’ इस वार्तिक में [संख्यात्] चार धातुओं से लिट् को किट् होने से नकार का लोप होता है ॥ ६ ॥

मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा^५ ॥ ७ ॥

‘न क्त्वा सेट्^३ ॥’ इति सामान्येन कित्त्वप्रतिषेधे प्राप्ते मृडादिभ्यः कित्त्वं विधीयते । मृडादीनां समाहारद्वन्द्वः । मृड, मृद, गुध, कुष, क्लिश, इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परः क्त्वा-प्रत्ययः किट् भवति । मृडित्वा । मृदित्वा । गुधित्वा । कुषित्वा । क्लिशित्वा । उदित्वा । उषित्वा । [अत्र] कित्त्वाद् गुणाभावः ॥ ७ ॥

‘न क्त्वा सेट्^३ ॥’ यह सूत्र इसी पाद में आगे आवेगा । उस से सामान्य धातुओं से परे क्त्वा सेट् किट् नहीं होता, इसलिये इस सूत्र का आरम्भ है । ‘मृड...वसः’ मृड, मृद, गुध, कुष, क्लिश, वद, वस, इन सात धातुओं से परे जो ‘क्त्वा’ क्त्वा, सो ‘कित्’ किट् हो । ‘मृडित्वा’ इत्यादि उदाहरणों में किट् होने से गुण नहीं होता ॥ ७ ॥

रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः सञ्च^३ ॥ [८ ॥]

रुदादीनां समाहारद्वन्द्वः । रुद, विद, मुष, ग्रहि, स्वपि, प्रच्छ, इत्येतेभ्यः परौ क्त्वा-सन्-प्रत्ययौ किट् भवतः । रुदित्वा । रुरुदिषति । विदित्वा । विविदिषति । मुषित्वा । मुमुषिषति । गृहीत्वा । जिघृक्षति । सुप्त्वा । सुषुप्सति । पृष्ट्वा । पिपृच्छिषति । [एतेषां] रुदादीनां कित्त्वाद् गुणप्रतिषेधः । ग्रहादीनां कित्त्वात् सम्प्रसारणम् । ‘किरश्च पञ्चभ्यः^५ ॥’ इति सनि प्रच्छेरिडागमः ॥

मा०—स्वपि-प्रच्छयोः सन्नर्थं ग्रहणम् । किदेव हि क्त्वा ।^५

अनिट्त्वादित्यर्थः ॥ ८ ॥

‘रुद...प्रच्छः’ रुद, विद, मुष, ग्रह, स्वप, प्रच्छ, इन धातुओं से परे जो ‘सन्’ सन् ‘च’ और ‘क्त्वा’ क्त्वा-प्रत्यय, सो ‘कित्’ किट् हों । इससे रुदादि तीन धातुओं में तो कित् होने से गुण का निषेध और ग्रहादि तीन धातुओं में कित् होने से सम्प्रसारण होता है ।

१. आ०—सू० १५१६ ॥

चा० श०—“मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवस-
लुचग्रहां कित् ॥” (६ । २ । १६)

२. १ । २ । १८ ॥

३. आ०—सू० ५०५ ॥

चा० श०—“ग्रहिप्रच्छोः सनि ॥ स्वपः ॥

रुदविदमुषग्रहाम् ॥” (क्रमेण ५ । १ । २२,

२३ ॥ ६ । २ । २२)

४. ७ । २ । ७५ ॥

५. आ० १ । पा० २ । आ० १ ॥

स्वप् और प्रच्छ, ये दोनों धातु अनिट् हैं। इससे क्त्वा तो कित् ही है, क्योंकि सेद् वत्वा के कित् होने का निषेध है। सो इस सूत्र में इन दोनों धातुओं का ग्रहण इसलिये है कि [प्रच्छ को तो] सन् में हृद् हो जाता है, [तथा] वहां सन् को कित् होने से इन दोनों धातुओं को सम्प्रसारण होता है ॥ ८ ॥

इको भल् ॥ ९ ॥

‘सन्’ इत्यनुवर्तते। ‘क्त्वा’ इति निवृत्तम्। [इकः। ५। १। भल्। १। १।] इगन्ताद् धातोः परो भ्लादिः सन् किद्वद् भवति। चिचीषति। तुष्टूषति। पुपूषति। लुलूषति। चिकीर्षति। जिहीर्षति। अत्र सर्वत्र कित्वाद् गुणाभावः ॥

‘इकः’ इति किम्। पिपासति। जिहासति ॥

‘भल्’ इति किमर्थम्। शिशयिषते। अत्र इडादौ सनि कित्त्वं न भवति ॥ ९ ॥

‘इकः’ इगन्त धातु से परे जो ‘भल्’ भ्लादि ‘सन्’ सन्, सो ‘कित्’ किद्वद् हो। चिचीषति इत्यादि उदाहरणों में कित् होने से गुण का निषेध होता है ॥

इक्-ग्रहण इसलिये है कि ‘पिपासति’ यहां किद्वद्भाव न हो ॥

और भल्-ग्रहण इसलिये है कि ‘शिशयिषते’ यहां इडादि में न हो ॥ ९ ॥

हलन्ताच्च ॥ १० ॥

‘इको भल्’ इत्यनुवर्तते, ‘सन्’ च। [हलन्तात्। ५। १। च। अ०।] अन्त-शब्दोऽत्र सामीप्ये वर्तते। हल् चासौ अन्तश्च = हलन्तः, तस्मात्। इक्समीपाद् हल्परो भ्लादिसन् किद्वद् भवति। दुधुक्षति। लिलिक्षति। कित्-करणाद् गुणप्रतिषेधः ॥

‘भल्’ इति किम्। विवर्त्तिषते ॥

भा०—अयमन्त-शब्दोऽस्त्येवावयववाची। तद्यथा—वस्त्रा-
न्तः, वसनान्त इति वस्त्रावयवो वसनावयव इति गम्यते।
अस्ति सामीप्ये वर्तते। तद्यथा—उदकान्तं गत इति उदकसमीपं
गत इति गम्यते। तद् यः सामीप्ये वर्तते, तस्येदं ग्रहणम् ॥
एवमपि दम्भेर्न सिध्यति। एवं तर्हि—दम्भेर्हल्-ग्रहणस्य जाति-
वाचकत्वात् सिद्धम् ॥ हल्जातिर्निर्दिश्यते, इकं उत्तरा यां हल्-
जातिरिति ॥^४

१. आ०—सू० ५०८ ॥

चा० श०—“उपान्तस्य ॥” (६।२।२४)

चा० श०—“इकोऽनिति ॥” (६।२।२३)

३. वात्तिकमिदम् ॥

२. आ०—सू० ५०९ ॥

४. अ० १। पा० २। आ० १ ॥

सर्वं स्पष्टम् ॥ १० ॥

‘च’ और ‘इक्’ इक् के ‘हलन्तात्’ समीप जो हल्, उस से परे ‘भल्’ भलादि ‘सन्’ सन् ‘कित्’ किद्वत् हो। इस सूत्र में अन्त-शब्द समीप का वाची है। दुधुक्षति। यहाँ दुध् धातु से सन् को कित्व हुआ है, इससे गुण नहीं हुआ ॥

इस सूत्र में भल्-ग्रहण इसलिये है कि ‘विवर्त्तिषते’ यहाँ गुण का निषेध न हो ॥१०॥

लिङ्सिचावात्मनेपदेषु ॥ ११ ॥

‘इक्’, भल्, हलन्ताद्’ इत्यनुवर्त्तन्ते। ‘सन्’ इति निवृत्तम्। लिङ्-सिचौ। १। २। आत्मनेपदेषु। ७। ३। इक्समीपाद् हलः परौ भलादी लिङ्-सिचौ आत्मनेपदविषये किद्वद् भवतः। तिप्सीष्ट। अतिप्त। [अत्र] कित्त्वाद् गुणाभावः ॥

‘इक्’ इति किम्। अयष्ट। अत्र सम्प्रसारणं न भवति ॥

‘आत्मनेपदेषु’ इति किमर्थम्। अद्राक्षीत्। यदि कित्वं स्यात्, तर्हि ‘सृजिदृशोर्भल्यमकिति’ ॥’ इति अम्-आगमो न प्राप्नोति ॥ ११-॥

‘इक्’ इक् [के] ‘हलन्तात्’ समीप हल् से परे जो ‘भल्’ भलादी ‘लिङ्सिचौ’ लिङ् और सिच्, सो ‘आत्मनेपदेषु’ आत्मनेपदविषय में ‘कित्’ किद्वत् हों। तिप्सीष्ट। अतिप्त। यहाँ कित्व होने से गुण नहीं हुआ ॥

इक् की अनुवृत्ति इसलिये है कि ‘अयष्ट’ यहाँ यज् धातु को सम्प्रसारण न हो ॥

आत्मनेपद-ग्रहण इसलिये [है] कि ‘अद्राक्षीत्’ यहाँ जो कित्व होता, तो अकित् भल् के परे अम् का आगम नहीं होता ॥ ११ ॥

उश्च ॥ १२ ॥

‘भल्, लिङ्सिचावात्मनेपदेषु’ इत्येतदनुवर्त्तते। अन्यत्रिवृत्तम्। [उः। ५। १। च। अ०।] ऋकारान्ताद् धातोः परावात्मनेपदविषयौ [भलादी] लिङ्सिचौ किद्वद् भवतः। कृषीष्ट। अकृत। हृषीष्ट। अहृत। [अत्र] कित्त्वाद् गुणप्रतिषेधः ॥

‘भल्’ इति किमर्थम्। वरिषीष्ट। अवरिष्ट। अत्रेडादौ गुणप्रतिषेधो न भवति ॥ १२ ॥

‘च’ और ‘उः’ ऋकारान्त धातु से परे ‘आत्मनेपदेषु’ आत्मनेपदविषयक ‘भल्’

१. आ०—सू० १६३ ॥

चा० श०—“लिङ्सिचोस्तद्धि ॥”

(६।२।२५)

२. ६।१।५८ ॥

३. आ०—सू० २४० ॥

चा० श०—“उः ॥” (६।२।२६)

भूलादी जो 'लिङ्सिचौ' लिङ् और सिच्, सो 'कित्' किद्वत् हों। कृषीष्ट। अकृत।
यहां किद्वत् होने से गुण का निषेध हो गया ॥

भूल्-ग्रहण इसलिये है कि 'वरिषीष्ट, अवरिष्ट' यहां इडादि लिङ्, सिच् किद्वत्
नहीं हुए ॥ १२ ॥

वा गमः^१ ॥ १३ ॥

'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु', 'भूल्' चानुवर्तते। [वा। अ०। गमः। ५। १।]
गमि-धातोः परावात्मनेपदविषयौ भूलादी लिङ्सिचौ विकल्पेन किद्वद् भवतः। सङ्ग-
सीष्ट। सङ्गसीष्ट। समगँस्त। समगत। अत्र कित्त्वविकल्पादनुनासिकलोप-
विकल्पः ॥ १३ ॥

'गमः' गम् धातु से परे 'आत्मनेपदेषु' आत्मनेपदविषयक जो 'भूल्' भूलादी 'लिङ्-
सिचौ' लिङ्, सिच्, सो 'वा' विकल्प करके 'कित्' किद्वत् हों। सङ्गसीष्ट। सङ्गसीष्ट।
समगँस्त। समगत। यहां विकल्प करके कित्त्व होने से गम् धातु के अनुनासिक का लोप
विकल्प करके हुआ है ॥ १३ ॥

हनः सिच्^२ ॥ १४ ॥

सिच्-ग्रहणं लिङ्निवृत्त्यर्थम्। 'भूल्', 'आत्मनेपदेषु' इति चानुवर्तते। [हनः।
५। १। सिच् १। १।] हन्-धातोः परो भूलादिः सिच् आत्मनेपदेषु किद्वद् भवति।
आहत। आहसाताम्। आहसत। अत्र सिचः कित्त्वादनुनासिकलोपः ॥ १४ ॥

'हनः' हन् धातु से परे जो 'भूल्' भूलादि 'सिच्' सिच्, सो 'कित्' किद्वत् हो
आत्मनेपदविषय में। आहत। यहां सिच् को कित्त्व होने से हन् धातु के नकार का लोप
हुआ है ॥ १४ ॥

यमो गन्धने^३ ॥ १५ ॥

यमः। ५। १। गन्धने। ७। १। 'सिच्', 'आत्मनेपदेषु' इति चानु-
वर्तते। गन्धनेऽर्थे वर्तमानाद् यम्-धातोः परः [आत्मनेपदविषयः] सिच् किद्वद्
भवति। उदायत। उदायसाताम्। [अत्र] कित्त्वादनुनासिकलोपः। 'आहो
यमहनः^४ ॥' इत्यात्मनेपदम् ॥

'गन्धने' इति किम्। उदायंस्त कृपादुदकम्। उद्धृतमित्यर्थः ॥ १५ ॥

१. आ०—स० ६५६ ॥

चा० श०—“लिङि तङि गमः ॥ सिचि ॥”

(५। ३। ४४, ४५)

२. आ०—स० ६५६ ॥

चा० श०—“हनः ॥” (५। ३। ४६)

३. आ०—स० ६५७ ॥

चा० श०—“यमः सूचने ॥” (५। ३। ४७)

४. १। ३। २८ ॥

‘गन्धने’ गन्धन अर्थ में वर्तमान जो ‘यम्’ यम् धातु, उस से परे ‘आत्मनेपदेषु’ आत्मनेपदविषय में जो ‘भृल्’ भृत्तादि ‘सिच्’ सिच्, सो ‘कित्’ किद्वत् हो। उदायत। यहां कित्व के होने से यम् धातु के मकार का लोप हुआ है ॥

इस सूत्र में ‘गन्धने’ इसलिये ग्रहण किया है कि ‘उदायंस्त कृपादुदकम्’ कि कुप से जल निकाला, यहां गन्धन अर्थ नहीं, इससे कित्व होके मकार लोप न हुआ ॥ १५ ॥

विभाषोपयमने ॥ १६ ॥

‘यमः सिजात्मनेपदेषु’ इति वर्तते। [विभाषा। उपयमने। ७।१।] उपयमने वर्तमानाद् यम्-धातोः परः [आत्मनेपदविषयः] सिच् विकल्पेन किद्वद् भवति। उपायत कन्याम्। उपायंस्त कन्याम्। उदबोढेत्यर्थः ॥ १६ ॥

‘उपयमने’ उपयमन [अर्थात्] विवाह अर्थ में वर्तमान जो ‘यम्’ यम् धातु, उस से परे ‘आत्मनेपदेषु’ आत्मनेपदविषय में जो ‘सिच्’ सिच्, सो ‘कित्’ किद्वत् हो। उपायत उपायंस्त वा कन्याम्। यहां कित्व के विकल्प से यम् धातु के मकार का लोप [विकल्प करके] होता है ॥ १६ ॥

स्थाध्वोरिच्च ॥ १७ ॥

‘सिजात्मनेपदेषु’ इति वर्तते। [स्था-ध्वोः। ६।२। इत्। १।१। च। अ०।] स्था-धातोः घु-सञ्ज्ञकानां च इकारादेशो भवति। एभ्यः परः सिच् किद्वत् च भवति, आत्मनेपद-सञ्ज्ञकेषु प्रत्ययेषु परतः। उपास्थित। अदित। अधित। इकारादेशो कृते सिचः कित्वाद् गुणो न भवति ॥ १७ ॥

‘स्था-ध्वोः’ स्था धातु और घु-संज्ञक धातुओं से परे जो ‘सिच्’ सिच्, सो ‘कित्’ किद्वत् ‘छ’ और ‘स्था-ध्वोः’ इन को ‘इत्’ इकारादेश हो। उपास्थित। अदित। अधित। इकारादेश किसे पीछे सिच् [के] कित् होने से गुण नहीं हुआ ॥ १७ ॥

न क्त्वा सेट् ॥ १८ ॥

[न। अ०। क्त्वा। १।१। सेट्। १।१।] सेट् क्त्वा किञ्च भवति। वर्त्तित्वा। वर्धित्वा। कित्वप्रतिषेधाद् गुणप्रतिषेधो न भवति ॥

‘सेट्’ इति किम्। कृत्वा। हृत्वा। कित्वाद् गुणो न भवति ॥ १८ ॥

‘सेट्’ सेट् जो ‘क्त्वा’ क्त्वा-प्रत्यय, सो ‘कित्’ किद्वत् ‘न’ न हो। वर्त्तित्वा। वर्धित्वा। यहां कित् के नहीं होने से गुण हो गया ॥

‘सेट्’ इसलिये है कि ‘कृत्वा’ यहां गुण न हो ॥ १८ ॥

१. चा० श०—“बोदाहे ॥” (५।३।४८) (६।२।२७)।

२. आ०—सू० २६३ ॥

३. आ०—सू० १५१८ ॥

चा० श०—“सिचि दाधास्थामिच्च ॥”

चा० श०—“सेटि ॥” (५।३।५३)

निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिच्चिदिधृषः^१॥ १९ ॥

‘न सेट्’ इत्यनुवर्त्तते । [निष्ठा । १ । १ । शीङ्-स्विदि-मिदि-च्चिदि-धृषः । ५ । १ ।] शीङादीनां समाहारद्वन्द्वः, तस्मादेकवचनम् । शीङ्, स्विदि, मिदि, च्चिदि, धृष् इत्येतेभ्यः परः सेट् निष्ठा-सञ्ज्ञः प्रत्ययः किञ्च भवति । शयितः । शयितवान् । प्रस्वेदितः । प्रस्वेदितवान् । प्रमेदितः । प्रमेदितवान् । प्रक्ष्वेदितः । प्रक्ष्वेदितवान् । प्रधर्षितः । प्रधर्षितवान् । अत्र औपदेशिकस्य कित्त्वस्य प्रतिषेधाद् गुणो भवति ॥

‘सेट्’ इति किम् । भिन्नः । भिन्नवान् । [अत्र] गुणो न भवति ॥ १९ ॥

‘शीङ्...धृषः’ शीङ्, स्विदि, मिदि, च्चिदि, धृष् इन धातुओं से परे जो ‘सेट्’ सेट् [‘निष्ठा’] निष्ठा-सञ्ज्ञक प्रत्यय, सो ‘कित्’ किद्वत् ‘न’ न हो । शयितः । शयितवान् इत्यादि उदाहरणों में उपदेश के कित्व का प्रतिषेध होने से गुण हुआ है ॥

सेट्-ग्रहण इसलिये है कि ‘भिन्नः’ यहां गुण न हो ॥ १९ ॥

मृषस्तितिक्षायाम्^२ ॥ २० ॥

[मृषः । ५ । १ । तितिक्षायाम् । ७ । १ ।] मृष्-धातोः परौ निष्ठा-सञ्ज्ञकौ सेट्प्रत्ययौ किद्वन्न भवतः तितिक्षायां = सहनेऽर्थे । मर्षितः । मर्षितवान् । कित्त्व-प्रतिषेधाद् गुणो भवति ॥

‘तितिक्षायाम्’ इति किम् । अपमृषितं वाक्यमाह । दूषितं वाक्यमाहेति गम्यते ॥ २० ॥

‘तितिक्षायाम्’ तितिक्षा अर्थात् सहन अर्थ में वर्तमान् जो ‘मृषः’ मृषि धातु, उस से परे जो ‘सेट्’ सेट् निष्ठा-सञ्ज्ञक प्रत्यय, वह ‘कित्’ किद्वत् ‘न’ न हो । मर्षितः । मर्षितवान् । यहां कित्व के नहीं होने से गुण हुआ है ॥

तितिक्षा-ग्रहण इसलिये है कि ‘अपमृषितम्’ यहां गुण न हो ॥ २० ॥

उदुपधाद् भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम्^३ ॥ २१ ॥

‘न सेट् निष्ठा’ इत्यनुवर्त्तते । [उदुपधात् । ५ । १ । भावादिकर्मणोः । ७ । २ । अन्यतरस्याम् । ७ । १ ।] उत् उपधायां यस्य, तस्मात् । भावश्च आदिकर्म च

१. आ०—स० ११७६ ॥

चा० श०—“मृषोऽन्तौ ॥” (६।२।१७)

चा० श०—“ततवतोरपूरास्विदिमिदिच्चिदिधृषः ॥” (६।२।१६)

३. आ०—स० ११८४ ॥

चा० श०—“उदुपान्तस्य शब्दतो भावारम्भ-योर्वा ॥ (६।२।१८)

२. आ०—स० ११८३ ॥

तयोः । उदुपधाद्धातोः परो भावादिकर्मणोर्वर्त्तमानः सेट् निष्ठा-प्रत्ययो विकल्पेन
किद्वन्न भवति । द्युतितमनेन । द्योतितमनेन । प्रद्युतितः । प्रद्योतितः । मुदितमनेन ।
मोदितमनेन । प्रमुदितः । प्रमोदितः । अत्र कित्त्वविकल्पाद् गुणविकल्पः ॥

‘उदुपधाद्’ इति किम् । लिखितमनेन । अत्र कित्त्वविकल्पो न भवति ॥
‘भावादिकर्मणोः’ इति किम् । रुचितं वस्त्रम् । अत्रापि कित्त्वं न विकल्प्यते ॥
‘सेट्’ इति किम् । भुक्तम् । अत्र मा भूत् ॥

भा०—इह कस्मान्न भवति । गुधितः । गुधितवान् ।

उदुपधाच्छपः ॥ शब्धिकरणेभ्य इष्यते ॥^१

स्पष्टम् ॥ २१ ॥

‘उदुपधात्’ उकार जिस की उपधा में हो, ऐसे धातु से परे ‘भावादिकर्मणोः’ भाव
और आदिकर्म में जो ‘सेट्’ सेट् ‘निष्ठा’ निष्ठा-प्रत्यय, सो ‘कित्’ किद्वत् ‘अन्यतरस्याम्’
विकल्प करके हो । द्युतितम् । द्योतितम् । यहां कित्त्व के विकल्प से गुण विकल्प करके हुआ ॥

उदुपध-ग्रहण इसलिये है कि ‘लिखितम्’ यहां गुण न हो ॥

भाव और आदिकर्म इसलिये ग्रहण है [कि] ‘रुचितं वस्त्रम्’ यहां भी गुण का निषेध
हो जाय ॥

सेट्-ग्रहण इसलिये है कि ‘भुक्तम्’ यहां गुण का विकल्प न हो ॥

‘गुधितः’ यहां विकल्प इससे नहीं होता कि इस सूत्र में शब्धिकरण अर्थात् भ्वादिगण
के उदुपध धातुओं का ग्रहण है ॥ २१ ॥

पूङः क्त्वा च^३ ॥ २२ ॥

‘न सेट्’ इति वर्त्तते ‘निष्ठा’ च । ‘अन्यतरस्याम्’ इति निवृत्तम् । [पूङः ।
५ । १ । क्त्वा । १ । १ । च । अ० ।] पूङ्-धातोः परः सेट् निष्ठा, क्त्वा च
प्रत्ययः किद्वन्न भवति । पवितः । पवितवान् । पवित्वा । कित्त्वनिषेधाद् गुणभावः ॥

‘सेट्’ इति किम् । पूतः । पूतवान् । पूत्वा । [अत्र] गुणो न भवति ॥

भा०—विभाषामध्येऽयं योगः क्रियते । विभाषामध्ये च
ये विधयस्ते नित्या भवन्ति ॥

किमर्थं तर्हि क्त्वा-ग्रहणम् । क्त्वा-ग्रहणमुत्तरार्थम् ॥^४

१. वार्त्तिकमिदम् ॥

२. अ० १ । पा० २ । आ० १ ॥

३. भा०—सू० ११७८ ॥

चा० श०—“ततवतोरपूशीत्विदिमिदिद्विदि-
धृषः ॥” (६ । २ । १६)

४. अ० १ । पा० २ । आ० १ ॥

पूङ्-धातोः क्त्वा[प्रत्ययस्य] 'न क्त्वा सेट्' ॥' इति प्रतिषेधः सिद्ध एव ।
पुनर्ग्रहणमुत्तरार्थम् ॥ २२ ॥

'पूङ्' पूङ् धातु से परे जो 'सेट् निष्ठा' सेट् निष्ठा 'च' और 'क्त्वा' क्त्वा-प्रत्यय, वे 'किट्' किट् 'न' न हों । पवितः । पवितवान् । पवित्वा । यहां कित्व के नहीं होने से गुण हो गया ॥
सेट्-ग्रहण इसलिये है कि 'पूतः, पूतवान्, पूत्वा' यहां गुण न हो ॥

'न क्त्वा सेट्' ॥' इस सूत्र से क्त्वा के परे निषेध हो ही जाता, फिर क्त्वा-ग्रहण उत्तर सूत्रों के लिये है ॥

क्योंकि दो विकल्पों के बीच में जो सूत्र होता है, वह नित्य विधान करने वाला होता है, सो यह सूत्र दो विकल्पों के बीच में पड़ा है, इससे नित्य निषेध करता है ॥ २२ ॥

नोपधात् थफान्ताद् वा^३ ॥ २३ ॥

न-उपधात् । ५ । १ । थ-फान्तात् । ५ । १ । वा । न उपधायां यस्य, तस्मात् । थश्च फश्च = थफौ । थफावन्तौ यस्य, तस्मात् । नोपधात् थफान्ताद्धातोः परः सेट् क्त्वा-प्रत्ययो विकल्पेन किट् भवति । मथित्वा । मन्थित्वा । गुफित्वा । गुम्फित्वा । कित्वविकल्पादनुनासिकलोपविकल्पः ॥

'नोपधात्' इति किम् । रेफित्वा । [अत्र] गुणप्रतिषेधो न भवति ॥

'थफान्तात्' इति किम् । स्मसित्वा । ध्वंसित्वा । अत्रानुनासिकलोपो न भवति ॥ २३ ॥

'नोपधात्' नकार जिस की उपधा में और 'थफान्तात्' थकार फकार जिस के अन्त में हों, ऐसे धातु से परे जो 'सेट् क्त्वा' सेट् क्त्वा-प्रत्यय, वह 'वा' विकल्प करके 'किट्' किट् 'न' न हो । मथित्वा । मन्थित्वा । गुफित्वा । गुम्फित्वा । यहां कित्व के विकल्प से अनुनासिक का लोप विकल्प करके होता है ॥

नोपध-ग्रहण इसलिये है कि 'रेफित्वा' यहां गुण का निषेध विकल्प करके न हो ॥

और थफान्त-ग्रहण इसलिये है कि 'स्मसित्वा, ध्वंसित्वा' यहां अनुस्वार का लोप विकल्प करके न हो ॥ २३ ॥

वञ्चिलुञ्च्युतश्च^३ ॥ २४ ॥

[वञ्चि-लुञ्चि-ऋतः । ५ । १ । च । अ० ।] वञ्चि, लुञ्चि, ऋत् इत्येतेभ्यः परः सेट् क्त्वा-प्रत्ययः किट् विकल्पेन न भवति । वचित्वा । वञ्चित्वा ।

१. १ । २ । १८ ॥

३. आ०—सू० १५२१ ॥

२. आ०—सू० १५२० ॥

चा० श०—“वञ्चिलुञ्चिषो वा ॥ ऋतरुषयुष-

चा० श०—“वञ्चिलुञ्चिषो वा ॥”

कृशां वा ॥” (५ । ३ । ५४ ॥ ६ । २ । २०)

(५ । ३ । ५४)

लुचित्वा । लुञ्चित्वा । ऋतित्वा । अर्तित्वा । कित्त्वविकल्पाद् द्वयोस्त्वनुनासिकलोप-
विकल्पः, एकत्र गुणविकल्पः ॥ २४ ॥

‘च’ और ‘वञ्चि-लुञ्चि-ऋतः’ वञ्चि, लुञ्चि और ऋत् इन धातुओं से परे जो ‘सेट् क्त्वा’ सेट् क्त्वा-प्रत्यय, सो ‘कित् न’ किट् विकल्प करके न हो । उस से दो धातुओं में तो अनुनासिक का लोप विकल्प करके होता, और ऋत् धातु में कित् के विकल्प से गुण विकल्प से होता है ॥ २४ ॥

तृषिमृषिकृशोः काश्यपस्य ॥ २५ ॥

[तृषि-मृषि-कृशोः । ५ । १ । काश्यपस्य । ६ । १ ।] तृषि, मृषि, कृशि, इत्येतेभ्यः परः सेट् क्त्वा-प्रत्ययो विकल्पेन किञ्च भवति काश्यपस्याचार्यस्य मतेन । तृषित्वा । तर्षित्वा । मृषित्वा । मर्षित्वा । कृषित्वा । कर्षित्वा । कित्त्वविकल्पाद् गुणविकल्पः ॥

भा०—काश्यप-ग्रहणं पूजार्थम् । ‘वा’ इत्येव हि वर्त्तते ॥^३

स्पष्टार्थम् ॥ २५ ॥

‘तृषि-मृषि-कृशोः’ तृष्, मृष्, कृष्, इन धातुओं से परे जो ‘सेट् क्त्वा’ सेट् क्त्वा-प्रत्यय, सो ‘वा’ विकल्प करके ‘कित् न’ कित् न हो काश्यप ऋषि के मत से । इससे तृषित्वा, तर्षित्वा इत्यादि उदाहरणों में कित् के विकल्प से गुण भी विकल्प करके होता है ॥

पीछे के सूत्र से इस सूत्र में विकल्प की अनुवृत्ति तो आती थी, फिर काश्यप का ग्रहण सत्कार के लिये है ॥ २५ ॥

रलो व्युपधाद्धलादेः सँश्च ॥ २६ ॥

‘वा’ इति वर्त्तते । ‘सेट्’ इति च । उश्च इश्च = वी । वी उपधे यस्य, स व्युपधः ।

१. आ०—सू० १५२२ ॥

चा० श०—“ऋततृषमृषकृशां वा ॥” (६।२।२०)

२. शुक्लयजुःप्रातिशाख्ये (४।५॥८।५०)—

“(मकारनकारयोः) लोपं काश्यपशकटायनौ ॥”

“निपातः काश्यपः स्मृतः ॥” (“काश्यपेन दृष्टा

निपाताः काश्यपपोत्राः काश्यपसपोत्रा वा ।” इति

उज्ज्वलभाष्यम्)

वंशब्राह्मणे द्वितीयखण्डे—

“देवतरसः शवसायनात् पितुर्देवतरसः शवसा-

यनः, शवसः पितुरेव शवाः, आग्निमुवः काश्यपा-

दग्निभूः काश्यपः, इन्द्रमुवः काश्यपादिन्द्रभूः का-

श्यपः, मित्रमुवः काश्यान्मित्रभूः काश्यपः, विभएड-

कात् काश्यपात् पितुर्विभएडकः काश्यपः, ऋष्य-

(पाठान्तरम्—ऋष्य-) शृङ्गात् काश्यपात् पितुर्ऋ-

ष्यशृङ्गः काश्यपः (अधीतवानिति शेषः)”

अथापि दृश्यतां जैमिनोयोपनिषद्ब्राह्मणे (३ ।

४० । १, २) तैत्तिरीयारण्यके (२।१८) च ॥

शब्दकल्पद्रुमे—“कणादमुनिरिति त्रिकाण्डशेषः ।”

३. अ० १ । पा० २ । आ० १ ॥

४. आ०—सू० ५१३ ॥

चा० श०—“रलो हलादेरिदुतोः सनि च” ॥

(६ । २ । २१)

[रत्नः।५।१।व्युपधात्।५।१।हलादेः।५।१।सन्।१।१।च।अ०।]
उकारोपधाद् इकारोपधाच्च रत्नन्ताद्धलादेर्धातोः परः सेट् सन् सेट् क्त्वा च विकल्पेन
कितौ भवतः । दिद्युतिषते । दिद्योतिषते । द्युतिक्त्वा । द्योतिक्त्वा । अत्र कित्त्व-
विकल्पाद् गुणविकल्पः ॥

‘रत्नः’ इति किम् । देवित्वा । दिदेविषति । अत्र गुणविकल्पो न भवति ॥
‘व्युपधात्’ इति किम् । वर्तित्वा । विवर्तिषते । [अत्र] ऋदुपधस्य न भवति ॥
‘हलादेः’ इति किम् । एषित्वा । एषिषिषति । [अत्र] नित्यगुणः ॥
चकारोऽत्र कित्त्वप्रकरणसमाप्त्यर्थः ॥ २६ ॥

[इति कित्त्वाधिकारः]

‘व्युपधात्’ उ, इ जिस की उपधा हों, ‘हलादेः’ हल् वर्ण जिस के आवि में हो, ‘रत्नः’
रत्न-प्रत्याहार जिस के अन्त में हो, ऐसे धातु से परे जो ‘सेट् सन्’ सेट् सन् ‘च’ और सेट्
‘क्त्वा’ क्त्वा-प्रत्यय, वह ‘कित् वा’ किद्वत् विकल्प करके हो । दिद्युतिषते । दिद्योतिषते ।
द्युतिक्त्वा । द्योतिक्त्वा । यहां कित्व के विकल्प से गुण विवर्षण करके होता है ॥

इस सूत्र में रत्न-ग्रहण इसलिये है कि ‘देवित्वा, दिदेविषते’ यहां गुण हो जाय ॥
व्युपध-ग्रहण इसलिये है कि ‘वर्तित्वा, विवर्तिषते’ यहां गुण का विकल्प न हो ॥
और हलादि-ग्रहण इसलिये है कि ‘एषित्वा’ यहां गुण नित्य ही हो जाय ॥
चकार इस सूत्र में कित्त्वाधिकार की समाप्ति जनाने के लिये है ॥ २६ ॥

[यह किदतिदेश समाप्त हुआ]

[अथ ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-संज्ञासूत्रम्]

उकालोऽङ्गस्वदीर्घप्लुतः ॥ २७ ॥

ऊ-कालः । १ । १ । अच् । १ । १ । ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः । १ । १ ॥

भा०—प्रत्येकं च काल-शब्दः परिसमाप्यते । उ-कालः,

ऊ-कालः, ई-काल इति ॥^२

ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च ते । छन्दोवत् सूत्राणि भवन्तीति ‘सुपां सुलुक्’ ॥^३

१. ऋ० प्रा० (१ । १६)—

“मात्रा ह्रस्वस्तावदवग्रहान्तरं द्वे दीर्घस्तिष्ठः

[प्लुत उच्यते स्वरः ।”

बा० प्रा० (१।५५, ५७, ५८)—“अमात्रस्वरो

ह्रस्वः ॥ द्विस्तावान् दीर्घः ॥ प्लुतस्तिष्ठः ॥”

चतुरध्यायिकायाम्—“एकमात्रो ह्रस्वः ॥ द्विमात्रो

दीर्घः ॥ त्रिमात्रः प्लुतः ॥” (१।५६, ६१, ६२)

दृश्यतां च तै० प्रा०—१।३१-३३, ३५, ३६ ॥

२. अ० १ । पा० २ । भा० १ ॥

३. ७ । १ । ३६ ॥

इति सूत्रेण जसः स्थाने सुः । एकमात्रिको द्विमात्रिकस्त्रिमात्रिकश्चाच्' यथाक्रमं ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-सञ्ज्ञो भवति । उपगु । 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' ॥' इति ओकारस्थान उकारः । 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' ॥' [इति] दाधार । एक-मात्रिकस्य स्थान आकारो भवति । 'ओमभ्यादाने' ॥' [इति] ओ३म् । त्रिमात्रिको भवति ॥

काल-ग्रहणं परिमाणार्थम् । दीर्घप्लुतयोर्ह्रस्व-सञ्ज्ञा मा भूत् । आलूय । प्रलूय । 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' ॥' इति तुग् मा भूत् ॥

भा०—अच्-ग्रहणं संयोग-अच्समुदायनिवृत्त्यर्थम् ॥ संयोग-निवृत्त्यर्थं तावत्—प्रतक्ष्य । प्ररक्ष्य । 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' ॥' इति तुग् मा भूत् । अच्समुदायनिवृत्त्यर्थम्—तितउ-च्छत्रम् । तितउच्छाया । 'दीर्घात्' ॥ पदान्ताद् वा' ॥' इति विभाषा तुङ् मा भूत् ॥ २७ ॥

'ऊ-कालः' एकमात्रिक, द्विमात्रिक, और तीन मात्रा के जो 'अच्' स्वर हैं, उन की क्रम से 'ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः' ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन संज्ञा हों । अर्थात् एकमात्रिक ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ और त्रिमात्रिक प्लुत होता है । उपगु । यहां ओकार को उकार एक मात्रा का अच् ह्रस्व हुआ । दाधार । यहां अकार के स्थान में दो मात्रा का आकार दीर्घ हुआ । और 'ओ३म्' यहां ओकार के स्थान में तीन मात्रा का प्लुत हुआ है ॥

इस सूत्र में काल-ग्रहण इसलिये है कि 'आलूय, प्रलूय' यहां दीर्घ की ह्रस्व-सञ्ज्ञा होके तुक् न हो ॥

अच्-ग्रहण इसलिये है कि 'प्रतक्ष्य' यहां दो ह्रस्वों को एकमात्रिक मानके तुक् न हो । तथा 'तितउच्छत्रम्' [यहां] अच्-समुदाय अर्थात् दो ह्रस्व अक्षरों को दीर्घ मानने से विकल्प करके तुक् का आगम पाता है, सो न हो ॥ २७ ॥

[अथ परिभाषासूत्रम्]

अचश्च ॥ २८ ॥

स्थानिनियमार्था परिभाषेयम् । 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' इत्यनुवर्तते । [अचः । ६ ।

१. दृश्यतांशाख्यायनश्रौतसूत्रे—“चतुर्मात्राया-

धिकी प्लुतिः ॥” (१ । २ । ३)

२. १ । २ । ४७ ॥

३. ६ । १ । ७ ॥

४. ६ । २ । ८७ ॥

५. ६ । १ । ७१ ॥

६. वार्तिकमिदम् ॥

७. ८. क्रमेण ६ । १ । ७५, ७६ ॥

८. कोशेऽत्र—“आ० १ [१ । २ । २८ सूत्रे

व्या०]” इत्युद्धरणस्थलम् ॥

१।च।अ०।] ह्रस्वः, दीर्घः, प्लुत इति यत्र ब्रूयात्, तत्राच एव स्थाने वेदितव्याः। 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' ॥' [इति] अतिरि। अतिनु ॥

'अचः' इति किम्। सुवाग् ब्राह्मणकुलम्। अत्र गकारस्य ह्रस्वो न भवति। 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' ॥' [इति] चीयते। श्रूयते ॥

'अचः' इति किम्। भिद्यते। छिद्यते। अत्र हलन्तस्य दीर्घो न भवति। 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' ॥' देवदत्ता३ ॥

'अचः' इति किम्। अग्निची३त्। तकारस्य न भवति। सञ्ज्ञाया विधाने नियमः। इह मा भूत्—द्यौः। पन्थाः। सः ॥ २८ ॥

स्थानी का नियम करने वाली यह परिभाषा है। 'च' और 'ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः' ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत जिन सूत्रों में कहे हों, वहां 'अचः' अच् के ही स्थान में हों। 'ह्रस्वो नपुंसके०' ॥' [इस सूत्र से] 'अतिरि' यहां [रै-शब्द के] ऐकार को इकार ह्रस्व हुआ है ॥

अच्-ग्रहण इसलिये है कि 'सुवाग्' यहां गकार को ह्रस्व न हो। 'अकृत्सार्वधातु०' ॥' इस सूत्र से 'श्रूयते' यहां उकार को ऊकार दीर्घ हुआ है ॥

अच्-ग्रहण इसलिये है कि 'भिद्यते' यहां भिद् धातु के दकार को दीर्घ न हो। 'वाक्यस्य टेः०' ॥' इस सूत्र से 'देवदत्ता३' यहां प्लुत हुआ है ॥

अच्-ग्रहण इसलिये है कि 'अग्निची३त्' यहां तकार को प्लुत न हो; परन्तु संज्ञा से जहां विधान किया है, वहीं अच् के स्थान में हो। अर्थात् कहीं अकार विधान किया हो, तो अकार को ह्रस्व-संज्ञा है, इससे अच् के स्थान में न हो, किन्तु ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, इन शब्दों से ही जहां विधान हों, वहीं नियम रहे। जैसे—द्यौः। यहां औकारादेश विधान है, और औकार को दीर्घ-संज्ञा है, तो अच् के स्थान में न हो ॥ २८ ॥

अथ स्वरसञ्ज्ञाः ॥

उच्चैरुदात्तः ॥ २९ ॥

प्रथमानिर्दिष्टमच्-ग्रहणमनुवर्त्तते। [उच्चैः। अ०। उदात्तः। १।१।१] समाने स्थान उच्चैः प्रकारेणोच्चार्यमाणोऽच् उदात्त-सञ्ज्ञो भवति। औपगुवः। अत्र 'आद्युदात्तश्च' ॥' इत्यण् उदात्तः ॥

१. १।२।४७॥

२. ७।४।२५॥

३. ८।२।८२॥

४. सौ०—सू० २॥

अ० प्रा० (३।१)—

आयामविश्रमाद्येपैस्त उच्यन्तेऽक्षराभ्याः ॥'

वा० प्रा०—“उच्चैरुदात्तः ॥” (१।१०८)

तै० प्रा०—“उच्चैरुदात्तः ॥” (१।३८)

चतुरध्यायिकायाम् — “समानयमेऽक्षरमुच्चैरुदात्तम् ॥” (१।१४)

“उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयस्स्वराः ॥ ५. ३।१।३. ॥

भा०—स्वयं राजन्त इति स्वराः^१, अन्वग् भवति व्यञ्जनम्^२ ॥
 आयासः, दारुण्यं, अणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य^३ ।
 आयासो गात्राणां निग्रहः । दारुण्यं स्वरस्य दारुणता = रुद्धता ।
 अणुता खस्य = कण्ठस्य संवृतता । उच्चैःकराणि शब्दस्य ॥
 समाने प्रक्रम^४ इति वक्तव्यम् । कः पुनः प्रक्रमः । उरः,
 कण्ठः, शिर इति^५ ॥^६

उच्चैःकराणि = उदात्तविधायकानि लक्षणानि । प्रक्रम्यन्तेऽस्मिन् वर्णाः,
 क्त स्थानं प्रक्रमः । तत्र यः समाने स्थाने ऊर्ध्वभागमापन्नोऽच्, स उदात्त-सञ्ज्ञो
 भवति स्वरितात् पूर्वः ॥ ३६ ॥

जिस का 'उच्चैः' ऊंचे गुण से उच्चारण हो, उस 'अच्' स्वर की 'उदात्तः' उदात्त-सञ्ज्ञा
 हो । औपगवः । यहाँ अणु-प्रत्यय का अकार उदात्त हुआ है ॥

उदात्त पर [ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण
 के] कोई चिह्न नहीं होता^७ । प्रायः स्वरित से पूर्व, वा दो अनुदात्तों के बीच में, वा अनुदात्त से

१. वृश्यतां गोपथब्राह्मणे (पू० ५ । १४)—
 “तद्यत् स्वरति, तस्मात् स्वरः । तत् स्वरस्य
 स्वरत्वम् ।” [(२४ । ११ । ६)]

अथ ताण्ड्यमहाब्राह्मणे—“प्राणो वै स्वरः ।”

२. वृश्यतां संहितोपनिषद्ब्राह्मणे—“यथा स्वरेण
 सर्वाणि व्यञ्जनानि व्याप्तानि, एवं सर्वान् कामा-
 न्वान्नेति यश्चैवं वेद ।” (द्वितीयखण्डे)

वृश्यतां वा० प्रा०—“व्यञ्जनं स्वरेण सस्व-
 रम् ॥” (१ । १०७)

३. वृश्यतां तै० प्रा०—“आयासो दारुण्यमणुता
 खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य ॥” (२२ । ६)

४. वृश्यतां चतुरध्यायिकायाम्—“समानयमे० ॥”
 (१ । १४)

५. वृश्यतां तै० प्रा०—“मन्द्रमध्यमताराणि स्था-
 नानि भवन्ति ॥ उरसि मन्द्रम् ॥ कण्ठे मध्यमम् ॥
 शिरसि तारम् ॥” (क्रमेण २२ । ११ ॥

२६ । १०—१२)

६. कोशोऽत्र—“आ० १ [व्या०]” इत्युक्तरणस्थलम् ॥

७. काश्मीर से प्राप्त ऋग्वेद के एक कोश में उ-
 दात्त का चिह्न ऊर्ध्व रेखा (^१) है, जो अक्षर के
 ऊपर दी गई है । तथा जात्यादि स्वरित के ऊपर
 दीर्घ ऊकार के चिह्न के सदृश (^२) चिह्न दिया
 गया है । अनुदात्त के लिये कोई चिह्न नहीं ॥

मैत्रायणी और काठक संहिताओं में उदात्त
 का चिह्न ऋग्वेद के स्वरितचिह्न के समान है ॥

सामवेद में उदात्त स्वर पर एक का अंक (^३)
 दिया जाता है, किन्तु यदि उदात्त से उत्तर अक्षर
 स्वरित न हो, तो उस पर दो का अंक (^२) देते हैं ।

जैसे—“यज्ञा नां होता विश्वे पाम् ।” और
 यदि निरन्तर दो उदात्त हों, तो दूसरे उदात्त पर
 कोई चिह्न न लगाकर उत्तर स्वरित पर (^{२३})
 ऐसा चिह्न देते हैं । जैसे—“द्विषो म त्वं स्य ।”
 यदि दोनों उदात्तों के पश्चात् स्वरित न हो, तब
 प्रथम उदात्त पर (^{२३}) ऐसा चिह्न देते हैं । जैसे—

“प ष स्य पी त ये ।”

आगे विना चिह्न उदात्त होता है। स्वरित से परे एकश्रुति पर भी कोई चिह्न नहीं होता ॥

स्वर उस को कहते हैं कि जो विना किसी की सहायता से प्रकाशमान हो। और व्यंजन वह होता है कि जो दूसरे की सहायता से अपना काम दे सकने को समर्थ हो। सो उदात्तादि सात [प्रकार के] स्वर होते हैं, वे इसी प्रकरण में आगे लिखेंगे ॥

‘आयामः’ उदात्त स्वर के उच्चारण में इतनी बातें होनी चाहियें कि शरीर के सब अवयवों को सञ्चल कर लेना, अर्थात् ढीले न रहें। ‘दारुण्यम्’ शब्द के निकलने के समय सञ्चल रूखा स्वर निकले, अर्थात् कोमल नहीं। ‘अणुता’ और कण्ठ को रोक लेना, अर्थात् फैलाना नहीं। ऐसे यत्नों से जो स्वर उच्चारण किया जाता है, वह उदात्त कहाता है। यही उदात्त का लक्षण है ॥

उदात्त स्वर [प्रायः] स्वरित के पूर्व होता है, क्योंकि ‘उदात्तादनु०’ ॥’ इस सूत्र से उदात्त से परे ही स्वरित का विधान है ॥ २६ ॥

नीचैरनुदात्तः ॥ ३० ॥

प्रथमानिर्दिष्टमच्-ग्रहणमनुवर्त्तते । [नीचैः । अ० । अनुदात्तः । १ । १ ।]
समाने स्थाने नीचैर्गुणेनोच्चार्यमाणोऽच् अनुदात्त-सञ्ज्ञो भवति । औपगवः । अत्र
‘अनुदात्तं पदमेकवर्जम्’ ॥’ इति प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वाच्छेषस्यानुदात्तत्वम् ॥

भा०—अन्ववसर्गः, मार्दवं, उरुता खस्येति नीचैः कराणि
शब्दस्य^१। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता । मार्दवं स्वरस्य
मृदुता=स्निग्धता । उरुता खस्य=महत्ता कण्ठस्येति नीचैः-
कराणि शब्दस्य ॥”

नीचैः कराणि = अनुदात्तविधायकानि लक्षणानि सन्ति ॥ ३० ॥

एक स्थान में ‘नीचैः’ नीचे प्रयत्न से उच्चारण किया हुआ जो ‘अच्’ स्वर है, उस

शतपथ ब्राह्मण में उदात्त का चिह्न ऋग्वेद के अनुदात्त के समान है। कई निरन्तर उदात्तों में प्रायः अन्तिम उदात्त के नीचे ही चिह्न देते हैं। विराम से पूर्व उदात्त के नीचे (...) इस प्रकार से चिह्न देते हैं, यदि विराम के पश्चात् प्रथम अक्षर भी उदात्त अथवा स्वरित हो, तो उपान्य उदात्त अक्षर के नीचे भी विराम के आगे उदात्त और स्वरित अथवा कभी २ अनुदात्त अक्षर होने पर भी ऐसा ही चिह्न देते हैं। जैसे—“० जु-हो ति । अ य०” “० न्ना प्सु । अ प०”

माध्यन्दिन शतपथ के समान ही उपलब्ध ताण्डिन् ब्रह्म लुप्त कालवविन्, भाल्लविन् और शाठ्याय-

निन् ब्राह्मणों के स्वर थे ॥ (देखो पुष्पसूत्र ८।१८४॥

भाषिकसूत्र २।३३॥ नास्दीयशिञ्जा १।१३)

१. ८।४।६६ ॥

२. सौ०—सू० ४ ॥

वा० प्रा० (१।१०६), तै० प्रा० (१।३६)

च समानं सूत्रम् ॥

चतुरध्यायिकायाम्—“[समानयमेऽक्षरं] नीचै-
रनुदात्तम् ॥ (१।१५)

३. ६।१।१६८ ॥

४. दृश्यतां तै० प्रा०—“अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता
खस्येति नीचैः कराणि ॥” (२२।१०) [स्थलम् ॥

५. कोशेऽन्त—“आ० १ [व्या०]” इत्युद्धरण-

को 'अनुदात्तः' अनुदात्त कहते हैं। औपगवः । यहां प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त होने से 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' ॥ [इस] सूत्र करके शेष अनुदात्त हुए हैं। अनुदात्त का [(-) ऐसा] चिह्न [ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में] नीचे लगता है^२ ॥

अनुदात्त का उच्चारण ऐसा करना कि 'अन्ववसर्गः' शरीर के अवयवों को ढीले कर देना, कोमलता से शब्द का उच्चारण करना, और कण्ठ को फैलाके बोलना चाहिये, अर्थात् कण्ठ को रोकना नहीं। इस प्रकार प्रयत्न पूर्वक उच्चारण किये स्वर को अनुदात्त कहते हैं। यही इस का लक्षण है ॥ ३० ॥

समाहारः स्वरितः^३ ॥ ३१ ॥

'अच्' इत्यनुवर्तते । समाहारोऽस्मिन्नस्तीति मत्त्वर्थीयोऽकारः । उदात्ता-
नुदात्तगुणयोः समाहारोऽच् स्वरित-सञ्ज्ञो भवति । क्व । 'तित् स्वरितम्' ॥
इति सूत्रेण स्वरितो विधीयते । स्वरितस्तूदात्तात् पर एव भवति । क्वचित्^४
केवलोऽपि भवति ॥

भा०—'त्रैस्वर्येणाधीमहे' त्रिप्रकारैरजिभरधीमहे, कैश्चिदुदात्त-
गुणैः, कैश्चिदनुदात्तगुणैः, कैश्चिदुभयगुणैः । तद्यथा—
शुक्लगुणः शुक्लः, कृण्णगुणः कृण्णः । य इदानीमुभयगुणः,
स तृतीयामाख्यां लभते—कल्माष इति वा, सारङ्ग इति वा ।
एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः । य
इदानीमुभयगुणः, स तृतीयामाख्यां लभते—स्वरित इति ॥^६

त्रैस्वर्यमिति स्वार्थे ष्यञ् । अन्यत् स्पष्टार्थम् ॥ ३१ ॥

१. ६।१।१५८ ॥

२. अथर्ववेद के कुछ कोशों में अनुदात्त स्वर के नीचे रेखाओं के स्थान में बिन्दु लगे मिलते हैं, तथा स्वरित स्वर के ऊपर ऊर्ध्व रेखा के स्थान में अक्षर के अन्दर ही बिन्दु लगे हैं ॥

मैत्रायणी और काठक संहिताओं में अनुदात्ततर का चिह्न ऋग्वेदीय अनुदात्तचिह्न के समान है ॥

सामवेद में प्रश्लिष्ट, जाल्य, अभिनिहित और चैप्र स्वरितों से पूर्व अनुदात्त का चिह्न (^३क) स्वर के ऊपर लिखा जाता है। जैसे—तं ^३क न्वा । साधारण चिह्न (^३) है ॥

३. सौ०—सू० ६ ॥

वा० प्रा०—“उभयवान् स्वरितः ॥” (१।११०)

तै० प्रा०—“समाहारस्वरितः ॥” (१।४०)

चतुरध्यायिकायाम्—“[समानयमेऽक्षरं] आक्षिप्तं स्वरितम् ॥” (१।१६)

४. ६।१।१८५ ॥

५. चैप्र-जात्य-प्रश्लिष्ट-अभिनिहिताः स्वरिता अनुदात्तात् पराः शब्दादौ वा भवन्ति । उदाहरणानि यथाक्रमम्—व्या प्त, अ प्त्वं ^३न्त र् । स्वं र्, क न्या । सू द्रा ता, दि वी' व । तेऽनु व न् ॥

६. कोशोऽत्र—“आ० १ [व्या०]” इत्युद्धरणस्थलम् ॥

उदात्त और अनुदात्त गुण का जिस में 'समाहारः' मेल हो, वह 'अच्' अच् 'स्वरितः' स्वरित-सञ्ज्ञक हो। 'कं' इस शब्द में 'तित्स्वरितम्' ॥' इस सूत्र से स्वरित हुआ है। स्वरित का [(१)] ऐसा ऊर्ध्वरेखात्मक] चिह्न [ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में] अक्षर के ऊपर किया जाता है^२। स्वरित उदात्त से परे होता है, और कहीं केवल भी होता है ॥

भा०—हम लोग तीन प्रकार के स्वरों से पढ़ते पढ़ाते हैं, अर्थात् कहीं उदात्त गुण वाले, कहीं अनुदात्त गुण वाले और कहीं उदात्तानुदात्त अर्थात् स्वरित गुण वाले स्वरों से नियमानुसार उच्चारण करते हैं। जैसे श्वेत और काला रंग अलग २ होते हैं, परन्तु इन दोनों को मिलकर जो रंग उत्पन्न होता है, उस का तिसरा नाम पड़ता है, अर्थात् खाकी वा आस्मानी। इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण पृथक् २ हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो, उस को स्वरित कहते हैं ॥ ३१ ॥

तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्^३ ॥ ३२ ॥

तस्य । ६ । १ । आदितः । [अ०] उदात्तम् [१।१।१] अर्धह्रस्वम् । १।१।
तस्य स्वरितस्यादावर्धह्रस्वमर्धमात्रमुदात्तं भवति । आदावित्यादितः । 'तसिप्रकरण
आद्यादीनामुपसंख्यानम्' ॥' इति वार्त्तिकेन तस्मिः प्रत्ययः । ह्रस्वस्यार्द्धमित्यर्धह्रस्वम् ।

१. ६ । १ । १८५ ॥

२. उदात्त अक्षर से पूर्व ह्रस्व स्वरित का चिह्न (१) इस प्रकार होता है। जैसे—अप्स्व१न्तर् । तथा दीर्घ स्वरित का (३) इस प्रकार। जैसे—रा यो ३ व निः ॥

मैत्रायणी और काठक संहिता में केवल स्वरित अथवा अनुदात्त के पीछे आने वाले स्वरित के नीचे (८) इस प्रकार का चिह्न दिया जाता है। जैसे—वी र्यंम् । किन्तु काठक संहिता में यदि उदात्त अक्षर परे हो, तो स्वरित अक्षर के नीचे काकपदचिह्न (८) दिया जाता है ॥

सामवेद में स्वरित का चिह्न (३) अक्षर के ऊपर दिया जाता है । अनुदात्त और दो उदात्तों के पश्चात् आने वाले स्वरित तथा केवल स्वरित का चिह्न (३) है। जैसे—^{उ० २२} त न्वा ॥

शतपथ ब्राह्मण में अनुदात्त के समान स्वरित का भी कोई चिह्न नहीं होता ॥

३. वा० प्रा०—“तस्यादित उदात्त^४ ह्रस्वार्द्धमा-

त्रम् ॥” (१ । १२६)

चतुरध्यायिकायाम्—“स्वरितस्यादितो मात्तार्ध-
मुदात्तम् ॥” (१ । १७)

परन्तु दृश्यतां ऋ० प्रा० (तृतीयपटले)—

“एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः ।

तस्योदात्ततरोदात्तादर्थमात्रार्धमेव वा ॥ २ ॥

“अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिर्न चेत् ।

उदात्तं बोध्यते किञ्चित् स्वरितं वाक्षरं परम् ॥ ३ ॥”

तथा च तै० प्रा० (प्रथमाध्याये)—“त-

स्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्ध ह्रस्वस्य
॥ ४१ ॥ उदात्तसमशेषः ॥ ४२ ॥ मव्यञ्जनोऽपि
॥ ४३ ॥ अनन्तरो वा नीचैस्तराम् ॥ ४४ ॥

अनुदात्तसमो वा ॥ ४५ ॥ आदिरस्योदात्तसम-
शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः ॥ ४६ ॥ सर्वैः
प्रवणः (= स्वरितः) इत्येके ॥ ४७ ॥

४. पाठान्तरम्—आद्यादिभ्यः ॥

५. महाभाष्ये “प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः ॥” (५ ।

४ । ४४) इति सञ्ख्याख्यान इदं वार्त्तिकम् ॥

‘अर्धं नपुंसकम्’ ॥’ इति तत्पुरुषः समासः । कन्थे^१ । ‘आमन्त्रितस्य च^२ ॥’ इत्याद्युदात्तम् । ‘उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः^३ ॥’ इति स्वरितः । तत्र द्विमात्रस्य दीर्घस्यादावर्धमात्रमुदात्तं, अन्यत् सार्धमात्रमनुदात्तं भवति ॥

४८

भा०—किमर्थं पुनरिदमुच्यते । आमिश्रीभूतमिवेदं भवति । तद्यथा—क्षीरोदके सम्पृक्ते आमिश्रीभूतत्वान्न ज्ञायते, कियत् क्षीरं कियदुदकम्, कस्मिन्नवकाशे क्षीरं, कस्मिन् वोदकमिति । एवमिहाप्यामिश्रीभूतत्वान्न ज्ञायते, कियदुदात्तं कियदनुदात्तं, कस्मिन्नवकाशे उदात्तं, कस्मिन्ननुदात्तमिति । तदाचार्यः सुहृद् भूत्वान्वाचिष्टे, इयदुदात्तमियदनुदात्तं, अस्मिन्नवकाशे उदात्तमस्मिन्नवकाशेऽनुदात्तमिति ॥

यद्ययमेवं सुहृत् किमन्यान्वप्येवंजातीयकानि नोपदिशति । कानि पुनस्तानि । स्थानकरणनादानुप्रदानानि^४ ॥

व्याकरणं भाष्यमुत्तरा विद्या । सोऽसौ छन्दःशास्त्रेष्वभिविनीत उपलब्ध्याधिगन्तुमुत्सहते ॥^५

छन्दःशास्त्रेषु = शिक्षादिग्रन्थेषु लिखितानि सन्त्येव । पुनरुक्तिं मत्वा नोपदिष्टानि । पठनमप्येषां पूर्वमेव । ‘शिक्षाकल्पोऽथ व्याकरणम्^६’ शिक्षाकल्पौ पाठित्वा व्याकरणस्य पठनं, तस्मात् ताभ्यामुत्तरा विद्या । यत्तत्र नोक्तं, तदत्रोक्तम् ॥

भा०—स्वरितस्यार्द्धह्रस्वोदात्ताद् आ ‘उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः^७ ॥’ इत्येतस्मात् सूत्रादिदं सूत्रकाण्डमूर्ध्वं ‘उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः^३ ॥’ इत्यतः कर्त्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । ‘स्वरिताद्’ इति सिद्धिर्यथा स्यात् । ‘स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्’ ॥’ इति । ‘इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि^८ ॥’

‘तस्यादितः० ॥’ इत्यारभ्य ‘उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः^७ ॥’ इत्यन्तं सूत्रनवतयमष्टमाध्यायस्य चतुर्थपादान्ते ‘उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः^३ ॥’ इत्यस्मात् परं

१. २।२।२॥

२. ६।१।१६८॥

३. ८।४।६६॥

४. पाठान्तरम्—स्थानकरणानुप्रदानानि ॥

५. क्षीरोऽत्र—‘आ० १ [व्या०]’ इत्युद्धरणस्थलम् ॥

६. मुखकोपनिषद्यपि (१।१।५) —‘शि-

क्षा कल्पो व्याकरणम् ।’ इति स एव क्रमः ॥

७. १।२।४०॥

८. १।२।३६।

९. ऋ०—१०।७५।५॥

विज्ञेयम् । 'पूर्वत्रासिद्धम्' ॥' इति स्वरितस्यासिद्धत्वाद् अत्र स्थानिस्वरकार्याण्ये-
कश्रुत्यादीनि न प्राप्नुवन्ति । तदर्थोऽयं यत्नः ॥

अत्र काशिकाकृज्जयादित्यभट्टोजिदीक्षितादयो विप्रवदन्ते 'ह्रस्व-ग्रहणमत्-
न्त्रम्' । 'अर्थानिष्प्रयोजनम् । एतत्तेषां भ्रम एवास्ति । कथम् । यदि ह्रस्व-ग्रहणं
निष्प्रयोजनं स्यात्, तर्हि महाभाष्यकार एव शङ्कां कुर्यात् । महाभाष्यकारेण
तूक्तं 'मात्रचोऽत्र लोपो द्रष्टव्यः । अर्धह्रस्वमात्रं = अर्धह्रस्वम्' । इति प्रत्युत
प्रतिपादनं दृश्यते ॥ ३२ ॥

पूर्व सूत्र में जो स्वरित विधान है, उस के तीन भेद होते हैं—ह्रस्वस्वरित, दीर्घस्वरित,
प्लुतस्वरित । सो 'तस्य' उस स्वरित के 'आदितः' आदि में 'अर्धह्रस्वम्' आधी मात्रा
'उदात्त' उदात्त और सब अनुदात्त होता है । कन्ये' । इस शब्द में ककार में तो उदात्त और
'न्ये' में स्वरित है । वह स्वरित दीर्घ है । उसके आदि में आधी मात्रा उदात्त है, और सब अनुदात्त ॥

'किमर्थं पुनः' । इस सूत्र के उपदेश करने में प्रयोजन यह है कि जो मिली हुई चीज होती
है, उस में नहीं जाना जाता कि कितना क्या है । जैसे दूध और जल मिल जाते हैं, तो यह
नहीं मालूम होता कि कितना दूध और कितना जल है, तथा किधर दूध और किधर जल है ।
इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त मिले हुए हैं, इससे मालूम नहीं होता कि कितना
उदात्त और कितना अनुदात्त, तथा किधर उदात्त और किधर अनुदात्त है । इसलिये मित्र होके
पाणिनिजी महाराज ने इस सूत्र का उपदेश किया है, कि जिससे मालूम हुआ कि इतना
उदात्त और इतना अनुदात्त, तथा इधर उदात्त और इधर अनुदात्त है ॥

(प्रश्न) जो आचार्य अर्थात् पाणिनिजी महाराज ऐसे परम मित्र थे, तो इस प्रकार की और बातें
क्यों नहीं प्रसिद्ध कीं ।—(प्र०) वे बातें कौन हैं । (उ०) स्थान, करण, नादानुप्रदान ।—(उत्तर)
व्याकरण अष्टाध्यायी जब बनाई गई, उस से पूर्व ही शिक्षा आदि ग्रन्थों में ये स्थान आदि का
विस्तार लिख चुके थे । क्योंकि शब्द के उच्चारण में जो साधन हैं, वे मनुष्य को प्रथम ही जानने
चाहियें और उन ग्रन्थों में लिख चुके, फिर अष्टाध्यायी में लिखते, तो पुनरुक्त दोष पड़ता ।
इसलिये जो बातें वहां नहीं लिखीं, उन को यहां प्रसिद्ध किया । तथा गणना से भी व्याकरण
तीसरा अङ्ग है । किन्तु सब से प्रथम मनुष्यों को शिक्षा के ग्रन्थ पढ़ाये जायेंगे, तब स्थानादि की
सब बातें जान लेंगे । पीछे व्याकरण पढ़ेंगे । इस प्रकार पाणिनिजी महाराज ने सब कुछ
अच्छा ही किया ॥

'तस्यादितः' ॥' इस सूत्र से लेके 'उदात्तस्वरितपरस्य' ॥' इस सूत्र पर्यन्त ये
नव सूत्र अष्टमाध्याय के चतुर्थ पाद के अन्त में 'उदात्तादनु' ॥' इस सूत्र से पर समझने

१. ८।२।१॥

३. अ० १।पा० २।आ० १॥

२. काशिकासिद्धान्तकौमुदीरिदं वचनम् । शब्द-

४. १।२।४०॥

कौस्तुभे च—'ह्रस्वग्रहणमविवक्षितम् ।' इति ॥

५. ८।४।६६॥

चाहियें, क्योंकि उदात्त से परे स्वरित विधान नहीं किया है। और स्वरित से परे अनुदात्तों को एकश्रुति स्वर विधान यहां किया है, तो यहां के कार्यों की दृष्टि में अष्टमाध्याय का स्वरित-विधान असिद्ध माना जायगा, फिर स्वरित के कार्य यहां नहीं होंगे। इसलिये यह यत्न है ॥

इस सूत्र के व्याख्यान में काशिका के बनाने वाले जयादित्य और भट्टोजिदीक्षित आदि लोगों ने लिखा है कि इस सूत्र में ह्रस्व-ग्रहण निष्प्रयोजन है। सो यह केवल इन की भूल है, क्योंकि जो ह्रस्व-ग्रहण का कुछ प्रयोजन न होता, तो महाभाष्यकार अवश्य प्रसिद्ध करते, किन्तु महाभाष्यकार ने तो इस में एक शब्द का लोप माना है। 'अथैह्रस्वमात्रम्' इस में से मात्र-शब्द का लोप हो गया है। अथवा ऐसा कोई समझे [कि] महाभाष्यकार ने नहीं जाना इन लोगों ने जान लिया, तो यह बात असम्भव है। इस से इन्हीं लोगों का दोष समझा जाता है ॥ ३२ ॥

एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ ॥ ३३ ॥

एकश्रुति । १ । १ । दूरात् । ५ । १ । सम्बुद्धौ । ७ । १ । यत्र वेदपर्यायः श्रुति-शब्दस्तत्र करणसाधनः । अत्र तु भावसाधनः—श्रवणं = श्रुतिः । उदात्तानुदात्तस्वरितानां पृथक् पृथक् विभक्तानामेका श्रुतिः = श्रवणं यस्य स्वरस्य, स एकश्रुतिः स्वरः । 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' इति मत्वा 'सुपां सुलुक्' ३॥ इति विभक्तेर्लुक् । 'सम्बुद्धिः' इत्यकृत्रिमस्य ग्रहणं—सम्बोधनं सम्यग् ज्ञापनं सम्बुद्धिः, न तु कृत्रिमस्यैकवचनं सम्बुद्धिरिति । दूरात् सम्बुद्धौ सत्यां सम्यगाह्वानेऽभिगम्यमाने सत्युदात्तानुदात्तस्वरितानां पृथक् पृथक् गुञ्जरणविभागयुक्तानामेकश्रुतिः स्वरो भवति । आगच्छ भो माणवक देवदत्ता ३ । अत्रोदात्तानुदात्तस्वरिताः पृथक् पृथक् नोच्चरिता भवन्ति ॥ 'दूरात्' इति किम् । आगच्छ भो भवदेव । अत्रोदात्तानुदात्तस्वरिताः पृथक् पृथक् चार्थन्ते ॥

भा०—त एते तन्त्रे तरनिर्देशे सप्त स्वरा भवन्ति । उदात्तः ।

उदात्ततरः । अनुदात्तः । अनुदात्ततरः । स्वरितः । स्वरिते य

उदात्तः, सोऽन्येन विशिष्टः । एकश्रुतिः सप्तमः ॥^३

'तरनिर्देशः'—सूत्रेषु 'सन्नतरः, उच्चैस्तराम्' इत्यर्थः । तेनैते सप्त स्वराः सूत्रेभ्य एव निस्सरन्ति । तद्यथा—'उच्चैस्तराम्'^४ इति शब्देनोदात्ततरः, 'सन्न-

१. सौ०—घृ० ८॥

२. ७ । १ । ३६॥

इत्यतः कात्यायनश्रौतसूत्रे—“एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ यत्कर्मणि सुब्रह्मण्यासामजपन्यूङ्खयाजमानवर्जम् ॥” (१ । १६४)

३. कोशेऽत्र—“आ० १ [व्या०]” इत्युद्धरणस्थलम् ॥

४. “उच्चैस्तरां वा वषट्कारः ॥” (१।२।३५)

तरः” इति शब्देनानुदात्ततरः । ‘तस्यादित०’॥” इति सूत्रेण स्वरितोदात्तः । चत्वास्तु स्पष्टतरा एव । एवं सप्त स्वराः सिध्यन्ति ॥

आस्मिन् सूत्रे जयादित्यादिभिरेकश्रुति-शब्दो वाक्यविशेषणत्वेन व्याख्यातः । तद्यथा—‘एका श्रुतिर्यस्य तदिदमेकश्रुति वाक्यमिति’१।’ नैतत् सङ्घटते । कथम् । आस्मिन् सूत्रे तु वाक्यविशेषणेन कार्यं सेत्स्यति, परन्तुत्तरत्र महान् दोष आयाति । तद्यथा—‘स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्’॥” इति स्वरितादनुदात्तस्य, स्वरितादनुदात्तयोः, स्वरितादनुदात्तानां चैकश्रुतिः स्वरो भवति । एकस्य वर्णस्य, द्वयोर्वर्णयोः, बहूनां च वर्णानाम् । न तु स्वरितात् पराणि वाक्यान्त्येकश्रुतीनि भवितुमर्हन्ति । अतस्तत्कथनमवयमेवास्तीति मन्तव्यम् ॥ ३३ ॥

‘दूरात्’ दूर से अच्छी प्रकार बल से ‘सम्बुद्धौ’ बुलाने में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन स्वरों का ‘एकश्रुति’ एकश्रुति स्वर हो, अर्थात् एक तार श्रवण हो, अर्थात् ये स्वर पृथक् २ सुनने में न आवें । जैसे—आगच्छ भो माणवक देवदत्ता ३ । यहां उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन का पृथक् २ उच्चारण नहीं होता ॥

‘दूरात्’ इस शब्द का ग्रहण इसलिये है कि ‘आगच्छ भो भवदेव’ यहां उदात्त, अनुदात्त और स्वरितों का पृथक् २ उच्चारण हो ॥

‘त एते०’ इत्यादि महाभाष्यकार के व्याख्यान से सात प्रकार के स्वर सूत्रों से निकलते हैं । [१] उदात्त, [२] अनुदात्त, [३] स्वरित, [४] एकश्रुति, ‘उच्चैस्तराम्’ इस शब्द से [५] उदात्ततर, ‘सन्नतरः’ इस शब्द से [६] अनुदात्ततर, ‘तस्यादित०’॥” इस सूत्र से [७] उदात्तानुदात्त एक स्वर निकलता है । उदात्तानुदात्त [और] स्वरित का [परस्पर] भेद है, कि जिस में यह जाना जाय कि इतना उदात्त इतना अनुदात्त और इधर उदात्त इधर अनुदात्त है, उस को उदात्तानुदात्त कहते हैं । और स्वरित का विषय यह रहा कि उदात्तानुदात्त का मेलमात्र का होना । ये लोक वेद में सर्वत्र सात प्रकार के स्वर होते हैं ॥

इस सूत्र में पंडित जयादित्यादि लोगों ने एकश्रुति-शब्द [को] वाक्य का विशेषण रक्खा है, कि एक प्रकार का जिस में श्रवण हो, ऐसा वाक्य हो । सो वे केवल भूल गये, क्योंकि इस सूत्र में तो वाक्य के विशेषण रखने से काम चल जाता है, परन्तु आगे ‘स्वरितात् संहिता०’॥” इस सूत्र में बड़ा भारी दोष आवेगा, क्योंकि वहां एक, दो और बहुत वर्णों को एकश्रुति स्वर होता है । वाक्य का विशेषण होने से कभी नहीं बन सकता । और एकश्रुति-शब्द स्वर का विशेषण होने से सर्वत्र कार्य सिद्ध होते हैं । तथा महाभाष्यकार ने भी इसी सूत्र में एकश्रुति-शब्द स्वर का विशेषण रक्खा है । इससे इन लोगों का विवरण उपेक्षणीय है ॥ ३३ ॥

१. “उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः॥” (१।२।४०)

ति । एकश्रुति वाक्यं भवति ।” एवमेव सिद्धान्तः-

२. १।२।३२ ॥

कौमुदी-शब्दकौस्तुभ-मिताक्षर । [त्यादिषु ॥

३. काशिकायाम्—“एका श्रुतिर्यस्य तदिदमेकश्रु-

४. १।२।३६ ॥

यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु' ॥ ३४ ॥

यज्ञकर्मणि । ७ । १ । अजप-न्यूङ्ख-सामसु । ७ । ३ । यज्ञकर्मणि वेदमन्त्र-
पाठे उदात्तानुदात्तस्वरितानामेकश्रुतिः स्वरो भवति, जप-न्यूङ्ख-सामानि वर्जयित्वा ।
यज्ञश्चादः कर्म = यज्ञकर्म, तस्मिन् । यज्ञ-शब्दो बहुष्वर्थेषु^२ प्रवृत्तोऽस्ति । अत्र तु वेद-
मन्त्रैरग्नौ हवनं क्रियाकाण्डं गृह्यते । एतदर्थं यज्ञ-शब्दस्य विशेषणाय कर्म-शब्दस्यो-
पादानम् ।

‘समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।

आस्मिन् हव्या जुहोतन^३ ॥’ १ ॥

‘उद् बुध्यस्वान्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते^४ ॥’ [२ ॥]

इत्यादिमन्त्रैर्यज्ञकर्मणि कर्माणि कुर्वन् उदात्तानुदात्तस्वरितविभागमन्तरेण
सन्त्राः पठनीयाः । जपश्च यज्ञकर्म, तत्रैकश्रुतिर्न भवति, किन्तु विभागेनैवोच्चा-
रिता भवन्ति । न्यूङ्खाः = स्तोत्रविशेषाः^५, तत्राप्येकश्रुतिर्न भवति । सामवेदे

१. सौ०—स० ११ ॥

बा० प्रा०—“सामजपन्यूङ्खवर्जम् ॥”

(१ । १३१)

कात्यायनश्रौतसूत्रे—“एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ
यज्ञकर्मणि सुब्रह्मण्यासामजपन्यूङ्खयाजमानव-
र्जम् ॥” (१ । १६४)

२. तद्यथा—“यज्ञो वै वसुः ।” (बा० १ । २)

“यज्ञो वै महिमा ।” (बा० ११ । ६)

“ब्रह्म हि यज्ञः ।” (श० ब्रा० ५ । ३ । २ । ४)

“सैषा त्रयी विद्या यज्ञः ।” (श० ब्रा० १ । १ ।

४ । ३)

“अयं वाक् यज्ञो योऽयं (वायुः) पवते ।”

(शै० ब्रा० ३ । १६ । १) [३३ ॥ ...]

“यज्ञ एव सविता ।” (गो० ब्रा०—पू० १ ।

५५ पुरुषो वै यज्ञः ।” (कौ० ब्रा० १७ । ७)

३. ऋ०—८ । ४४ । १ ॥

दा०—३ । १ ॥ १२ । ३० ॥

सौ०—४ । २ । ३ । १ ॥

सै०—२ । ७ । १० ॥

का०—७ । १२ ॥

४. वा०—१५ । ५४ ॥

का०—१८ । १८ ॥

५. आश्वलायनश्रौतसूत्रे (७ । ११) न्यू (‘न्यु’
वा) ङ्खा व्याख्याताः—“चतुर्थेऽहनि यत्
प्रतरनुवाकं प्रतिपद्यर्च्योर्न्यूङ्खः ॥ १ ॥ द्वितीयं
स्वरमोकारत्रिमात्रमुदात्तं त्रिः ॥ २ ॥ तस्य तस्य
चोपरिष्ठादपरिमितान् पञ्च बाधौकराननुदात्तान्
॥ ३ ॥ उत्तमस्य तु त्रीन् ॥ ४ ॥ पूर्वमक्षरं नि-
हन्यते न्यूङ्ख्यमाने ॥ ५ ॥ तदपि जिदर्शना-
योदाहरिष्यामः ॥ ६ ॥ आपो३ उ उ उ उ उ
ओ ३ उ उ उ उ उ ओ ३ उ उ उ उ उ च स्थः
स्वपस्य पत्नीः सरस्वती तद् गृणते । वयोधो३-
सापो३ ॥ ७ ॥” (वाचस्पत्याभिधानादुद्धृतम्)

कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्ये (१ । १६४) कर्कः—

“न्यूङ्खास्तु पृष्ठये षडहे होतृवेदे प्रसिद्धा ओ-
कारा द्वादश—‘पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं
तो ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ
ओ ओ ३ सुषाव इर्यश्वादिः ॥’ इत्यादयः ॥”

तु काव्येकश्रुतिर्न भवति, किन्तुदात्तानुदात्तस्वरितभेदेनैवोच्चारणं सर्वत्र क्रियते ।
स्वरत्रयविभागेनैव वेदमन्त्राः सर्वत्र पठ्यन्ते । अतः कारणात् सर्वत्र विभागप्र-
योगे प्राप्त एकश्रुतिर्विधीयते ॥ ३४ ॥

‘यज्ञकर्मणि’ यज्ञकर्म अर्थात् होम करने में जो मंत्र पढ़ते हैं, वहां उदात्त, अनुदात्त और
स्वरित इन की ‘एकश्रुति’ एकश्रुति हो, अर्थात् पृथक् २ श्रवण न हों । परन्तु ‘अजप-
न्यूङ्ख-सामसु’ जप करने; न्यूङ्ख—किसी [= विशेष] प्रकार के वेद के स्तोत्रों का नाम है,
वहां, तथा सामवेद, ये तीन जगह एकश्रुति न हो, किन्तु तीनों स्वर पृथक् २ बोले जायं ॥

‘समित्राग्निं’ ॥’ इत्यादि मन्त्र यज्ञ में स्वरभेद के बिना ही पढ़े जाते हैं । तीनों स्वर के
विभाग से वेदमन्त्रों का पाठ होता है । इस कारण यज्ञकर्म में भी पृथक् २ उच्चारण प्राप्त
था । इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है ॥ ३४ ॥

उच्चैस्तरां वा वषट्कारः^१ ॥ ३५ ॥

‘यज्ञकर्मणि’ इत्यनुवर्तते । यज्ञकर्मणि वषट्कार^२ उच्चैस्तरां = उदात्ततरो
विकल्पेन भवति । पक्ष एकश्रुतिः । ‘वषट्कारैः सरस्वती । वषट्कारैः सर-
स्वती^३ ।’ विकल्पेनोदात्ततरः स्वरो भवति ॥

‘यज्ञकर्मणि’ इति किम् । वषट्कारैः सरस्वती^४ । अत्र मा भूत् ॥ ३५ ॥

‘यज्ञकर्मणि’ यज्ञकर्म में ‘वषट्कारः’ वषट्कार जो शब्द है, वह उच्चैस्तराम् उदा-
त्ततर विकल्प करके हो । पक्ष में एकश्रुति स्वर होता है ॥ ३५ ॥

विभाषा छन्दसि^५ ॥ ३६ ॥

‘यज्ञकर्मणि’ इति निवृत्तम् । ‘वा’ इत्यनुवर्त्तमाने पुनर्विभाषा-ग्रहणं ‘यज्ञ-
कर्मणि’ इति निवृत्त्यर्थम् । वेदमन्त्राणां सामान्येनोच्चारणे कर्त्तव्ये उदात्तानुदात्तस्व-
रितानां विभाषा एकश्रुतिः स्वरो भवति । पक्षे यथोक्ताः स्वरा भवन्ति । ‘अग्निमीळे
पुरोहितम् । अग्निमीळे पुरोहितम्^६ । इषे त्वोर्जे त्वा । इषे त्वोर्जे त्वा^७ । शन्नो
देवीरभिष्टये । शन्नो देवीरभिष्टये^८ । ऋग्यजुरथर्वणां त्रयाणां वेदानामिमानि क्रमे-

१. देखो पृष्ठ १२४ टिप्पण ३ ॥

२. सौ०—सू० १२ ॥

३. जयादित्यस्तु—“वषट्-शब्देनात्र वौषट्-शब्दो
लक्ष्यते । ‘वौषट्’ इत्यस्यैवेदं स्वरविधानम् ॥”
एवमेवान्येऽपि ॥

४. वा०—२१ । ५३ ॥

सौ०—३ । ११ । ५ ॥

५. सौ०—सू० १३ ॥

६. ऋ०—१ । १ । १ ॥

अपि च सामवेदीयारण्यसंहितायां (३ । ४)

अन्यासु च तैत्तिरीयकाठकादिसंहितासु ॥

७. वा०—१ । १ ॥ अन्यत्र च ॥

८. ऋ०—१ । ६ । १ ॥ अन्यत्र च ॥

णोदाहरणानि । सामवेदे तु विशेषबाधकप्रतिषेधस्य विद्यमानत्वाद् ‘०अजपन्युङ्ख्व-
सामसु’ ॥’ इत्येकश्रुतिर्न भवति । पूर्वतूदाहरणेषु येषां वर्णानामुपरि स्वरलिङ्गानि
न सन्ति, तान्युदाहरणान्येकश्रुतेः, अन्यानि यथोक्तानि । जयादित्येनैतन्नावबुद्धं,
सामवेदे प्रतिषेधो बाधकोऽस्तीति । कथम् । तेन चतुर्णां वेदानां विकल्पेन मन्त्रा
उदाहृताः । सामवेदे तु नित्यं त्रैस्वर्येणैवोच्चारणं भवतीति ॥ ३६ ॥

‘छन्दसि’ वेद मन्त्रों के सामान्य उच्चारण करने में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को
‘एकश्रुति’ एकश्रुति स्वर ‘विभाषा’ विकल्प करके रहता है । जहां एकश्रुति स्वर होता है,
वहां उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का भिन्न २ उच्चारण नहीं होता, और एक पक्ष में सब का
भिन्न २ उच्चारण होता है । सो ये दो पक्ष तीन वेदों में घटते हैं । सामवेद में सर्वत्र तीनों स्वर
भिन्न २ उच्चारण किये जाते हैं, क्योंकि ‘यज्ञकर्म’ ॥ इस सूत्र से सामवेद में एकश्रुति होने का
निषेध किया है । परन्तु जयादित्य पंडित ने यह बात नहीं जानी कि सामवेद में एकश्रुति
स्वर नहीं होता, क्योंकि उन्होंने ने इस सूत्र के विकल्प में चारों वेद के उदाहरण दिये हैं ॥ ३६ ॥

न सुब्रह्मण्यायां, स्वरितस्य तूदात्तः^३ ॥ ३७ ॥

‘यज्ञकर्मणि^० ॥’ ‘विभाषा छन्दसि^३ ॥’ इति सूत्रेण चैकश्रुतौ स्वरे प्राप्तेऽनेन
प्रतिषिध्यते । सुब्रह्मण्यायां निगदे^४ = व्याख्यानरूपे पाठे उदात्तानुदात्तस्वरितानामेक-
श्रुतिः स्वरो न भवति, किन्तु तत्र स्वरितस्योदात्तो भवति । शतपथब्राह्मणे तृतीय-
काण्डे तृतीयप्रपाठके प्रथमब्राह्मणस्य सप्तदशीं कण्डिकांमारभ्य विंशतिकण्डिका-
पर्यन्तं यो वेदमन्त्रस्य व्याख्यानरूपः पाठोऽस्ति, तस्य सुब्रह्मण्या-सञ्ज्ञाऽस्ति^५ ।

१. १ । २ । ३४ ॥

२. सौ०—सू० १४ ॥

का० औ०—१ । १६४ ॥

३. १ । २ । ३६ ॥

४. भट्टोजिदीक्षितादिभिस्तु निगद-शब्दो “परप्र-
त्यायनार्थमुच्चैः पठ्यमानः पादबन्धरहितो यजु-
संस्त्रविशेषः ।” इत्येवमादिकं व्याख्यायते ॥ (वृ-
त्त्यन्तामत्र शब्दकौस्तुभ-पदमञ्जरी-न्यासादयः)

५. अयं स ब्राह्मणपाठः—“अथ सुब्रह्मण्यामाह्वय-
ति । यथा येभ्यः पठ्यन्त स्यात् तान् ब्रूयादित्येह
वः पक्तास्मिति, एवमेवेतद् देवेभ्यो यज्ञं निवेदय-
ति—सुब्रह्मण्यो^३ सुब्रह्मण्यो^३मिति । ब्रह्म
हि देवान् प्रच्यावयति । त्रिष्टुप् आह त्रिवृद्धि
यज्ञः ॥ १७ ॥ इन्द्रागच्छेति । इन्द्रो वै यज्ञस्य

देवता, तस्मादाहेन्द्रागच्छेति, हरिच आगच्छ-
मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने । गौरावस्कान्दि-
न्नहस्यायै जारेति तथा न्येवास्य चरणानि, तैरे-
वैनमेतत् प्रमुमोदयिषति ॥ १८ ॥ कौशिक ब्रा-

ह्मण्य गौतम ब्रुवाणेति । शश्वदैतदारुणिनाधुनो-
पज्ञातं यद् गौतम ब्रुवाणेति स यदि कामयेत
ब्रूयादेतद् येषु कामयेतापि नाद्रियेतेत्येह सुत्यामिति
यावदहे सुत्या भवति ॥ १९ ॥ देवा ब्रह्मण्या
आगच्छेति । तद् देवैश्च ब्राह्मणैश्चाह, एतै-
र्ब्रह्मणैश्चैर्यो भवति यद् देवैश्च ब्राह्मणैश्च ॥ २० ॥”

६. मन्त्रस्यापि सञ्ज्ञा “सुब्रह्मण्या” इत्येव ॥

(इत्यन्ताम्—ये० ब्रा० ६ । ३ । १ ॥

कौ० ब्रा० २७ । ६ ॥ श० ब्रा० ४ । ६ ।

६ । २५ ॥ ...)

तत्र सुब्रह्मण्यायां सूत्रैः प्राप्तस्य मूलमन्त्रशब्देषु स्वरितस्य स्थाने उदात्त आदेशो भवति ॥

भा०—सुब्रह्मण्यायामोकार उदात्तो भवति । ‘सुब्रह्मण्याम्’ ।
आकार आख्याते परादिश्चोदात्तो भवति । ‘इन्द्र आगच्छ ।’
‘हरिर्व आगच्छ ।’ वाक्यादौ च द्वेद्वे उदात्ते भवतः । ‘इन्द्र
आगच्छ । हरिर्व आगच्छ ।’

मधवन्वर्जम् ॥ आगच्छ मधवन् । सुत्यापराणामन्त उदात्तो
भवति । ‘द्व्यहे सुत्याम् । व्यहे सुत्याम् ।’

‘असौ’ इत्यन्त उदात्तो भवति । गार्ग्यो यजते । ‘अमुष्य’
इत्यन्त उदात्तो भवति । दाक्षेः पिता यजते । स्यान्तस्योपो-
त्तममुदात्तं भवति । [अन्त्यश्च] गार्ग्यस्य पिता यजते । वा
नामधेयस्य स्यान्तस्योपोत्तममुदात्तं भवति । देवदत्तस्य पिता
यजते ॥”

‘सुब्रह्मण्यायाम्’ इत्यारभ्य ‘व्यहे सुत्याम्’ इत्यन्तः पाठः सूत्रस्यैव व्याख्यानं
नापूर्वम् । अग्रे तु सूत्रेण न सिध्यति, तदपूर्वमेव विधीयते । सुब्रह्मन्-शब्दात् सा-
ध्वर्थे यत् । ‘तित् स्वरितम् ॥’ [इति] सुब्रह्मण्य-शब्दः स्वरितान्तः । वर्ज्यमानस्व-
रेण पूर्वे त्रयो वर्णा अनुदात्ताः । सुब्रह्मण्य-शब्दाद्वापि कृतेऽनुदात्तेन टाप आकारेण
सह सुब्रह्मण्य-शब्दस्यैकादेशः सिद्धत्वात् स्वरित एव । एवं सुब्रह्मण्या-शब्दः स्व-
रितान्तः । तस्मादोमि परे ‘ओमाडोश्च ॥’ इत्युदात्तस्वरितयोः पररूप एकादेशः
स्वरितः । एवमोकारः स्वरितः, तस्याऽनेनोदात्त आदिश्यते । सुब्रह्मण्याम् ।
इन्द्र आगच्छ । इन्द्र-शब्द ‘आमन्त्रितस्य च ॥’ इत्याद्युदात्तः । तस्य द्वितीयो
वर्णो वर्ज्यमानस्वरेणानुदात्तः । तस्य ‘उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः ॥’ इति स्व-

१. अग्विशिष्टान्यत्र स्वरलिङ्गानि ॥

द्वित्वनिश्चयः । श्वः शब्दस्थाने ‘द्व्यहे’ इत्याचूहः ॥”

२. वार्त्तिकमिदम् ॥

५. कोशेऽत्र—“आ० १ [व्या०]” इत्युद्धरण-

३. अत्र नागेशः—“श्वः सुत्यामागच्छ मधवन्
इति वाक्यम् ।” (अपि च काशिकाशब्दकौ-
स्तुभादयः)

स्थलम् ॥

६. ६ । १ । १८५ ॥

७. ६ । १ । १५५ ॥

४. नागेशोऽत्र—“सुत्याशब्दः (परो येभ्यस्तेषां
सुत्यापराणाम्) इति सर्वनामकार्याभावाद् बहुव्री-

८. ६ । १ । ११८ ॥

९. ८ । ४ । ६६ ॥

रितः । तस्य स्वरितस्यानेनोदात्तविधानम् । 'आगच्छ' इत्यत्र 'उपसर्गाश्चाद्युदात्ता अभि-वर्जम्' ॥' इति प्रातिशाख्यसूत्रेणाकार उदात्तः । तस्मात् परं 'गच्छ' इति तिङन्तं निहन्यते । तत्र 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' ॥' इति गकारः स्वरितः । तस्य स्वरितस्य गकारस्यानेन सूत्रेणोदात्तो विधीयते । एवं चत्वारो वर्णा उदात्ताः, छकार एकोऽनुदात्तः । एवं 'हरिच आगच्छ' इत्यत्र पूर्वैरेव क्रमेण पूर्वोत्तरपदयोर्द्वौ द्वावुदात्तौ वकारछकारावनुदात्तौ च स्तः । आगच्छ मधवन् । अत्र पूर्ववदाकारगकारावनुदात्तौ । 'आमन्त्रितस्य च' ॥' इत्याष्टमिकेन मधवन्-शब्दस्य निघातः । 'द्वयहे सुत्या, त्र्यहे सुत्याम्' इति द्वयह-त्र्यह-शब्दौ टजन्तत्वादन्तोदात्तौ । सुत्या-शब्दोऽन्तोदात्तः । 'सञ्ज्ञायां समज०' ॥ इति सूत्रेणोदात्तानुवृत्त्या क्यबुदात्तः । 'सु' इत्यनुदात्तः, तस्य 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' ॥' इति स्वरितः । तस्यानेन सूत्रेणोदात्तादेशः । एवमन्ते त्रयो वर्णा उदात्ताः, आद्योऽनुदात्तः ॥

'असौ' इति प्रथमैकवचनस्योपलक्षणम् । गार्ग्यो यजते । यवन्तस्याद्युदात्ते प्राप्तेऽन्तोदात्तो विधीयते । 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' ॥' इति यकारस्य स्वरितः, तस्यानेनोदात्तः । 'अमुष्य' इति पष्ठयेकवचनस्योपलक्षणम् । दाक्षेः पिता यजते । दाक्षि-शब्द इवन्तः । वित्त्वादाद्युदात्ते प्राप्तेऽन्तोदात्तविधानम् । पितृ-शब्दस्टृजन्तत्वादन्तोदात्तः । तत्राद्यक्षरस्य 'पि' इत्यस्योदात्तात् परस्यानुदात्तस्य स्वरितः, ततोऽनेनोदात्तः । पश्चाद् यकारस्य स्वरितो भूत्योदात्तः । एवमादावेकोऽनुदात्तः, मध्ये चत्वारो वर्णा उदात्ताः, अन्ते द्वावनुदात्तौ । गार्ग्यस्य पिता यजते । उपोत्तमं [अन्त्यात् पूर्वतनं] तृतीयवर्णादिकमुच्यते । तत्र स्यान्तस्यान्तोदात्तत्वात् पूर्ववद् गत्या मध्ये पञ्च उदात्ताः, आद्यन्तयोरेको द्वौ चानुदात्तौ । नामधेये विकल्पेनोपोत्तममुदात्तं भवति । देवदत्तस्य पिता यजते । देवदत्तस्य पिता यजते । एवमिदं सूत्रं बहुविषयकं भवतीति ॥ ३७ ॥

'सुब्रह्मण्यायाम्' वहां [अर्थात् सुब्रह्मण्या निगद में] मूल मन्त्र के शब्दों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को जो 'एकश्रुति' एकश्रुति स्वर प्राप्त है, सो 'न' न हो, 'तु' किन्तु 'स्वरितस्य' स्वरित के स्थान में 'उदात्तः' उदात्त आदेश हो जाय । पूर्व सूत्रों से जो एकश्रुति स्वर प्राप्त था, उस का इस सूत्र से निषेध किया है । शतपथ ब्राह्मण में तृतीय कांड तृतीय प्रपाठक

१. मृग्यमिदं सूत्रम् । ऋग्-शुक्लयजुः-तैत्तिरीय-

२. ८।४।६६॥

अथर्वप्रातिशाख्येषु चतुरध्यायिकायां वा न कचि-

३. ८।१।१६॥

दिदमुपलभ्यते ॥

४. ३।३।६६॥

के प्रथम ब्राह्मण में सत्रहवीं कण्डिका से लेके बीस कण्डिका पर्यन्त जो पाठ अर्थात् वेद मन्त्रों के शब्दों का व्याख्यान है, वह सुब्रह्मण्या नाम से लिया है। सुब्रह्मन्-शब्द से तद्धित में यत्-प्रत्यय होता है। वह 'तित् स्वरितम्' ॥' इस सूत्र से स्वरित हो जाता है। उस स्वरित और टाप्-प्रत्यय के अनुदात्त आकार का एकादेश होके सुब्रह्मण्या-शब्द स्वरितान्त होता है। उस का उदात्त ओकार के साथ एकादेश होके स्वरित ही बना रहता है, फिर इस सूत्र से उस स्वरित को उदात्त हो जाता है। इसी प्रकार 'इन्द्र आगच्छ । हरिश्च आगच्छ' इत्यादि शब्दों में स्वरित के स्थान में उदात्त होता और एकश्रुति का निषेध होता है। 'गार्ग्यो यजते' इत्यादि प्रयोगों में [जो] सूत्र से सिद्ध नहीं होती, सो बात इन वार्त्तिकों से विधान की है कि गार्ग्य-शब्द में आयुदात्त स्वर प्राप्त था, सो इस वार्त्तिक से अन्तोदात्त विधान किया है। इस प्रकार सूत्र का विषय बहुत है, थोड़ा सा लिख दिया ॥ ३७ ॥

देवब्रह्मणोरनुदात्तः ॥ ३८ ॥

देवब्रह्मणोः । ६ । २ । अनुदात्तः । १ । १ । 'न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य' इत्यनुवर्त्तते । ['एकश्रुति' इति च ।] पूर्वोक्तायां सुब्रह्मण्यायामुदात्तानुदात्तस्वरितानां देव-ब्रह्मन्-शब्दयोः एकश्रुतिर्न भवति, किन्तु लक्षणप्राप्तस्य स्वरितस्यानुदात्तादेशो भवति । 'न सुब्रह्मण्यायां, स्वरितस्य तूदात्तः' ॥' इति स्वरितस्योदात्ते प्राप्तेऽनुदात्तो विधीयते ॥

भा०— देवब्रह्मणोरनुदात्तत्वमेक इच्छन्ति । देवा ब्रह्माणः । देवा ब्रह्माणः ॥*

अत्र 'एक इच्छन्ति' इति वचनाद्विभाषाऽनुदात्तत्वं विज्ञेयम् । देव-ब्रह्मन्-शब्दावा मन्त्रितौ । तेन 'विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम्' ॥' इति विशेषवचन आमन्त्रिते ब्रह्मणि शब्दे परे पूर्वस्यामन्त्रितस्य विद्यमानत्वं विकल्पेन भवति । अविद्यमानपक्षे आष्टमिकस्यामन्त्रितस्याप्रवृत्तिः, तदा द्वयोः पदयोः षाष्ठिकेन 'आमन्त्रितस्य च' ॥' इत्यनेनाद्युदात्तत्वम् । शेषाणां 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' ॥' इति स्वरिते कृते स्वरितस्यानेन सूत्रेणानुदात्तः । विद्यमानवत्पक्षे तु पूर्वस्यामन्त्रितस्य विद्यमानत्वादाष्टमिकेन 'आमन्त्रितस्य च' ॥' इति सूत्रेणोत्तरपदस्य निघातः, पूर्वपदस्य

१. ६ । १ । १८५ ॥

५. ८ । १ । ७४ ॥

२. सौ०—सू० २० ॥

६. ६ । १ । १६८ ॥

३. १ । २ । ३७ ॥

७. ८ । ४ । ६६ ॥

४. कोशेऽत्र—“आ० १ [व्या०]” इत्युद्धरण-

८. ८ । १ । १६ ॥

स्थलम् ॥

षाष्ठिकेनाद्युदात्तत्वम् । पश्चात् 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' ॥' इति स्वरितः ।
तस्य पूर्वेषां उदात्तत्वम् ॥ ३८ ॥

'सुब्रह्मण्ययाम्' सुब्रह्मण्या व्याख्यान के बीच में जो [मूलमन्त्र में] 'देवब्रह्मणोः'
देव- और ब्रह्मन्-शब्द हैं, उन में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को 'एकश्रुति' एकश्रुति स्वर
'न' न हो, 'तु' किन्तु उन दोनों शब्दों में 'स्वरितस्य' स्वरित के स्थान में 'अनुदात्तः'
अनुदात्त हो जाय । पूर्व सूत्र से एकश्रुति स्वर का निषेध होके स्वरित के स्थान में उदात्त पाता
था, उस का बाधक यह सूत्र है ॥

सहाभाष्य के व्याख्यान से इस सूत्र में विकल्प करके स्वरित को अनुदात्त होता है ।
सो जिस पद में स्वरित को अनुदात्त होता है, वहां 'देवा ब्रह्मणा' ऐसा प्रयोग बनता है,
और जहां स्वरित को अनुदात्त नहीं होता, वहां पूर्व सूत्र से स्वरित के स्थान में उदात्त हो
जाता है ॥ ३८ ॥

स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम् ॥ ३९ ॥

['एकश्रुति' इत्यनुवर्तते ।] स्वरितात् । ५ । १ । संहितायाम् । ७ । १ ।

अनुदात्तानाम् । ६ । ३ ॥

भा०—एकशेषनिर्देशोऽयम् । अनुदात्तस्य चानुदात्तयोश्चानु-
दात्तानां च = अनुदात्तानामिति ॥^३

अनेनैतद्विज्ञायते—[संहितापाठे] स्वरितात् परस्य एकस्यानुदात्तस्य, स्वरितात्
परयोर्द्वयोरनुदात्तयोः, स्वरितात् परेषां बहूनामनुदात्तानां चैकश्रुतिः स्वरः भवति ।
क्रमेणोदाहरणानि—'अग्निमीळे पुरोहितम्' । 'अत्रान्तोदात्ताद् अग्नि-शब्दात् पर-
स्याः 'ईळे' इति क्रियाया निघाते कृते 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' ॥' इति ईकारस्य
स्वरितः । तस्मादीकारात् स्वरितात् परस्य 'ळे' इत्येकस्यानुदात्तस्यैकश्रुतिः स्वरः
विधीयते । 'होतारं रत्नधातमम्' । 'अत्र होतृ-शब्दस्तृजन्तत्वादाद्युदात्तः । उदात्ता-
दायङ्गारात् परस्य द्वितीयस्य पूर्ववत् स्वरितः । तस्मात् स्वरितात् परयोर्द्वयो रेफयोरनेन
सूत्रेणैकश्रुतिः स्वरः । 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति' । 'इदं-शब्दोऽन्तोदात्तः ।
तस्मात् परस्य 'तेमयावेकवचनस्य' ॥' इति अस्मत्-शब्दस्य मे-आदेशोऽनुदात्तः ।
तस्योदात्तात् परस्य पूर्ववत् स्वरितः । तस्मात् स्वरितात् परेषां बहूनामामन्त्रित-
सञ्ज्ञकानां गङ्गे-प्रभृतीनामनेन सूत्रेणैकश्रुतिः स्वरः भवति ॥

१. ८ । ४ । ६६ ॥

४. ऋ०—१ । १ । १ ॥

२. सौ०—सू० २१ ॥

[स्थलम् ॥

५. ऋ०—१० । ७५ । ५ ॥

३. कोशेऽत्र—'आ० १ [व्या०]' इत्युद्धरण-

६. ८ । १ । २२ ॥

संहिता-ग्रहणं किमर्थम् । इमम् । मे । गङ्गे । यमुने । सरस्वति । अत्र सूत्रस्यास्य प्रवृत्तिर्न भवति पदानां पृथक्त्वात् ॥ ३६ ॥

‘स्वरितात्’ स्वरित से परे ‘संहितायाम्’ संहिता अर्थात् पदों को मिलाके पाठ करने में ‘अनुदात्तानाम्’ एक, दो और बहुत अनुदात्तों को भी पृथक् २ ‘एकश्रुति’ एकश्रुति स्वर होता है । इस सूत्र में अनुदात्त-शब्द का एकशेष हो गया है । जैसे एक, दो और बहुत अनुदात्तों को भी पृथक् २ कार्य होता है । ‘अग्निमी’^२ ‘के’^३ यहां स्वरित ‘मी’ से परे ‘के’ [इस] एक अनुदात्त वर्ण को एकश्रुति स्वर हुआ है । ‘होतांरं रत्नधातमम्’^३ । यहां स्वरित ‘ता’ अक्षर से परे दो रेफ अनुदात्त अक्षरों को इस सूत्र से एकश्रुति स्वर हुआ है । ‘इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति’^१ । यहां ‘मे’ स्वरित अक्षर है । उस से परे सब अनुदात्त हैं । उन को एकश्रुति स्वर इस सूत्र से हुआ है ॥

संहिता-ग्रहण इसलिये है कि ‘इमम् । मे । गङ्गे । यमुने । सरस्वति’^१ । यहां एकश्रुति स्वर न हो ॥ ३६ ॥

उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः^३ ॥ ४० ॥

[अनुदात्त-ग्रहणमनुवर्त्तते, ‘स्वरितात्’ इति च ।] उदात्तस्वरितपरस्य । ६ । १ । सन्नतरः । १ । १ । पूर्वैकश्रुतौ सत्यां विशेषविषयेऽनेन बाध्यते । उदात्तश्च स्वरितश्च = उदात्तस्वरितौ । उदात्तस्वरितौ परौ यस्मात्, तस्यानुदात्तस्य । स्वरितात् परस्य उदात्तस्वरितपरस्यानुदात्तस्य सन्नतरोऽनुदात्ततरादेशो भवति, किन्त्वेकश्रुतिर्न भवतीति । ‘अग्निः पूर्वैभिर्ऋषिभिः’^५ । [अत्र] पूर्व-शब्द आद्युदात्तः, तत्र स्वरिताद् वकारात् परस्य भिसोऽनुदात्तस्य ऋषि-शब्द आद्युदात्ते पर एकश्रुतिः स्वरो न भवति । ‘वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्युसि’^६ । अत्र ‘द्यौः’ इत्युदात्तात् परो यो रेफः स्वरितः, तस्मात् परे त्रयो वर्णा अनुदात्ताः । पृथिवी-शब्दोऽन्तोदात्तः । तस्माद् ‘असि’ इत्यनुदात्ते शब्दे पर उदात्तस्य स्थाने यण्-आदेशो कृते ‘उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य’^७ । इत्युदात्तस्थाने यो यण् तस्मात् परस्यानुदात्तस्य स्वरित आदेशो भवति । तत्र स्वरितशिलष्टाद् रेफात् परेषामनुदात्तानां पूर्वेण सूत्रेणैकश्रुतौ ग्राप्तायां सत्यां ‘व्य’ इति स्वरिते परतः ‘थि’ इत्यनुदात्तस्यैकश्रुतिर्न भवति, किन्तु सन्नतर एव जायते ॥ ४० ॥

[इति स्वरसञ्ज्ञाः]

१. ऋ०—१० । ७५ । ५ ॥

४. ऋ०—१ । १ । २ ॥

२. ऋ०—१ । १ । १ ॥

५. वा०—१ । २ ॥

३. सौ०—सू० २२ ॥

६. न । २ । ४ ॥

‘उदात्तस्वरितपरस्य’ उदात्त और स्वरित जिस से परे हों, उस [‘स्वरितात्’ स्वरित से पर] अनुदात्त को ‘एकश्रुति’ एकश्रुति ‘न’ न हो, किन्तु ‘सन्नतरः’ अत्यन्त अनुदात्त हो जाय । पूर्व सूत्र से सामान्य विषय में एकश्रुति स्वर प्राप्त था, सो इस सूत्र से विशेष विषय में एकश्रुति स्वर का निषेध होता है । ‘पूर्वे’ भि ऋ णि मिः’ यहां पूर्व-शब्द आनुदात्त है । उस में वकार स्वरित है । उस से परे भिस्-विभक्ति को उदात्त ऋकार के परे [होते हुए भी] एकश्रुति स्वर पाता था, सो न हुआ, किन्तु उस को अनुदात्ततर हो गया । तथा ‘द्यौरसि पृथिव्यसि’ ।’ यहां पृथिवी-शब्द अन्तोदात्त है, और ‘द्यौ’ के आगे जो रेफ है, उस स्वरित [रेफ] से परे ‘सि पृ थि’ इन तीनों को एकश्रुति पाता है, सो ‘व्य’ [इस] स्वरित के आगे होने से उस को अनुदात्ततर आदेश हो जाता है ॥ ४० ॥

[यह स्वरसंज्ञाधिकार पूरा हुआ]

[अथ अपृक्त-संज्ञासूत्रम्]

अपृक्त एकाल् प्रत्ययः^१ ॥ ४१ ॥

अपृक्तः । १ । १ । एकाल् । १ । १ । प्रत्ययः । १ । १ । एकश्चासा-
वल्ल वर्यः, स चासौ प्रत्ययः । एकाल्प्रत्ययोऽपृक्त-संज्ञो भवति । अमध्नीत् ।
असेधीत् । अत्र ‘अस्तिसिचोऽपृक्ते’ ॥’ इत्यपृक्त-संज्ञके तिपस्तकारे परत
ईङ्-आगमो विधीयते ॥

‘एकाल्’ इति किम् । दर्विः^२ । जागृविः^३ । अत्र विन्-प्रत्ययः [क्विन्-
प्रत्ययश्च] अनेकाल् ॥

‘प्रत्ययः’ इति किम् । ‘सुराः’ इत्यत्र सुकः सकारस्यापृक्त-संज्ञा मा भूत् ।
सुरा-शब्दात् क्यचि सुकि सति नामधातोः क्विप् । आत्मनः सुरामिच्छति [इति]
सुरास्यति । सुरास्यतीति सुराः । अतो लोपः । ‘यस्य हलः’^४ ॥’ इति लोपे
‘हल्ङ्याभ्यः’^५ ॥’ इति सु-लोपो न भवति ॥

भा०—एवं तर्हि सिद्धे सति यदल्-ग्रहणे [क्रियमाणे] एक-
ग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः, अन्यत्र वर्य-ग्रहणे जाति-

१. वा०—१ । २ ॥

[(१ । १५१)

२. इत्यतां वा० प्रा०—“एकवर्यः पदमपृक्तम् ॥”

इत्यतां तै० प्रा०—“एकवर्यः पदमपृक्तः ॥”

(१ । ५४)

३. ७ । ३ । २६ ॥

४. “वृद्ध्यां विन् ॥” इत्युणादिसूत्रम् । (४ । ५३)

५. “जृशस्तृजागृभ्यः क्विन् ॥” इत्युणादिसूत्रम् ।
(४ । ५४)

६. ६ । ४ । ४६ ॥

७. ६ । १ । ६८ ॥

ग्रहणं भवतीति^१ । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । 'दम्भेर्हल्-
ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम्^२ ॥' इत्युक्तं, तदुपपन्नं भवति ॥^३

अत्र एक-ग्रहणज्ञापकेनेयं परिभाषा निस्सरति । 'हलन्ताच्च ॥' इति सूत्रे-
ऽयं विषयो लिखितः ॥ ४१ ॥

'एकाल्' एक अल् जो 'प्रत्ययः' प्रत्यय है, वह 'अपृक्तः' अपृक्त-संज्ञक हो, अर्थात् केवल एकवर्ण प्रत्यय की अपृक्त-संज्ञा होती है । असे-प्रीत् । यहां 'त्' इस वर्ण की अपृक्त-संज्ञा होने से ईद-आगम हुआ है ॥

एकाल्-ग्रहण इसलिये है कि 'दर्विः' यहां वि-प्रत्यय अनेकाल् है, उस की अपृक्त-संज्ञा न हुई ॥

प्रत्यय-ग्रहण इसलिये है कि 'सुराः' यहां सुक्-आगम के-एकाल् सकार का लोप 'हल्-
ङ् यावभ्यः०' ॥ [इस सूत्र] से न हो । नामधातु में सुरा-शब्द से क्यच् [होके] उस का त्रिप् के परे लोप हुआ । अनुबन्धों के अनेकान्त पक्ष में यह दोष है । अनुबन्धों के अनेकान्त होने में यह भी एक ज्ञापक है । क्-अनुबन्ध को एकान्त माने, तो सुक् का सकार है ॥

इस सूत्र में अल्-ग्रहण से सिद्ध था, फिर एक-शब्द के-ग्रहण से 'वर्णग्रहणे जातिग्रहणं भवति' ॥ यह परिभाषा निकली है कि एक वर्ण के ग्रहण में हल्जाति का ग्रहण होता है ॥ ४१ ॥

[अथ कर्मधारय-संज्ञासूत्रम्]

तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः ॥ ४२ ॥

तत्पुरुषः । १ । १ । समानाधिकरणः । १ । १ । कर्मधारयः । १ । १ ।
तत्पुरुषोऽयं समास-संज्ञाशब्दः । समानाधिकरणं यस्य, स समानाधिकरणस्त-
त्पुरुषः कर्मधारय-संज्ञो भवति । पाचकवृन्दारिका । 'पाचिका चासौ वृन्दारिका'
इति समानाधिकरणतत्पुरुषसमासे कृते कर्मधारय-संज्ञाश्रयणात् 'पुंवत् कर्मधारय-
जातीयदेशीयेषु' ॥ इति सूत्रेण पूर्वपदस्य पुंवद्भावः ॥

'तत्पुरुषः' इति किम् । पाचिकाभार्यः—पाचिका भार्या यस्य—इति बहुव्रीहौ
पुंवद्भावो न भवति ॥

१. पा०—सू० ११२ ॥

४. १ । २ । १० ॥

२. "हलन्ताच्च ॥" (१ । २ । १०) इति

५. ६ । १ । ६८ ॥

सूत्रव्याख्यान इदं वार्तिकम् ॥

६. ६ । ३ । ४२ ॥

३. कोशेऽत्र—'आ० १ [व्या०]' इत्युद्धरणस्थलम् ॥

‘समानाधिकरणः’ इति किम् । जीविकाप्राप्तः—प्राप्तो जीविकाम् । ‘प्राप्ताप-
न्ने च द्वितीयया’ ॥’ इति सूत्रेण तत्पुरुषः समासः । तत्र पुंवन् भवति ॥४२॥

‘समानाधिकरणः’ समानाधिकरण अर्थात् एक पदार्थ जनाने वाले दो शब्दों का जो
‘तत्पुरुषः’ तत्पुरुष समास है, उस की ‘कर्मधारयः’ कर्मधारय-सञ्ज्ञा होती है । पाचकवृ-
न्दारिका । यहां कर्मधारय-सञ्ज्ञा के होने से पूर्व पद स्त्रीलिङ्ग पाचिका-शब्द को पुंवद्भाव
हुआ है ॥

तत्पुरुष-ग्रहण इसलिये है कि ‘पाचिकाभार्यः’ यहां बहुव्रीहि समास में पुंवद्भाव नहीं
हुआ ॥

और समानाधिकरण-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि ‘जीविकाप्राप्तः’ यहां तत्पुरुष
समास में [पूर्वपदप्रकृतिस्वर आदि] कर्मधारय का कार्य नहीं हुआ ॥ ४२ ॥

[अथ उपसर्जन-सञ्ज्ञासूत्रे]

प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् ॥ ४३ ॥

प्रथमानिर्दिष्टम् । १ । १ । समासे । ७ । १ । उपसर्जनम् । १ । १ ।
प्रथमया विभक्त्या निर्दिष्टं = प्रथमानिर्दिष्टम् । समासे = समासविधायके सूत्रे । स-
मासविधानेषु सूत्रेषु प्रथमानिर्दिष्टं यत् पदं तदुपसर्जन-सञ्ज्ञं भवति । ‘कष्टश्रितः,
नरकश्रितः’ [इत्यत्र] ‘द्वितीया श्रितातीत०’ ॥’ इति द्वितीयान्तं प्रथमानि-
र्दिष्टं, तस्योपसर्जन-सञ्ज्ञत्वात् ‘उपसर्जनं पूर्वम्’ ॥’ इति पूर्वनिपातः ॥

भा०—‘उपसर्जनम्’ इति महतीयं सञ्ज्ञा क्रियते । तत्र महत्याः
सञ्ज्ञायाः करण एतत् प्रयोजनं, अन्वर्था सञ्ज्ञा यथा विज्ञा-
येत—अग्रधानमुपसर्जनमिति ॥४३॥

‘समासे’ समास विधान करने वाले सूत्रों में ‘प्रथमानिर्दिष्टम्’ प्रथमा विभक्ति से पढ़े
हुए जो शब्द हैं, उन की ‘उपसर्जनम्’ उपसर्जन-सञ्ज्ञा होता है । नरकश्रितः । यहां
नरक-शब्द की उपसर्जन-सञ्ज्ञा होने से प्रथम लिखते और उच्चारण करते हैं ॥

‘उपसर्जनम्’ यह बड़ी सञ्ज्ञा की है । उस का प्रयोजन यह है कि सार्थक सञ्ज्ञा समझी
जाय ॥ ४३ ॥

एकविभक्ति चापूर्वनिपाते ॥ ४४ ॥

‘समास उपसर्जनम्’ इत्यनुवर्तते । एकविभक्ति । १ । १ । च । [अ० ।]

१. २ । २ । ४ ॥

२. सा०—पृ० ५२ ॥

३. २ । १ । २४ ॥

४. २ । २ । ३० ॥

५. पाठान्तरम्—इति हि महती ॥

६. पाठान्तरम्—अन्वर्थसञ्ज्ञा ॥

७. अ० १ । पा० १ । आ० १ ॥

८. सा०—पृ० ५१ ॥

अपूर्वनिपाते । ७।१। एका विभक्तिर्यस्य तत् पदम् । 'अपूर्वनिपाते' इति पर्युदासः प्रतिषेधः । तेन पूर्वेण [सूत्रेण] प्राप्तोपसर्जन-सञ्ज्ञा न प्रतिषिध्यते । समासविधानेषु योगेषु एकविभक्ति यत् पदं, तदुपसर्जन-सञ्ज्ञं भवति, 'अपूर्वनिपाते' पूर्वनिपातं = पूर्वनिपातकार्यं विहाय । द्वयादिपदानां समासो भवति । तत्र यस्मिन् प्रद एकैव विभक्तिर्भवति, तदुपसर्जन-सञ्ज्ञं भवति । तत्सम्बन्धिनि सर्वा अपि भवन्तु । तद्यथा—अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया । मालामतिक्रान्तः = अतिमालः । खट्वामतिक्रान्तः = अतिखट्वः । मालामतिक्रान्तेन = अतिमालेन । मालामतिक्रान्ताय = अतिमालाय । मालामतिक्रान्ताद् = अतिमालात् । मालामतिक्रान्तस्य = अतिमालस्य । मालामतिक्रान्ते = अतिमाले । हे मालामतिक्रान्त = अतिमाल । अत्र नियतद्वितीया-विभक्त्यन्तो माला-शब्दः । सर्वविभक्त्यन्तश्च क्रान्त-शब्दः । तत्र माला-शब्दस्योपसर्जन-सञ्ज्ञाकरणात् 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' ॥' इत्युपसर्जनस्य स्त्रीप्रत्ययान्तस्य माला-शब्दस्य ह्रस्वो भवति ॥

'अपूर्वनिपाते' इति किमर्थम् । माला-शब्दस्य पूर्वनिपातो मा भूत् ॥ ४४ ॥

समास दो आदि [अर्थात् दो वा दो से अधिक] पदों का होता है । 'अ' और उस समास के विषय में जिस पद में सात विभक्तियों में से कोई 'एकविभक्ति' एक विभक्ति नियम से हो, उस पद की 'उपसर्जनम्' उपसर्जन-सञ्ज्ञा हो, और उस पद के सम्बन्धी दूसरे पद में सब विभक्ति भी हों, परन्तु जिस नियतविभक्ति पद की उपसर्जन-सञ्ज्ञा है, वह 'अपूर्वनिपाते' पूर्व न हो । जैसे—अतिमालः । यहां माला-शब्द की उपसर्जन-सञ्ज्ञा के होने से उस को ह्रस्व हो गया है ॥

इस सूत्र में अपूर्वनिपात-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि माला-शब्द समास करने में पूर्व न हो जाय ॥ ४४ ॥

[अथ प्रातिपदिक-सञ्ज्ञासूत्रे]

अर्थवद्धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥ ४५ ॥

अर्थवत् । १ । १ । अधातुः । १ । १ । अप्रत्ययः । १ । १ । प्रातिपदिकम् । १ । १ । अर्थोऽस्यास्तीति अर्थवत् । नित्ययोगे मतुप्-प्रत्ययः । शब्दार्थसम्बन्धा नित्याः । 'अधातुरप्रत्ययः' इति पर्युदासः प्रतिषेधः । अर्थवच्छब्दरूपं प्रातिपदिक-सञ्ज्ञं भवति धातुप्रत्ययौ वर्जयित्वा । डित्थः । साव-

धातुकम् । आर्धधातुकम् । कुण्डम् । काण्डम् । धनम् । वनम् । अत्र अर्थवतः प्रातिपदिक-सञ्ज्ञत्वात् स्वाद्युत्पत्तिः ॥

‘अर्थवत्’ इति किमर्थम् । ‘धनं, वनम्’ इति पृथक् पृथक् वर्णानां प्रातिपदिक-सञ्ज्ञायां सत्यां केवलस्य नकारस्यापि प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा स्यात् । तत्र ‘न-लोपः प्रातिपदिकान्तस्य’ ॥’ इति न-लोपः प्रसज्येत । एतेषां वर्णानां समुदाया अर्थवन्तः, अवयवा अनर्थकाः ॥

‘अधातुः’ इति किमर्थम् । ‘अहन् वृत्रं वृत्रतरम्’ । अत्र ‘अहन्’ इति धात्वन्तस्य यदि प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा स्यात्, तर्हि ‘न-लोपः प्रातिपदिकान्तस्य’ ॥’ इति न-लोपः प्राप्नोति ॥

‘अप्रत्ययः’ इति किमर्थम् । काण्डे । कुड्ये । यद्यत्र प्रत्ययान्तस्य प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा स्यात्, तर्हि ‘ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य’ ॥’ इति ह्रस्वत्वं प्रसज्येत ॥ ४५ ॥

‘अर्थवत्’ अर्थवान् शब्दों की ‘प्रातिपदिकम्’ प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा है ‘अधातुः’ धात्वन्त और ‘अप्रत्ययः’ प्रत्ययान्त शब्दों को छोड़के । अर्थवान् शब्द में नित्ययोग अर्थ में मनुष्य-प्रत्यय होता अर्थात् शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है । इससे शब्द अर्थवान् कहाते हैं । ‘डित्थः । कपित्थः’ इत्यादि अर्थवान् शब्दों की प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होने से विभक्तिर्यो का उत्पन्न होना आदि कार्य सिद्ध होते हैं ॥

इस सूत्र में अर्थवान्-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि ‘धनं, वनम्’ इन शब्दों में एक एक वर्ण की पृथक् २ जा प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा हो, तो नकार का लोप पाता है, सो न हो ॥

अधातु-ग्रहण इसलिये है कि ‘अहन् वृत्रम्’ यहां अहन् क्रिया की जो प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा हो, तो नकार का लोप हो जाय ॥

और अप्रत्यय-ग्रहण इसलिये है कि ‘काण्डे, कुड्ये’ यहां जो प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा हो, तो इन शब्दों को ह्रस्व पाता है, सो न हो ॥ ४५ ॥

कृत्तद्धितसमासाश्च ॥ ४६ ॥

कृत्-तद्धित-समासाः । १ । ३ । च । अ० । कृच्च तद्धितश्च समासश्च ते । कृदन्तानां तद्धितप्रत्ययान्तानां समासस्य च प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा भवति । कृत्—कर्त्तव्यम् । हर्त्तव्यम् । कारकः । हारकः । कर्त्ता । हर्त्ता । तद्धितः—

१. ८ । २ । ७ ॥

२. अ०—१ । ३२ । ५ ॥

मे०—४ । १२ । ३ ॥

३. १ । २ । ४७ ॥

४. ना०—सू० ६ ॥

औपगवः । कापटवः । दाक्षिः । प्लाक्षिः । गार्ग्यः । वात्स्यः । समासः—कष्ट-
श्रितः । नरकश्रितः । शङ्कुलाखण्डः । यूपदारु । वृकभयम् । राजपुरुषः । अ-
क्षशौण्डः । अत्र सर्वत्र प्रातिपदिक-सञ्ज्ञाश्रयणात् स्वाद्युत्पत्तिः । पूर्वस्मिन्
सूत्रे 'अधातुरप्रत्ययः' इति पर्युदासप्रतिषेधात् कृत्तद्धितानामपि प्रातिपदिक-सञ्ज्ञायाः
प्रतिषेधः प्राप्तः । तदनेन विधीयते ॥

भा०—समास-ग्रहणं किमर्थम् । अर्थवत्समुदायानां समास-
ग्रहणं नियमार्थं भविष्यति ॥^१

समास एवार्थवतां समुदायानां प्रातिपदिक-सञ्ज्ञो भवति नान्य इति । अने-
नैतज्ज्ञातव्यं—अर्थवतां पदानां समुदायस्य = अर्थवतो वाक्यस्य प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा
भा भूत् । इदमेव समास-ग्रहणस्य प्रयोजनम् ॥ ४६ ॥

पूर्व सूत्र में धात्वन्त और प्रत्ययान्त शब्दों की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा का प्रतिषेध किया है,
इसलिये इस सूत्र में कृदन्त और तद्धितान्त का विधान किया है । 'च' और 'कृत्तद्धित-
समासाः' कृत्प्रत्ययान्त शब्द, तद्धितप्रत्ययान्त शब्द और समास के शब्द, ये सब 'प्रातिपदि-
कम्' प्रातिपदिक-सञ्ज्ञक हों । कर्त्तव्यम् । यहां कृदन्त की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा है । औपगवः ।
यहां तद्धितान्त की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा है और 'राजपुरुषः' यहां समास की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा
है । इस सब के [प्रातिपदिक] होने से विभक्ति उत्पन्न होती हैं ॥

इस सूत्र में समास-ग्रहण का यह प्रयोजन है कि अर्थवान् पदों के समुदाय की जो प्राति-
पदिक-सञ्ज्ञा हो, तो समास ही की हो, अर्थात् पदों का समुदाय जो अर्थवान् वाक्य हो, उस की
प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा न हो ॥ ४६ ॥

ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य ॥ ४७ ॥

ह्रस्वः । १ । १ । नपुंसके । ७ । १ । प्रातिपदिकस्य । ६ । १ । न-
पुंसकलिङ्गे वर्त्तमानस्याजन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वो भवति । 'अलोऽन्त्यस्य' ॥^२
इति सूत्रेणान्तादेशो विधीयते । 'अचश्च' ॥^३ इति परिभाषयाऽजुपलभ्यते । अ-
तिरि कुलम् । उपगु कुलम् । 'अतिरि' इति ऐकारस्य ह्रस्व इकारः । 'उपगु' इति
ओकारस्य ह्रस्व उकारो भवति ॥

'नपुंसके' इति किमर्थम् । ग्रामणीः । सेनानीः । अत्र ह्रस्वो न भवति ॥

१. भाष्ये तु "इति" इति पाठः ॥

चा० श०—"सुपि ह्रस्वः ॥" (२ । २ । ८४)

२. कोशेऽत्र—"आ० २ [व्या०]" इत्युद्ध-

४. १ । १ । ५१ ॥

रणस्थलम् ॥

५. १ । २ । २८ ॥

३. सा०—पृ० ३ ॥

प्रातिपदिक-ग्रहणं किमर्थम् । काण्डे । कुड्ये । अत्रापि प्रातिपदिक-भावो ह्रस्वत्वं न भवति ॥ ४७ ॥

‘नपुसंके’ नपुंसकलिंग में वर्तमान जो ‘अचः’ अजन्त ‘प्रातिपदिकस्य’ प्रातिपदिक, उस को ‘ह्रस्वः’ ह्रस्व हो । ‘अलोऽन्त्यस्य’ ॥’ इस परिभाषासूत्र से प्रातिपदिक के अन्त को ह्रस्व होता है । उपगु । यहां गो-शब्द के ओकार को उकार ह्रस्व हुआ है ॥

नपुंसक-ग्रहण इसलिये है कि ‘ग्रामणीः’ यहां ह्रस्व न हो ॥

तथा प्रातिपदिक-ग्रहण इसलिये है कि ‘काण्डे’ यहां अप्रातिपदिक को ह्रस्व न हो ॥ ४७ ॥

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य ॥ ४८ ॥

‘प्रातिपदिकस्य’ इत्यनुवर्तते, ‘ह्रस्वः’ इति च । गोस्त्रियोः । ६ । २ । उपस-
र्जनस्य । ६ । १ । गो-शब्दान्तस्योपसर्जनस्य प्रातिपदिकस्य स्त्रीप्रत्ययान्तस्योप-
सर्जनस्य प्रातिपदिकस्य च ह्रस्वादेशो भवति । चित्रगुः । शवलगुः । निष्कौशाम्बिः^३ ।
निर्वाराणसिः । चित्रा गावो यस्य, शवलगा गावो यस्य चेति विग्रहे कृतेऽन्यपदार्थ-
विवक्षायां गो-शब्दस्याप्रधानत्वादुपसर्जन-सञ्ज्ञा । तस्य ह्रस्व उकारो भवति ।
कौशाम्ब्या निर्गतः, वाराणस्या निर्गतश्चेति विग्रहे ‘निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्च-
म्याः^४ ।’ इति वार्तिकेन समासे कृते ‘एकविभक्ति चापूर्वनिपाते’ ॥’ इत्युपस-
र्जन-सञ्ज्ञा । तत ईकारस्य ह्रस्व इकार आदिश्यते ॥

१. १ । १ । ५१ ॥

२. सा०—पृ० ५२ ॥

चा० श०—“गोरप्रधानस्यान्त्यस्य ॥ ङादी-
नाम् ॥” (२ । २ । ८५, ८६)

३. सम्प्रति सर्वथा खण्डिता एषा नगरी “कोसम-
ग्राम” इति प्रसिद्धा यमुनानद्या वामतीरे प्रया-
गनगर्याः चतुर्विंशतिक्रोशदूरं प्राचीनशिलालेखैः
सचिता तिष्ठति । नातिचिरात् प्रागेव कोसम-
ग्रामात् पञ्चक्रोशदूरमवे मेओहरग्रामे विशीर्यदेव-
मन्दिरद्वारेऽभिलिखितः सं० १२४५ कालीनो लेख
उपलब्धः । तस्मादयं सिद्धेश्वरदेवमन्दिरः श्रीवा-
स्तव्यठवकुरेण महादेवग्रामे कौशाम्बीदेशे कारित
इति ज्ञायते ॥

शतपथब्राह्मणे (१२ । २ । २ । १३)

श्रूयत एकः कौशाम्बेयः (कौशाम्बीनगरवास्तव्य
इति हरिस्वामी) प्रोतिः ॥ (अपि च दृश्यतां गोप-
थब्राह्मणे १ । २ । २४)

पुरा इयं (चीनाक्षरेषु “किओ-शंग-मि”)

मुख्यद्वंशोद्भवस्योदयनस्य राजधानी आसीत् ।

यथाह्युक्तं बुद्धस्वामिना—

अस्ति वत्सेषु नगरी कौशाम्बी हृदयं भुवः ।

सन्निविष्टानुकालिन्दी तस्यामुदयनो नृपः ॥

(बृहत्कथाश्लोकसंग्रहे ४ । १४)

कथासरित्सागरे (१ । ३) वार्त्तिककारो वर-

रुचिः कौशाम्ब्यां जात इति प्रतिज्ञातं, परं भाष्य-

काररत्नाह—“प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः ।” (अ०

१ । पा० १ । आ० १) “दक्षिणापथे हि महा-

न्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते ।” (अ० १ ।

पा० १ । आ० ५)

४. भाष्ये “कुगातिप्रादयः ॥” (२ । २ । १८)

इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्याने सौनागव्याकरणसिद्ध-

मिदं वार्त्तिकम् ॥

५. १ । २ । ४४ ।

अस्मिन् सूत्रे स्त्री-शब्दे स्वरितस्य लिङ्गमस्ति । 'स्त्रियाम्' ॥' इत्यधिकारे स्त्री-शब्दः स्वरितोऽस्ति । तेन स्यधिकारे ये प्रत्ययाः, तेषामेव ह्रस्वो भवति । इह न भवति — अतितन्त्रीः । अतिलक्ष्मीः । अतिश्रीः । अत्रौणादिक ई-प्रत्ययः ॥

'उपसर्जनस्य' इति किमर्थम् । राजकुमारी — राज्ञः कुमारी । 'राजकुमारी' इति कुमारी-शब्दस्य प्रधानत्वादुपसर्जन-सञ्ज्ञैव न भवति ॥

वा०—ईयसो बहुव्रीहौ पुंवद्वचनम् ॥

बह्वचः श्रेयस्योऽस्य = बहुश्रेयसी । विद्यमानश्रेयसी ॥^३

अत्र सूत्रेण प्राप्तं ह्रस्वत्वं वार्तिकेन प्रतिषिध्यते । पुंवद्भाव एव [च] भवति ॥ ४८ ॥

'गोस्त्रियोः' गो-शब्दान्त और स्त्रीप्रत्ययान्त जो 'अचः' अजन्त 'उपसर्जनस्य' उपसर्जन-सञ्ज्ञक प्रातिपदिक है^४, उस को 'ह्रस्वः' ह्रस्व आदेश हो । चित्रगुः । यहां बहुव्रीहिसमास में अन्य पदार्थ की दृष्टि में गो-शब्द के अप्रधान होने से उस की उपसर्जन-सञ्ज्ञा होके ह्रस्व उकार हुआ है । निष्कौशाम्बिः । यहां कौशाम्बी-शब्द की नियतविभूति होने से उपसर्जन-सञ्ज्ञा होके ईकार को ह्रस्व इकार हुआ है ॥

इस सूत्र में स्त्री-शब्द पर स्वरित का चिह्न रक्खा गया है, क्योंकि स्यधिकार में जो प्रत्यय होते हैं, उन्हीं को ह्रस्व हो । अतिश्रीः । यहां श्री-शब्द उणादि का है, उस को ह्रस्व न हो ॥

और उपसर्जन-ग्रहण इसलिये है कि 'राजकुमारी' यहां कुमारी-शब्द प्रधान है, इससे उपसर्जन-सञ्ज्ञा भी नहीं ॥ ४८ ॥

लुक् तद्धितलुकि^५ ॥ ४९ ॥

स्त्री-शब्दः, 'उपसर्जनस्य' इति चानुवर्तते । लुक् । १ । १ । तद्धितलुकि । ७ । १ । तद्धितस्य लुक् = तद्धितलुक्, तस्मिन् । तद्धितलुकि सति स्त्रीप्रत्ययान्तस्योपसर्जनस्य लुग् भवति । 'अलोऽन्त्यस्य^६ ॥' इत्यन्त्यस्य [लुग्] विज्ञेयम् । पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य स्थालीपाकस्य = पञ्चेन्द्रः स्थालीपाकः । अत्र 'इन्द्रवरुण^७ ॥' इत्यादिना ङीष्, इन्द्र-शब्दस्यानुक् [च] । ततः पञ्चेन्द्राणी-शब्दात्

१. ४ । १ । ३ ॥

२. वृथयन्ताम्—“अवितृस्तुतन्त्रिभ्य ईः ॥ लक्षे-
मुट् च ॥ किव् वचिप्रच्छिञ्चि ॥” (क्रमेण
३ । १५८ ॥ ३ । १६० ॥ २ । ५७)

३. अ० १ । पा० २ । आ० २ ॥

४. कोश में इस प्रकार से है—“(गोस्त्रियोः)
गोशब्दान्त जो (अचः) अजन्त (उपसर्जनस्य)

उपसर्जन प्रातिपदिक और स्त्रीप्रत्ययान्त जो अ-
जन्त उपसर्जनसंज्ञक प्रातिपदिक है ।”

५. चा० श०—“लुगणादिलुस्यगोय्यादीनाम् ॥”

(२ । २ । ८७)

६. १ । १ । ५१ ॥

७. ४ । १ । ४६ ॥

‘साऽस्य देवता’ ॥’ इत्यण् । तस्य ‘द्विगोर्लुगनपत्ये’ ॥’ इति लुक् । तत्र लुकि सति ङीष् लुग् अनेन । ‘सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः ॥’ इत्यनया परिभाषयाऽऽनुकोऽभावः । विशाखायां जातो माणवकः = विशाखः । अनु-राधायां जातः = अनुराधः । अत्र जातार्थस्य प्रत्ययस्य लुकि सति ङी-प्रत्ययस्य दापो लुक् ॥

तद्धित-ग्रहणं किमर्थम् । इन्द्राण्याः कुलम् = इन्द्राणीकुलम् । अत्र षष्ठ्येक-वचनस्य लुक् ॥

‘लुकि’ इति किम् । गार्गीत्वम् ॥

‘उपसर्जनस्य’ इति किम् । अवन्ती । कुन्ती । ‘अवन्तीनां’ राज्ञी, कुन्तीनां^१ राज्ञी’ इत्यर्थे तद्धितस्य लुक्^२ । तत्रावन्तीनां प्राधान्येनोपसर्जनाभावः, अवन्त्या-दिदेशानां राज्यार्थप्रधानत्वात् ॥ ४९ ॥

‘तद्धितलुकि’ जिस प्रयोग में तद्धितप्रत्यय का लुक् हो, वहां ‘स्त्रियाः’ स्त्रीप्रत्ययान्त ‘प्रातिपदिकस्य’ प्रातिपदिक के शान्त्य का ‘लुक्’ लुक् हो जाय । पञ्चेन्द्रः । यहां अण्-प्रत्यय का लुक् हुआ है । उस के होने से [इस सूत्र से] ङीष्-प्रत्यय का लुक् हो गया ॥

तद्धित-ग्रहण इसलिये है कि ‘इन्द्राणीकुलम्’ यहां षष्ठी विभक्ति के एकवचन का लुक् हुआ है ॥

लुक्-ग्रहण इसलिये है कि ‘गार्गीत्वम्’ यहां किसी का लुक् नहीं हुआ ॥

और उपसर्जन-ग्रहण इसलिये है कि ‘अवन्ती’ यहां उपसर्जन-संज्ञा ही नहीं ॥ ४९ ॥

इद् गोण्याः^३ ॥ ५० ॥

‘तद्धितलुकि’ इत्यनुवर्तते । इत् । १ । १ । गोण्याः । ६ । १ । पूर्वेण लुकि प्राप्त इकारादेशो विधीयते । तद्धितलुकि सति गोणी-शब्दस्य इकारादेशो भवति । पञ्चभिः गोणीभिः क्रीतः = पञ्चगोणिः । दशगोणिः । अत्र क्रीतार्थे ‘अध्यर्द्धपूर्वद्विगोः’^४ ॥’ इति तद्धितस्य लुकि गोण्या इत्त्वम् ॥

१. ४।२।२४ ॥

२. ४।१।८८ ॥

३. = मालवदेशस्य । अवन्तीनामुज्जयिनी नाम राजधानी आसीत् ॥

४. कालकसंहितायाम्—‘ततः कुन्तयः पञ्चाला-द्यभीत्य जिनन्ति ।’^५ (२६।१६)

५. वृश्यतां—‘स्त्रियामवन्तिकुन्ति० ॥’ (४।२।

१७६) इति सूत्रम् ॥

६. चा० श०—‘लुगणादिलुक्प्रत्ययगोण्यादीनाम् ॥’

(२।२।८७)

७. ५।१।२८ ॥

‘गोण्या न ॥’ इति सूत्रे कृते लुङ्निषेधे ह्रस्वत्वं भविष्यति, पुनरिद्-ग्रहणस्य पतत्. प्रयोजनम् — गोणी-शब्दादन्यत्रापीत्वं यथा स्यात् । पञ्चभिः सूचीभिः क्रीतः = पञ्चसूचिः । दशसूचिः ॥ ५० ॥

पूर्व सूत्र से लुक् प्राप्त था, तब इद्-विधान किया है । ‘तद्धितलुकि’ जहां तद्धितप्रत्यय का लुक् हो, वहां ‘गोण्याः’ गोणी-शब्द को ‘इत्’ इकारादेश हो जाय । पञ्चगोणिः । यहां क्रीतार्थ में तद्धितप्रत्यय का लुक् हुआ है । फिर गोणी-शब्द को इकारादेश हो गया ॥

(प्र०) गोणी-शब्द के स्त्रीप्रत्यय के लुक् का निषेध कर देते और पूर्व [सूत्र] से ह्रस्व[शब्द] की अनुवृत्ति करके गोणी-शब्द को ह्रस्व हो जाता, फिर इस सूत्र में इकारादेश-ग्रहण किसलिये है । (उ०) इद्-ग्रहण इसलिये है कि ‘पञ्चसूचिः’ इत्यादि अन्य शब्दों को भी इकारादेश हो जाय ॥ ५० ॥

लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने ॥ ५१ ॥

तद्धित-ग्रहणमनुवर्तते । लुपि । ७ । १ । युक्तवत् । अ० । व्यक्तिवचने । १ । २ । तद्धितप्रत्ययस्य लुपि सति व्यक्तिवचने = लिङ्गसङ्ख्ये युक्तवत् = पूर्ववद् भवतः, अर्थात् प्रत्ययोत्पत्तेः पूर्व ये लिङ्गसङ्ख्ये वर्तन्ते, ते पश्चाल्लुप्यपि भवतः । शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः = शिरीषाः । कटुवदर्या अदूरभवो ग्रामः = कटुवदरी^१ । पञ्चालानां निवासो जनपदः = पञ्चालाः । शिरीष-पञ्चाल-शब्दौ पूर्व पुंलिङ्गौ बहुवचनौ, पश्चादपि तथैव भवतः । कटुवदरी-शब्दः स्त्रीलिङ्ग एकवचनश्च, लुप्यपि तथैव भवति ॥

‘लुपि’ इति किमर्थम् । लवणेन संस्कृतः सूपः = लवणः । लवणा यवागूः । लवणं शाकम् । अत्र संस्कृतार्थस्य प्रत्ययस्य लुकि^३ व्यक्तिवचने युक्तवत् भवतः ॥

‘व्यक्तिवचने’ इति किमर्थम् । शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः, तस्य वनं = शिरीषवनम् । यद्यत्र वनस्पतिवाचिनः शिरीष-शब्दस्य सामान्येन युक्तवत्त्वं स्यात्, तर्हि प्रत्ययस्य लुपि सत्यपि प्रत्ययार्थे वनस्पतिवाचिनः शिरीष-शब्दस्य सम्प्रत्ययः स्यात् । तत्र ‘विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः’^४ ॥’ इति णत्वं प्रसज्येत । तत्र भवति ॥ ५१ ॥

१. ‘युक्तः (प्रकृतिभूतः शब्दः), व्यक्तिः, वचनम्’ इति पूर्वाचार्यसंज्ञाः ॥

(श्लो० २७)

२. अपि च वामनीयलिङ्गानुशासने—‘गोदौ नाम हृदौ, तयोरदूरभवो ग्रामः=गोदौ ग्रामः । वरणा-नामदूरभवं नगरं=वरणाः नगरम् । ... ”

३. वृश्यतां “लवणाल्लुक् ॥” (४ । ४ । २४), इति सूत्रम् ॥

४. ८ । ४ । ६ ॥

‘तद्धितलुपि’ तद्धितप्रत्यय के लुप् होने में प्रत्यय की उत्पत्ति के पूर्व जो ‘व्यक्तिवचने’ लिङ्ग, वचन हों, वे प्रत्यय के लुप् हो जाने में भी ‘युक्तवत्’ यथावत् रहें । पञ्चाला जनपदः । यहां प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व पञ्चाल-शब्द पुँल्लिङ्ग और बहुवचन था, सो पीछे निवासार्थ प्रत्यय के लुप् होने पर भी बना रहा । इस सूत्र का प्रयोजन यह है कि अन्यत्र अभिधेय का लिङ्ग, वर्चन होता है । जैसे—लवणः स्तूपः । यहां संस्कृत अर्थ में प्रत्यय का लुक् होने से अभिधेय के जो लिङ्ग, वचन हैं, सो पीछे भी होते हैं ॥

इस सूत्र में व्यक्तिवचन-ग्रहण इसलिये है कि प्रत्ययोत्पत्ति के पूर्व जो शब्दार्थ हो, पीछे वहीं नहीं बना रहे, किन्तु प्रत्यय का जो अर्थ हो, वह प्रसिद्ध हो ॥ ५१ ॥

विशेषणानां चाऽऽजातेः ॥ ५२ ॥

[‘लुपि’ इत्यनुवर्तते ।] विशेषणानाम् । ६ । ३ । च । अ० । आजातेः । ५ । १ । तद्धितप्रत्ययस्य लुपि लुबर्थविशेषणानां व्यक्तिवचने युक्तवद् भवतः, आजातेः = जातेः पूर्वम्^१ । यदा तु विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा जातिर्विवक्ष्यते, तदा न भवति । पञ्चालाः रमणीयाः, बह्वन्नजलाः, सम्पन्नपानीयाः, बहुमाल्यफलाः । पञ्चाल-शब्दस्य विशेष्यस्य लिङ्गवचनानि भवन्ति ॥

‘आजातेः’ इति किम् । पञ्चाला जनपदो बह्वन्नः, बहुमाल्यफलः, सम्पन्नपानीयः । अत्र जातिविवक्षायां न भवति ॥

वा०—हरीतक्यादिषु व्यक्तिर्भवति युक्तवद्भावेन ॥ १ ॥

हरीतक्याः फलानि = हरीतक्यः^२ फलानि ॥

खलतिकादिषु वचनं भवति युक्तवद्भावेन ॥ २ ॥

खलतिकस्य^३ पर्वतस्यादूरभवानि वनानि = खलतिकं^४ वनानि ॥

मनुष्यलुपि प्रतिषेधः ॥ ३ ॥ चञ्चा^५ अभिरूपः । वघ्निका^६ दर्शनीयः ॥^७

१. महाभाष्ये “विशेषणानां युक्तवद्भावो भवत्या जातिप्रयोगात् ।” इति । परं जयादित्यभट्टोजिदीक्षितादयस्त्वाहुः—“लुबर्थस्य यानि विशेषणानि तेषामपि व्यक्तिवचने भवतो जातिं वर्जयित्वा ।” (काशिकायां १ । २ । ५२ ॥ यत्रमेव शब्दकौस्तुभादिषु) तैः च “अजातेः” इति विग्रहः क्रियते ॥

२. दृश्यताम्—“हरीतक्यादिभ्यश्च ॥” (४ । ३ । १६७) इति सूत्रम् ॥

३. गयाप्रान्ते “बराबर” इति नाम्ना प्रसिद्धः ।

तस्मिन् प्रियदर्शिराजाशोककालीनाः, तस्य प्रपौत्र-दशरथकालीनाश्च “सातधरा” (=सप्तगृहाः), “नागार्जुनी” इति चाख्याता गुहाः, पातालगङ्गानामोत्सश्च महान् तीर्थोऽस्ति ॥

४. दृश्यताम्—“अदूरभवश्च ॥ वरणादिभ्यश्च ॥” (४ । २ । ७०, ८२) इति सूत्रे ॥

५. चञ्चा = तृणमयः पुरुषः ॥

६. वघ्निका = हतपुँस्त्वः ॥

७. अ० १ । पा० २ । आ० २ ॥

इमानि त्रीणि वार्तिकानि सूत्राच्छिष्टप्रयोजनसाधकानि सन्ति । तद्यथा—
 प्रथमेन वार्तिकेन हरीतकी-शब्द एकवचनः स्त्रीलिङ्गश्च । पश्चात् फलार्थे तद्धितलुपि
 सति बहुवचनं तु भवति, लिङ्गं युक्तवद् = पूर्ववदेव भवति । द्वितीयवार्तिकेन
 लिङ्गमभिधेयवद् भवति, वचनं पूर्ववदेव । तृतीयेन वार्तिकेन लिङ्गसङ्ख्ये युक्तवन्न
 भवतः, किन्त्वभिधेयवद् भवतः । चञ्चा अभिरूपः । चञ्चा इव = चञ्चासदृशो
 मनुष्यश्चञ्चा । ‘लुस्मनुष्ये’ ॥’ इति प्रत्ययस्य लुप् । तत्र सूत्रेण युक्तवद्भावः
 प्राप्तः, अनेन निषिध्यते ॥

का०—आविष्टलिङ्गा जातिर्यल्लिङ्गमुपादाय प्रवर्तते ।

उत्पत्तिप्रभृत्या विनाशान्न^३ तल्लिङ्गं जहाति^४ ॥”

आविष्टं = समन्ताद् व्याप्तं लिङ्गं यया, अर्थात् नियतलिङ्गा जातिर्भवति ।
 कल्पादौ घटादयो जातिशब्दा येन लिङ्गेन शब्दव्यवहारं प्रवर्तन्ते, कल्पान्तं तल्लिङ्गं
 नैव त्यजन्ति । जातिस्तु नित्या, पुनरुत्पत्तिविनाशौ कथं स्याताम् । तत्रैवं विज्ञेयं —
 [कल्पादौ] व्यवहारे प्रवृत्ता भवन्ति, कल्पान्ते व्यवहाराभावे विनष्टा इव भवन्ति ॥५२॥

‘तद्धितलुपि’ तद्धितप्रत्यय के लुप् होने में ‘विशेषणानाम्’ निवासादि प्रत्ययार्थ के
 विशेषण जो शब्द हों, उन के ‘च’ भी ‘व्यक्तिवचने’ लिङ्ग, वचन ‘युक्तवत्’ पूर्व के तुल्य
 हों, परन्तु ‘आजातेः’ जातिवाची कोई विशेष्य वा विशेषण हों, तो उन के लिङ्ग, वचन
 अभिधेय अर्थात् निवासादि प्रत्ययार्थ के से हों । पञ्चाला रमणीयाः । यहां रमणीय-शब्द जो
 पञ्चाल-शब्द का विशेषण है, उस के लिङ्ग, वचन पञ्चाल-शब्द के तुल्य हो गये ॥

आजाति-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि ‘पञ्चाला जनपदो रमणीयः’ यहां जातिवाची
 के होने से पूर्व के तुल्य लिङ्ग, वचन नहीं हुए ॥

इस सूत्र पर तीन वार्तिक हैं । वे सूत्र से कुछ विशेष बात के जनाने वाले हैं । प्रथम वार्तिक
 से ‘हरीतक्यः फलानि’ यहां लिङ्ग तो पूर्ववत् हो गया और वचन नहीं हुआ । दूसरे
 [वार्तिक] से ‘खलतिकं वनानि’ यहां वचन तो पूर्व के तुल्य हो गया, और लिङ्ग नहीं
 हुआ । और तीसरे वार्तिक से ‘चञ्चा अभिरूपः’ यहां लिङ्ग, वचन दोनों ही पूर्ववत् नहीं
 होते । सूत्र से पाते थे । मनुष्यवाची शब्द में वार्तिक से निषेध हो गया ॥

‘आविष्टलिङ्गा०’ इस कारिका से जाति का लक्षण किया है । जाति उस को कहते हैं
 कि जो आविष्टलिङ्ग अर्थात् नियतलिङ्ग हो । जैसे—घटः । घड़ा-शब्द का लिङ्ग कभी नहीं बद-
 लता । कल्प के आदि में संसार के व्यवहारों में शब्दों की प्रवृत्ति होती [है] और कल्प के
 अन्त में मनुष्यों के नहीं रहने से निवृत्ति हो जाती है । इसी को उत्पत्ति और विनाश माना

१. ५।३।६८॥

३. कोशेऽत्र “॥ १ ॥” इति ॥

२. पाठान्तरम्—विनाशात्तल्लिङ्गं जहाति ॥

४. अ० १।पा० २।आ० २॥

है। सो कल्प के आदि में जिस लिङ्ग से प्रवृत्त हों, उस लिङ्ग को प्रलयपर्यन्त नहीं त्यागें, वे जातिशब्द कहते हैं ॥ ५२ ॥

तदशिष्यं सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात् ॥ ५३ ॥

तत् । १ । १ । अशिष्यम् । १ । १ । सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात् । ५ । १ ।
शासितुं योग्यं = शिष्यम् । न शिष्यं = अशिष्यम् । सञ्ज्ञायाः प्रमाणं = सञ्ज्ञाप्रमा-
णम्, तस्य भावः, तस्मात् । सञ्ज्ञा-शब्दोऽत्र यौगिकः । सञ्ज्ञानं = सञ्ज्ञा । नैव
कृत्रिमस्य वृद्ध्यादेर्ग्रहणम् । तत् = पूर्वोक्तं युक्तवद्भावलक्षणं, अशिष्यं = शासितुम-
योग्यं = नैव कर्तव्यम् । कुतः । सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात्—सञ्ज्ञानां = लोकव्यवहाराणां
तत्र प्रमाणत्वात् । यथा 'दाराः', आपः, सुमनसः' इत्यादिषु शब्देषु लिङ्गव-
चनानि लोकतो निश्चितान्येव सन्ति, नैवात्र सूत्राणां प्रवृत्तिर्भवति । तथैव
पञ्चालादिशब्दा अपि नियतलिङ्गवचनाः सन्तीति ॥ ५३ ॥

'तद् युक्तवत्' पूर्व सूत्रों में जो लिङ्ग, वचन पूर्व के तुल्य कहे हैं, सो वे सूत्र ही 'अशि-
ष्यम्' नहीं करने चाहियें । क्योंकि यहां 'सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात्' लिङ्ग, वचन लोक से ही सिद्ध
हैं । जैसे—आपः । यह जल का वाची शब्द स्त्रीलिङ्ग और बहुवचन सदैव रहता है । तथा—
दाराः । यह स्त्री का वाची शब्द पुल्लिङ्ग और बहुवचन नित्य बना रहता है । तो क्या लिङ्ग,
वचन यहां सूत्रों से सिद्ध होते हैं । वैसे ही पञ्चालादि शब्द भी नियतलिङ्गवचन लोक से
ही सिद्ध हैं । फिर सूत्र बनाना व्यर्थ है ॥ ५३ ॥

लुब् योगाप्रख्यानात् ॥ ५४ ॥

'अशिष्यम्' इत्यनुवर्तते । लुप् । १ । १ । योगाप्रख्यानात् । ५ । १ ।
लुब्धिधायकं 'जनपदे लुप्' ॥' इत्यादि सूत्रमशिष्यं = नैव कर्तव्यम् । कुतः ।
योगाप्रख्यानात्—योगेऽवयवार्थे यस्मिन्निवासाद्यर्थे प्रत्यया लुप्यन्ते, तस्याप्रख्यानं,
लोके सोऽर्थो नोपलभ्यते । पञ्चालादिशब्दा देशविशेषस्य सञ्ज्ञा एव । निवा-

१. वृश्यतां बृहदारण्यकोपनिषदि—“एवंविच्छ्रो-
त्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेत् ।” (६।४।१२)

अथापि आपस्तम्बधर्मसूत्रे (१।१४।२४)

गौतमधर्मशास्त्रे (२२।२६) च नपुंसकैकवचनम् ।

भागवतपुराणे (७।१४।२) स्त्रीलिङ्गैकवचनमपि ॥

२. वृश्यतां तन्त्रवार्तिके—“न हि ते सुसिद्धपत्र-
हादिव्यत्ययेन नापि कतिपयाधिकारदृष्टेन 'बहुलं
छन्दसि ॥' इत्यनेन सिद्ध्यन्ति । तद्यथा—‘म-

ध्यमापस्य तिष्ठति ।’ ‘नीचीनवारं वरुणः कवन्ध-

म् ।’ (ऋ० ५ । ८५ । ३) इति । न हि

‘अपां’ इत्यस्य नित्यस्त्रीलिङ्गबहुवचनविषयव्यञ्ज-

नान्तप्रातिपदिकपरषध्यान्वाख्यानाद् ‘आपस्य’

इत्येतद् रूपं लक्ष्यानुगतं वृश्यते । नापि द्वार-

शब्दस्य स्थाने लाटभाषातोऽन्यत्र वारशब्दः [नि-

रुक्ते (१०।४)—“(नीचीनवारं =) नी-

चीनद्वारं] सम्भवति ॥” (१।३।१८)

३. ४।२।८१ ॥

साधयर्थस्य लोकेऽप्रख्यानाद् = अप्रतीतत्वात् लुवर्थाः प्रत्यया उत्पद्यन्ते एव न ।
पुनर्व्यर्थं सूत्रम् ॥

युक्तवद्भावविधायके द्वे सूत्रे, लुव्विधायकानि च सूत्राण्यन्यैर्ऋषिभिः प्रोक्ता-
नि, तानि पाणिनिना प्रत्याख्यायन्ते ॥ ५४ ॥

‘लुप्’ लुप्विधायक जो ‘जनपदे लुप्’ ॥’ इत्यादि सूत्र हैं, वे ‘अशिष्यम्’ नहीं करने
चाहियें, ‘योगप्रख्यानात्’ क्योंकि जिन निवासादि अर्थों में प्रत्यय होते हैं, वे अर्थ पञ्चा-
लादि शब्दों में नहीं हो सकते । पञ्चालादि शब्द तो देशविशेष की संज्ञा हैं । जब जिन अर्थों
में प्रत्यय और लुप् होता है, वे अर्थ संसार में देखने में ही नहीं आते, तब सूत्र किसलिये हों,
अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं ॥ ५४ ॥

योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् ॥ ५५ ॥

योगप्रमाणे । ७ । १ । च । [अ० ।] तदभावे । ७ । १ । अदर्शनम् ।
१ । १ । स्यात् । [विधिलि० । प्र० । १ ।] पूर्वसूत्रार्थमेव दृढीकरोति । यदि
योगस्य प्रमाणं—निवासा[द्य]र्थस्य वाचकः पञ्चालादिशब्दः—स्यात्, तर्हि त-
दभावे = निवासाद्यर्थसम्बन्धाभावे क्षत्रियवाचिनः पञ्चालादिशब्दस्यादर्शनं = अ-
प्रयोगः स्यात् । तस्माल्लुव्विधायकं सूत्रं नैव कर्त्तव्यम् ॥ ५५ ॥

पूर्व सूत्र के प्रयोजन का दृढ़ करने वाला यह भी सूत्र है । ‘योगप्रमाणे’ जो योग अर्थात्
निवासादि अर्थ के वाचक पञ्चालादि शब्द हों, ‘च’ तो ‘तदभावे’ उस निवासादि अर्थ की
लोक में प्रवृत्ति ही नहीं, फिर ‘अदर्शनम्’ पञ्चालादि शब्दों का अदर्शन अर्थात् प्रयोग ही
नहीं ‘स्यात्’ हो सकता^१ । इससे निवासादि अर्थ में लुप् विधान करने वाले सूत्र ‘अशिष्यम्’
व्यर्थ ही समझने चाहियें ॥ ५५ ॥

प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् ॥ ५६ ॥

[‘अशिष्यम्’ इत्यनुवर्त्तते ।] प्रधानप्रत्ययार्थवचनम् । १ । १ । अर्थस्य ।
६ । १ । अन्यप्रमाणत्वात् । ५ । १ । प्रधानं च प्रत्ययश्च = प्रधानप्रत्ययौ ।
अर्थस्य वचनं = अर्थवचनम् । प्रधानप्रत्यययोरर्थवचनं = प्रधानप्रत्ययार्थ-
वचनम् । अन्यो हि शास्त्रापेक्षया लोकः, तस्य प्रमाणस्य भावः, तस्मात् ।
अष्टाध्यायीरचनसमये केषाञ्चिदाचार्याणामिदं मतमभूत् — प्रधानोपसर्जने

१. ४ । २ । ५१ ॥

१. अर्थात् यदि पञ्चाल उस देश का नाम हो,
जिस में पञ्चाल नाम के क्षत्रिय रहते हैं, तो
जब पञ्चाल नाम के क्षत्रिय उस देश में न रहें,

तब उस देश का नाम भी पञ्चाल न रहना चा-
हिये । किन्तु ऐसा नहीं है । बिना ही पञ्चाल
क्षत्रियों के किसी सम्बन्ध के देश का नाम पं-
ञ्चाल है ॥

प्रधानार्थ सह ब्रूतः । प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थ सह ब्रूतः । तदेतत् पाणिन्याचार्यः प्रत्याचष्टे । प्रधानार्थवचनं प्रत्ययार्थवचनं चाशिष्यं = न कर्त्तव्यं, अर्थस्य = प्रयोजनस्यान्यप्रमाणत्वात् = लोकप्रमाणत्वात् । प्रधानार्थवचनं प्रत्ययार्थवचनं च लोकत एव सिद्धम् । तद्यथा— राजपुरुषः । अत्र राजन्-शब्द उपसर्जनं, पुरुषः प्रधानम् । तदेतच्छब्दद्वयं प्रधानार्थमेव ब्रूत इत्यन्येषां मतम् । तदेतल्लोकतः सिद्धम् । लोकेऽवैयाकरणा अपि 'राजपुरुषः' इत्युक्ते राज्ञः सम्बन्धिनं कञ्चित् पुरुषविशिष्टमानयन्ति, न राजानं, नापि पुरुषमात्रम् । तथा— औपगवः । अत्र उपगु-शब्दः प्रकृतिः, अण् प्रत्ययः, अपत्यं प्रत्ययार्थः । तत्रान्येषां मतं—प्रकृतिप्रत्ययौ मिलित्वा प्रत्ययार्थमपत्यं ब्रूतः । एतदपि लोकतः सिद्धम् । लोके 'औपगवमानय' इत्युक्त उपगुविशिष्टमपत्यमानयन्ति, नोपगुं, नाप्यपत्यमात्रं, न चोभौ । तदेतत् प्रधानप्रत्ययार्थवचनं नैव कर्त्तव्यं लोकतः सिद्धत्वात् ॥ ५६ ॥

'प्रधानप्रत्ययार्थवचनम्' प्रधान और प्रत्ययार्थ विषय में लक्षण कहना 'अशिष्यम्' अयुक्त है, 'अर्थस्य' उस प्रयोजन के 'अन्यप्रमाणत्वात्' लोकसिद्ध होने से । अर्थात् जिस समय अष्टाध्यायी रची गई थी, उस समय किन्हीं २ ऋषियों का ऐसा मत था कि समास में प्रायः दो पद होते हैं, वहां एक प्रधान होता और दूसरा उपसर्जन होता है । और बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ तो प्रधान तथा समास के लिये जो दो वा तीन पद होते हैं, वे उपसर्जन कहते हैं । सो प्रधान और उपसर्जन दोनों मिलके प्रधान अर्थ को कहते हैं । तथा प्रकृति और प्रत्यय दोनों मिलके प्रत्यय के अर्थ को कहते हैं । [सो] इस बात का पाणिनिजी महाराज ने खण्डन किया है कि ये बातें लोक से सिद्ध हैं । जैसे—राजपुरुषः । यह समासान्त पद है । यहां राजन्-शब्द तो उपसर्जन और पुरुष-शब्द प्रधान है । सो लोक में व्याकरण नहीं पढ़े हुए पुरुष से कहा जाय कि 'राजपुरुष' को ले आ, तो वही राजसम्बन्धी किसी नौकर को लावेगा, किन्तु राजा को वा किसी [भी] पुरुष को नहीं लावेगा । तथा—औपगवः । यहां उपगु-शब्द प्रकृति, अण् प्रत्यय और अपत्य प्रत्ययार्थ है । सो उन लोगों का तो मत है कि प्रकृति और प्रत्यय प्रत्ययार्थ अर्थात् अपत्यार्थ को कहते हैं । और पाणिनिजी महाराज खण्डन करते हैं कि यह बात लोक से सिद्ध है । अर्थात् [यदि] कोई [किसी] व्याकरण को नहीं पढ़े हुए से कहे कि 'औपगव' को ले आ, तो उपगु के अपत्य को ही ले आवेगा, न उपगु को, न अपत्यमात्र को, और न दोनों को लावेगा । इस प्रकार लोक से सिद्ध होने से प्रधानार्थ और प्रत्ययार्थ विषय में जो किसी की कल्पना है, सो व्यर्थ समझनी चाहिये ॥ ५६ ॥

कालोपसर्जने च तुल्यम् ॥ ५७ ॥

'अशिष्यम्' इत्यनुवर्त्तते, 'अर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्' इति च । कालोपसर्जने ।

१ । २ । च [अ० ।] तुल्यम् । १ । १ । कालश्च उपसर्जनं च = कालोपसर्जने ।



तुल्यश्च तुल्यं च = तुल्यम् । कालोपसर्जनविशेषणमेतत् । 'नपुंसकमनपुंसकेनैक-
वचसास्याऽन्यतरस्याम्' ॥' इत्येकवद्भावः । कालः परोक्षादिः । तुल्यः = अशिष्यः ।
उपसर्जन-लक्षणं तुल्यं = अशिष्यम्, अर्थान्नैव कर्तव्यम् । कस्माद् । अर्थस्यान्यप्र-
माणत्वात् = प्रयोजनस्य लोकतः सिद्धत्वात् । तद्यथा केचित्तावदाहुः—वर्षस्तवृत्तं
परोक्षमिति । अपरं आहुः—वर्षसहस्रवृत्तं परोक्षमिति । अपर आहुः—कुड्य-
कृष्टान्तरितं परोक्षमिति । अपर आहुः—द्व्यह्व्यह्वृत्तं परोक्षमिति । इत्यादयः
कालविषयकाः कैश्चित् परिभाषाः कृताः । ता नैव कर्तव्याः । परोक्षादिकालो लोकतः
सिद्धः । लोके कश्चिद् वदति—तत् कार्यं परोक्षमस्तीति । अर्थात् जानाति ममेन्द्रि-
यगोचरं नास्तीति । तथा उपसर्जनविषये 'अप्रधानमुपसर्जनम्' इति परिभाषां
कुर्वन्ति । सा नैव कर्तव्या लोकतः सिद्धत्वात् । यत्नमन्तरेणाऽपि लोकेऽवैयाकरणाः
पुरुषा 'उपसर्जनम्' इत्युक्तेऽप्रधानं जानन्ति । तदेतल्लोकतः सिद्धत्वात् कालोपस-
र्जनविषयकं लक्षणमशिष्यम् ॥

अस्मिन् सूत्रे चकारोऽशिष्यप्रकरणनिवृत्त्यर्थः ॥ ५७ ॥

'च' और 'कालोपसर्जने' काल और उपसर्जन विषयक लक्षण भी 'तुल्यम्' अशिष्य
[अर्थात्] न कहने चाहिये, 'अर्थस्य' प्रयोजन के 'अन्यप्रमाणत्वात्' लोकसिद्ध होने से ॥
परोक्षादि काल और उपसर्जन के विषय में किन्हीं २ अप्रियों ने लक्षण बांधे हैं । पाणि-
निजी महाराज उन का खण्डन करते हैं कि यह बात भी लोक से सिद्ध है । अर्थात् किसी
ने कहा कि यह बात शुरु से परोक्ष हुई, अर्थात् मेरे सामने नहीं हुई । और उपसर्जन के कहने
से लोक में अप्रधान का बोध होता ही है । फिर इन बातों के लिये लक्षण बनाने का कुछ
प्रयोजन नहीं ॥

इस सूत्र में चकार इसलिये पड़ा है कि अशिष्य का प्रकरण पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् ॥ ५८ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । जातावेकवचनमेव भवति भावस्य प्रतिपादनात् । जात्या-
ख्यायाम् । ७ । १ । एकस्मिन् । ७ । १ । बहुवचनम् । १ । १ । अन्यत-
रस्याम् । अ० । जातेराख्या = जात्याख्या, तस्याम् । 'वचनम्' इति नेदं पारि-
भाषिकस्य ग्रहणम्—'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' ॥' इति । किं तर्हि । यौगिकस्य—
उच्यते यत् तद् वचनम् । बहूनामर्थानां वचनम् = बहुवचनम् । जात्याख्यायामेकत्व-
विवक्षिते सत्येकोऽर्थो बहुवद् विकल्पेन विधीयते । सम्पन्नो यवः, सम्पन्ना यवाः ।
सम्पन्नो व्रीहिः, सम्पन्ना व्रीहयः ॥

जाति-ग्रहणं किमर्थम् । देवदत्तः । यज्ञदत्तः । अत्र न भवति ॥

आख्या-ग्रहणं किमर्थम् । वानर इव प्रतिकृतिर्मनुष्यो वानरः^१ । अस्त्यत्र वानरो जातिशब्दः । न तु तेन जातिराख्यायते ॥

वा०— सङ्ख्याप्रयोगे प्रतिषेधः ॥ एको व्रीहिः सम्पन्नः सुभिन्नं करोति । एको यवः सम्पन्नः सुभिन्नं करोति^२ ॥

अस्मदो नामयुवप्रत्ययोश्च ॥ नामप्रयोगे— अहं देवदत्तो ब्रवीमि । अहं यज्ञदत्तो ब्रवीमि । युवप्रत्ययप्रयोगे— अहं गार्ग्यायणो ब्रवीमि । अहं वात्स्यायनो ब्रवीमि ॥

अपर आह—‘अस्मदः सविशेषस्य प्रयोगे न ।’ इत्येव । इदमपि सिद्धं भवति— अहं पटुर्ब्रवीमि । अहं पण्डितो ब्रवीमि ॥^३

अत्र सर्वत्र जात्यभिधाने विकल्पेन बहुवचनं प्राप्तं, तन्निषेधादेकवचनमेव भवति । जात्यभिधाने तु सर्वत्रैकवचनमेव भवति । यदा तु द्रव्यं विवक्षितं भवति, तदा बहुवचनं भवति ॥ ५८ ॥

‘जात्याख्यायाम्’ जातिशब्दों के प्रयोग में ‘एकस्मिन्’ एकवचन में ‘बहुवचनम्’ बहुवचन ‘अन्यतरस्याम्’ विकल्प करके हो । यहां प्रासविभाषा है, क्योंकि जाति में सर्वत्र एक ही वचन पाता है । कारण यह है कि जाति-शब्द सामान्य भाव का वाचक है । संपिण्डो यवः । सम्पन्ना यवाः । यव एक अन्विशेष जाति है । उस में एकवचन और बहुवचन दोनों ही होते हैं ॥

जाति-ग्रहण इसलिये है कि ‘देवदत्तः’ यहां बहुवचन न हो ॥

और आख्या-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि ‘वानरः’ बन्दर की सी आकृति वाला मनुष्य है । यहां वानर जातिशब्द तो है, परन्तु [वानर] जाति का अर्थ [बोधक] नहीं है ॥

‘सङ्ख्याप्रयोगे ० ॥’ इत्यादि तीन वार्तिकों से विशेष [विष]य में बहुवचनविधानविकल्प का निषेध किया है ॥ ५८ ॥

अस्मदो द्वयोश्च ॥ ५९ ॥

अस्मदः । ६ । १ । द्वयोः । ७ । २ । च । [अ०] ‘एकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्’ इत्यनुवर्तते । अस्मत्-शब्दप्रयोगस्यैकवचने द्विवचने च बहुवचनं विकल्पेन भवति । अहं ब्रवीमि, वयं ब्रूमः । आवां ब्रूवः, वयं ब्रूमः । एक-

१. इत्येता—५ । १ । ६८ ॥

ति ।” इति नास्ति ॥

२. केषुचित् भाष्यकोशेषु—‘एको यवः... करो-

३. अ० १ । पा० २ । आ० २ ॥

स्मिन् द्विवचनं नैव भवतीति नियमः । अस्मत्-शब्दविषयकाणि वार्तिकानि पूर्व-
स्मिन् सूत्र उक्तानि ॥ ५६ ॥

‘अस्मद्’ अस्मत्-शब्द के प्रयोगों के ‘द्वयोः’ द्विवचन ‘च’ और ‘एकस्मिन्’ एक-
वचन में ‘बहुवचनम्’ बहुवचन ‘अन्यतरस्याम्’ विकल्प करके हो । जैसे—मैं बोलता हूँ
और हम बोलते हैं । एक मनुष्य वा दो मनुष्य भी ऐसा कह सकते हैं । परन्तु एकवचन में
द्विवचन नहीं हो सकता, यह नियम है ॥

अस्मत्-शब्द के जो वार्तिक हैं, वे पूर्व सूत्र में आ गये ॥ ५६ ॥

फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे ॥ ६० ॥

‘द्वयोः’ इत्यनुवर्तते । ‘एकस्मिन्’ इति निवृत्तम् । फल्गुनीप्रोष्ठपदानाम् ।
६ । ३ । च । [अ० ।] नक्षत्रे । ७ । १ । फल्गुन्यौ च प्रोष्ठपदे च, तासाम् ।
फल्गुनीप्रोष्ठपदानां द्विवचने विकल्पेन बहुवचनं भवति नक्षत्रेऽभिधेये । उदिते पूर्वे
फल्गुन्यौ, उदिताः पूर्वाः फल्गुन्यः । उदिते पूर्वे प्रोष्ठपदे, उदिताः पूर्वाः प्रोष्ठपदाः ॥

‘नक्षत्रे’ इति किमर्थम् । फल्गुन्यौ कुमार्यौ । अत्र ‘फल्गुनी’ [इति] नक्षत्र-
वाचिशब्दात् जातार्थस्य प्रत्ययस्य लुक् । फल्गुनीनक्षत्रे जाता कुमारी = फल्गुनी ॥

अत्र चकारो ‘द्वयोः’ इत्यनुकर्षणार्थः ॥ ६० ॥

‘च’ और ‘फल्गुनीप्रोष्ठपदानाम्’ फल्गुनी और प्रोष्ठपद ‘नक्षत्रे’ नक्षत्रों के ‘द्वयोः’
द्विवचन में [‘बहुवचनम्’] बहुवचन ‘अन्यतरस्याम्’ विकल्प करके हो, अर्थात् द्विवचन
और बहुवचन दोनों ही हों ॥

और नक्षत्र-ग्रहण इसलिये है कि ‘फल्गुन्यौ कुमार्यौ’ यहां फल्गुनी-शब्द नक्षत्र का
वाची नहीं है, किन्तु कुमारी का वाची समझा जाता है ॥ ६० ॥

१. तैत्तिरीयसंहितायां (४।४।१०।१, २),

“फल्गुनी” इति द्विवचनान्तं, काठकमैत्रायणी-
संहितयोश्च (क्रमेण ३६।१३॥२।१३।

२०) “फल्गुनीः” इति बहुवचनान्तं पदम् ॥

अपि च तैत्तिरीयब्राह्मणे—“अर्यम्णो वा

एतन्नक्षत्रं यत् पूर्वं फल्गुनी । भगस्य वा एतन्न-

क्षत्रं यदुत्तरे फल्गुनी ॥” (१।१।२।४॥

१।५।१।२॥३।१।१।८)

कौशीतकिब्राह्मणे तु—“मुखमुत्तरे फल्गू,

पुच्छं पूर्वं ।” इति फल्गु-शब्दोऽपि फल्गुन्यर्थे

प्रयुक्तः ॥ (५।१)

२. नक्षत्रनामविधानं च सुश्रुतसंहितायाम्—“त-

तो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्व-

स्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्र-

नाम वा ।” (शरीरस्थाने अ० १०।३७)

मानवगृह्ये—“यशस्यं नामधेयं देवताश्रयं

नक्षत्राश्रयम् ।” (१।१८।२)

चाराहगृह्ये—“नक्षत्रदेवतेष्टनाम्मानो वा ।”

(३।२)

जैमिनीयगृह्ये—“अनुनक्षत्रमनुदेवतम् ।”

(१।६)

छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम् ॥ ६१ ॥

छन्दसि । ७ । १ । पुनर्वस्वोः । ६ । २ । एकवचनम् । १ । १ । अन्य-
तरस्याम् । [अ० ।] द्वयोर्द्विवचने प्राप्त इदमारभ्यते । छन्दसि = वेदविषये
पुनर्वस्वोर्द्विवचने विकल्पेनैकवचनं भवति नक्षत्रेऽभिधेये । पुनर्वसुर्नक्षत्रं,^१ पुन-
र्वसू नक्षत्रम्^२ । पक्षे द्विवचनमेव ॥

‘नक्षत्रे’ इति किमर्थम् । पुनर्वसू माणवकौ ॥

‘छन्दसि’ इति किमर्थम् । पुनर्वसू इति ॥ ६१ ॥

‘छन्दसि’ वेदविषय में ‘पुनर्वस्वोः’ पुनर्वसु नक्षत्र के द्विवचन में ‘एकवचनम्’ एक-
वचन ‘अन्यतरस्याम्’ विकल्प करके हो । एक पक्ष में द्विवचन ही बना रहता [है] ॥

इस सूत्र में नक्षत्र-ग्रहण इसलिये है कि अन्य किसी का वाची हो, तो एकवचन न हो ॥
और छन्दसि-ग्रहण इसलिये है कि लोक में न हो ॥ ६१ ॥

विशाखयोश्च ॥ ६२ ॥

‘छन्दसि’ इत्यनुवर्तते । [‘नक्षत्रे’ इति च । विशाखयोः । ६ । २ । च ।
अ० ।] वेदविषये विशाखयोर्नक्षत्रयोर्द्विवचने विकल्पेनैकवचनं भवति ।
विशाखा नक्षत्रं^३, विशाखे नक्षत्रम्^४ । पक्षे द्विवचनमेव ॥

‘नक्षत्रे’ इति किमर्थम् । ‘विशाखे कन्ये’ इत्यत्रैकवचनं न भवति ॥ ६२ ॥

‘छन्दसि’ वेदविषयक ‘विशाखयोः’ विशाखा नक्षत्र के [‘द्वयोः’] द्विवचन में ‘एकव-
चनम्’ एकवचन ‘अन्यतरस्याम्’ विकल्प करके हो । पक्ष में द्विवचन ही बना रहे ॥

नक्षत्र-ग्रहण इसलिये है [कि] अन्यवाची में एकवचन न हो ॥ ६२ ॥

तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम् ॥ ६३ ॥

तिष्य-पुनर्वस्वोः । ६ । २ । नक्षत्रद्वन्द्वे । ७ । १ । बहुवचनस्य । ६ । १ ।
द्विवचनम् । १ । १ । नित्यम् । १ । १ । नक्षत्राणां द्वन्द्वः = नक्षत्रद्वन्द्वः,
तस्मिन् । तिष्यपुनर्वस्वोः शब्दयोर्नक्षत्रद्वन्द्वे कर्तव्ये बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यं
विधीयते । तिष्यश्च पुनर्वसू च = तिष्यपुनर्वसू । तिष्य^५ एकः, पुनर्वसू द्वौ ।

१. मै०—२ । १३ । २० ॥

का०—३६ । १३ ॥

२. तै०—४ । ४ । १० । १ ॥

३. तैत्तिरीयसंहितापदपाठे—४ । ४ । १० । १ ॥

४. का०—३६ । १३ ॥

५. तै०—४ । ४ । १० । २ ॥

मैत्रायणीसंहितायां—“विशाखं नक्षत्रम्”

इति नपुंसकैकवचनम् ॥ (२ । १३ । २०)

६. “तिष्यः” इत्यपरं नाम, “सिष्यः” इति च ।

संहिताब्राह्मणादिषु “तिष्यः” इत्येव सर्वत्र दृश्यते ।

तत्र बहुवचनं प्राप्तम् । अनेन द्विवचनं विधीयते ॥

‘तिष्यपुनर्वसोः’ इति किमर्थम् । कृत्तिकारोद्दिश्यः ॥^१

‘नक्षत्र-’ इति किम् । तिष्यश्च बालः, पुनर्वसू च बालौ = तिष्यपुनर्वसवौ
बालाः ॥

‘द्वन्द्वे’ इति किमर्थम् । यः तिष्यः तौ पुनर्वसू, येषां त इमे

तिष्यपुनर्वसव उन्मुग्धाः ॥

‘बहुवचनस्य’ इति किमर्थम् । उदितं तिष्यपुनर्वसु ॥^२

अत्रैकवचने द्विवचनं न भवति । अन्यत्र बहुवचने द्विवचनं न भवति ॥

भा०—एवं तर्हि सिद्धे सति यद् बहुवचन-ग्रहणं करोति,

तज्ज्ञापयत्याचार्यः—सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्^३ भवति^३ । किमे-

तस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । ‘बाभ्रवशालङ्कायनं, बाभ्रवशालङ्का-

यनाः’ इत्येतत् सिद्धं भवति ॥^४

बहूनामपि द्वन्द्व एकवद् भवति । तत्रैकवद्भावे कृते द्विवचनं न भवेदिति
प्रयोजनेयं परिभाषा ॥ ६३ ॥

‘तिष्यपुनर्वसोः’ तिष्य-और पुनर्वसु-शब्द के ‘नक्षत्रद्वन्द्वे’ नक्षत्रद्वन्द्व में ‘बहुवचनस्य’
बहुवचन के स्थान में ‘द्विवचनम्’ दोवचन ‘नित्यम्’ नित्य ही हो जाय । तिष्य एक नक्षत्र
और पुनर्वसु दो [नक्षत्र] हैं । इस प्रकार तीन के होने से बहुवचन प्राप्त था, इसलिये द्विवचन
नित्य विधान किया है ॥

इस सूत्र में तिष्यपुनर्वसु-ग्रहण इसलिये है कि अन्य नक्षत्रों के द्वन्द्व में न हो ॥

नक्षत्र-ग्रहण इसलिये है कि ‘तिष्यपुनर्वसवो माणवकाः’ यहां तिष्य-पुनर्वसु-शब्द
बालक के वाची हैं, इससे नहीं हुआ ॥

द्वन्द्व-ग्रहण इसलिये है कि अन्य समास में न हो ॥

और बहुवचन-ग्रहण इसलिये है कि ‘सर्वो द्वन्द्वो’ इस परिभाषा से जहां एकवद्भाव
होता है, वहां द्विवचन न हो । और इसी बहुवचन-ग्रहण से यह परिभाषा निकली है ॥ ६३ ॥

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ॥ ६४ ॥

सरूपाणाम् । ६ । ३ । एकशेषः । १ । १ । एकविभक्तौ । ७ । १ । समानं

‘पुनर्वसु यजुता चार पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं

मघा मे ।’ (१६ । ७ । २) इत्यस्मिन् मन्त्रे

त्वथर्ववेदेऽपि ‘पुष्यः’ इति ॥

१. अ० १ । पा० २ । आ० २ ।

२. पाठान्तरम्—विभाषैकवद् ॥

३. पा०, प०—सू० ३४ ॥

४. सा०—पृ० ४६ ॥

रूपमेषां ते सरूपाः । 'ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूप०' ॥' इति सूत्रेण समानस्य सकारादेशः । एकस्य शेषः = एकशेषः । एका चासौ विभक्तिः = एकविभक्तिः, तस्याम् । समानरूपाणां शब्दानामेकविभक्तौ परत एकशेषो भवति, अर्थादेकः शिष्यते, इतरे निवर्तन्ते । वृक्षश्च वृक्षश्च = वृक्षौ । वृक्षश्च वृक्षश्च = वृक्षाः । द्विवचने द्वौ वृक्षौ, तत्रैकः शिष्यत एको निवर्तते । बहुवचने यत्र त्रयो वृक्ष-शब्दाः, तत्र द्वौ निवर्तते । यत्र चतुःप्रभृतयः, तत्राप्येक एव शिष्यतेऽन्ये निवर्तन्ते । अर्थमर्थं प्रति शब्दानामभिनिवेशः प्राप्नोति । अर्थाद् यावन्तोऽर्थाः, तावतां शब्दानां प्रयोगाः प्राप्नुवन्ति । एवमर्थोऽयं यत्नः क्रियन्ते ॥

रूप-ग्रहणं किमर्थम् । भिन्नेऽर्थेऽपि सरूपाणामेकशेषो यथा स्यात् । अक्षाः । पादाः । इत्यादि बह्वर्थेषु समानरूपेषु शब्देष्वप्येकशेषो यथा स्यात् ॥

एक-ग्रहणं किमर्थम् । द्विवहोः शेषो मा भूत् । वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च । अत्र द्वौ वृक्ष-शब्दौ मा शिष्येताम् ॥

शेष-ग्रहणं किमर्थम् । एक आदेशो मा भूत् ॥

'एकविभक्तौ' इति किमर्थम् । ब्राह्मणाभ्यां च कुतम् । ब्राह्मणाभ्यां च देहि ।^२

अत्रैकस्मिन् वृत्तीयाया द्विवचनं, द्वितीये चतुर्थ्या द्विवचनम् । तत्र समान-रूपत्वादेकशेषो मा भूत् ॥

मा०—प्रातिपदिकानामेकशेषे मातृमात्रोः प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

माता च जनयित्री, मातारौ च धान्यस्य = मातृमातरः ॥

एकार्थानामपि विरूपाणामेकशेषो वक्तव्यः । वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च = वक्रदण्डौ, = कुटिलदण्डौ इति [वा] ॥

(प०) गुणवचनानां हि^३ शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति^४ ॥

शुक्ल वस्त्रम् । शुक्ला शाटी । शुक्लः कम्बलः । शुक्लौ कम्बलौ । शुक्लाः कम्बलाः ॥'

गुणवचनाः शब्दा विशोध्यलिङ्गा [विशोध्य-] वचनाश्च भवन्ति ॥ ६४ ॥

['सरूपाणाम्'] समान रूप वाले जो शब्द हैं, उन को ['एकशेषः'] एकशेष हो

१. ६।३।८५ ॥

२. अ० १।पा० २।आ० ३ ॥

३. पाठान्तरम्—अन्यत्र नास्ति ॥

४. पा०—सू० १०७ ॥

अर्थात् एक तो रह जाय [तथा] औरों की निवृत्ति हो जाय, ['एकविभक्तौ' एक विभक्ति के परे होने पर ।] वृद्धौ । यहां दो वृत्त-शब्दों में से एक रह गया । तथा—वृद्धाः । यहां तीन अथवा बहुत वृत्त-शब्दों में से एक ही रह जाता है, अन्यो की निवृत्ति हो जाती है । जितने पदार्थ होते हैं, उन एक २ पदार्थ के प्रति एक २ शब्द का प्रयोग पाता है, इसलिये यह सूत्र बनाया कि बहुत से पदार्थों का बोध एक शब्द से हो सके ॥

इस सूत्र में रूप-ग्रहण इसलिये है कि 'पादाः' इत्यादि एक २ शब्द भिन्न २ अर्थों के भी वाची होते हैं और रूप समान होता है, तो वहां भी एकशेष हो जाय ॥

एक-ग्रहण इसलिये है कि द्वि और बहुतों का शेष अर्थात् वाक्त्री न रहे, किन्तु एक ही शब्द वाक्त्री रह जाय ॥

शेष-ग्रहण इसलिये है कि सब शब्दों के स्थान में एक आदेश न हो जाय ॥

और एकविभक्ति-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'पयः पयो जरयति' यहां एक पयः-शब्द प्रथमा विभक्त्यन्त और दूसरा द्वितीयान्त है । इन दोनों का एकशेष न हो ॥

'प्राति०' इस वार्तिक से 'मातृमातरः' इस प्रयोग में समान रूप वाले शब्दों का भी एकशेष नहीं हुआ । 'एकार्थाना०' इस वार्तिक से 'वक्रदण्डौ' इस प्रयोग में एक अर्थ और भिन्न २ रूप वाले [वक्र- और कुटिल-] शब्दों का भी एकशेष हो गया । यह सूत्र से नहीं पाता था ॥

'गुणवचनानां०' इस परिभाषा से गुणवाची शब्दों के लिंग और वचन विशेष्य के तुल्य होते हैं ॥ ६४ ॥

वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' ॥ ६५ ॥

वृद्धः । १ । १ । यूना । ३ । १ । तल्लक्षणः । १ । १ । चेत् । [अ० ।]
एव । [अ० ।] विशेषः । [१ । १ ।] 'शेषः' इत्यनुवर्तते । वृद्ध-शब्देनात्र गोत्रमुच्यते । तयोर्लेखणो योगः = तल्लक्षणः । वृद्धः = गोत्रप्रत्ययान्तः शब्दः, यूना = युवप्रत्ययान्तेन सह शिष्यते, युवा निवर्तते, तल्लक्षण एव विशेषश्चेत् । समानायामाकृतौ शब्दभेद एव चेत्, तदा । यदा त्वाकृतिभेदः, तदा न भवति । अर्थादेक एव शब्दो वृद्धयुवरूपश्चेत् । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च = गार्ग्यौ । वात्स्यश्च वात्स्यायनश्च = वात्स्यौ । अत्र गार्ग्य-वात्स्यौ शिष्येते, गार्ग्यायण-वात्स्यायनौ निवर्तते ॥

'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इति किमर्थम् । गार्ग्यवात्स्यायनौ । अत्र वृद्धस्य शेषो न भवति ॥ ६५ ॥

['वृद्धः'] वृद्ध अर्थात् गोत्रप्रत्ययान्त जो शब्द है, वह ['यूना'] युवाप्रत्ययान्त शब्द के

साथ ['शेषः'] शेष रहे और युवाप्रत्ययान्त शब्द की निवृत्ति हो जाय, परन्तु ['तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः'] जो गोत्रप्रत्ययान्त और युवाप्रत्ययान्त एक ही शब्द हो, उस में प्रत्ययभेद ही हो, शब्द की आकृति भिन्न २ न हो, तो । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च = गार्ग्यौ । यहां गार्ग्य वृद्ध है और गार्ग्यायण युवा है, सो गार्ग्य रह गया और गार्ग्यायण की निवृत्ति हो गई ॥

तल्लक्षण-ग्रहण इसलिये है कि 'गार्ग्यवात्स्यायनौ' यहां शब्दाकृति भिन्न २ है, इससे एकशेष नहीं हुआ ॥ ६५ ॥

स्त्री पुंवच्च' ॥ ६६ ॥

पूर्व सूत्रं सर्वमनुवर्तते, ['शेषः' इति च ।] स्त्री । १ । १ । पुंवत् । [अ० ।] च । [अ० ।] सर्वेषु स्त्री-ग्रहणेषु सूत्रेष्वयं पक्षो ज्यायान् स्त्र्यर्थग्रहणम् । वृद्धा = गोत्रप्रत्ययान्ता स्त्री यूना सह शिष्यते, युवा निवर्तते । सा च स्त्री पुंवत् = पुमर्थे यानि कार्याणि तानि भवन्तीति । तल्लक्षण एव विशेषश्चेदिति पूर्ववत् । गार्गी च गार्ग्यायणश्च = गार्ग्यौ । वात्सी च वात्स्यायनश्च = वात्स्यौ । अत्र गार्गी-वात्सी-शब्दौ शिष्टौ । तत्र पुंवद्वचनात् पुँल्लिङ्गोक्तानि कार्याणि भवन्ति ॥

'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इति किमर्थम् । इह मा भूत्—अजा च वर्करश्च = अजावर्करौ । गार्गी च वात्स्यायनश्च = गार्गीवात्स्यायनौ ॥ ६६ ॥

['वृद्धा'] गोत्रप्रत्ययान्त जो ['स्त्री'] स्त्रीलिङ्ग शब्द हो, वह ['यूना'] युवाप्रत्ययान्त शब्द के साथ शेष रहे और युवा की निवृत्ति हो जाय, ['तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः'] परन्तु प्रत्ययभेद ही हो, शब्द की आकृति में भेद न हो । गार्गीवात्स्यायनौ । यहां शब्द की आकृति भिन्न २ है ['च'] और उस शेष रहे हुए स्त्रीलिङ्ग शब्द में सब कार्य 'पुंवत्' पुँल्लिङ्ग के समान हों ॥ ६६ ॥

पुमान् स्त्रिया' ॥ ६७ ॥

'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इत्यनुवर्तते, ['शेषः' इति च ।] पुमान् । १ । १ । स्त्रिया । ३ । १ । पुमान् स्त्रिया सह शिष्यते, स्त्री निवर्तते, तल्लक्षण एव विशेषश्चेत् = लिङ्गभेद एव चेत्, तदा । यदा त्वाकृतिभेदस्तदा मा भूत् । इन्द्रश्च इन्द्राणी च = इन्द्रौ । ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च = ब्राह्मणौ । अत्र इन्द्र-ब्राह्मण-शब्दौ शिष्यते, इन्द्राणी-ब्राह्मणी-शब्दौ निवर्तते ॥

'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इति किमर्थम् । कुक्कुटमयूर्यौ । अत्रैकशेषो न भवति शब्दाकृतिभेदात् ॥ ६७ ॥

['पुमान्'] पुँल्लिङ्ग जो शब्द हो, वह ['स्त्रिया'] स्त्रीलिङ्ग शब्द के साथ शेष रहे, स्त्रीलिङ्ग

शब्द की निवृत्ति हो जाय, परन्तु [‘तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः’] इन दोनों शब्दों में लिङ्ग भेद ही हो, आकृति भेद न हो। ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च = ब्राह्मणौ। यहां ब्राह्मण-शब्द शेष रह जाता और ब्राह्मणी-शब्द की निवृत्ति हो जाती है ॥

तल्लक्षण-ग्रहण इसलिये है कि ‘कुक्कुटमयूर्यौ’ यहां दोनों शब्दों की आकृति भी भिन्न २ है ॥ ६७ ॥

भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् ॥ ६८ ॥

‘तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः’ इति निवृत्तम्। भ्रातृपुत्रौ। १।२। स्वसृ-दुहितृ-भ्याम्। ३।२। भ्रातृ-पुत्रौ शब्दौ स्वसृ-दुहितृभ्यां शब्दाभ्यां सह यथाक्रमेण शिष्येते, स्वसृ-दुहितृ-शब्दौ निवर्त्तते। भ्राता च स्वसा च = भ्रातरौ। पुत्रश्च दुहिता च = पुत्रौ ॥

‘पुमान् स्त्रिया’ ॥’ इत्यत्र ‘तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः’ इत्यनुवर्त्तनान्न प्राप्तम्। तदर्थोऽयं योग उच्यते। भ्रातृ-पुत्र-शब्दौ भिन्नाकृती स्तः ॥ ६८ ॥

भ्रातृ, पुत्र जो शब्द हैं, वे स्वसृ-दुहितृ-शब्दों के साथ शेष रहें। स्वसृ-दुहितृ-श[ब्द नि]वृत्त हो जायें। भ्रातरौ। पुत्रौ। यहां स्वसृ- और दुहितृ-शब्दों की लोप हो गया है ॥

पूर्व सूत्र में तल्लक्षण की अनुवृत्ति थी, इससे यह बात नहीं सिद्ध होती; क्योंकि इन शब्दों की आकृति भिन्न २ हैं ॥ ६८ ॥

नपुंसकमनपुंसकेन, एकवच्चाऽस्याऽन्यतरस्याम् ॥ ६९ ॥

नपुंसकम्। १।१। अनपुंसकेन। ३।१। एकवत्। [अ०।] च। [अ०।] अस्य। ६।१। अन्यतरस्याम्। [अ०।] ‘एकवद्’ इति रूपातिदेशः। नपुंसकगुणविशिष्टः शब्दोऽनपुंसकेन = स्त्रीपुंल्लिंगगुणविशिष्टेन शब्देन सह शिष्यते, स्त्रीपुंल्लिंगौ निवर्त्तते। अस्य नपुंसकस्यैकवद् = एकवचनं विकल्पेन भवति।

आलस्यो मैथुनं निद्रा सेव्यमानं विवर्द्धते।

अत्र ‘सेव्यमानम्’ इति त्रिलिङ्गस्यैकशेषो नपुंसकं च। तत्रास्य नपुंसकस्यैकवद्भावः। ‘अन्यतरस्याम्’ इति वचनाद् द्वयमेतद् भवति—सेव्यमानं, सेव्यमानानि। तथा—‘कालोपसर्जने च तुल्यम्’ ॥’ अत्र तुल्य-शब्द उभाभ्यां सम्बध्यते। तुल्यः कालः, तुल्यमुपसर्जनम्। अत्रापि नपुंसकं शिष्यते, पुमान् निवर्त्तते। एकवद्भावो विकल्पेन भवति—कालोपसर्जने च तुल्यम्, कालोपसर्जने च तुल्ये ॥ ६९ ॥

['नपुंसकम्'] नपुंसकगुणविशिष्ट जो शब्द है, वह ['अनपुंसकेन'] अनपुंसक अर्थात् स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग गुण वाले शब्दों के साथ शेष रहे, और स्त्रीलिङ्ग, पुंलिङ्ग शब्दों की निवृत्ति हो जाय। ['च'] तथा उस नपुंसक गुण वाले शब्द में ['एकवत्'] एकवचन ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके हो।

आलस्यो मैथुनं निद्रा सेव्यमानं विवर्द्धते । °

यहां [निद्रा-शब्द] स्त्रीलिङ्ग, [आलस्य-शब्द] पुंलिङ्ग और मैथुन-शब्द नपुंसक है। इन सब के साथ सेव्यमान-शब्द का सम्बन्ध है। सो सेव्यमान-शब्द में नपुंसकलिङ्ग ही होता है। उस नपुंसक में एकवचन विकल्प से होता है। पक्ष में बहुवचन अथवा दोवचन होता है ॥ ६९ ॥

पिता मात्रा ॥ ७० ॥

‘अन्यतरस्याम्’ इत्यनुवर्तते । पिता । १ । १ । मात्रा । ३ । १ । पितृ-शब्दस्य मातृ-शब्देन सह द्वन्द्वे कृते पितृ-शब्दः शिष्यते, मातृ-शब्दो निवर्तते विकल्पेन । पक्षे द्वावपि तिष्ठतः । माता च पिता च = पितरौ, = मातापितरौ ॥

‘पुमान् स्त्रिया’ ॥’ इत्यत्र तल्लक्षणस्यानुवर्तनात् तेनैकशेषो न प्राप्तः, तस्माद्विदमारभ्यते ॥ ७० ॥

['पिता'] पितृ-शब्द का ['मात्रा'] मातृ-शब्द के साथ द्वन्द्व समास करने में पितृ-शब्द तो शेष रहे, और मातृ-शब्द की निवृत्ति हो विकल्प करके। पक्ष में दोनों शब्द बने रहें। पितरौ। मातापितरौ। यहां एकशेष के विकल्प से दो प्रयोग बनते हैं ॥ ७० ॥

श्वशुरः श्वश्र्वा ॥ ७१ ॥

श्वशुरः । १ । १ । श्वश्र्वा । ३ । १ । ‘अन्यतरस्याम्’ इत्यनुवर्तते । श्वशुर-शब्दस्य श्वश्रू-शब्देन सह द्वन्द्वे कृते श्वशुर-शब्दः शिष्यते, श्वश्रू-शब्दो निवर्तते विकल्पेन । पक्षे द्वौ स्थायेते । श्वशुरश्च श्वश्रू च = श्वशुरौ, = श्वश्रूश्वशुरौ ॥ ७१ ॥

['श्वशुरः'] श्वशुर-शब्द का ['श्वश्र्वा'] श्वश्रू-शब्द के साथ द्वन्द्व समास करने में श्वशुर-शब्द शेष रहे, और श्वश्रू-शब्द की निवृत्ति हो विकल्प करके। पक्ष में दोनों शब्द बने रहते हैं। श्वशुरौ। श्वश्रूश्वशुरौ। यहां एकशेष के विकल्प से दो प्रयोग बनते हैं ॥ ७१ ॥

त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् ॥ ७२ ॥

‘अन्यतरस्याम्’ इति निवृत्तम् । त्यदादीनि । १ । ३ । सर्वैः । ३ । ३ । नित्यम् । १ । १ । त्यदादीनां सर्वाद्यन्तर्गतानां^३ प्रातिपदिकानामन्यैः सर्वैः सह

द्वन्द्वसमासे कृते त्यदादीनि प्रातिपदिकानि [नित्यं] शिष्यन्तेऽन्यानि निवर्तन्ते । त्यदा-
दिषु परस्परस्य द्वन्द्वे परस्यैकशेषो भवति । प्रथममध्यमोत्तमपुरुषेषु उत्तमस्यैकशेषो
भवति । स च देवदत्तश्च = तौ । यश्च यज्ञदत्तश्च = यौ । स च यश्च अयं
च = इमे । अयं च स च यश्च = ये । यश्च अयं च स च = ते । स च
त्वं च अहं च = वयम् । अहं च त्वं च स च = वयम् । त्वं चाहं च स च
= वयम् ॥

भा०—त्यदादितः शेषे पुन्रपुंसकतो लिङ्गवचनानि भवन्ति ।
सा च देवदत्तश्च = तौ । सा च कुण्डे च = तानि ॥
अद्वन्द्वतत्पुरुषविशेषणानामिति' वक्तव्यम् । इह मा भूत्—स
च कुक्कुटः सा च मयूरी = कुक्कुटमयूर्यौ ते ॥^२

स्त्रीलिङ्गस्य शेषो न भवतीति यावत् ॥ ७२ ॥

['त्यदादीनि'] सर्वादिगण के अन्तर्गत जो त्यदादि-शब्द हैं, उन का ['सर्वैः'] अन्य
शब्दों के साथ द्वन्द्व समास करने में त्यदादि ['नित्यं' नित्य] शेष रहें। और अन्य शब्दों
की निवृत्ति हो जाय । स च देवदत्तश्च = तौ । यहां तत्-शब्द शेष रहा और देवदत्त-शब्द
की निवृत्ति हो गई ॥

त्यदादि-शब्दों में परस्पर द्वन्द्व समास करने में जो पर हो, वह शेष रहे औरों की निवृत्ति
हो जाय । स च यश्च = यौ । यहां यत्-शब्द शेष रहा और तत्-शब्द की निवृत्ति हो गई ॥

तथा प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुषवाची शब्दों के द्वन्द्व में उत्तमवाची-शब्द शेष रहता,
[तथा] औरों की निवृत्ति हो जाती है । अहं च त्वं च स च = वयम् । यहां अस्मत्-शब्द
शेष रहा, औरों की निवृत्ति हो गई ॥ ७२ ॥

ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री' ॥ ७३ ॥

‘पुमान् स्त्रिया' ॥' इत्यस्यापवादोऽयं योगः । ग्राम्यपशुसङ्घेषु । ७ । ३ ।
अतरुणेषु । ७ । ३ । स्त्री । १ । १ । ग्रामे जाताः = ग्राम्याः । ग्राम्याश्च ते
पशवः = ग्राम्यपशवः । ग्राम्यपशूनां सङ्घाः = ग्राम्यपशुसङ्घाः समूहाः, तेषु ।
‘सङ्घोद्धौ गणप्रशंसयोः' ॥' इति गणार्थे निपातनात् । न विद्यन्ते तरुणाः =
बाल्यावस्थास्थाः पशवो येषु सङ्घेषु, तेषु । अतरुणेषु ग्राम्यपशुसङ्घेषु कृतद्वन्द्वेषु
स्त्री शिष्यते, पुमान् निवर्तते । गावश्च वृषभाश्च = गाव इमाश्चरन्ति । महिषाश्च
महिष्यश्च = महिष्य इमाश्चरन्ति । [अत्र] वृषभ-महिषौ निवर्तते ॥

१. कोशे तु—“विशेषाणामिति” इति ॥

४. १ । २ । ६७ ॥

२. अ० १ । पा० २ । आ० ३ ॥

५. ३ । ३ । ८६ ॥

३. सा०—पृ० ५० ॥

ग्राम्य-ग्रहणं किमर्थम् । न्यङ्कव इमे । सूकरा इमे । 'पुमान् स्त्रिया' ॥
इति पुमान् शिष्यते, स्त्रियो निवर्तन्ते ॥

पशु-ग्रहणं किमर्थम् । इह मा भूत्—ब्राह्मणा इमे । वृषला इमे । अत्रापि
पूर्ववत् पुमान् शिष्यते ॥

'सङ्घेषु' इति किमर्थम् । एतौ गावौ चरतः ॥

'अतरुणेषु' इति किमर्थम् । तरुणका^१ इमे । वर्करा इमे । वत्सा इमे ।
'पुमान् स्त्रिया' ॥' इति पुमान् शिष्यते ॥

'पुमान् स्त्रिया' ॥' इति सूत्रेण पुंसः शेषे प्राप्तेऽनेन स्त्री शिष्यते ॥

वा०—अनेकशफेष्विति वक्तव्यम् । इह मा भूत्—अश्वाश्च-
रन्ति, गर्दभाश्चरन्तीति ॥^३ ७३ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

यह सूत्र 'पुमान् स्त्रिया' ॥' इस सूत्र का अपवाद है । क्योंकि इस से पुँल्लिङ्ग शब्द का शेष पाता था, और यहां स्त्रीलिङ्ग का शेष विधान किया है । अतरुण अर्थात् बच्चे न हों, ऐसे जो ग्राम के पशुओं के समूह हैं, उन के प्रयोग में स्त्रीलिङ्ग शब्द शेष रहें और पुँल्लिङ्ग शब्दों की निवृत्ति हो जाय । गावश्च वृषभाश्च = गावः । यहां वृषभ-शब्द की निवृत्ति होती और गौ-शब्द शेष रहता है ॥

ग्राम्य-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'रुरव इमे' यहां वन के पशु हैं, इससे^२ [पुँल्लिङ्ग शब्द शेष रहा और स्त्रीलिङ्ग शब्द की निवृत्ति हो गई ॥

[पशु-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि अन्य शब्दों के द्वन्द्व में स्त्रीलिङ्ग शब्द शेष न रहे ॥

[इसी प्रकार संघ-शब्द और अतरुण-शब्द को ग्रहण करने से अन्य शब्दों में पुँल्लिङ्ग शब्द ही शेष रहता है । जैसे—एतौ गावौ चरतः । वत्सा इमे ॥

['अनेकशफेषु०' इस वार्तिक से एक शफ वाले अतरुण ग्राम्य पशुओं के संघ वाची द्वन्द्व में पुँल्लिङ्ग शब्द शेष रहता है । जैसे—अश्वाश्चरन्ति । गर्दभाश्चरन्ति ॥ ७३ ॥

यह प्रथमाध्याय का दूसरा पाद समाप्त हुआ ॥]

१. १ । २ । ६७ ॥

३. अ० १ । पा० २ । आ० ३ ॥

२. माध्यकोशेषु—'उरुणकाः' 'उरुणकाः' इत्य-
पि पाठो उपलभ्यते ॥

४. कोरा में इस स्थल से लेकर दूसरे अध्याय के
प्रथम सूत्र तक १२३ पत्रे लुप्त हैं ॥

ओ३म्

अथ प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ॥

भूवादयो धातवः ॥ १ ॥ भू^१यः, धातवः^१।

उपदेशोऽजनुनासिक इत् ॥ २ ॥ उ^१ं शै, अ^१च, अ^१ं कः, उ^१ं

हलन्त्यम् ॥ ३ ॥ ह^१ल्, अन्त्यम्^१।

न विभक्तौ तुस्माः ॥ ४ ॥

आदिर्जिदुडवः ॥ ५ ॥ आ^१दिः, जि^१ं वः ।

षः प्रत्ययस्य ॥ ६ ॥

चुट् ॥ ७ ॥

लशक्तद्धिते ॥ ८ ॥ ल^१शक्तु, अ^१ं ते ।

तस्य लोपः ॥ ९ ॥

१^० म, अ^१ं शै, ल^१ं म ।

यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् ॥ १० ॥

स्वरितेनैधिकारः ॥ ११ ॥

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् ॥ १२ ॥

भावकर्मणोः ॥ १३ ॥ धातु^१ले भाव^१कर्म^१णो^१ भाव^१कर्म^१णो^१ भाव^१कर्म^१णो^१

कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे ॥ १४ ॥

न गतिहिंसार्थेभ्यः ॥ १५ ॥

१०^१ म, अ^१ं म ।

इतरेतरान्योऽन्योपपदाच्च ॥ १६ ॥

१. तृतीयचतुर्थपादस्थानां सज्जाणां व्याख्यानं पुस्त-

कान्ते प्रथमे परिशिष्टे द्रष्टव्यम् । अत्र भगवद्-

दयानन्दसरस्वतीस्वामिनस्तु भाष्यपत्राणि लुप्तानि

सन्ति ॥

कर्मव्यतिहार (भावार्थ के बदले) व्यतिलुप्तो, व्यतिपुनो (एक पुनो का कथित है), एक

का लाफ करो हैं।

नेर्विशः ॥ १७ ॥ ^५नेः, ^५विशः ।

परिठ्यवेभ्यः क्रियः ॥ १८ ॥

विपराभ्यां जेः ॥ १९ ॥

आडो दोऽनास्यविहरणे ॥ २० ॥ ^५आडेः, ^५देः, ^५ओः, ^५ओः ।

क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च ॥ २१ ॥ ^५क्रीडेः, ^५अभ्यः, ^५अ ।

समवप्रविभ्यः स्थैः ॥ २२ ॥

प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च ॥ २३ ॥ ^५प्रोयोः, ^५अ ।

उदोऽनूर्ध्वकर्मणि ॥ २४ ॥ ^५उदेः, ^५ओः, ^५रिण ।

उपान्मन्त्रकरणे ॥ २५ ॥ ^५उपात्, ^५मन्त्रेण ।

अकर्मकाच्च ॥ २६ ॥ ^५ओत्, ^५अ ।

उद्विभ्यां तपः ॥ २७ ॥

आडो यमहनः ॥ २८ ॥ ^५आडेः, ^५यन्नेः ।

समो गम्यृच्छिभ्याम् ॥ २९ ॥ ^५समेः, ^५गम्यृम् ।

निसमुपविभ्यो हः ॥ ३० ॥ ^५निभ्यैः, ^५हः ।

स्पर्द्धायामाङः ॥ ३१ ॥ ^५स्पर्म, ^५आडेः ।

गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथ-
नोपयोगेषु कृजैः ॥ ३२ ॥

अधेः प्रसहने ॥ ३३ ॥

वेः शब्दकर्मणः ॥ ३४ ॥

अकर्मकाच्च ॥ ३५ ॥

१. काशिकायाम्—“समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्य-
तिश्रुविदिभ्यः ॥” इति सूत्रम् । चान्द्रशब्दलक्ष-
णानुक्त्या वार्त्तिकश्रितोऽयं पाठः कृतः । इमे ते
वार्त्तिके—“समो गमादिषु विदिप्रच्छिस्वरतीना-

मुपसङ्ख्यानम् ॥ अतिश्रुदृशिभ्यश्च ॥” (अ०
१।पा० ३।आ० २) चान्द्रं च सूत्रम्—
“समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यतिदृशः ॥” (१।
४।७१)

सम्माननोत्सज्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगण-
नव्ययेषु निर्यः ॥ ३६ ॥

ॐ स्व, अ, अङ्गरी, कर्मणि / कर्तृस्थे चाङ्गरी कर्मणि ॥ ३७ ॥

वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः ॥ ३८ ॥

उपपराभ्याम् ॥ ३९ ॥

आङ् उद्गमने ॥ ४० ॥ आङ्, अङ्गे ।

वेः पादविहरणे ॥ ४१ ॥ वे न पद विहरणे ।

प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् ॥ ४२ ॥

अनुपसर्गाद् वा ॥ ४३ ॥

अपह्नवे ज्ञः ॥ ४४ ॥

अकर्मकाच्च ॥ ४५ ॥

सम्प्रतिभ्यामनाध्याने ॥ ४६ ॥ सम्, अङ्गे ।

भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु
वदः ॥ ४७ ॥

व्यक्तवाचां समुच्चारणे ॥ ४८ ॥

अनोरकर्मकात् ॥ ४९ ॥ अङ्गे, अङ्गे ।

विभाषा विप्रलार्पे ॥ ५० ॥

अवाद् ग्रः ॥ ५१ ॥

समैः प्रतिज्ञाने ॥ ५२ ॥

उद्श्वरः सकर्मकात् ॥ ५३ ॥ उद्, अङ्गे, अङ्गे ।

समस्तृतीयायुक्तात् ॥ ५४ ॥ सम, अङ्गे ।

दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे ॥ ५५ ॥ दाण, अङ्गे, अङ्गे, अङ्गे ।

उपाद् यमः स्वकरणे ॥ ५६ ॥ उपा, यम, अङ्गे ।

२१

वृत्ति (अप्रतिबन्ध) सर्ग (उत्साह) तापन (वृद्धि)

अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपूः ॥ ८० ॥ ^५अ० भ्यः, ^५क्षिपूः

प्राद् वहः ॥ ८१ ॥

परेर्मृषः ॥ ८२ ॥ ^५परेः, ^५मृषः ।

व्याङ्परिभ्यो रमः ॥ ८३ ॥ ^५व्या० भ्यः, ^५रमः

उपाच्च ॥ ८४ ॥ ^५उपात्, ^५च

विभाषाऽकर्मकात् ॥ ८५ ॥

बुधयुधनशजनेङ्गुदुसुभ्यो णेः ॥ ८६ ॥

निगरणचलनार्थेभ्यश्च ॥ ८७ ॥

अणावकर्मकाच्चित्तवत् कर्तृकात् ॥ ८८ ॥

^५न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहसुचिन्तवद-

वसः ॥ ८९ ॥

^५वा कयषः ॥ ९० ॥

बुद्भ्यो लुङि ॥ ९१ ॥

वृद्भ्यः स्यसनोः ॥ ९२ ॥

^५लुटि च कलूपः ॥ ९३ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

ओ३म्

अथ प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ॥

आ कडारादेका सञ्ज्ञा ॥ १ ॥ ^{अ, कडाए, एका, सञ्ज्ञा}

विप्रतिषेधे परं कार्यम् ॥ २ ॥

यू स्त्र्याख्यौ नदी ॥ ३ ॥ ^{इदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नये}

नेयडुवड्स्थानावस्त्री ॥ ४ ॥ ^{सञ्ज्ञातो ह्यन्तात्}

वाऽऽमि ॥ ५ ॥ ^{वाँ, आमि}

डिति ह्रस्वश्च ॥ ६ ॥ ^{डिङ्गि, ह्रस्वः, च}

शेषो व्यसखि ॥ ७ ॥ ^{शेषः, वि, असखि}

पतिः समास एव ॥ ८ ॥ ^{पतिः, समास, एव}

षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा ॥ ९ ॥ ^{षष्ठी, युक्तः, छन्दसि, वा}

ह्रस्वं लघु ॥ १० ॥

संयोगे गुरु ॥ ११ ॥

दीर्घं च ॥ १२ ॥

यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् ॥ १३ ॥

सुसिद्धन्तं पदम् ॥ १४ ॥

नः कये ॥ १५ ॥

सिति च ॥ १६ ॥

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ॥ १७ ॥ ^{स्वादिष्व, असर्वनामस्थाने}

षचि भम् ॥ १८ ॥

^१तसौ ^२मत्सर्वे ॥ १९ ॥

^१अयस्मयादीनि ^६छन्दसि ॥ २० ॥

^६बहुषु ^१बहुवचनम् ॥ २१ ॥

^६द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने ॥ २२ ॥ ^१बाल-पठति ।

^६कारके ॥ २३ ॥

^१ध्रुवमपायेऽपादानम् ॥ २४ ॥ ^१ध्रुवम्, ^१अपाये, ^१अपादानम्

^१भीत्रार्थानां ^१भयहेतुः ॥ २५ ॥

^६परेः, ^१असौः । ^१पराजेरसौः ॥ २६ ॥

^६वारणार्थानाम्, ^६इप्सितः । ^६वारणार्थानामीप्सितः ॥ २७ ॥

^६अन्तर्द्धौ, ^१येन, ^१अदृष्टेन, ^१इच्छते । ^६अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति ॥ २८ ॥

^६आख्यातोपयोगे ॥ २९ ॥ ^१आख्याता, ^१उपयोगे ।

^६जनिकर्तुः ^१प्रकृतिः ॥ ३० ॥ ^१प्रकृति (उपादान)

^६भुवः ^१प्रभवः ॥ ३१ ॥

^३समाप्ते, ^२अम्, ^१अभिप्रेति, ^१सम्प्रदानम् । ^६कर्मणा यमभिप्रेति स सम्प्रदानम् ॥ ३२ ॥

^६रुच्यर्थानां ^१प्रीयमाणः ॥ ३३ ॥

^६श्लाघद्बहुनुङ्स्थौशपां ^१क्षीप्स्यमानः ॥ ३४ ॥

^६धारेरुत्तमणः ॥ ३५ ॥

^६स्पृहेरीप्सितः ॥ ३६ ॥

^६क्रुधद्बुहेर्ष्यासूयार्थानां ^१यं प्रति कोपः ॥ ३७ ॥

^६क्रुधद्बुहोरुपेष्टयोः ^१कर्म ॥ ३८ ॥

^६राधीक्ष्योर्यस्य ^१विप्रश्नः ॥ ३९ ॥

^६प्रत्याङ्भ्यां ^१श्रुवः ^१पूर्वस्य ^१कर्त्ता ॥ ४० ॥

^६अनुप्रतिगृणश्च ॥ ४१ ॥ ^१अनुगृणः, ^१च

^६क्रुधद्बुहोः, ^१उपेष्टयोः, ^१कर्म
^६राधीक्ष्योः, ^१प्रश्न विप्रश्नः

साधकतमं^१ करणम्^१ ॥ ४२ ॥

दिवः^६ कर्म^१ च^३ ॥ ४३ ॥

१-१, अन्तरा ३१ परिश्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् ॥ ४४ ॥

आधारोऽधिकरणम्^१ ॥ ४५ ॥

अधिशीङ्स्थासां^६ कर्म^१ ॥ ४६ ॥

अभिनिविशश्च^६ ॥ ४७ ॥ अभिनिविशः च

उपान्वध्याङ्सः^६ ॥ ४८ ॥

कर्तुरीप्सिततमं^१ कर्म^१ ॥ ४९ ॥ कर्तुः, इप्सिततमम्, कर्म

तथा युक्तं^{१-१} चानीप्सितम्^{१-१} ॥ ५० ॥

अकथितं^१ च^३ ॥ ५१ ॥

१, अण्, कर्त्तुः, ५, एण् / गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि-

कर्त्ता स णौ ॥ ५२ ॥

हृक्कोरन्यतरस्याम् ॥ ५३ ॥ हृक्कोः, अन्तरस्याम्

स्वतन्त्रः कर्त्ता ॥ ५४ ॥

तत्प्रयोजको^१ हेतुश्च^१ ॥ ५५ ॥ (-प्रयोजक = प्रेरक)

प्राग्^३ रीश्वरान्निपाताः^१ ॥ ५६ ॥

चादयोऽसत्त्वे ॥ ५७ ॥

प्रादय^{१-३} उपसर्गाः^{१-३} क्रियायोगे^{६-१} ॥ ५८ ॥

गतिश्च^१ ॥ ५९ ॥

१, अण्, उपसर्गः, अण् / ऊर्ग्यादिचिबडाचश्च ॥ ६० ॥

अनुकरणं^१ चानितिपरम्^१ ॥ ६१ ॥

१. शक्तिपारेण जयादित्येन अन्यैश्च भट्टोजिदीक्षि-
तादिभिः "प्रादयः ॥ उपसर्गाः क्रियायोगे ॥"

इति द्वे सूत्रे कृते । तदिदमयुक्तम् ॥

आदरानादरयोः सदसती ॥ ६२ ॥

भूषणेऽलम् ॥ ६३ ॥

अन्तरपरिग्रहे ॥ ६४ ॥ अपरिग्रह = अस्वीकृत्

कणेमनसी श्रद्धाप्रतीक्षाते ॥ ६५ ॥

पुरोऽव्ययम् ॥ ६६ ॥

अस्तं च ॥ ६७ ॥

अच्छ गत्यर्थवदेषु ॥ ६८ ॥

अदोऽनुपदेशे ॥ ६९ ॥

तिरोऽन्तर्द्धौ ॥ ७० ॥ तिरस्, अन्तर्द्धौ

विभाषा कृञि ॥ ७१ ॥

उपाजेऽन्वाजे ॥ ७२ ॥

साक्षात्प्रभृतीनि च ॥ ७३ ॥

अनत्याधान उरसिमनसी ॥ ७४ ॥

मध्ये पदे निवचने च ॥ ७५ ॥

नित्यं हस्ते पाणावुपयमने ॥ ७६ ॥

प्राध्वं बन्धने ॥ ७७ ॥

जीविकोपनिषदावौपम्ये ॥ ७८ ॥

ते प्राग् धातोः ॥ ७९ ॥

छन्दसि परेऽपि ॥ ८० ॥

व्यवहिताश्च ॥ ८१ ॥ व्यवहितः च

कर्मप्रवचनीयाः ॥ ८२ ॥

१. अत्र श्रीबोटलिङ्गमहोदयः—“Dieses und das folgende Sūtra sind ursprünglich

Vārttika. [छन्दसि परेऽपि, व्यवहितश्च इति वक्तव्यम् ॥ अ० १।पा० ४।आ० ४]”

अनुर्लक्षणे ॥ ८३ ॥ ^१अने: लक्षणे

^{६-१}तृतीयार्थे ॥ ८४ ॥

हीने ॥ ८५ ॥

उपोऽधिके च ॥ ८६ ॥ ^१उप: आधिके च

^१अपपरी वर्जने ॥ ८७ ॥

^३आङ् मर्यादावचने ॥ ८८ ॥

लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु ^{६-२}प्रति-
^{३-२}पर्यनवः ॥ ८९ ॥

अभिरभागे ॥ ९० ॥ ^१अभि: अभिरभागे

^१प्रति: प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ॥ ९१ ॥

^{१-२}अधिपरी ^{१-२}अनर्थकौ ॥ ९२ ॥

सुः पूजायाम् ॥ ९३ ॥

अतिरतिक्रमणे च ॥ ९४ ॥ ^१अति: अतिरतिक्रमणे च

^१अपि: पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हास-

मुच्येषु ॥ ९५ ॥

अधिरीश्वरे ॥ ९६ ॥ ^१आधि: इश्वरे

^३विभाषा कृञि ॥ ९७ ॥

^६लः ^१परस्मैपदम् ॥ ९८ ॥

तडानावात्मनेपदम् ॥ ९९ ॥ ^१तडातो डात्मने (आत्मनेपदम्)

^१तिङ्स्त्रीणि ^१त्रीणि ^१प्रथममध्यमोत्तमाः ॥ १०० ॥

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः ॥ १०१ ॥

^६सुपः ॥ १०२ ॥

^१विभक्तिश्च ॥ १०३ ॥ ^१विभक्ति: च

१०३ ॥ १०३ ॥

युष्मद्युपपदे, उपपदे, मन्त्रे
स्थानिनिधिः अस्मिन् मन्त्रे

युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि म-
ध्यमः ॥ १०४ ॥ [१०५ ॥

प्रहासे च मन्त्रोपपदे मन्त्रतेरुत्तम एकवचः ॥

अस्मद्युत्तमः ॥ १०६ ॥

शेषे प्रथमः ॥ १०७ ॥ क = वचः

परः सन्निकर्षः संहिता ॥ १०८ ॥

विरामोऽवसानम् ॥ १०९ ॥ विरामः अवसानम् ।

इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

प्रथमाध्यायश्च समाप्तः ॥

१०५ अहोरे, च, मन्त्रोपपदे, मन्त्रतेः, उत्तमः, एकवचः, च ।

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः ॥

[अथ परिभाषासूत्रम्]

[समर्थः पदविधिः ॥ १ ॥

समर्थः । १ । १ । पदविधिः । १ । १ ॥

भा०—‘विधिः’ इति कोऽयं शब्दः । वि-पूर्वाद् धाजः कर्म-
साधन इकारः । विधीयते विधिरिति । किं पुनर्विधीयते ।
समासो विभक्तिविधानं पराङ्गवद्भावश्च^१ ॥

किं पुनरयमधिकारः, आहोस्वित् परिभाषा । कः पुनः^२ अधिकार-
परिभाषयोर्विशेषः । अधिकारः प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थं इति
योगे योग उपतिष्ठते^३ । परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती कृत्स्नं^४
शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत् । तद्यथा—प्रदीपः सुप्रज्वलित
एकदेशस्थः सर्वं वेश्माभिज्वलयति ॥^५

अयमधिकारपरिभाषयोः सन्देहो निवर्तितः । इदं परिभाषासूत्रमेव न
त्वधिकारः ॥

भा०—किं समर्थं नाम । पृथगर्थानामेकार्थीभावः समर्थवचनम्^६ ॥
सङ्गतार्थं समर्थं, संमृष्टार्थं समर्थं, सम्प्रेक्षितार्थं समर्थं, सम्ब-
द्धार्य समर्थम् ॥^७

येन सह यस्य योगो भवति, तेन सह स समर्थो भवति । यथा—कष्टं श्रितो

१. सा०—पृ० १ ॥

४. पाठान्तरम्—प्रतिष्ठते ॥

२. दृश्यन्ताम्—क्रमेण २ । १ । ३ ॥ २ ।

५. पाठान्तरम्—सर्वम् ॥

३. १ । १ ॥ २ । १ । २ ॥

६. अ० २ । पा० १ । आ० १ ॥

७. अतः पूर्वं पञ्चाणि छुप्तानि सन्ति ॥

७. वार्त्तिकमिदम् ॥

देवदत्तः । अत्र कष्ट-शब्दस्य श्रित-शब्देन सह योगोऽस्ति । अत एव 'कष्टश्रितो देवदत्तः' इति समासो भवति । यदा च—भुज्यते त्वया कष्टं, श्रितः शिष्यो गुरुम् । अत्र कष्ट-शब्दस्य श्रितेन सह सम्बन्धो नास्ति, अतः समासोऽपि न भविष्यति । एवं सर्वत्र समर्थस्य कार्यं भवतीति योजनीयम् ॥ १ ॥

यह परिभाषा सूत्र है । समर्थ उस को कहते हैं कि जो पृथक् २ पदार्थ हैं, उन का संयोग = सम्बन्ध होना । पदविधि अर्थात् सुबन्त तिङन्त को जो कुछ विधान किया जाय, तो प्रथम उन का सामर्थ्य कार्य के करने को हो । जिस शब्द के साथ जिस का सम्बन्ध होता है, वह [उस के साथ] समर्थ कहाता है । जैसे—कष्टं श्रितो देवदत्तः । यहां कष्ट और श्रित-शब्द का देवदत्त-शब्द के साथ संयोग = सम्बन्ध है । इससे समास भी हो जाता है । और 'भुज्यते त्वया कष्टं, श्रितः स गुरुम्' यहां कष्ट-शब्द और श्रित-शब्द का समानाधिकरण नहीं । इसीसे समास भी नहीं होता ॥ १ ॥

[अथातिदेशसूत्रम्]

सुवामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे' ॥ २ ॥

सुप् । १ । १ । आमन्त्रिते । ७ । १ । पराङ्गवत् । अ० । स्वरे । ७ ।
१ । सम्बोधने प्रथमाया विभक्त्या आमन्त्रित-सञ्ज्ञाऽप्रे विधास्यते, तस्मिन् ।
परस्य अङ्गं = अवयवः, तद्वत् । स्वरे = स्वरविधौ कर्तव्ये । आमन्त्रिते परे सति सुबन्तं पराङ्गवद् भवति स्वरे = स्वरविधौ कर्तव्ये । मद्राणां^३ राजन् । अत्र 'म-

१. सा०—पृ० २ ॥

२. २ । ३ । ४८ ॥

३. ऐतरेयब्राह्मण उत्तरमद्राः—“तस्मादेतस्यामुदी-
च्यां दिशि ये के च परेणं हिमवन्तं जनपदा उत्तर-
कुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते ।”

(८ । १४ । ३)

बृहदारण्यकोपनिषदि—“अथ हैनं भुज्युर्ला-
ह्यायनिः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच । मद्रेषु
चरकाः पर्यव्रजामः । ते पतञ्जलस्य काप्यस्य गृहा-
नैमः ।” (३ । ३ । १ ॥ अपि च द्रष्टव्यं ३ । ७ । १)

महाभारते कर्णपर्वणि—

“तत्र बृहः पुरावृत्ताः कथाः कश्चिद् द्विजोत्तमः ।
बाहीकदेशान् मद्राश्च कुत्सयन् वाक्यमब्रवीत् ॥

२०२८ ॥

कहिष्कृता हिमवता गङ्गया च बहिष्कृताः ।

सरस्वत्या यमुनया कुरुक्षेत्रेण चापि ये ॥२०१६॥

शाकलं नाम नगरमापगा नाम निम्नगा ॥२०३३॥

धाना गौडयासवं पीत्वा गोमांसं लशुनैः सह ।

अपूपमांसमद्यानामाशिनः शीलवर्जिताः ॥२०३४॥

गायन्त्यथ च नृत्यन्ति स्त्रियो मत्ता विवाससः ।

नगरागारवप्रेषु बहिर्माल्यानुलेपनाः ॥२०३५॥

मत्तावगीतैर्विविधैः खरोष्ट्रमिनदोपमैः ।

अनावृता मैथुने ताः कामचाराश्च सर्वशः ॥२०३६॥”

मद्राणां शाकलनाम्नी (चीनाक्षरेषु—“शे-
की-लो”) राजधान्यासीदिति सभापर्वणि—

“ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुटमेदनम् ॥११६६॥

मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वरो बली । ११६७॥”

बृहत्संहितायाम् —

“दिशि पश्चिमोत्तरस्यां माण्डव्यतुषारतालहलमद्राः ॥”

(१४ । २२)

द्राणाम्' इति सुबन्तं, [तस्य] 'राजन्' इत्यामन्त्रिते परतः पराङ्गवद्विधानाद्, 'आमन्त्रितस्य च' ॥' इति सूत्रेण पदात् परस्यामन्त्रितस्यानुदात्तं प्राप्तं, तन्न भवति । अर्थात् पूर्वं सुबन्तमविद्यमानमेव भवति । [पराङ्गवद्भावाद् 'आमन्त्रितस्य च' ॥' इति षाष्ठिकेन सुबन्तस्याद्युदात्तत्वं भविष्यति ।] एवं 'परशुना वृश्चन्' इत्यादिषु च योजनीयम् ॥

सुप्-ग्रहणं किमर्थम् । पीड्ये पीड्यमान । अत्र 'अहं पीड्ये' इति तिङन्त-
सामन्त्रिते परतः पराङ्गवन्न भवति ॥

'आमन्त्रिते' इति किम् । गेहे शूरः । आमन्त्रिताभावात् पराङ्गवन्न भवतीति ॥

द्या०— सुबन्तस्य पराङ्गवद्भावे समानाधिकरणस्योपसङ्ख्यानम् ॥ १ ॥

तीक्ष्णया सूच्या सीन्यन् ॥ ५

अत्र 'तीक्ष्णया' इति विशेषणस्यापि पराङ्गवद्भावो भवतीति ॥ १ ॥

परमपि छन्दसि ॥ २ ॥ ५

वेदे परमपि सुबन्तं पूर्वस्याङ्गवद् भवतीति । आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु ॥
मृतिं त्वा दुहिताः ५ । अत्र 'पितर' इत्यामन्त्रितमाष्टमिकेनानुदात्तं, तस्मात्
परं 'मरुताम्' इत्येतदपि पूर्वस्याङ्गवद्भावेनानुदात्तमेव भवति । एवं 'दुहितर' इत्या-
मन्त्रितमनुदात्तं, तस्मात् परं 'दिवः' इत्येतदप्यनुदात्तमेव भवति ॥ २ ॥

अव्ययप्रतिषेधश्च ॥ ३ ॥ ५

आमन्त्रिते परतोऽव्ययं पराङ्गं भवतीत्यर्थः । उच्चैरधीयान नीचैरधीयान ।
अत्र पराङ्गवद्भावप्रतिषेधाद् 'अधीयान' इत्यामन्त्रितमनुदात्तं भवति ॥ ३ ॥

अनव्ययीभावस्य ॥ ४ ॥ ५

अव्ययीभावस्य अव्यय-सङ्गत्वात् पूर्ववार्त्तिकेन प्रतिषेधः प्राप्तः, तस्य
अतिप्रसवेन विधानं क्रियते । अव्ययीभावस्तु पराङ्गवद् भवत्येव । उपाग्न्यधीयान ।
अत्यग्न्यधीयान । अत्रापि 'उपाग्नि, प्रत्यग्नि' इत्यव्ययं तदधीयान इत्यामन्त्रिते
परतः पराङ्गवद्भवति । तेनाष्टमिको निघातो न प्रवृत्तो भवति ॥ २ ॥

१. ५।१।१६ ॥

न्तरत्वात् ॥' इति वा पाठः ॥

२. ६।१।१६५ ॥

४. अ० २।पा० १।आ० २ ॥

३. आ०— "० उपसङ्ख्यानमनन्तरत्वात् स्वरे

५. अ०— २।३३।१ ॥

अवधारणाच्च ॥' इति, "० उपसङ्ख्यानमनन्तर-

६. अ०— ७।५१।३ ॥

यह अतिदेश सूत्र है। सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का जो एकवचन है, उस की आगे 'आमन्त्रित-सन्ज्ञा' करेंगे। उस आमन्त्रित के परे [होते हुए] सुबन्त जो [उस के पूर्व] है, वह पराङ्गवत् अर्थात् पर के तुल्य हो जाय, स्वरविधि करना हो तो। मद्राणां राजन्। यहां 'मद्राणाम्' यह सुबन्त है, और 'राजन्' आमन्त्रित परे है। सो आमन्त्रित के परे [होने पर] सुबन्त को पराङ्गवद्भाव होने से, राजन्-शब्द को [सुबन्त के पराङ्गवद्भाव न होने से जो] अनुदात्त प्राप्त था, सो न हुआ। [किन्तु सुबन्त और आमन्त्रित को एक पद मानके सुबन्त को 'आमन्त्रितस्य च'१॥] इस से आद्युदात्त हो गया ॥]

सुप्-ग्रहण इसलिये है कि 'पीड्ये पीड्यमान' यहां 'पीड्ये' यह सुबन्त ही नहीं। इससे पराङ्गवत् नहीं हुआ ॥

और आन्त्रित-ग्रहण इसलिये है कि 'गेहे शूरः' यहां आमन्त्रित परे नहीं, इससे पराङ्गवद्भाव नहीं हुआ ॥

'सुबन्तस्य०'॥ सुबन्त को जो पराङ्गवद्भाव कहा है, वहां सुबन्त का जिस के साथ समानाधिकरण हो, उस को भी पराङ्गवद्भाव हो जाय। तीक्ष्णया सूच्या सीज्यन्। यहां सूची-और तीक्ष्ण-शब्द का समानाधिकरण है। उस में सूची विशेष्य और तीक्ष्ण विशेषण है। सो इस वार्तिक से तीक्ष्ण-शब्द को भी पराङ्गवद्भाव हो गया ॥ १ ॥

'परमपि छन्दसि'॥ वेदों में आमन्त्रित से पर भी संबन्ध हो, उस को पूर्व के अङ्ग के तुल्य हो जाय। आ ते पितर्मरुताम्३। यहां 'पितर' आमन्त्रित है। 'मरुताम्' जो सुबन्त है, उस को पराङ्गवद्भाव होने से अनुदात्त स्वर हो गया। इस दूसरे वार्तिक का प्रयोजन है ॥ २ ॥

'अव्ययप्रतिषेधश्च'॥ अव्यय से पर जो आमन्त्रित हो, तो उस अव्यय को पराङ्गवद्भाव न हो। उच्चैरधीयान। यहां 'उच्चैस्' अव्यय से पर 'अधीयान' आमन्त्रित है। सो अव्यय को पराङ्गवद्भाव के न होने से आमन्त्रित को निघात हो गया। यह बात तीसरे वार्तिक से सिद्ध हुई ॥ ३ ॥

'अनव्ययीभावस्य'॥ अव्ययीभाव समास की अव्यय-सन्ज्ञा होने से पूर्व वार्तिक से पराङ्गवद्भाव का निषेध प्राप्त था। सो इस वार्तिक से विधान किया है। अव्ययीभाव समास को पराङ्गवद्भाव हो आमन्त्रित के परे [होने पर]। उपाग्न्यधीयान। यहां 'उपाग्नि' यह अव्ययीभाव है। उस के पराङ्गवत् होने से आमन्त्रित का अनुदात्त स्वर नहीं हुआ। यह इस चौथे वार्तिक का प्रयोजन हुआ ॥ ४ ॥ २ ॥

[अथ समास-सन्ज्ञाधिकारः]

प्राक् कडारात् समासः४ ॥ ३ ॥

अधिकारोऽयम् । प्राक् । अ० । कडारात् । ५ । १ । समासः । १ । १ ।

१. २।३।४८॥

३. अ०—२।३३।१॥

२. ६।१।१६८॥

४. सा०—५० २॥

प्राक्=पूर्वम् । कडारात्—‘कडाराः कर्मधारये’॥’ इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीय-
पादसमाप्तिपर्यन्तं समासाधिकारो वेदितव्यः ॥

प्राग्-वचनस्यैतत् प्रयोजनम्—एकसञ्ज्ञाधिकारोऽयं, तत्र समास-सञ्ज्ञाया
बाधिका अव्ययीभावादयः सञ्ज्ञाः स्युः । प्राग्-वचनेन सञ्ज्ञासमावेशो भविष्यति ।
सामान्येन सर्वस्य समास-सञ्ज्ञा । तस्य अव्ययीभावादयः सञ्ज्ञा अवयवीभूता
भविष्यन्ति ॥ ३ ॥

यह अधिकार सूत्र है । इस अध्याय के द्वितीय पाद की समाप्ति पर्यन्त समास-सञ्ज्ञा का
अधिकार समझना चाहिये ॥

प्राक्-ग्रहण का प्रयोजन यह है कि यह एक सञ्ज्ञा का अधिकार है, सो अव्ययीभावादि
संज्ञा समास-सञ्ज्ञा की बाधक न हों, किन्तु सामान्य करके सब की समास-संज्ञा हो, और
अवयवीभूत होके अव्ययीभाव आदि संज्ञा भी रहें ॥ ३ ॥

सह सुपां ॥ ४ ॥

‘सुदात्मन्त्रिते ०’॥’ इत्यस्मात् सूत्रात् सुप्-ग्रहणमनुवर्तते । सह । अ० ।
सुपा । ३ । १ । ‘सुपा सह सुप् सम्प्रदाने’ इत्यधिकारोऽत्र कडारात् पर्यन्तं भविष्यति ॥

भा०—अधिकारश्च लक्षणं च । अत्र महाभाष्यकारेण लक्षणं
निरूपितं इदं तस्य लक्षणं भविष्यति ॥

अस्मिन् सूत्रे महाभाष्यकारेण ‘सह’ इत्यस्य योगविभागः कृतः, तेनैतत्
प्रयोजनं निस्सारितं—द्वावर्थौ यथा स्याताम् । ‘समर्थेन सह सुप् समस्यते’ इति
प्रथमः, ‘सुपा च सह सुप् समस्यते’ इति द्वितीयः । प्रथमार्थेन लक्षणं भवि-
ष्यति, अर्थात् यस्य समासस्य किमपि लक्षणं सूत्रं नास्ति, तत्रानेन समासो भवि-
ष्यतीत्यर्थः । द्वितीयार्थेनाधिकारो भविष्यति ॥

एतं महाभाष्यकाराभिप्रायमज्ञात्वा भट्टोजिदीक्षितमदिभिः द्वितीयाश्रितादि-
सूत्रेषु योगविभागं कृत्वा लक्षणरहितस्य समासस्य सिद्धिः कृता । एते तेषां
महान् भ्रमोऽस्ति ॥

१. २ । २ । ३८ ॥

२. सा०—पृ० २ ॥

चा० श०—“सुप्सुपैकार्थम् ॥” (२ । २ । १)

३. २ । १ । २ ॥

४. पाठान्तरम्—अन्यलक्षणम् ॥

५. कोशेऽत्र—“आ० २ [व्या०]” इत्युद्-
रणस्थलम् ॥

६. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

७. २ । १ । २३, २६ ... ॥

वा०—इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च १ ॥^३

एव-शब्देन सह यस्य शब्दस्य समासो भवति, तत्र विभक्तिर्न लुप्यते, पूर्व-
पदस्य च प्रकृतिस्वरो भवति । वासंसीइव । कन्येइव । इवेन सह समासविधानम-
नेनैव सूत्रेण, तत्र वार्तिकेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च विधीयते ॥ ४ ॥

यह भी अधिकार सूत्र है । ['सुपा सह'] सुबन्त के साथ ['सुप'] सुबन्त का समास
हो । यह अधिकार समास-संज्ञा पर्यन्त चला जायगा ॥

इस सूत्र में महाभाष्यकार ने योगविभाग से यह प्रयोजन सिद्ध किया है कि इस सूत्र के
दो अर्थ करके प्रथम अर्थ से जहां किसी सूत्र से समास सिद्ध न हो, वहां समास समझा
जाय, और दूसरे अर्थ से अधिकार समझा जाय ॥

इस महाभाष्यकार के अभिप्राय को नहीं जानके भट्टोजिदीक्षितादि लोगों ने आगे
समास के सूत्रों में जो किसी सूत्र से समास नहीं बनता, उस की सिद्धि के लिये योगविभाग
किया है । सो केवल उन लोगों की भूल है ॥

'इवेन वि०' इस वार्तिक में सूत्र से जो समास इव-शब्द के साथ होता है, सो विभक्ति
का लोप न होना, और पूर्व पद को प्रकृतिस्व[र] हो जाना, यह बात वार्तिक से सिद्ध होती
है । वासंसीइव । यहां समास तो हो गया, परन्तु प्रथमा विभक्ति के द्विवचन का लोप
न हुआ । और पूर्वपद में प्रकृतिस्वर बना रहा] ॥ ४ ॥

[अथाव्ययीभावसमास-संज्ञाधिकारः]

अव्ययीभावः १ ॥ ५ ॥

अधिकार एवास्ति । अतोऽप्रे यः समासो भविष्यति, तस्याव्ययीभाव-
संज्ञा भविष्यति । अन्वर्था संज्ञा चास्मिन्नपि सूत्रेऽस्ति । अनव्ययम् अस्मात्
भवतीति अव्ययीभावः^२ । कुतः । महत्याः संज्ञायाः प्रमाणम्

यह भी अधिकार सूत्र है । यहां से आगे जो समास कहेंगे, उस की
इस सूत्र से भी संज्ञा के होने से अन्वर्थ संज्ञा समझनी

अव्यय विभक्तिसंज्ञायाः प्रमाणम् । महत्याः संज्ञायाः प्रमाणम् ।

शब्दशब्दुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययोगपथसाहचर्य

सम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु ॥ ६ ॥

१. कोशेऽत्र—“॥ १ ॥” इति ॥

२. अ० ५ । पा० १ आ० २ ॥

३. सा०—पृ० ३ ॥

४. सा०—पृ० ३ ॥

चा० श०—“असङ्ख्यं विभक्तिसमीपाभाव-
ख्यातिपश्चाद्यथानुपत्तिसम्पत्साकल्यार्थे ॥” (२ ।
२ । २)

‘सुप्’, ‘सुपा’ इति चानुवर्तते । अव्ययम् १।१। अन्यत् सर्वं सप्तम्या
 बहुवचनम् । [१] विभक्ति [२] समीप [३] समृद्धि [४] व्युद्धि
 [५] अर्थाभाव [६] अत्यय [७] असम्प्रति [८] शब्दप्रादुर्भाव
 [९] पश्चात् [१०] यथा [११] आनुपूर्व्य [१२] यौगपद्य [१३]
 सादृश्य [१४] सम्पत्ति [१५] साकल्य [१६] अन्तवचन^१—एषु विभ-
 क्त्यादिषोडशार्थेषु वर्तमानमव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते । स समासो
 ऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति ॥

विभक्त्यर्थे—अष्टाध्याय्यामाधि । अध्यष्टाध्यायि शब्दोऽस्यो भवतीत्यर्थः । अत्राव्ययीभावसमासाद् ‘अध्यष्टाध्यायि’
 कन्त्वम् । ‘इस्वो नपुंसके प्रातिपादिकस्य’ ॥ इति ह्रस्वत्वम् ॥

समीपार्थे—तद्याः समीपं = उपनदम् । पौर्णमास्याः समीपं = उपपौर्णमासम् ।
 अत्राव्ययीभावसमासादेवामात् ‘नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः’ ॥ इति टच् ।
 ततो नपुंसकत्वम् । नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः ॥ इति पञ्चमो विहाय
 सर्वासां विभक्तीनां स्थानेऽम् । पञ्चम्यां तु—उपनदात् । उपपौर्णमासम् ॥

समृद्धौ—ब्राह्मणानां समृद्धिः = सुव्रतणाम् । सुचत्रियम् । अत्राव्ययीभाव-
 पञ्चाजनां विभक्तीनां स्थानेऽम्-आदेशः ॥

व्युद्धिः—विगता ऋद्धिः = व्युद्धिः । अत्रस्य व्युद्धिः, ऋद्धेरभावः = दुर-
 म् । दुर्यवम् । पूर्ववत् प्रयोजनम् ॥

अर्थाभावः = वस्त्वभावः । देशानामभावः = निर्देशम् । निमिशकम्

वर्षात् अतः । वर्षाया निवृत्तिः = अतिवर्षम् । अत्राव्ययीभाव-
 व्ययीत्यर्थः । द्वितीयेऽप्यत्र ॥

पञ्चाध्याय्यामाधि । अत्राव्ययीभावसमासादेवामात्

प्रासिद्धिः इति पाणिनि । तत्प्राप्तिः इति पतञ्ज-
 लि । पाणिनि-पतञ्जलि-शब्दौ लोके प्रसिद्धौ स्त इत्यर्थः । अत्राव्ययीभावसमा-

१. वचन-शब्दो विभक्त्यादिभिः प्रत्येकं सम्ब-
 ध्यते ॥

२. १।२।४७ ॥

३. ५।४।११० ॥

४. २।४।८३ ॥

सादव्ययत्वं, ततो विभक्तिलुक् ॥

[पश्चादर्थे—] अनुजलं पर्वतः । जलस्य पश्चात् पर्वतो वर्तते ॥

यथार्थे—यथाशक्ति । यथावलम् ॥

आनुपूर्व्यं = अनुक्रमः । अनुशिष्यं पाठयति गुरुः । शिष्यान् क्रमेण पाठय-
तीत्यर्थः ॥

यौगपद्यं = एककालत्वम् । सवादं प्रवर्तन्ते । एकस्मिन् काले वादं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥

सादृश्ये—सख्या सदृशः = संसखि । अत्राव्ययीभावादव्ययत्वं, ततो विभ-
क्तिलुक् ॥

सम्पत्तौ—विद्यायाः सम्पत्तिः = सुविद्यं नगरम् ॥

साकल्यं = सम्पूर्णता । सतृणमन्नं भुनक्ति । तृणसहितं सकलं भुनक्तीत्यर्थः ॥

अन्तवचने—समहाभाष्यं व्याकरणमधीतम् । महाभाष्यान्तमधीतमित्यर्थः ।

अत्र सर्वत्र विभक्तिस्थानेऽम्-आदेशः प्रयोजनम् ॥

भा०—इह कश्चित् समासः पूर्वपदार्थप्रधानः, कश्चिदुत्तर-
पदार्थप्रधानः, कश्चिदन्यपदार्थप्रधानः, कश्चिदुभयपदार्थप्र-
धानः । पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पु-
रुषः, अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः, उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः ॥

मुख्यत्वेन चत्वार एव समासाः । द्विगु-कर्मधारयौ तु तत्पुरुषभेदौ । तत्रा-
प्युत्तरपदार्थप्रधानत्वमेव । समासे कृते पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो भवति । अ-
र्थात् समा[सार्थः] पूर्वपदे स्थितो भवतीति । एवं सर्वत्र ॥ ६ ॥

['विभक्ति०'] [१] विभक्ति [२] समीप [३] समृद्धि [४] वृद्धि [५] अर्थभाव
[६] अत्यय [७] अलम्पति [८] शब्दप्रादुर्भाव [९] पश्चात् [१०] यथा [११]
आनुपूर्व्य [१२] आगपद्य [१३] सादृश्य [१४] सम्पत्ति [१५] साकल्य [१६] अन्त-
वचने—इन सोलह अर्थों में वर्तमान जो ['अव्ययम्'] अव्यय है, वह समर्थ सुबन्त के
साथ समास को प्राप्त हो । वह समास अव्ययीभाव-संज्ञक हो ॥

विभक्त्यर्थ में—अधिवनं सिंहः सन्ति । वनों में सिंह होते हैं । यहां संसमी विभक्ति के
अर्थ में अधि अव्यय है । उस का समास होने से विभक्ति के स्थान में अम्-आदेश हो गया ॥

समीप अर्थ में—उपनदं क्षेत्राणि । नदी के समीप खेत हैं । यहां अव्ययीभाव समास
के होने से नदी-शब्द से समासान्त टच्-प्रत्यय हुआ है ॥

समृद्धि अर्थ में—गोधूमानां समृद्धिः = सुगोधूमम् । गेहूँ की अधिक वृद्धि है ।
यहां सु अव्यय का गोधूम-शब्द के साथ अव्ययीभाव समास हुआ है ॥

व्यूद्धि अर्थात् वृद्धि का न होना । यवानां व्यूद्धिः = दुर्यवम् । यहां दुर अव्यय का समास यव सुबन्त के साथ हुआ है ॥

अर्थाभाव अर्थात् वस्तु का न होना । मशकानामभावः = निर्मशकम् । इस समय मच्छरों का अभाव है । यहां निर् अव्यय का समास मशक सुबन्त के साथ है ॥

अत्यय कहते हैं निवृत्ति हो जाने को । वर्षाया अत्ययः = अतिवर्षम् । वर्षा की निवृत्ति हो गयी । यहां अति अव्यय का वर्षा सुबन्त के साथ अव्ययीभाव स[मास] होने से वर्षा-शब्द को ह्रस्व हुआ है ॥

असम्प्रति अर्थात् वर्तमान काल में जो काम न आवे । धनस्यासम्प्रति = अतिधनम् । इस समय धन नहीं । यहां भी अति अव्यय का समास धन सुबन्त के साथ है ॥

शब्दप्रादुर्भाव = शब्द की प्रसिद्धि होना । अष्टाध्यायी-शब्दस्य प्रादुर्भावः = इत्यष्टाध्यायि । अष्टाध्यायी-शब्द की इस समय प्रसिद्धि है । यहां इति अव्यय का समास अष्टाध्यायी-शब्द के साथ होने से अष्टाध्यायी-शब्द को ह्रस्व हो गया है ॥

पश्चात् अर्थ में— अनुभोजनं ग्रामं गच्छति । भोजन के पश्चात् ग्राम को जाता है । यहां अनु अव्यय का समास भोजन सुबन्त के साथ हुआ है ॥

यथा अर्थ में— यथाबलं कार्याणि करोति । जैसा बल है, वैसे काम करता है । यहां यथा अव्यय का समास बल सुबन्त के साथ हुआ है ॥

अनुपूर्व्य = क्रम से काम करना । अनुग्रन्थं व्याकरणं पठति । क्रम से व्याकरण पढ़ता है । अनु अव्यय का समास ग्रन्थ सुबन्त के साथ हो गया है ॥

यौगपद्य = एक काल में कई [का मिलके] काम करना । सचादं प्रवर्त्तन्ते छात्राः । एक समय में सब विद्यार्थी बोलते हैं । यहां सह अव्यय का समास वाद सुबन्त के साथ है ॥

सादृश्य = तुल्यता । मित्रेण सदृशः = समित्रम् । यह मनुष्य अपने मित्र के समान है ॥

सम्पत्ति अर्थ में— सुविद्यम् । यहां सु अव्यय का समास विद्या सुबन्त के साथ हुआ है ॥

साकस्य अर्थ में— सतृणमन्नम् । तृणों के साथ सब अन्न खाता है ॥

अन्तवचन अर्थ में— समहाभाष्यं व्याकरणमधीतम् । महाभाष्य के अन्त पर्यन्त व्याकरण पढ़ा है । ये सोलह अर्थों में सूत्र की व्याख्या पूरी हुई ॥

इस समास प्रकरण [में] मुख्य करके चार समास होते हैं—[१] अव्ययीभाव [२] तत्पुरुष [३] बहुव्रीहि [४] द्वन्द्व । समास का जो अर्थ है, वह अव्ययीभाव समास में पूर्व पद में रहता है । उत्तर पद में तत्पुरुष समास में, बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ में, और द्वन्द्व समास में दोनों पद में समास का अर्थ रहता है । द्विगु और कर्मधारय जो हैं, ये तत्पुरुष के भेद हैं ॥ ६ ॥

यथाऽसादृश्ये' ॥ ७ ॥

यथा । अ० । असादृश्ये । ७ । १ । असादृश्ये पूर्वमानं 'यथा' इत्यव्ययं व
समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । यथाचौरं
वध्नाति । यथापण्डितं सत्करोति । ये ये चौराः सन्ति, तान् तान् वध्नाति । ये
ये पण्डिताः सन्ति, तान् तान् सत्करोति । अत्राव्ययीभावकार्यं विभक्तीनां स्था-
नेऽम्-आदेशः^१ ॥

'असादृश्ये' इति किम् । यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्तः । यद्यत्राव्ययीभावः
स्यात्, नपुंसकत्वेन अम्-भावः स्यात् ॥ ७ ॥

['असादृश्ये'] असादृश्य अर्थ में वर्तमान जो ['यथा'] यथा अव्यय है, वह समर्थ
सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो । यथाचौरं
वध्नाति । जो २ चोर हैं, उन को बांधता है । यहाँ यथा अव्यय का चोर सुबन्त के साथ
अव्ययीभाव समास हुआ है । उस के होने से विभक्तियों के स्थान में अम्-आदेश होता
है ॥ ७ ॥

यावदवधारणे ॥ ८ ॥

यावत् । अ० । अवधारणे । ७ । १ । अवधारणेऽर्थे वर्तमानं 'यावद्'
इत्यव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते । अव्ययीभावः स समासो भवति ।
यावत्कार्षापणं क्रीणाति । यावत्पात्रं भोजयति । यावन्ति कार्षापणानि, तावन्ति
फलानि क्रीणाति । अत्रापि विभक्तिस्थानेऽम्-आदेशः प्रयोजनम् ॥

अवधारण-ग्रहणं किम् । यावद् दत्तं, तावद् गृहीतम् ॥ ८ ॥

['अवधारणे'] अवधारण अर्थ में वर्तमान जो ['यावत्'] यावत् अव्यय है, वह
समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो । यावत्का-
र्षापणं फलानि क्रीणाति । जितने पैसे हैं, उतने फल खरीदता है । यहाँ यावत् अव्यय का
कार्षापण सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास हुआ है । इस का भी प्रयोजन पूर्व के तुल्य
समर्थना चाहिये ॥

अवधारण-ग्रहण इसलिये है कि— यावद् दत्तं, तावद् गृहीतम् । जितना दिया, उतना
ले लिया । यहाँ यावत् अव्यय का समास नहीं हुआ ॥ ८ ॥

सुप् प्रतिना मात्रार्थे ॥ ९ ॥

सुप्-ग्रहणम् अव्ययनिवृत्त्यर्थम् । सुप् । १ । १ । प्रतिना । २ । १ । मात्रा-

१. वृक्षताम्—“नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः ॥” चा० श०—“यावदित्ये ॥” (२।१।४)

(२।४।८३)

२. सा०—पृ० ४ ॥

३. सा०—पृ० ४ ॥

चा० श०—“प्रतिना मात्रार्थे ॥” (२।२।५)

र्थे । [७।१।] मात्रा = स्वल्पं, अर्थ-श[ब्देन] वस्तुनः पदार्थस्य ग्रहणम् । मात्रार्थे
वर्तमानं सुबन्तं समर्थेन प्रतिना सह समस्यते । अव्ययीभावः स समासो भवति ।
माषप्रति । सूपप्रति । स्वल्पा माषाः, स्वल्पः सूप इत्यर्थः । अत्राव्ययीभाव-
सङ्ज्ञाश्रया अव्यय-सङ्ज्ञा । ततो विभक्तिलुक् ॥

मात्रार्थ-ग्रहणं किमर्थम् । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति । अत्र समासो न
भवति ॥ ६ ॥

सूप की अनुवृत्ति चली आती है, फिर इस सूत्र में सूप-ग्रहण इसलिये है कि अव्यय की
अनुवृत्ति न आवे । मात्रार्थ = थोड़ा सा पदार्थ [‘सूप’] सुबन्त जो है, वह [‘मात्रार्थे’]
मात्रार्थ में वर्तमान [‘प्रतिना’] प्रति के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास अव्ययीभाव-
संज्ञक हो । माषप्रति । सूपप्रति । थोड़े से उड़द । थोड़ी सी दाल । यहां माष और सूप
सुबन्त का प्रति के साथ अव्ययीभाव समास होने से विभक्ति का लुक् हो गया ॥
मात्रार्थ-ग्रहण इसलिये है कि ‘मातरं प्रति’ यहां समास नहीं हुआ ॥ ६ ॥

अक्षशलाकासङ्ख्याः परिणा ॥ १० ॥

अक्ष-शलाका-सङ्ख्याः । १ । ३ । परिणा । ३ । १ । अक्षश्च शलाका
च सङ्ख्या च, ताः । अक्ष-शब्दः, शलाका-शब्दः, सङ्ख्या एकत्वादिश्च सुब-
न्तानि परिणा सह समस्यन्ते । स चाव्ययीभावः समासो भवति, ‘अनिष्टे द्योत्ये’^२
इति [अर्थ उपरिष्ठादुक्ताद्] वार्त्तिकान् [आह्वियते] । द्यूतक्रीडायामस्य सूत्रस्य
प्रवृत्तिः । पञ्चिका नाम कश्चिद् द्यूतविशेषः, तत्र यदा सर्वे एकरूपाः पतन्ति,
तदा विजयो भवति । तत्रास्य सूत्रस्य प्रवृत्तिरेव न भवति । अन्यथा पाते पराजयो
भवति । तत्रैवानेन समासो भवति । अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वमिति । अर्थात्
पूर्वमहं जितवान्, इदानीं तु पराजय एव जात इति प्रयोक्तव्ये ‘अक्षपरि, शला-
कापरि, एकपरि, द्विपरि’ इत्येवं प्रयोगा भवन्ति ॥

अव्ययीभावसमासप्रयोजनं विभक्तिलुक् ॥

धा० — अक्षादयस्तृतीयान्ताः परिणा पूर्वोक्तस्य यथा न तदयथा-
द्योतने^३ ॥ १ ॥

२. साधु — पूर्व ६ ॥

धा० सू० — “सङ्ख्याक्षशलाकाः परिणा

द्योतेऽन्यथाद्युत्तौ ॥” (२ । २ । ६)

३. “अयथाद्योतने” इति वार्त्तिकवचनम् ॥

३. पाठान्तरम् — “अक्षादयस्तृतीयान्ताः पूर्वोक्तस्य
यथा न तत् ॥”

४. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

अक्षादयः शब्दास्तृतीयान्ताः परिणा सह समस्यन्ते पूर्वोक्तस्य=पूर्ववृत्तस्य
तुल्यमिदं नास्तीति अयथा=अनिष्टे द्योतने—इति सूत्रस्यैव व्याख्या ॥ १ ॥

अक्षशलाकयोश्चैकवचनान्तयोः^१ ॥ २ ॥

इह मा भूत्—अक्षाभ्यां वृत्तम् । अक्षैर्वृत्तमिति^२ ॥^३

अत्र वार्तिकनियमात् समासो न भवति ॥ २ ॥

कितव्यवहारे च ॥ ३ ॥

इह मा भूत्—अक्षेणेदं न तथा वृत्तं शकटेन यथा पूर्वमिति ॥

कितव्यवहारे=मिथ्यानिन्दे व्यवहारेऽयं समासो भवति, यद्यन्यस्य वाच्यक्ष-
शब्दो भवति, तदा न । इति तृतीयवार्तिकाशयः । महाभाष्याशयेनैवास्यार्थः पूर्व
लिखितः ॥ [३॥] १० ॥

['अक्ष-शलाका-सङ्ख्याः'] अक्ष-शब्द, शलाका-शब्द और संख्या एक, द्वि इत्यादि
जो सुबन्त हैं, वे ['परिणा'] परि-शब्द के साथ समास को प्राप्त हों । सो समास अव्ययी-
भाव-संज्ञक हो अनिष्ट अर्थ में । जुआ खेलने के विषय में यह सूत्र लगता है । पंचिका नाम है
एक जुए का । उस में जब पांसे एकतार पड़ते हैं, तब फेंकने वाला जीत जाता है । वहां इस
सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । और जब एक पांसा सूधा पड़ा, एक उलटा पड़ा, तब फेंकने वाले
क़ी हार होती है । तब इस सूत्र से समास होता है । अक्षपरि । शलाकापरि । एकपरि ।
द्विपरि । अर्थात् प्रथम तो मैं जीत गया था, अब मेरा पराजय हो गया ॥

अव्ययीभाव समास का प्रयोजन यह है कि 'अक्षपरि' आदि शब्दों की विभक्ति का लुक्
हो जावे ॥

'अक्षादयः' इस वार्तिक का प्रयोजन यह है कि जहां इस सूत्र से समास होता है, वहां
अनिष्ट अर्थ में समझना चाहिये ॥ १ ॥

'अक्षशलाका' अक्ष और शलाका इन दोनों शब्दों का एकवचनान्त से समास होता
है ॥ २ ॥

'कितव्यव' इस तीसरे वार्तिक का प्रयोजन यह है कि इस सूत्र की प्रवृत्ति निन्दित
जुआ के व्यवहार में समझनी चाहिये [॥ ३ ॥] १० ॥

विभाषाऽपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या^४ ॥ ११ ॥

१. पाठान्तरम्—“एकत्वेऽक्षशलाकयोः ॥”

२. भाष्यकोशेषु “इति” इति न दृश्यते ॥

३. कोशेऽत्र—“आ० २ [व्या०]” इत्युद्धरण-
स्थलम् ॥

४. सा०—पृ० ५ ॥ अत्र “विभाषा ॥ अपपरि-

बाहिरञ्चवः पञ्चम्या ॥” इति द्वे सूत्रे व्याख्याते ।

अत्र ज्ञायते नायं सामासिको नाम ग्रन्थो भगवद्-
यानन्दसरस्वतीस्वामिना संशोधित इति ॥

चा० श०—“पर्यपाङ्क्वहिरञ्चः पञ्चम्या

वा ॥” (२ । २ । ७)

विभाषा । अ० । अप-परि-बहिर्-अञ्चवः । १ । ३ । पञ्चम्या ।

३ । १ ॥

भा०—योगविभागः कर्तव्यः । 'विभाषा' इत्ययमधिकारः ।

ततः 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' इति ॥'

अतोऽप्रे यः समासो भविष्यति, स विकल्पेन भविष्यति । यावत् नित्य-ग्रहणं नो आगमिष्यति, तावत् [वि] विकल्पेन समासो विज्ञेयः । पक्षे वाक्यं भविष्यति ॥

पूर्वोक्तेन महाभाष्यकृतयोगविभागेनैतद् विज्ञायते—पाणिनिकृतमेकमेवेदं सूत्रम् । इदानीन्तनैस्तु जयादित्यमट्टोजिदीक्षितादिभिर्द्वे सूत्रे व्याख्याते—'विभाषा' इति पृथक्, 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' इति पृथक् । इदानीन्तनेषु मुद्रित- [अष्टाध्यायी-] पुस्तकेष्वपि पृथगेव लिखितमस्ति । तदिदं महाभाष्यतो विरुद्धमस्ति । कुतः । यत्रैकं सूत्रं, तत्रैव महाभाष्यकारेण योगविभागः कृतोऽस्ति । पृथग् योगौ स्यातां चेत्, योगविभागकरणमनर्थकं स्यात् । 'अप, परि, बहिस्, अञ्चु' इत्येते शब्दाः पञ्चम्यन्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । पर्वतान् वर्जयित्वा = अपपर्वतं वृष्टो मेघः, अप पर्वतेभ्यो वृष्टो मेघः । परिपर्वतं, परि पर्वतेभ्यः । बहिर्ग्रामं, बहिर्ग्रामात् । ग्रामग्रामं, प्राग् ग्रामात् । प्रत्यग्रामं, प्रत्यग् ग्रामात् । अत्र यस्मिन् पक्षेऽनेनाव्यया-भावः समासो भवति, तत्र 'नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः' ॥' इति विभ-क्तीनां स्थानेऽम्-आदेशो भवति । यस्मिन् पक्षे समासो न भवति, तत्र 'अपपरी वर्जने' ॥' इति कर्मप्रवचनीयत्वात् पञ्चमी । बहिर्योगेऽस्मिन् सूत्रे पञ्चमीविधानात् पञ्चमी । अञ्चुयोगे 'अन्यारादितरर्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' ॥' इति सूत्रेण पक्षे पञ्चमी भवति ॥ ११ ॥

इस सूत्र में 'विभाषा' यह अधिकार है । अर्थात् जब तक नित्य न आवे, तब तक विकल्प करके समास हुआ करेगा । महाभाष्यकार ने इस सूत्र में योगविभाग किया है । अर्थात् 'विभाषा' यह अधिकार के लिये पृथक् किया है । इस से यह जाना जाता है कि पाणिनिजी महाराज का

१. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

सङ्ख्याङ्के दत्ते । तत्र किञ्चिदपि बीजं न पश्यामः ॥

२. जर्मनीदेशे प्रकाशितायां श्रीबोटलिङ्कमहोदयस-

३. २ । ४ । ८३ ॥

म्पादितायामष्टाध्याय्यां श्रीकीलहॉर्नसम्पादिते महा-

४. १ । ४ । ८७ ॥

भाष्ये च "विभाषापपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या

५. २ । ३ । १० ॥

॥ ११ ॥ १२ ॥" इति लिखितेऽप्येकस्मिन् सूत्रे द्वे

६. २ । ३ । २६ ॥

बनया एक ही सूत्र है। और जयादित्य भट्टोजिदीक्षितादि नवीन लोगों ने इस सूत्र [के पदों] को अलग २ अर्थात् दो सूत्र करके व्याख्या की है। तथा इस समय के छपे हुए [अष्टाध्यायी के] पुस्तकों में भी दो सूत्र लिखे हैं। सो महाभाष्य से विरुद्ध है। क्योंकि जो दो ही सूत्र होते, तो महाभाष्यकार योगविभाग क्यों करते। ['अप-परि-बहिर-अञ्चवः'] अप, परि, बहिस, अञ्चु, ये जो शब्द हैं, सो ['पञ्चम्या'] पञ्चम्यन्त सुबन्त के साथ समास पावें। वह समास अव्ययीभाव-संज्ञक हो। अपपर्वतम्। अप पर्वतेभ्यः इत्यादि उदाहरणों में जहां इस सूत्र से समास होता है, वहां विभक्तियों के स्थान में अम्-आदेश होता है। और जिस पद में समास नहीं होता, वहां पंचमी विभक्ति बनी रहती है ॥ ११ ॥

आङ् मर्यादाभिविध्योः ॥ १२ ॥

'पञ्चम्या' इत्यनुवर्तते। आङ्। अ०। मर्यादा-अभिविध्योः। ७। २। मर्यादायामभिविधौ च वर्तमानं 'आङ्' इति शब्दः पञ्चम्यन्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते। स समासोऽव्ययीभाव-संज्ञो भवति। मर्यादायाम्—आपाटलिपुत्रम्, आ पाटलिपुत्रात्। अभिविधौ—आकुमारम्, आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः। अव्ययीभावसमासकार्यं पूर्ववत् ॥ १२ ॥

['मर्यादाभिविध्योः'] मर्यादा और अभिविधि अर्थ में वर्तमान जो ['आङ्'] आङ्-शब्द है, वह पञ्चम्यन्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। सो समास अव्ययीभाव-संज्ञक हो। मर्यादा अर्थ में—आपाटलिपुत्रम्, आ पाटलिपुत्रात्। अभिविधि में—आकुमारम्, आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः। समास-संज्ञा का प्रयोजन पूर्व के मुख्य समझना चाहिये ॥ १२ ॥

लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये ॥ १३ ॥

लक्षणेन। ३। १। अभि-प्रती। १। २। आभिमुख्ये। ७। १। लक्षणेन = लक्षणवाचिना। आभिमुख्येऽर्थे वर्तमानौ अभि-प्रती शब्दौ लक्षणवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते। स समासोऽव्ययीभाव-संज्ञो भवति। अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति। प्रतिदीपकं पतङ्गाः पतन्ति। अभिसम्मुखं, दीपक-सम्मुखं पतन्तीत्यर्थः। अभ्यग्नि। प्रत्यग्नि। अभिमभि। अग्निं प्रति। अव्ययीभावसमासाश्रयाऽव्यय-संज्ञा। ततो विभक्तिलुक् ॥

'लक्षणेन' इति किमर्थम्। वाराणसीं प्रति गतः। अत्रानेन समासो न भवति ॥

१. सा०—पृ० ५ ॥

पञ्चम्या वा ॥”

चा० श० (२।२।७)—“पर्यापाङ्बहिरञ्चः २. सा०—पृ० ५ ॥

‘आभिमुख्ये’ इति किम् । अभिरूपा बालाः । प्रतिकूलाः शिष्याः । अत्राभिमुख्याभावादव्ययीभावः समासो न भवति ॥ १३ ॥

[‘आभिमुख्ये’] आभिमुख्य अर्थात् सम्मुख अर्थ में वर्तमान [‘अभि-प्रती’] अभि, प्रति जो शब्द हैं, वे [‘लक्षण्येन’] लक्षणवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो । अभ्यग्नि, प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति । अग्निमभि । अग्निं प्रति । यहां जिस पक्ष में अव्ययीभाव समास होता है, वहां अव्यय-सञ्ज्ञा के होने से विभक्तियों का लुक् हो जाता है । और जहां समास नहीं होता, वहां विभक्ति बनी रहती है ॥

लक्षणवाची का ग्रहण इसलिये है कि ‘ग्रामं प्रति गतः’ यहां समास न हो ॥

और आभिमुख्य-ग्रहण इसलिये है कि ‘अभिरूपाः, प्रतिकूलाः’ यहां अव्ययीभाव समास न हो ॥ १३ ॥

अनुर्यत्समया’ ॥ १४ ॥

‘लक्षण्येन’ इत्यनुवर्तते । अनुः । १ । १ । यत्समया । अ० । ‘समया’ इति शब्दः समीपवाच्यव्ययम् । यस्य समया = यत्समया । यस्य समीपवाची अनुः, तेन लक्षणवाचिना सुबन्तेन सह अनुः विकल्पेन समस्यते । स समासो अव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । अनुयमुनं मथुरा वसति । अनुवनं पशवश्चरन्ति । अनुपर्वतं नदी वहति । यमुनाया अनु, समीपमित्यर्थः । अत्राव्ययीभावसमासाद् यमुना-शब्दस्य नपुंसकत्वं, ततो ह्रस्वत्वं च ॥

‘यत्समया’ इति किम् । ग्राममनु विद्योतते विद्युत् । अव्ययीभावोऽत्र न भवति ॥

समीपार्थे ‘अव्ययं विभक्तिसमीप०’ ॥’ इति सिद्धं, पुनर्विभाषार्थम् ॥ १४ ॥

इस सूत्र में समया अव्यय समीपवाची है । जिस का समीप वाची अनु-शब्द हो, उस लक्षणवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके अनु समास को प्राप्त हो । सो समास अव्ययीभाव कहावे । अनुपर्वतं नदी वहति । पर्वत के समीप नदी बहती है । यहां पर्वत लक्षणवाची है । उसके साथ अनु का समास हुआ है । उसके होने से सब विभक्तियों के स्थान में अस्-आदेश हो गया ॥

‘जिस का समीप’-ग्रहण इसलिये है कि ‘ग्राममनु विद्योतते विद्युत्’ यहां अव्ययीभाव समास नहीं हुआ ॥ १४ ॥

यस्य चायामः' ॥ १५ ॥

‘लक्षणेन’ इत्यनुवर्तते, ‘अनुः’ इति च । यस्य । ६ । १ । च । [अ० ।]
 आयामः । १ । १ । आयामः = दीर्घत्वम् । यस्य आयामः = विस्तारवच्च्यनु-
 शब्दोऽस्ति, तेन लक्षणावाचिना सुबन्तेन सहानुर्विकल्पेन समस्यते । स समासो
 अव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । अनुगङ्गं हास्तिनपुरम्^१ । अनुशोणं पाटलिपुत्रम् ।
 यथा गङ्गाया विस्तारः, तथा विस्तारेण तटे हास्तिनपुरमपि वसतीत्यर्थः । समास-
 प्रयोजनं गङ्गा-शब्दस्य नपुंसकत्वाद् ह्रस्वत्वम् ॥

‘आयामः’ इति किम् । पर्वतमनु मेघो वर्षति । अत्र समासो न भवति ॥ १५ ॥

आयाम कहते हैं विस्तार को । [‘च’ और ‘यस्य’] जिस का [‘आयामः’] विस्तारवाची
 [‘अनुः’] अनु-शब्द हो, उस लक्षणावाची सुबन्त के साथ अनु विकल्प करके समास को प्राप्त
 हो । वह समास अव्ययीभाव कहावे । अनुगङ्गं हास्तिनपुरम् । अर्थात् जैसा गंगा का
 विस्तार है, वैसा ही विस्तार से किनारे २ हाथिनापुर वसता है । यहाँ अव्ययीभाव समास के
 होने से गंगा-शब्द को नपुंसक होके ह्रस्व हो गया है ॥

आयाम-ग्रहण इसलिये है कि ‘पर्वतमनु मेघो वर्षति’ पर्वत पर मेघ वर्षता है, यहाँ
 अव्ययीभाव समास नहीं हुआ ॥ १५ ॥

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च^३ ॥ १६ ॥

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि । १ । ३ । च । [अ० ।] प्रभृति-शब्द आदिवाची ।
 तिष्ठद्गवादीनि प्रातिपदिकान्यव्ययीभाव-सञ्ज्ञानि निपातितानि द्रष्टव्यानि । तिष्ठ-
 द्गु । वहद्गु । अव्ययीभावादव्ययत्वम् । ततो विभक्तिलुक् ॥

१. सा०—पृ० ६ ॥

चा० श०—“अनुः सामीप्यायामयोः ॥”

(२ । २ । १६)

२. महाभारत आदिपर्वणि (३७८७)—

“सुहोत्रः खल्विचवाकुक्कन्यामुपयेमे सुवर्णा
 नाम । तस्यामस्य ज्ये हस्ती, य इदं हास्तिन-
 पुरं स्थापयामास । एतदस्य हास्तिनपुरत्वम् ॥”

“गजपुर, गजसाहय, गजाहय, नागपुर,
 नागसाहय, नागाहय, वारणसाहय, वारणाहय,
 हास्तिनपुर” इति पर्यायाः । “हास्तिनापुर” इत्य-

पि कचिद् दृश्यते ॥

यथा कुरूणां राजधानी इन्द्रप्रस्थादुत्तरपूर्वस्यां
 दिशि गङ्गाया दक्षिणे तीरे सुसमृद्धा स्फीतधनधान्या
 स्थिता गङ्गाप्रवाहेणापहृतेति विष्णुपुराणे—

“अभिसीमकृष्णात् निचक्रुः [भविष्यति ।]
 यो गङ्गायापहृते हास्तिनपुरे कौशाम्ब्यां निवत्स्य-
 ति ॥” (चतुर्थोऽंश एकविंशोऽध्यायः)

३. सा०—पृ० ६ ॥

चा० श०—“तिष्ठद्गवादीनि ॥” (२।२।१०)

चकारोऽत्र निश्चयार्थः । तिष्ठद्गुप्रभृतीन्येव । तेन 'परमं तिष्ठद्गु' [इति]

अत्र समासो न भवति ॥

वा०—तिष्ठद्गु कालविशेषे ॥^१ १ ॥

'तिष्ठद्गु, वहद्गु, आयतीगवम्' इति त्रयः शब्दाः कालविशेषे निपातिता इति विज्ञेयम् । तिष्ठन्ति गावोऽस्मिन् काले [दोहाय], स तिष्ठद्गु कालः^२ । वहद्गु कालः^३ । आयन्ति गावोऽस्मिन् काले, आयतीगवं कालः ॥ १ ॥

खलेयवादीनि प्रथमान्तान्यन्यपदार्थे ॥^१ २ ॥

खले यवाः सन्त्यस्य, स खलेयवं पुरुषः । एवं—लूनयवं, लूयमानयवम् ॥२॥

अथ गणपाठः—[१] तिष्ठद्गु [२] वहद्गु [३] आयतीगवम् [४] खलेयवम्^४ [५] खलेबुसम्^५ [६] लूनयवम् [७] लूयमानयवम् [८] पूतयवम् [९] पूयमानयवम्^६ [१०] संहृतयवम् [११] संह्रियमाणयवम् [१२] संहृतबुसम् [१३] संह्रियमाणबुसम्^७ [१४] समभूमि [१५] समपदाति^८ [१६] सुषमम्^८ [१७] विषमम्^९ [१८] निष्वमम्^९ [१९] दुष्वमम् [२०] अपरसमम्^{१२} [२१] आयतीसमम्^{१३} [२२] पुण्य-

१. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

२. "प्रथमरात्रेरर्धवटी । प्रावृत्काल इत्यग्रे" इति श्रीवर्धमानः ॥ (गण० म० २ । ६३)

३. "वहन्ति गावो यस्मिन् काले, स कालो वहद्गु । शरत्काल इत्यग्रे ।" इति श्रीवर्धमानः ॥

४. कचिद् "खलेबुसम् । खलेयवम् ।" इति क्रमभेदः ॥

५. चान्द्रवृत्तावयं शब्दो न पठितः ॥ (२।२।१०)

"खले बुसानि यत्र काले, स कालः खलेबुसम् ।" इति श्रीवर्धमानः ॥

६. श्रीवर्धमानः—"पूताः पूयमानाश्च यवा यत्र काले, स पूतयवम् । 'पूनयवम्' इति भोजः ।

मामयवं कालः । खलं रणाजिरं धान्यावपनस्थानं च । खलन्ति=सञ्चयीयन्ते यशांसि शरैः धान्यानि वा यत्र, तत् खलम् । खले यवा बुसानि च यस्मिन् काले, स खलेयवं, खलेबुशम् । लूना यवा यस्मिन् काले, स लूनयवम् ।"

७. अतोऽग्रे व. शिकायाम्—“पते कालशब्दाः ।”

८. चान्द्रवृत्तौ—“समभूमि । समपदाति ।”

पदमञ्जरी श्रीहरदत्तमिश्रः—“अन्ये तु सभूमि सम्पदातीति पठन्ति ।”

श्रीवर्धमानः—“समत्वं भूमेः समभूमि । निपातनात् मुमागमः । शाकटायनस्तु 'समभूमि' इत्यप्याह । सम्पदाति—निपातनात् मुमागमः । 'समपदाति' इत्यपि शाकटायनः ।”

९. श्रीवर्धमानः—“शोभनाः समा यत्र, स कालः सुषमम् । शोभनत्वं समस्येति वा ।”

१०. श्रीवर्धमानः—“समाद् विप्रकृष्टो हीनो वा इति केचित् ।”

११. चिद् “दुष्वमम् । निष्वमम् ।” इति क्रमभेदः ॥

१२. म०—“निर्गतं समं, निर्गतत्वं समस्येति वा । एवमेव “दुष्टत्वं समाया दुष्टा समा वा यत्र ।”

१३. “समम्” इति श्रीबोडलिङ्गभट्टोजिदीक्षितौ ॥

१४. म०—“अपरसममिति भोजः ।”

१५. अतोऽग्रे चान्द्रवृत्तौ, काशिकायां, प्रक्रियाकौमु-

समम् [२३] पापसमम् [२४] प्रौढम् [२५] प्राढम् [२६] प्रथम् [२७] प्रमृगम् [२८] प्रदक्षिणम् [२९] अपरदक्षिणम् [३०] सम्प्रति [३१] असम्प्रति [३२] इच्-प्रत्ययः समासान्तः ॥ 'इच् कर्मव्यतिहारे' ॥ 'द्विदण्ड्यादिभ्यश्च' ॥ इति य इच् प्रत्ययो भवति, तदन्तानि च प्रातिपदिकानि अन्ययीभाव-सञ्ज्ञानि भवन्ति । तेनान्ययत्वाद् विभक्तिलुक् । दण्डादण्डि । मुसलामुसलि । नखानखि । केशाकेशि , द्विदण्डि । द्विमुसलि । इत्यादीनि ॥ १६ ॥

प्रभृति-शब्द आदि वाची है । ['तिष्ठद्गुप्रभृतीनि'] तिष्ठद्गु आदि जो प्रातिपदिक हैं, वे अन्ययीभावसमास-सञ्ज्ञक निपात समझने चाहिये । तिष्ठद्गु । घट्टद्गु इत्यादि शब्दों की अन्ययीभाव-सञ्ज्ञा होने से अन्यय-सञ्ज्ञा होके विभक्ति का लुक् हो जाता है ॥

इस सूत्र में चकार निश्चयार्थक है । तिष्ठद्गु आदि निपातों की ही अन्ययीभाव-सञ्ज्ञा हो । परमं तिष्ठद्गु । यहाँ परम-शब्द का समास नहीं हुआ ॥

'तिष्ठद्गु काल०' तिष्ठद्गु आदि तीन शब्द कालविशेष अर्थ में निपातन समझने चाहिये । जैसे—प्रातःकाल, सायंकाल । [इसी प्रकार तिष्ठद्गुकाल, अर्थात् जिस समय गौपं खड़ी होती है, वह काल ॥] १॥

'खलेयवादीनि०' खलेयवादि जो प्रातिपदिक हैं, उन प्रथमान्तों का अन्य पदार्थ में

दीटीकायां (अन्ययीभावप्रकरणे) च "पुण्यसमम् । पापसमम् । प्रौढम् ।" इति न सन्ति ॥

श्रीबोदलिङ्गपाठस्तु—“प्रौढम् । पापसमम् । पुण्यसमम् ।”

१. श्रीवर्धमानः—“पुण्यत्वं समायाः, पुण्या समेति वा । 'पुण्येन समं' [इति] तृतीयासमासापवाद इति केचित् । पापाः समा यस्मिन् युगे काले वा, पापसमम् ।”

न्यासकारः—“समा-शब्दः संवत्स्रवाची । आयतो समा = आयतीसमम् । एवं—पापा समा = पापसमम् । पुण्या समा = पुण्यसमम् । अतः तु तृतीयासमासं वर्णयन्ति । आयत्या समा = आयतीसमम् । एवमन्यत्रापि ॥”

२. अत्र प्रक्रियाकौमुदीटीकायां न दृश्यते ॥

३. गण० म०—“प्रगतत्वमहा, प्रगतमहः”

४. श्रीवर्धमानः—“प्रगतत्वं रथस्य ।

अभूता वा रथा अस्मिन् देशे ।”

५. गण० म०—“प्रगता मृगा यत्र काले यतो वाऽऽरय्यदिः, तत् प्रमृगम् ।”

६. गण० म०—“प्रकृष्टत्वं दक्षिणाया वा ।”

७. अतोऽप्रे चान्द्रवृत्तौ, काशिकायां प्रक्रियाकौमुदीटीकायां च “पापसमम् । पुण्यसमम् ।” इति ॥

प्रक्रियाकौमुदीटीकायां तु “पुण्यसमम्” इत्यतोऽप्रे “आयतीसमम् । प्राढम्” इत्यपि ॥

अथरदसः—“सङ्गतं प्रतिगतस्य = सम्प्रति । अतोऽप्यस्यति ।”

८. गणरत्नमहोदधौ “अधोनामं, प्रान्तं, एकान्तं, सन्ततीर्थम्, सप्तपञ्च, समानतारं, अपरदक्षिणम्”

इत्येतैः शब्दैः अधिका दृश्यन्ते । अत्र च—“आकृतिगणोऽयम् । तेन 'यत्प्रभृति तत्प्रभृति' इत्याधोनामं, क्रियाविशेषणवृत्तीनां व्युत्पत्तिरनेकदृश्या ॥”

१. ५. ४. १. १२७ ॥

२. ५. ४. १. १२८ ॥

समास समझना चाहिये । खलेयवं उस को कहते हैं [कि] खरियान में जिस के जौ हों । इसी प्रकार अन्य शब्दों में भी समझना उचित है ॥

तिष्ठद्गु आदि प्रातिपदिक पूर्व संस्कृत भाष्य में सब क्रम से लिख दिये हैं ॥ १६ ॥

पारेमध्ये^१ षष्ठ्या वा^२ ॥ १७ ॥

पारे-मध्ये । १ । २ । षष्ठ्या । ३ । १ । वा । अ० । अव्ययीभावसमास-पक्षे पारे-मध्ये-शब्दौ एकारान्तौ निपातितौ । या विभाषाऽनुवर्तते, सा 'महा-विभाषा' इति कथ्यते । तथा पक्षे वाक्यं भवति । तस्या अनुवृत्तौ सत्यां पुनर्वा-वचनेन षष्ठीसमासोऽपि यथा स्यात् । पार-मध्य-शब्दौ षष्ठ्या = षष्ठ्यन्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्येते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । गङ्गायाः पारं = पारेगङ्गम् । मध्येगङ्गम् । अव्ययीभावसमासाश्रयं नपुंसकत्वम् । ततो ह्रस्वः । महाविभाषया 'गङ्गायाः पारम्' इति वाक्यं भवति । द्वितीयविकल्पेन 'गङ्गापारम्' इति षष्ठीसमासः । एवं विकल्पद्वयेन रूपत्रयं सिद्धं भवति ॥ १७ ॥

जिस पक्ष में अव्ययीभाव समास होता है, वहां पारे और मध्ये ये दोनों शब्द एकारान्त निपातन किये हैं । ['पारेमध्ये'] पार और मध्य जो शब्द हैं, वे ['षष्ठ्या'] षष्ठ्यन्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो । पारेगङ्गम् । मध्येगङ्गम् । यहाँ अव्ययीभाव समास के होने से गंगा-शब्द को ह्रस्व हुआ है ॥

पूर्व से विकल्प की अनुवृत्ति चली आती है, फिर विकल्प-ग्रहण इसलिये है कि द्वितीय विकल्प के होने से षष्ठीसमास भी हो जाय । पूर्व विकल्प से अव्ययीभाव समास पक्ष में वाक्य रहता है । गङ्गायाः पारम् । और दूसरे विकल्प से—गङ्गापारम् । यहाँ षष्ठीसमास भी हो गया । इस प्रकार दो विकल्पों के होने से तीन रूप सिद्ध होते हैं ॥ १७ ॥

सङ्ख्या वंश्येन^३ ॥ १८ ॥

सङ्ख्या । १ । १ । वंश्येन । ३ । १ । वंशो भवः = वंश्यः, तेन । दिगादित्वाद्^४ यत् । सङ्ख्यावाची यः सुबन्तः, स वंश्यवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । द्वौ मुनी व्याकरणस्य कर्तारौ—द्विमुनि व्याकरणम् । अव्ययीभावाद्व्ययत्वम् । ततो विभक्तिर्लुक् । एवं—एकविंशति भारद्वाजम् । अत्राप्यनेनैव समासः ॥ १८ ॥

१. केचित् "पारे मध्ये" इति द्वौ शब्दौ पृथक् पठन्ति ॥

२. सा०—पृ० ६ ॥

आ० श०—"पारेमध्ये षष्ठ्या वा ॥" इति

स एव पाठः ॥ (२ । २ । ११)

३. सा०—पृ० ७ ॥

आ० श०—"सङ्ख्या वंश्येन ॥" (२ । २ ।

१२) इति तदेव सप्तम् ॥

४. वंशो दिवा । विषया जन्मना च ॥

५. "दिगादिभ्यो यत् ॥" (४ । ३ । ५४)

['सङ्ख्या'] सङ्ख्यावाची जो सुबन्त है, वह ['वंश्येन'] वंश्यवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास हो। वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो। द्विमुनि व्याकरणम्। यहाँ द्विमुनि-शब्द में अव्ययीभाव समास होने से विभक्ति का लुक् हुआ है ॥ १८ ॥

नदीभिश्च' ॥ १६ ॥

'सङ्ख्या' इत्यनुवर्तते । नदीभिः । ३ । ३ । च । अ० । सङ्ख्यावाची सुबन्तो नदीवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । सप्तनदम् । द्वियमुनम् । सप्तगोदावरम् । सप्तानां नदीनां समाहारः । 'द्वयोः यमुनयोः समाहारः, सप्तानां गोदावरीणां समाहारः' इति पक्षे वाक्यं भवति । 'सप्तनदम्' [इति] अत्राव्ययीभावसञ्ज्ञाश्रयः समासान्तः टच्-प्रत्ययः । ततो नपुंसकत्वम् ॥

वा०—नदीभिः सङ्ख्यायाः समाहारेऽव्ययीभावो वक्तव्यः^१ ॥^३

सूत्रेण यः समासो विधीयते, समाहारे स भवतीति विशेषः । समाहार-ग्रहणाभावे 'सर्वमेकनदीतरे'^२ [इति] अस्मिन् प्रयोगे 'एका चासौ नदी' इति 'पूर्वकालैक'^४ ॥' इति सूत्रेण समानाधिकरणे समासः । तत्र 'पुरस्तादपवादः अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते'^५ ॥' इति परिभाषया एकनदी-शब्दे समानाधिकरणं बाधित्वाऽनेन सूत्रेणाव्ययीभावः प्राप्नोति । यद्यव्ययीभावः स्यात्, तर्हि टच् प्रसज्येत । समाहार-ग्रहणान्न भवतीति वार्त्तिकाशयः ॥ १६ ॥

['सङ्ख्या'] संख्यावाची जो सुबन्त है, वह ['नदीभिः'] नदीवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो। द्वियमुनम्। यहाँ अव्ययीभाव समास के होने से यमुना-शब्द नपुंसक होके ह्रस्व हो गया ॥

'नदीभिः०' इस वार्त्तिक से यह प्रयोजन है कि सूत्र से जो समास होता है, वह समाहार अर्थ में समझना चाहिये। जो समाहार-ग्रहण न करते, तो 'एकनदी' इस शब्द में समानाधिकरण समास होता है, और इस सूत्र से अव्ययीभाव पाता है। जो अव्ययीभाव हो, तो 'एकनदम्' ऐसा प्रयोग प्राप्त होता है। समाहार के न होने से अव्ययीभाव नहीं हुआ। यह इस वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ १६ ॥

१. सा०—पृ० ७ ॥

चा० श०—“नदीभिः ॥” (२।२।१३)

२. कोशेऽत्र—“॥१॥” इति ॥

३. अ० २। पा० १। आ० २ ॥

४. वृत्तेताम्—“नदीपौर्यमास्याग्रहायणीभ्यः ॥

अव्ययीभावश्च ॥” (५।४।११० ॥ ३।

४।१८) इति सूत्रे ॥

५. २।१।४६ ॥

६. पा०—सू० ५१ ॥

प्रा०—सू० ५६ ॥

अन्यपदार्थे च सञ्ज्ञायाम् ॥ २० ॥

‘नदीभिः’ इत्यनुवर्तते । अन्यपदार्थे । ७ । १ । च । [अ० ।] सञ्ज्ञायाम् । ७ । १ । अन्यपदार्थे गम्यमाने सञ्ज्ञायामभिधेयायां सत्यां सुबन्तो नदी-वाविना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् देशे = उन्मत्तगङ्गम् । लोहितगङ्गम् । इति देशविशेषस्य सञ्ज्ञा । अव्ययीभाव-सञ्ज्ञाप्रयोजनं पूर्ववत् ॥

‘अन्यपदार्थे’ इति किम् । कृष्णा चासौ नदी = कृष्णनदी ॥

‘सञ्ज्ञायाम्’ इति किमर्थम् । क्षिप्रगङ्गो देशः । अत्राव्ययीभावसञ्ज्ञाश्रयाणि कार्याणि न भवन्ति ॥ २० ॥

[इत्यव्ययीभावसमास-सञ्ज्ञाधिकारः]

[‘अन्यपदार्थे’] अन्यपदार्थे में [‘सञ्ज्ञायाम्’] सञ्ज्ञा अर्थ हो, तो सुबन्त जो है, वह नदीवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास होता है । वह समास अव्ययीभाव कहावे । उन्मत्तगङ्गम् । यह किसी देश की सञ्ज्ञा है—उन्मत्त अर्थात् बहुत चलने वाली गंगा हो जिस देश में । यहां समास सञ्ज्ञा का प्रयोजन पूर्व के तुल्य समझना चाहिये ॥

अन्यपदार्थ-ग्रहण इसलिये है [कि] ‘कृष्णनदी’ यहां न हो ॥

और सञ्ज्ञा-ग्रहण इसलिये है कि ‘क्षिप्रगङ्गो देशः’ यहां संज्ञा के न होने से अव्ययी-भाव न हुआ ॥ २० ॥

[यह अव्ययीभाव समास पूरा हुआ]

[अथ तत्पुरुषसमास-सञ्ज्ञाधिकारः]

तत्पुरुषः ॥ २१ ॥

अधिकारसूत्रमिदम् । अतोऽग्रे यावद् बहुव्रीहिसमासो नागमिष्यति, तावद् अः समासो भविष्यति, तस्य ‘तत्पुरुषः’ इति सञ्ज्ञा वेदितव्या ॥ २१ ॥

यह अधिकार सूत्र है । यहां से आगे जब तक बहुव्रीहि समास न आवे, तब तक जो समास हो, वह तत्पुरुष-संज्ञक होगा ॥ २१ ॥

द्विगुश्च ॥ २२ ॥

द्विगुः । १ । १ । च । [अ० ।] द्विगुः समासश्च तत्पुरुष-सञ्ज्ञो भव-

१. सा०—पृ० ८ ॥

२. सा०—पृ० ८ ॥

चा० श०—“अन्यार्थे नास्ति ॥” (२ । ३. “शेषो बहुव्रीहिः ॥” (२ । २. १. २. ३.) इति सूत्रपर्यन्तम् ॥

ति । समासान्ताः प्रयोजनम् । सङ्ख्या यस्य पूर्वं, तस्य तत्पुरुषस्यैव द्विगु-सञ्ज्ञा भवति । एकसञ्ज्ञाधिकारत्वाद् द्विगोः पुनस्तत्पुरुष-सञ्ज्ञाविधानम् । पञ्चराजी । दशराजी । अत्र द्विगोस्तत्पुरुष-सञ्ज्ञाविधानात् टच्-प्रत्ययो भवति । ततो ङीप् । एवं 'पञ्चगवं, दशगवं' इत्यपि ॥ २२ ॥

संख्या जिस के पूर्व हो, उस तत्पुरुष की आगे 'द्विगु-संज्ञा' करेंगे । यहां एक संज्ञा का अधिकार चला आता है, इसलिये फिर द्विगु की तत्पुरुष-संज्ञा की है । ['द्विगुः'] द्विगु जो समास है, वह ['च'] भी तत्पुरुष-संज्ञक हो । पंचराजी । दशराजी । यहां द्विगु की तत्पुरुष-संज्ञा होने से राजन्-शब्द से समासान्त टच्-प्रत्यय हुआ है ॥ २२ ॥

द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः^३ ॥ २३ ॥

द्वितीया । १ । १ । श्रित-अतीत-पतित-गत-अत्यस्त-प्राप्त-आपन्नैः । ३ ।
३ । श्रितश्च अतीतश्च पतितश्च गतश्च अत्यस्तश्च प्राप्तश्च आपन्नश्च, तैः ।
द्वितीयान्तं सुबन्तं श्रितादिभिः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । [श्रित—] कष्टं श्रितः = कष्टश्रितः । अतीत—अरण्यमतीतः = अरण्यातीतः । पतित—कूपं पतितः = कूपपतितः । गत—नगरं गतः = नगरगतः । [अत्यस्त—] गङ्गामत्यस्तः = गङ्गात्यस्तः । [प्राप्त—] आनन्दं प्राप्तः = आनन्दप्राप्तः । [आपन्न—] सुखमापन्नः = सुखापन्नः ।
तत्पुरुष-सञ्ज्ञाया वहुनि प्रयोजनानि सन्ति । सर्वेषु सूत्रेषु तानि नैव लिख्यन्ते । यत्र यत्र तान्यागमिष्यन्ति, तत्र तत्र तानि प्रसिद्धानि भविष्यन्ति ॥

वा०—श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसङ्ख्यानम् ॥

ग्रामं गमी = ग्रामगमी । ग्रामं गामी = ग्रामगामी ॥^३

अस्यापि समासस्य तत्पुरुष-सञ्ज्ञा विज्ञेया ॥ २३ ॥

['द्वितीया'] द्वितीयान्त जो सुबन्त है, वह ['श्रिता०'] श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त, आपन्न, इन सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो । कष्टं श्रितः = कष्टश्रितः इत्यादि उदाहरणों में तत्पुरुष-संज्ञा के प्रयोजन बहुत हैं । वे सब सूत्रों में नहीं लिखे जायेंगे । जहां २ वे प्रयोजन आवेंगे, वहां २ प्रसिद्ध कर दिये जायेंगे । और जो कोई विशेष प्रयोजन होगा, तो समास के सूत्रों में भी दिखला दिये जायेंगे ॥

। 'श्रितादिषु०' इस वार्तिक से गमी और गामी आदि शब्दों के साथ द्वितीयान्त का

तत्पुरुष समास होता है। उस से 'ग्रामगामी, ग्रामगामी' इत्यादि उदाहरण बनते हैं ॥२३॥

स्वयं क्तेन' ॥ २४ ॥

'स्वयं' [इति] एतदव्ययम् । द्वितीया-ग्रहणमुत्तरार्थमनुवर्तते । स्वयम् ।
अ० । क्तेन । ३ । १ । क्तेन = क्त-प्रत्ययान्तेन । 'स्वयं' [इति] एतदव्ययं

क्तान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । स्वयं-
मुक्तम् । स्वयंघौतं वस्त्रम् । समासप्रयोजनमैकपद्यमैकस्वर्यमैकविभक्तित्वं च ॥२४॥

पूर्व सूत्र से द्वितीयान्त की अनुवृत्ति आती है, सो आगे के लिये समझनी चाहिये । यहां तो 'स्वयम्' यह मकारान्त अव्यय है । इस से कुछ प्रयोजन नहीं । ['स्वयं'] स्वयं जो अव्यय है, वह ['क्तेन'] क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । सो समास तत्पुरुष-संज्ञक हो । स्वयंमुक्तम् । यहां समास का प्रयोजन यह है कि एक पद [और] एक स्वर [होना] और [अन्यत्र] एक विभक्ति होना [भी] ॥ २४ ॥

खट्वा क्षेपे' ॥ २५ ॥

'द्वितीया' इत्यनुवर्तते, 'क्तेन' इत्यपि । द्वितीयान्तः खट्वा-शब्दः क्तान्तेन सुबन्तेन सह समस्यते, क्षेपेऽर्थे गम्यमाने । स समासस्तत्पुरुषो भवति । खट्वामारूढः = खट्मारूढोऽयं मनुष्यः, सर्वतोऽविनीत इत्यर्थः ॥

'क्षेपे' इति किम् । खट्वामारूढः । अत्र समासो न भवति ॥

भा०—कः क्षेपो नाम । अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञाते[न]
खट्वाऽऽरोढव्या । य इदानीमतोऽन्यथा करोति, स उच्यते
खट्मारूढोऽयं जाल्मः । नातिव्रतवान् [इति] ॥^२

अध्ययनसमाप्तिमकृत्वा गुरोराज्ञां त्यक्त्वा च यो गृहस्थाश्रममाविशति, तस्य 'खट्मारूढः' इति नाम । क्षेपस्तस्य निन्दा, स एव समासार्थः ॥ २५ ॥

क्षेप कहते हैं निन्दा को । द्वितीयान्त जो ['खट्वा'] खट्वा-शब्द है, वह क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो ['क्षेपे'] क्षेप अर्थात् निन्दा अर्थ में । खट्वामारूढः = खट्मारूढः । [अर्थात्] सब प्रकार से निन्दा करने योग्य ॥

क्षेप-ग्रहण इसलिये है कि 'खट्वामारूढोऽयं मनुष्यः' यहां समास नहीं हुआ । धर्मशास्त्र का यह नियम है कि विद्या को यथावत् पढ़के गुरु की आज्ञा के अनुसार लिखित नियम से स्नान करके गृहस्थाश्रम में जाना चाहिये । जो कोई इस से उल्टा अर्थात् विद्या पूरी न हो और गुरु की आज्ञा भी न हो और गृहस्थाश्रम में जाता है, उस को खट्मारूढ कहते हैं । इस शब्द से उस की निन्दा समझनी चाहिये ॥ २५ ॥

‘सामि’ ॥ २६ ॥

‘क्तेन’ इत्यनुवर्तते । ‘सामि’ इत्यव्ययम् अर्ध-शब्दस्यार्थे वर्तते । ‘सामि’ इति शब्दः क्तान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । सामिभुक्तम् । सामिपीतम् । अर्धं भुक्तं, अर्धं पीतमित्यर्थः । ऐकपद्यादि समासप्रयोजनम् ॥ २६ ॥

सामि जो अव्यय है, वह अर्ध-शब्द के अर्थ में है । [‘सामि’] सामि जो शब्द है, [वह] क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो । सामिभुक्तम् । आधा खाया । यहां समास का प्रयोजन यह है कि एक पद आदि होना ॥ २६ ॥

‘कालाः’ ॥ २७ ॥

‘द्वितीया’ इत्यनुवर्तते, ‘क्तेन’ इति च । द्वितीयान्ताः कालवाचिनः शब्दाः क्त-प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । राज्यतिसृता मुहूर्त्ताः । अहरतिसृता मुहूर्त्ताः । मासप्रमितश्चन्द्रमाः ॥

भा०—षण्मुहूर्त्ताश्चराचराः । ते कदाचिद्दहर्गच्छन्ति कदाचिद् रात्रिम् ॥^१

षण्मुहूर्त्तानामहोरात्रस्य चात्यन्तसंयोगो नास्तीति कृत्वा सूत्रारम्भः । षण्मुहूर्त्ता उत्तरायणेऽहर्गच्छन्ति, दक्षिणायने च रात्रिं गच्छन्ति । प्रतिपच्चन्द्रमा मासस्य प्रमाणकर्त्ताऽस्तीत्यत्यन्तसंयोगो नास्ति ॥ २७ ॥

[‘कालाः’] कालवाची जो द्वितीयान्त सुबन्त हैं, वे क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो । अहरतिसृता मुहूर्त्ताः । राज्यतिसृता मुहूर्त्ताः । ज्योतिषविद्या में छः मुहूर्त्त विचरने वाले हैं । वे, उत्तरायण जब सूर्य होता है, तब दिन में आते हैं । और दक्षिणायन सूर्य में रात्रि में आते हैं । सो छः मुहूर्त्तों और दिन रात्रि का अत्यन्त संयोग नहीं, इससे आगे के सूत्र से सिद्ध नहीं हो सकता । इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है ॥ २७ ॥

अत्यन्तसंयोगे च^३ ॥ २८ ॥

‘द्वितीया’ इत्यनुवर्तते, ‘कालाः’ इति च । ‘क्तेन’ इति निवृत्तम् । अत्यन्तसंयोगे । ७ । १ । च । अ० । अत्यन्तसंयोगः = सर्वथा संयोगः । अत्यन्त-

१. सा०—पृ० १४ ॥

यौगै च ॥^१ (२।१।२८) इति सूत्रव्याख्याते ॥

२. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥ “अत्यन्तसं-

३. सा०—पृ० १५ ॥

संयोगोऽर्थे गम्यमाने कालवाचिनो द्वितीयान्ताः शब्दाः सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । मुहूर्त्तं सुखं = मुहूर्त्तसुखम् । मुहूर्त्तं सुप्तं = मुहूर्त्तसुप्तम् । मुहूर्त्तस्य सुखस्य स्वप्नस्य चात्यन्तसंयोगोऽस्ति । अर्थाद् यावन्मुहूर्त्तं व्यतीतं, तावत् सुखं भुक्तं सुप्तं च ॥ २८ ॥

कालवाची जो द्वितीयान्त सुबन्त हैं, वे ['अत्यन्तसंयोगे'] अत्यन्तसंयोग अर्थ में सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । मुहूर्त्तं सुखं = मुहूर्त्तसुखम् । जब तक एक मुहूर्त्त व्यतीत हुआ, तब तक सुख भोगा । यहां मुहूर्त्त [और] सुख का अत्यन्त संयोग अर्थात् सब प्रकार का संयोग है ॥ २८ ॥

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन ॥ २९ ॥

तृतीया । १ । १ । तत्कृतार्थेन । ३ । १ । गुणवचनेन । ३ । १ । 'अर्थेन' इति महाभाष्यकारेण योगविभागः कृतः । 'गुणवचनेन' इत्यस्य विशेष्यस्य 'तत्कृतेन' इति विशेषणम् । तत्कृतेन = तृतीयान्तकृतेन । गुणमुक्तवता = गुणवचनेन । अन्यथा गुणवाचिना शब्देन समास इष्टः स्यात् । तर्हि 'गुणेन' इति ब्रूयात् । पुनर्वचन-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनं—गुणमुक्तवता द्रव्येण समासो यथा स्यात् । तृतीयान्तं सुबन्तं तत्कृतेन गुणवचनेन अर्थ-शब्देन च सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषश्च समासो भवति । शङ्कुलया खण्डः = शङ्कुलाखण्डः । खण्डगुणः खण्ड इति गुणमुक्तवता । अर्थेन—धान्येनार्थः = धान्यार्थः । वसनेनार्थः = वसनार्थः ॥

'तत्कृतेन' इति किम् । कर्णेन बधिरः । अत्र कर्णकृतं बधिरत्वं नास्तीति समासो न भवति ॥

['गुणवचनेन' इति किम् ।] गोभिर्धनवान् । अत्र न भवति ॥

भा०—नायमर्थ-शब्दः^१ । किं तर्हि । योगाङ्गमिदं निर्दिश्यते^२ । सति च योगाङ्गे योगविभागः करिष्यते । तृतीया तत्कृतेन गुणवचनेन समस्यते । ततोऽर्थेन । अर्थ-शब्देन च तृतीया समस्यते ॥^३

१. सा०—पृ० १५ ॥

२. पाठान्तरे—०मर्थनिर्देशः ॥ ०मर्थनिर्देशो विज्ञायते ॥

३. पाठान्तरम्—योगाङ्गमिति विज्ञायते ॥

४. पाठान्तरम्—तत्कृतगुण० ॥

५. अ० २ । पा० १ । आ० ३ ॥

अस्याशयेनैव पूर्वं व्याख्या कृता, स्पष्टं च सर्वम् ॥ २६ ॥

इस सूत्र में महाभाष्यकार ने योगविभाग किया है। अर्थात् 'अर्थेन' इतना पृथक् किया है, और 'तत्कृतेन' इस को 'गुणवचनेन' का विशेषण ठहराया है। जो व्रथ गुण को कह चुका हो, उस को गुणवचन कहते हैं। तृतीयान्त से जो किया हो, वह तत्कृत-कहावे। ['तृतीया'] तृतीयान्त जो सुबन्त है, वह ['तत्कृतार्थेन गुणवचनेन'] तत्कृत गुणवचन और अर्थ-शब्द के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो। शङ्कुलया खण्डः = शङ्कुलाखण्डः। यहां खण्ड-शब्द गुणवचन है। वह शङ्कुला से किया जाता है। इससे खण्ड के साथ शङ्कुला का समास हुआ है। अर्थ-शब्द के साथ 'धान्येनार्थः = धान्यार्थः' यहां समास हुआ है ॥ २६ ॥

पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः ॥ ३० ॥

'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते। पूर्वादि सर्वं तृतीयाबहुवचनम्। तृतीयान्तं सुबन्तं पूर्वादिभिः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स संमासो भवति। [पूर्व—] मासेन पूर्वः = मासपूर्वः। संवत्सरपूर्वः। सदृश—मात्रा सदृशः = मातृसदृशः। पितृसदृशः। सम—भ्रात्रा समः = भ्रातृसमः। ऊनार्थ—कार्षापणेनोनं रौप्यं = कार्षापणेनम्। कार्षापणन्यूनम्। कलह—वाचा क[ल]हः = वाक्कलहः। मनः—कलहुः। निपुण—विद्यया निपुणः = विद्यानिपुणः। मिश्र—शर्करया मिश्रः = शर्करामिश्रः। तिलैर्मिश्रः = तिलमिश्रः। [श्लक्ष्ण—] आचारेण श्लक्ष्णः = आचारश्लक्ष्णः। तृतीयातत्पुरुषे विशेषप्रयोजनम्। 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया०' ॥ इति सूत्रेण पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

वा०—[पूर्वादिष्ववरस्योपसङ्ख्यानम् ॥]

(मासेनाऽवरः =) मासावरोऽयम्। संवत्सरावरोऽयम् ॥^३

स्पष्टं वार्त्तिकप्रयोजनम् ॥ ३० ॥

['तृतीया'] तृतीयान्त जो सुबन्त है, वह ['पूर्व०'] पूर्व-आदि आठ सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास पावे। वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो। [१] पूर्व—मासेन पूर्वः = मासपूर्वः। यहां तृतीयान्त मास सुबन्त का पूर्व के साथ समास हुआ। [२] सदृश—मात्रा सदृशः = मातृसदृशः। यहां तृतीयान्त मातृ-शब्द का सदृश के साथ। [३] सम—भ्रात्रा समः = भ्रातृसमः। यहां तृतीयान्त भ्रातृ-शब्द का सम के साथ। [४] ऊनार्थ—ऊन-शब्द के अर्थ में जो शब्द हैं, वे भी समझने चाहियें। एकेनोनं = एकोनम्। एकन्यूनम्। यहां तृतीयान्तः

१. सा०—पृ० १५ ॥

३. अ० २। पा० १। अ० २-॥

४. ६। २। २॥

एक-शब्द का ऊन- और न्यून-शब्द के साथ । [५] कलह—वाचा कलहः=वाक्कलहः । यहां तृतीयान्त वाक्-शब्द का कलह के साथ । [६] निपुण—विद्यया निपुणः=विद्यानिपुणः । यहां तृतीयान्त विद्या-शब्द का निपुण के साथ । [७] मिश्र—तिलैर्मिश्रः=तिलमिश्रः । यहां तृतीयान्त तिल-शब्द का मिश्र-शब्द के साथ । [८] श्लक्ष्ण—आचारेण श्लक्ष्णः=आचारश्लक्ष्णः । और यहां तृतीयान्त आचार-शब्द का श्लक्ष्ण सुबन्त के साथ तत्पुरुष समास हुआ है ॥

इस तृतीयातत्पुरुष समास का विशेष प्रयोजन यह है कि 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया०' ॥ इस पष्ठध्याय के सूत्र से पूर्वपदप्रकृतिस्वर होना ॥

'पूर्वादि०' पूर्वोंमें अवर्-शब्द भी समझना, अर्थात् तृतीयान्त-शब्द का समास अवर्-शब्द के साथ भी हो । मासेनावरः=मासावरोऽयम् । यहां तृतीयान्त माल-शब्द का समास अवर् के साथ हुआ है । यह इस वार्तिक का प्रयोजन है ॥ ३० ॥

कर्तृकरणे कृता बहुलम् ॥ ३१ ॥

'तृतीया' इत्यनुवर्तते । कर्तृकरणे । १ । २ । कृता । ३ । १ । बहुलम् । १ । १ । कर्ता च करणं च कर्तृकरणे ।^३ महाविभाषाऽनुवर्तते, पुनर्बहुल-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—महाविभाषया वाक्यमेव भवति, बहुलेन तु क्वचित् समासोऽपि न भवति । कर्तृवाचि करणवाचि तृतीयान्तं सुबन्तं कृदन्तेन सुबन्तेन सह बहुलेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । अहिना हतः=अहिहतः । वृकहतः । दात्रेण लूनं=दात्रलूनम् । परशुना छिन्नं=परशुच्छिन्नम् ॥

'कर्तृकरणे' इति किमर्थम् । पुत्रशोकेन मृतः । अत्र हेतौ तृतीया, अतः समासो न भवति ॥

बहुल-ग्रहणं किम् । दात्रेण लूनवान् । परशुना छिन्नवान् । अत्र समास इव न भवति ॥ ३१ ॥

पूर्व से विकल्प की अनुवृत्ति चली आती थी, फिर बहुल-ग्रहण का यह प्रयोजन है कि पूर्व के विकल्प से वाक्य रहता है और बहुल-ग्रहण से कहीं २ समास भी नहीं होता । ['कर्तृकरणे'] कर्तावाची और करणवाची जो तृतीयान्त सुबन्त हैं, वे ['कृता'] कृदन्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । कर्तावाची—अहिना हतः=अहिहतः । यहां कर्तावाची तृतीयान्त अहि-शब्द का समास हत के साथ, और 'दात्रेण लूनं=दात्रलूनम्' यहां करणवाची दात्र-शब्द का समास लून के साथ हुआ है ॥

बहुल-ग्रहण के होने से 'दात्रेण लूनवान्' यहाँ समास नहीं हुआ ॥

कर्तृकरण-ग्रहण इसलिये है कि 'विद्यया यशः' यहाँ हेतु अर्थ में तृतीया है। इससे समास नहीं हुआ ॥ ३१ ॥

कृत्यैरधिकार्थवचने ॥ ३२ ॥

'कर्तृकरणे' इत्यनुवर्त्तते । कृत्यैः । ३ । ३ । अधिकार्थवचने । ७ । १ ।

कृत्य-सञ्ज्ञकाः प्रत्ययाः 'कृता' इति वचनेनागतास्तदन्तर्गतत्वात् । पुनः सूत्रमिदं बहुलानिवृत्त्यर्थम् । अर्थस्य = पदार्थस्य, वचनं = कथनं, अर्थवचनम् । अधिकं च तदर्थवचनं = अधिकार्थवचनम् । अर्थात् वस्तुनो अधिकतया गुणावगुण-वर्णनम् । तस्मिन्नधिकार्थवचने गम्यमाने तृतीयान्तौ कर्तृकरणवाचिशब्दौ कृत्य-सञ्ज्ञकप्रत्ययान्तैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्येते । तत्पुरुषः स समासो भवति । काकैः पेया नदी = काकपेया नदी । कुत्सिता इत्यर्थः । अत्र कर्तृवाचिना काक-शब्देन समासः । बाष्पेण छेद्यानि [= बाष्पच्छेद्यानि] तृणानि । अतिमृदूनि तृणानि सन्तीति यावत् । अत्र करणवाचिना बाष्प-शब्देन सह छेद्य-कृत्यान्तस्य समासः ॥

वा०—साधनं कृता समस्यत इति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ।

पादहारकाद्यर्थम् । पादाभ्यां ह्रियते = पादहारकः । गले चोप्यते = गलेचोपकः ॥^१

'पादाभ्यां ह्रियते' इत्यत्र हरणस्य साधनं पादौ । तस्य साधनस्य हारकेण कृदन्तेन सह समासो भवतीति । सूत्राद् भिन्नप्रयोजनसाधकं वार्तिकम् ॥ ३२ ॥

कृत्य-सञ्ज्ञक प्रत्यय कृदन्त के अन्तर्गत होने से पूर्व सूत्र से ही सिद्ध हो जाता, फिर इस सूत्र का प्रयोजन यह है कि यहाँ बहुल-ग्रहण नहीं है । पदार्थ के गुणों और अवगुणों का अधिक करके वर्णन करना, इस को अधिकार्थवचन कहते हैं । ['अधिकार्थवचने'] अधिकार्थवचन अर्थ में कर्त्ता और करणवाची जो तृतीयान्त हैं, वे ['कृत्यैः'] कृत्य-प्रत्ययान्त सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । काकैः पेया = काकपेया नदी । यहाँ काक तृतीयान्त सुबन्त के साथ पेय कृत्यप्रत्ययान्त का समास हुआ है । इस नदी का जल कौओं के पीने योग्य है, अर्थात् अत्यन्त बुरा है । बाष्पच्छेद्यानि तृणानि । भाफ से दूढ़ने योग्य तृण हैं, अर्थात् अत्यन्त कोमल हैं । यहाँ करणवाची तृतीयान्त भाफ-शब्द-के साथ छेद्य कृत्यप्रत्ययान्त का समास हुआ है ॥

१. सा०—पृ० १६ ॥

तटस्थैरपि काकैः शक्या पातुम् ।^२

२. अथ न्यासकारः—“अत्र सम्पूर्णतोयत्वोद्भावनं

३. पाठान्तरम्—कृता सह ॥

तृणाः स्तुतिः । एवं नाम सम्पूर्णतोया नदी यत्

४. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

‘साधनं०’ साधनवाची [जो] सुबन्त है, वह कृदन्त के साथ समास पावे। प्रयोजन यह है कि पादहारक आदि शब्द सिद्ध हों। जैसे—पादाभ्यां द्वियते = पादहारकः। यहां साधनवाची पाद हैं। उन के साथ कृदन्त हारक-शब्द का समास हुआ। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना। परन्तु तृतीयान्त का नियम नहीं, किसी विभक्ति के साथ समास हो। जैसे ‘पादाभ्यां’ यहां पञ्चमी के साथ हुआ। यह इस वार्तिक का प्रयोजन है ॥ ३२ ॥

अन्नेन व्यञ्जनम् १ ॥ ३३ ॥

‘तृतीया’ इत्यनुवर्तते। अन्नेन। ३।१। व्यञ्जनम्। १।१। तृतीया-न्तं व्यञ्जनवाचि सुबन्तमन्नवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। दुग्धदध्यादि व्यञ्जनमुच्यते। दध्नोपसिक्त ओदनः = द-ध्योदनः। क्षीरौदनः। अत्र व्यञ्जनवाचिदधिक्षीरयोः सुबन्तयोरन्नवाचिन ओ-दन-शब्दस्य समासः ॥ ३३ ॥

दही वृध आदि को व्यञ्जन कहते हैं। तृतीयान्त जो [‘व्यञ्जनम्’] व्यञ्जनवाची सुबन्त है, वह [‘अन्नेन’] अन्नवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष कहावे। दध्ना उपसिक्त ओदनः = दध्योदनः। यहां व्यञ्जनवाची दधि-शब्द का अन्नवाची ओदन-शब्द के साथ समास हुआ है ॥ ३३ ॥

भक्ष्येण मिश्रीकरणम् १ ॥ ३४ ॥

‘तृतीया’ इत्यनुवर्तते। भक्ष्येण। ३।१। मिश्रीकरणम्। १।१। भक्ष्ये-वस्तुनि यद् मेलयन्ति, तद् मिश्रीकरणम्। मिश्रीकरणवाचि तृतीयान्तं सुबन्तं भक्ष्यवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। गुडेन मिश्रा धानाः = गुडधानाः। अत्र मिश्रीकरणवाचि[गुड-]शब्दस्य धाना-शब्देन समासः। कुतः। गुडमेव तत्र मेलयन्ति ॥ ३४ ॥

भोजन के योग्य पदार्थ में जो मिलाया जाय, वह मिश्रीकरण कहाता है। [‘मिश्रीकर-णम्’] मिश्रीकरण जो तृतीयान्त सुबन्त है, वह [‘भक्ष्येण’] भक्ष्यवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो। गुडेन मिश्राः [= गुंडामिश्राः] धानाः। यहां मिश्रीकरण गुड-शब्द का धाना-शब्द के साथ समास हुआ है ॥ ३४ ॥

चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः १ ॥ ३५ ॥

‘सुप् सुपा’ इत्यनुवर्तते। चतुर्थी। १।१। तदर्थ-अर्थ-बलि-हित-सुख-रक्षि-तैः। ३।३। तस्मै इदं = तदर्थम्। ‘तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख, रक्षित’

इत्येतैः षट्सुबन्तैः सह चतुर्थ्यन्तं सुबन्तं विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । [तदर्थ—] यूपाय दारु = यूपदारु । कुण्डलाय हिरण्यं = कुण्डलहिरण्यम् । अत्र चतुर्थ्यन्तयूप-शब्दस्य कुण्डल-शब्दस्य च दारु-हिरण्याभ्यां समासः ॥

अस्मिन् सूत्रे बलि-रक्षितयोर्ग्रहणेनैतद् विज्ञायते—तदर्थमात्रस्य चतुर्थ्यन्तस्य समासो न भवति । अन्यथा बलि-[रक्षित-]ग्रहणमनर्थकं स्यात् ॥

चतुर्थ्यन्ता विकृतिः प्रकृत्या सह समस्यत इति तदर्थप्रयोजनम् । अर्थ—ब्राह्मणेभ्य इति ब्राह्मणार्थं पयः । बलि—इन्द्राय बलिः = इन्द्रबलिः । हित—बालाय हितं = बालहितम् । सुख—विदुषे सुखं = विद्वत्सुखम् । रक्षित—पुत्राय रक्षितं = पुत्ररक्षितम् ॥

वा०—अर्थेन नित्यसमासवचनं सर्वलिङ्गता च^२॥^३

महाविभाषाऽनुवर्त्तते । तथा वाक्यमपि प्राप्नोति । तदर्थमिदमुच्यते—‘अर्थेन नित्यसमासवचनम्’ इति । तेन समास एव भवति, वाक्यमपि न भवति । ‘सर्वलिङ्गता’—विशेष्यस्य लिङ्गं भवतीति । अर्थ-शब्दो नित्यपुल्लिङ्गः, तत्र तत्पुरुषस्योत्तरपदार्थप्रधानत्वात् सर्वत्र पुल्लिङ्गत्वं प्राप्तम् ॥ ३५ ॥

जो [‘चतुर्थी’] चतुर्थ्यन्त शब्द का वाची है, उस के लिये जो हो, उस को तदर्थ कहते हैं । चतुर्थ्यन्त जो सुबन्त है, वह तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख [और] रक्षित, इन ङः सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे ॥

इस सूत्र में बलि-और रक्षित-शब्द के ग्रहण से यह समझा जाता है कि तदर्थ-शब्द से सामान्य-ग्रहण नहीं, किन्तु विकृतिवाची चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक का प्रकृतिवाची प्रातिपदिक के साथ समास होता है । तदर्थ—कुण्डलाय हिरण्यं = कुण्डलहिरण्यम् । कुण्डल बनाने के लिये यह सुवर्ण है । यहां विकृतिवाची कुण्डल-शब्द का प्रकृतिवाची हिरण्य के साथ समास हुआ । अर्थ—ब्राह्मणार्थम् । यहां चतुर्थ्यन्त ब्राह्मण-शब्द का अर्थ के साथ समास हुआ । बलि—इन्द्राय बलिः = इन्द्रबलिः । यहां इन्द्र-शब्द का बलि के साथ । हित—माणवकाय हितं = माणवकहितम् । यहां माणवक-शब्द का समास हित-शब्द के साथ । सुख—धनिने सुखं = धनिसुखम् । यहां धनि-शब्द का समास सुख के साथ हुआ है । और ‘पुत्राय रक्षितं = पुत्ररक्षितं’ यहां पुत्र-शब्द का समास रक्षित के साथ हुआ है ॥

‘अर्थेन०’ इस वार्तिक का यह प्रयोजन है कि इस सूत्र में जो अर्थ-शब्द के साथ समास किया है, पूर्व विकल्प से वाक्य न रहे, किन्तु नित्य समास हो जाय । और अर्थ-शब्द नित्य पुल्लिङ्ग है । सो तत्पुरुष समास के उत्तरपदप्रधान होने से सर्वत्र पुल्लिङ्ग प्राप्त होता है, सो

१. चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रमद्रकुशलसुखार्थहितैः ॥ २. कोशेऽत्र—“॥ १ ॥” इति ॥

(२।३।७३) इत्यनेन सूत्रेण चतुर्थी भवति ॥ ३. अ० २।पा० १।आ० २ ॥

न हो। किन्तु जो विशेष्य का लिंग हो, वही विशेषण का भी हो जाय। ब्राह्मणार्थं पयः। ब्राह्मणार्थः सूपः। ब्राह्मणार्था यवागूः। अर्थ-शब्द के साथ समास होने [से] सब लिङ्ग होते हैं ॥ ३५ ॥

पञ्चमी भयेन' ॥ ३६ ॥

पञ्चमी । १ । १ । भयेन । ३ । १ । पञ्चम्यन्तं सुबन्तं भयवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । वृकेभ्यो भयं = वृकभयम् । दस्युभ्यो भयं = दस्युभयम् । चौरभयम् । अत्र पञ्चम्यन्तानां वृक-दस्यु-चौराणां भय-शब्देन सह समासः ॥

वा०—भय-भीत-भीति-भीभिरिति वक्तव्यम् ॥^२

भय-शब्देन सह समास उच्यते । 'भीतं, भीः, भीतिः' इति शब्दत्रयेणापि पञ्चम्यन्तस्य समासो यथा स्यात् । स्वरूपविधित्वाद् भय-शब्देन ग्रहणं न प्राप्नोतीति वार्त्तिकप्रयोजनम् ॥ ३६ ॥

पञ्चम्यन्त जो सुबन्त हैं, वह भयवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों। वह समास तत्पुरुष कहावे। दस्युभ्यो भयं = दस्युभयम्। यहां पञ्चम्यन्त दस्यु-शब्द का समास भय-शब्द के साथ हुआ है ॥

'भय-भीति०' भय-शब्द के साथ जो पञ्चम्यन्त का समास कहा है, वहां भीत, भीति, भी, इन तीन शब्दों के साथ भी समास हो। यह वार्त्तिक का प्रयोजन है। क्योंकि व्याकरण में शब्द का जो रूप है, उसी का ग्रहण होता है। इससे इन तीन शब्दों का ग्रहण नहीं होता। वृकाद् भीतः = वृकभीतः। वृकाद् भीतिः = वृकभीतिः। वृकाद् भीः = वृकभीः। यहां पञ्चम्यन्त वृक-शब्द का समास उक्त तीन शब्दों के साथ हुआ है ॥ ३६ ॥

अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः' ॥ ३७ ॥

'पञ्चमी' इत्यनुवर्त्तते । अल्पशः = अल्पं पञ्चम्यन्तं सुबन्तं 'अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, अपत्रस्त' इत्येतैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । दुःखादपेतः = दुःखापेतः । किञ्चिद् दुःखात् पृथग् भूत इत्यर्थः । धनादपोढः = धनापोढः । दुःखात् मुक्तः = दुःखमुक्तः । जातेः पतितः = जातिपतितः । तडागादपत्रस्तः = तडागापत्रस्तः । अत्र दुःखादीनां पञ्चम्यन्तानां शब्दानामपेतादिभिः समासः ॥

'अल्पशः' इति किम् । वृक्षात् पतितः । अत्र समासो न भवति ॥ ३७ ॥

अल्प अर्थ में वर्त्तमान जो पञ्चम्यन्त सुबन्त है, वह अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, अपत्रस्त

इन सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह तत्पुरुष समास कहावे। दुःखाद् अपेतः = दुःखापेतः। यहां दुःख-शब्द का अपेत के साथ। अपोढ—धनादपोढः = धनापोढः। यहां धन-शब्द का समास अपोढ के साथ। मुक्त—दुःखाद् मुक्तः = दुःखमुक्तः। यहां दुःख-शब्द का समास मुक्त के साथ। पतित—जातेः पतितः = जातिपतितः। यहां जाति-शब्द का पतित के साथ। अपत्रस्त—और 'तडागादपत्रस्तः' = तडागापत्रस्तः। यहां तडागा पंचम्यन्त सुबन्त के साथ अपत्रस्त-शब्द का समास हुआ है ॥

‘अल्पशः’ इस शब्द का ग्रहण इसलिये है कि ‘वृत्तात् पतितः’ यहां समास नहीं हुआ ॥ ३७ ॥

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि केन ॥ ३८ ॥

‘पञ्चमी’ इत्यनुवर्तते। स्तोक-अन्तिक-दूरार्थ-कृच्छ्राणि। १।३।केन। ३।१। स्तोक-अन्तिक-दूरा अर्थां येषां, ते स्तोकान्तिकदूरार्थाः। पञ्चम्यन्ताः स्तोकान्तिकदूरार्थाः कृच्छ्र-शब्दश्च क्त-प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते। स समासस्तत्पुरुष-सञ्ज्ञो भवति। स्तोकार्थ—स्तोकात्यक्तः^१। अल्पात्यक्तः। अन्तिकार्थ—अन्तिकाद्गतः। समीपाद्गतः। समीपाद्गतः। दूरार्थ—दूरादागतः। विप्रकृष्टादागतः। कृच्छ्र—कृच्छ्राब्धः। कृच्छ्रान्मुक्तः। अत्र पञ्चम्यन्तानां स्तोकादीनां क्त-प्रत्ययान्तेन सह समासः ॥ ३८ ॥

[‘स्तोक-अन्तिक-दूरार्थ-कृच्छ्राणि’] स्तोक, अन्तिक और दूर वाची जो शब्द और कृच्छ्र जो शब्द, वे [‘क्तेन’] क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हैं। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। स्तोकार्थ—स्तोकात्यक्तः। अल्पात्यक्तः। यहां थोड़े के वाची स्तोक- और अल्प-शब्द का समास क्त के साथ। अन्तिकार्थ—अन्तिकाद्गतः। समीपाद्गतः। समीपाद्गतः। यहां समीपवाची शब्दों का समास क्त के साथ। दूरार्थ—दूरादागतः। विप्रकृष्टादागतः। यहां दूरवाची शब्दों का समास क्त-प्रत्ययान्त के साथ। और ‘कृच्छ्रान्मुक्तः’ यहां पंचम्यन्त कृच्छ्र-शब्द का समास मुक्त-शब्द के साथ हुआ है ॥ ३८ ॥

सप्तमी शौण्डैः ॥ ३९ ॥

‘सप् सुपा’ इत्यनुवर्तते। सप्तमी। १।१।शौण्डैः। ३।३।‘शौण्डैः’ इति बह्वचननिर्देशात् [‘शौण्डादिभिः’] इति विज्ञायते। सप्तम्यन्तं सुबन्तं शौण्डादिभिः शब्दैः सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। अक्षेण शौण्डः = अक्षशौण्डः। स्त्रीषु धूर्तः = स्त्रीधूर्तः। अत्र सप्तम्यन्तयोः अक्ष-स्त्री-शब्दयोः शौण्डादिभिः सह समासः ॥

१. सा०—पृ० १८ ॥

इति पञ्चम्या अर्धम् ॥

१. “पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ॥” (६।३।३)

अथ शौण्डादिगणः—[१] शौण्ड [२] धूर्त्त [३] कितव [४] व्याड [५] प्रवीण^१ [६] संवीत [७] अन्तर^२ [८] अधिपटु^३ [९] पण्डित [१०] कुशल [११] चपल [१२] निपुण^४ [१३] संन्याड^५ [१४] मन्थ [१५] समीर—इति^६ शौण्डादिगणः ॥ ३६ ॥

इस सूत्र में बहुवचन के पढ़ने से शौण्डादिगण समझा जाता है । ['सप्तमी'] सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, वह ['शौण्डैः'] शौण्डादि सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । अक्षेण शौण्डः = अक्षशौण्डः । स्त्रीधूर्त्तः । यहां अक्ष- और स्त्री-शब्द का समास शौण्डादि के साथ समझना चाहिये ॥

शौण्डादिगण पूर्व संस्कृत भाष्य में क्रम पूर्वक शुद्ध करके लिख दिया है, वहां देख लेना ॥ ३६ ॥

सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च^७ ॥ ४० ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्तते । सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्धैः । ३ । ३ । च । अ० । सप्तम्यन्तं सुबन्तं सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्धैश्चतुर्भिः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । [सिद्ध—] ग्रामे सिद्धः = ग्रामसिद्धः । नगरसिद्धः । शुष्क—छायायां शुष्कं = छायाशुष्कम् । पक्व—स्थाल्यां पक्वं = स्थालीपक्वम् ।

१. केषुचित् प्रक्रियाकौमुदीकोशेषु नैष शब्द उपलभ्यते ॥

२. अन्यत्र "अन्तर" इत्यपि ॥

अतोऽग्रे काशिकायां—“अन्तरशब्दस्त्वत्राधिकरणप्रधान एव पठ्यते ।”

गण० म०—“ते नालिकेरान्तरपः पिवन्तः । न चैतत् षष्ठीसमासेन सिद्धयतीति शक्यं प्रतिपत्तुमर्थमेवात् । न हि 'अर्थवेऽन्तर्, अर्थवस्यान्तर्' इति चैकोऽर्थः । किं चाव्ययत्वात् षष्ठीसमासप्रतिषेधः । श्रीभोजस्तु अन्तर-शब्दं पपाठ ॥” (२।१०१)

३. प्रक्रियाकौमुदीशब्दकौस्तुभादिषु—“अधि । पटु ।” इति द्वौ शब्दौ ॥

४. शब्दकौस्तुभे “निपुण” इत्यतोऽग्रे “वृत्” इति ॥

५. केषुचित् काशिकाकोशेषु प्रक्रियाकौमुदी-गण-रत्नमहोदधि-शब्दकौस्तुभेषु च “संन्याड । मन्थ । समीर ।” इत्येते शब्दा नोपलभ्यन्ते ॥

६. गणरत्नमहोदधौ—“अधीन, प्रधान, सव्य, ध्यान, प्रवण (पाठान्तरं—प्रणव), विदित, सार, गुरु, आयस, सिद्ध, बन्ध, कटक, विरस, शेखर, शुष्क, पक्व” इति १६ शब्दा अधिकाः । एषा-मुदाहरणानि—“जिनवचनाधीनः । अधीन-शब्दोऽस्मादेव गणपाठात् 'तस्याधीनः' इति ज्ञापकाद् वा ख-प्रत्ययान्तो बोद्धव्यः । अथ वा 'अधिगत इनं, अधिगत इनोऽनेन' इति वा = अधीनः । यथा—लोकाधीनः । विबुधप्रधानम् । कार्यसव्यः । कार्यविषयेऽनिपुण इत्यर्थः । कर्मध्यानः । कर्मसु युक्त इत्यर्थः । पृथिवीप्रवणः ('प्रणवः' वा) । पृथिवीविदितः । त्वचिसारः । मध्येगुरुः । कायायसः । काय-विषय औदारिक इत्यर्थः । काम्पित्यसिद्धः । चक्र-बन्धः । हस्तकटकः । अवसानविरसः । शिरः-शेखरः । छायाशुष्कः । कुम्भीपक्वः । आकृति-गणोऽयम् ॥” (२ । २०१)

७. सा०—पृ० १८ ॥

बन्ध—यूपे बन्धः = यूपबन्धः । अत्र सप्तम्यन्तानां ग्रामादिशब्दानां सिद्धादिभिः सह समासः ॥

सप्तमीतत्पुरुषस्य विशेषप्रयोजनं 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमाना-
व्ययद्वितीयाकृत्याः' ॥' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥ ४० ॥

सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, [वह 'सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्धैः'] सिद्ध, शुष्क, पक्व और बन्ध, इन चार सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। सिद्ध—ग्रामे सिद्धः = ग्रामसिद्धः। यहां सप्तम्यन्त ग्राम-शब्द का समास सिद्ध के साथ। शुष्क—छायायां शुष्कं = छायाशुष्कम्। यहां छाया-शब्द का शुष्क के साथ। पक्व—स्थाल्यां पक्वं = स्थालीपक्वम्। यहां स्थाली-शब्द का पक्व के साथ। बन्ध—यूपे बन्धः = यूपबन्धः। और यहां सप्तम्यन्त यूप-शब्द का समास बन्ध-शब्द के साथ हुआ है। यहां सप्तमीतत्पुरुष समास में पूर्व पद को प्रकृतिस्वर होना, यह विशेष प्रयोजन है ॥ ४० ॥

धाङ्क्षेण क्षेपे ॥ ४१ ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्तते । धाङ्क्षेण । ३ । १ । क्षेपे । ७ । १ । धाक्षि-धातुः घोरवासिते^३ ऽर्थे वर्तते । यत्र मनुष्यः कार्यसिद्धयर्थं गच्छेत्, पुनस्तत्कार्यसमाप्ति-पर्यन्तं निवस्तुं न शक्नुयाद्, घोरवासं मत्वा ततो गच्छेत् । एतदर्थवाच्यत्र धाङ्क्ष-शब्दः । क्षेपे = निन्दायां गम्यमानायां सत्यां सप्तम्यन्तं सुबन्तं धाङ्क्षार्थवाचिना सुबन्तेन सह समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । तीर्थे धाङ्क्षः = तीर्थधा-ङ्क्षः । तीर्थे काकः = तीर्थकाकः ॥

भा०—'धाङ्क्षेण' इत्यर्थग्रहणम् ॥

इहापि यथा स्यात्—तीर्थकाक इति ॥

'क्षेपे' इत्युच्यते । क इह क्षेपो नाम । यथा तीर्थकाका^४ न चिरं स्यातारो भवन्ति, एवं यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति, स उच्यते तीर्थकाक इति ॥^६

यो मनुष्यो विद्यापठनाय गुरुसमीपं गच्छति, पुनस्तत्र घोरवासं मत्वा विद्यामसम्भाष्य मध्ये ततो धावति, तं पुरुषं तीर्थधाङ्क्ष-तीर्थकाक-शब्दाभ्यां निन्दन्ति ॥ ४१ ॥

१. ६ । २ । २ ॥

२. सा०—पृ० १८ ॥

३. धा०—भा० ७०३ ॥

धातुपाठकोशेषु—'घोरवासिते' इति पाठान्तरम् ।

'वाङ्' शब्दे^५ (दि० ५४) इत्याधिकृत्याऽयं

पाठः । अस्मादेव. "घोरवाशिन् (= शृगालः)"

इति शब्दः ॥

४. वाक्त्तिकमिदम् ॥

५. पाठान्तरम्—तीर्थे काकाः ॥

६. अ० २ । १ । पा० १ । आ० २ ॥

ध्वाचि धातु का अर्थ घोरवास अर्थात् कठिन निवास करना है । जैसे कोई मनुष्य अपने कार्य की सिद्धि के लिये कहीं गया हो और कार्य की समाप्ति पर्यन्त वह मनुष्य वहां नहीं ठहर सका, किन्तु निवास करना अत्यन्त कठिन समझके बीच में वहां से भाग देना, उस [मनुष्य] को ध्वाङ्च कहते हैं । [‘क्षेपे’] क्षेप = निन्दा अर्थ में सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, वह [‘ध्वाङ्क्षेण’] ध्वाङ्चवाची सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । तीर्थे ध्वाङ्क्षः = तीर्थध्वाङ्क्षः । तीर्थे काकः = तीर्थकाकः । तीर्थध्वाङ्क्ष और तीर्थकाक उस को कहते हैं कि जो मनुष्य गुरु के समीप विद्या पढ़ने को जाता है, फिर वहां विद्या की समाप्ति पर्यन्त निवास करना कठिन समझके बीच में वहां से भाग आता है । उस पुरुष की तीर्थध्वाङ्क्ष- और तीर्थकाक-शब्द से निन्दा की जाती है ॥ ४१ ॥

कृत्यैर्ऋणे ॥ ४२ ॥

‘सप्तमी’ इत्यनुवर्तते । कृत्यैः । ३ । ३ । ऋणे । ७ । १ । वृद्ध्या सह पुनर्दास्यामीति मत्वा द्वितीयस्य धनग्रहणम् । यच्च नियमेन कर्तव्यं, यत्यागेन दोषभागिनो भवन्ति, तदपि ऋणमेव भवति । ऋणोऽर्थे गम्यमाने सप्तम्यन्तं सुबन्तं कृत्यैः = कृत्यप्रत्ययान्तैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । मासे देयमृणं = मासदेयम् । संवत्सरे देयमृणं = संवत्सरदेयम् ॥

‘ऋणे’ इति किम् । प्रातःकाले पेयौषधिः^१ ॥

वा०—कृत्यैर्नियोगे यद्ग्रहणम् ॥

इहैव^२ स्यात्—पूर्वाह्णे गेयं साम । प्रातरध्येयोऽनुवाकः । इह मा

भूत्—पूर्वाह्णे दातव्या भिक्षा ॥^३

कृत्यसञ्ज्ञकानां प्रत्ययानां यत्-प्रत्ययस्यैव ग्रहणम् ॥ ४२ ॥

व्याज के सहित मैं तेरा धन दूंगा ऐसा समझके किसी के धन का जो ग्रहण करना, [और जिस कार्य के न करने से मनुष्य दोष का भागी होता है] वह ऋण कहाता है । [‘ऋणे’] ऋण अर्थ के होने से सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, वह [‘कृत्यैः’] कृत्यप्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । मासे देयमृणं = मासदेयम् । यहां सप्तम्यन्त मास-शब्द के साथ कृत्यप्रत्ययान्त देय-शब्द का समास हुआ है ॥

ऋण-ग्रहण इसलिये है कि ‘प्रातःकाले पेयौषधिः’ यहां समास नहीं हुआ ॥

‘कृत्यैर्नियोगे’ इस वार्तिक का यह प्रयोजन है कि कृत्य-प्रत्ययों में से यहां यत्-प्रत्ययान्त वृद्धों के साथ समास समझना चाहिये, क्योंकि ‘पूर्वाह्णे दातव्या भिक्षा’ यहां समास नहीं ॥ ४२ ॥

१. सा०—पृ० १६ ॥

प्रयोगः ॥

२. “दोषं धन्यन्तीति वा” (अ० ६ । पा० ३) । ३. पाठान्तरम्—इहापि यथा ॥

इति भगवद्वाल्मीकिनेतिरुक्तिमाश्रित्य औपधाये ४. अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

सञ्ज्ञायाम् ॥ ४३ ॥

‘सप्तमी’ इत्यनुवर्तते । सञ्ज्ञायां विषये सप्तम्यन्तं सुबन्तं सुबन्तेन सह समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । अरण्येतिलकाः । कूपेपिशाचिकाः । ‘सञ्ज्ञायां कन्’ ॥’ इति सूत्रेण तिल-पिशाचाभ्यां कन् प्रत्ययः । ‘हलदन्तात् सप्तम्याः सञ्ज्ञायाम्’ ॥’ इति सप्तम्या अलुक् । सप्तम्यन्तयोः कूप-अरण्य-शब्द-योः तिलक-पिशाचिकाभ्यां समासः ॥ ४३ ॥

[‘सञ्ज्ञायाम्’] संज्ञा विषय में सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, वह सुबन्त के साथ समास पावे । वह समास तत्पुरुष हो । अरण्येतिलकाः । कूपेपिशाचिकाः । यहां सञ्ज्ञा में ही तिल- और पिशाच-शब्द से कन् हुआ । तथा कूप- और अरण्य-शब्द पर सप्तमी विभक्ति का अलुक् भी संज्ञा में ही हुआ है । सप्तम्यन्त कूप- और अरण्य-शब्द का समास पिशाचिका- और तिलक-शब्द के साथ हुआ है ॥ ४३ ॥

क्तेनाहोरात्रावयवाः ॥ ४४ ॥

‘सप्तमी’ इत्यनुवर्तते । क्तेन । ३ । १ । अहोरात्रावयवाः । १ । ३ । अहोरात्रयोरवयवाः = अहोरात्रावयवाः । सप्तम्यन्ता अहरवयववाचिनः शब्दा रात्र्यवयववाचिनश्च क्त-प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह समस्यन्ते । तत्पुरुषश्च समासो भवति । पूर्वाह्णे कृतं = पूर्वाह्नकृतम् । मध्याह्नकृतम् । पूर्वरात्रे कृतं = पूर्वरात्रकृतम् । मध्यरात्रे कृतं = मध्यरात्रकृतम् ॥

अवयव-ग्रहणं किमर्थम् । अहनि कृतम् । रात्रौ सुप्तम् । अत्र समासो न भवति ॥ ४४ ॥

[‘अहोरात्रावयवाः’] दिन और रात्रि के अवयववाची जो सप्तम्यन्त शब्द हैं, वे [‘क्तेन’] क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष कहावे । पूर्वाह्णे कृतं = पूर्वाह्नकृतम् । मध्याह्नकृतम् । यहां पूर्वाह्न और मध्याह्न दिन के अवयव-वाचियों का समास क्त-प्रत्ययान्त के साथ । पूर्वरात्रे कृतं = पूर्वरात्रकृतम् । मध्यरात्रकृतम् । और यहां रात्रि के अवयववाची पूर्वरात्र- और मध्यरात्र-शब्दों का समास क्त-प्रत्ययान्त सुबन्तों के साथ हुआ है ॥

अवयव-ग्रहण इसलिये है कि ‘अहनि कृतं, रात्रौ सुप्तम्’ यहां अवयव के न होने से समास नहीं हुआ ॥ ४४ ॥

तत्र ॥ ४५ ॥

‘सप्तमी’ इत्यनुवर्तते, ‘क्तेन’ इति च । ‘तत्र’ इति सप्तम्यन्तः शब्दः क्त-प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्रश्रुतम् । तत्रधृतम् । तत्रमुक्तम् । [अत्र] सप्तम्यन्तस्य तत्र-शब्दस्य क्त-प्रत्ययान्तेन सह समासः । समासप्रयोजन-मैकपद्यादि ॥ ४५ ॥

सप्तम्यन्त जो [‘तत्र’] तत्र-शब्द है, वह क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो । तत्रश्रुतम् । तत्रकृतम् । यहां सप्तम्यन्त तत्र-शब्द का समास क्त-प्रत्ययान्त के साथ हुआ है । समास का प्रयोजन एकपद आदि होना है ॥ ४५ ॥

क्षेपे’ ॥ ४६ ॥

‘सप्तमी’ इत्यनुवर्तते, ‘क्तेन’ इति च । क्षेपे = निन्दार्थे गम्यमाने सप्तम्यन्तं सुबन्तं क्त-प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । भस्मानिहुतं त एतत् । अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत् ॥

भा०—‘क्षेपे’ इत्युच्यते । क इह क्षेपो नाम । यथाऽवतप्ते नकुला न चिरं स्थातारो भवन्ति, एवं कार्याण्यारभ्य यो न चिरं तिष्ठति, स उच्यते—अवतप्तेनकुलस्थितं त एतदिति ॥^२

कार्यमारभ्य धैर्येण बुद्धिमत्तया न करोति, तस्य निन्दां कुर्वन्ति । ‘अवतप्ते-नकुलस्थितं त एतत्’ इति शब्देन । स्थितमिति भावे प्रत्ययः । नकुलस्येव ते = तव एतत् स्थितं = स्थानमित्यर्थः । एवं भस्मानि हुतं किमपि फलदायकं न भवति, तथैव तव कार्यमपि निष्फलम् । ‘तत्पुरुषे कृति बहुलम्’^३ ॥’ इति बहुलेन सप्तम्या अलुक् क्वचिद् भवति, क्वचिन्न भवति, कृति = कृदन्तोत्तरपदे परे तत्पुरुष-समासे ॥ ४६ ॥

[‘क्षेपे’] क्षेप नाम निन्दा अर्थ में सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, वह क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो । अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत् । बहुत से पुरुष कार्यारम्भ करके फिर स्थिर होके उस को नहीं करते हैं । उन के लिये ऐसा शब्द बोला जाता है । जब अधिक घाम तपता है, उस तपन में जैसे न्यूला स्थिर नहीं होते, वैसे ही कार्य का आरम्भ करके जो स्थिर होके नहीं करता, वह मनुष्य पमगता जाता है । षष्ठाध्याय के सूत्र^३ से तत्पुरुष समास में कृदन्त उत्तर पद के परे [होने पर] बहुल करके सप्तमी का अलुक् होता है, सो यहां भी उसी सूत्र से बहुल करके अलुक् होता है ॥ ६ ॥

पात्रेसमितादयश्च ॥ ४७ ॥

१. सा०—पृ० १६ ॥

३. ६।३।१

२. अ० २।पा० १।आ० ३॥

‘क्षेपे’ इत्यनुवर्तते । समुदायत्वेन निपात्यन्ते । क्षेपेऽर्थे गम्यमाने पात्रेसमि-
तादयः शब्दास्तत्पुरुष-सञ्ज्ञा भवन्ति ॥

अथ गणपाठः—[१] पात्रेसमिताः^१ [२] पात्रेबहुलाः^२ [३] उदुम्बर-
मशकाः^३ [४] उदरकुमिः^४ [५] कूपकच्छपः [६] कूपचूर्णकः^५ [७]
अवटकच्छपः [८] कूपमण्डूकः^६ [९] कुम्भमण्डूकः [१०] उदपानमण्डूकः
[११] नगरकाकः^७ [१२] नगरवायसः^८ [१३] मातरिपुरुषः^९ [१४]
पिण्डीशूरः^{१०} [१५] पितरिशूरः^{११} [१६] गेहेशूरः [१७] गेहेनर्दी [१८]
गेहेत्वेडी [१९] गेहेविजिती [२०] गेहेव्याडः [२१] गेहेमेही^{१२} [२२]
गेहेदाही^{१३} [२३] गेहेतृप्तः^{१४} [२४] गेहेष्टः [२५] गर्भेतृप्तः^{१५} [२६]

१. काशिकायाम्—पात्रेसमिताः ॥

गण० म०—“अपचितक्षीरा धेनुर्या सा पा-
त्रसङ्गतिमात्रपर्यवसितव्यापारा सत्येवमुच्यते । तद्व-
दन्योऽपि यः फलविकलव्यापाराडम्बरः, स तदुप-
मानात् तथा वाच्यः । यथा चन्वा खरकुटी चैत्र
इति । अथ वा—पात्र एव समिताः = मिलिताः,
नान्यत्र कार्ये । पात्र-शब्देन साहचर्याद् भोजनं
लक्ष्यते ॥” (२ । २०२)

२. गण० म०—“पात्रे बाहुत्वेन सङ्घटनात् क्षी-
रादिफलविकला पात्रेबहुला । शेषार्थः पूर्ववत् ।
अथ वा—पात्र एव बहुलाः = प्रचुराः, नान्यत् ॥”

३. पाठान्तरम्—०मशकः । काशिकायां नास्ति ॥

न्यासकारः—“यस्तत्रैवावरुद्धो न कचिद्
गच्छति, तमेव विशिष्टं मन्यते नास्मात् परमस्तीति,
सोऽष्टविस्तार उच्यते ‘उदुम्बरमशकः’ इति ॥”

गण० म०—“उदुम्बरे मशक इव । अल्पदृशवा ।
अथ वा—उदुम्बरमशकोऽल्पप्राणः सुकुमारश्च ।
तादृशो मशकः ॥” (२ । १०५)

४. पाठान्तरम्—उदरकुमिः । काशिकायां तु
“उदरकुमिः” इति ॥

“उदुम्बरे कुमिरिव तस्माद्
रसः” इति । अथ न वेति, स एवमुच्यते
॥” (२ । १०२)

५. १. ३ । ८७ ॥

५. श्रीबोटलिकृस्तु “कर्णेचुरुचुरा” इत्यतः परं पठति ॥

६. गण० म०—“क्षेपे मण्डूक इव । ततोऽन्य-
ज्जलस्थानं सरः समुद्रं वाऽधिकं न पश्यति ।
तद्वदन्यः पुरुषो ग्रामे नगरे वा शाले वा प्रति-
बद्धः ततोऽन्यत्र पश्यति, विशिष्टं स एवमुच्यते ॥”
(२ । १०२)

७. गण० म०—“नगरे काक इव । नगरे वायस
इव । स्वार्थनिष्ठः परवस्त्रनानिपुण उच्यते । अथ
वा—नगरकाको न कचिद् तिष्ठति, सर्वमेव
नगरं परिभ्रमति । तद्वत् तत्रान्यत्र वाऽनवस्थितः
पुरुष उच्यते ॥” (२ । १०४)

८. गण० म०—“यः सदाचारं भिनत्ति, स एव-
मुच्यते । यद्वा मातरि पौरुषमवलम्बमानः ॥”
(२ । १०५)

९. श्रीबोटलिकृपाठः—पिण्डीशूरः ॥

गण० म०—“पिण्डीशूरः = खादितव्ये वस्तुनि
शूरः । कलहवर्धनादिकं कृत्वा खादितव्यं खादति,
अन्यत्र कार्यान्तरे निर्विक्रमः ॥” (२ । १०२)

१०. काशिकायामत्र नास्ति ॥

११. काशिकायां नास्ति ॥

१२. पाठान्तरम्—गेहेतृप्तः ॥

१३. प्रक्रियाकौमुदीकायां ६, ६, १५, २२,
२४, २५ इति सङ्ख्याकाः शब्दा न सन्ति ॥

आखनिकबकः^१ [२७] गोष्ठेशूरः [२८] गोष्ठेविजिती [२९] गोष्ठेद्वेडी^२
[३०] गोष्ठेपटुः [३१] गोष्ठेपण्डितः [३२] गोष्ठेप्रगल्भः [३३] कर्णेतिरि-
टिरा^३ [३४] कर्णेचुरुचुरा^४॥

अस्मिन् सूत्रे चकारो निश्चयार्थः । पात्रेसमितादय एव निमात्यन्ते । कथं मा भूत् । परमं पात्रेसमिताः । अत्र समासो न भवति । अस्मिन् गणो ये केचित् शब्दाः क्त-प्रत्ययान्ताः, तेषां पाठः पात्रेसमितादिषु गणनाकरणार्थः । तेन पात्रेस-मितादीनां युक्तरोह्याद्यैन्तर्गतत्वात् पूर्वपदस्याद्युदात्तत्वं यथा स्यात् ॥ ४७ ॥

['पात्रेसमितादयः'] पात्रेसमितादि शब्दों का समुदाय निपातन किया है । पूर्व सूत्र से छेप अर्थात् निन्दा की अनुवृत्ति आती है । छेप अर्थ में पात्रेसमितादि शब्द तत्पुरुष-संज्ञक हों । पात्रेसमितादि सब शब्द पूर्व संस्कृत में क्रम से लिख दिये हैं ॥

चकार-ग्रहण निश्चय के लिये है कि पात्रेसमितादि ही निपात समझे जायं । परमं पात्रे-समिताः । यहां परम-शब्द का समास न हुआ ॥

इस गण में बहुतसे शब्द क्त-प्रत्ययान्त पड़े हैं । वहां पूर्व सूत्र से ही समास सिद्ध हो जाता, फिर उन का पढ़ना इसलिये है कि पात्रेसमितादिगण में गणना हो जाय । उस के होने से वहां पूर्व पद को आद्युदात्त हो जाता है ॥ ४७ ॥

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन ॥ ४८ ॥

(तत्पुरुषसमासप्रकरणे)

गण० म०—“गर्भ एव तृप्तः स्वमात्राहते-
नाहारेण, ततो निस्तृत्य न कदाचिदुदरपूरं कृत-
वानिति । गर्भे तृप्तः = दरिद्रः ॥” (२।१०२)

१. गण० म०—“आखनिकः = जलस्रोतः,
खातं, तस्मिन् बक इव । तद्वदन्योऽपि य आ-
त्मीये गृहे यत्किञ्चिदस्ति, तद् भक्षयति, नान्यत्र
गच्छति, स एवमुच्यते ।” (२।१०३)

२. जयादित्यविट्ठलचार्यावतः परम्—गेहेमेही ॥

३. काशिकायाम्—कर्णेदिट्टिमः ॥

गण० म०—“टिरिटिरा चापलेन अनुचितचेष्टा
उच्यते ॥” (२।१०३)

४. काशिकायाम्—कर्णेचुरुचुरा ॥

अतः परं श्रीवोटलिङ्गः—कूपचूर्णकः ॥

गण० म०—“कर्णेचुरुचुरा चापलेन अनु-
चितचेष्टा उच्यते । ‘टिरिटिरि’ इति गत्यनुकरणं,

‘चुरुचुरु’ इति वाक्यानुकरणम् । तत्करोतीति एय-
न्तादप्रत्ययो निपातनसामर्थ्याद् वाऽनो न भवति ।
शाकटायनस्तु ‘कर्णेतिरिटिरिः, कर्णेचुरुचुरुः’
इत्याह ॥” (२।१०४)

प्रक्रियासूत्रादीटीकायाम्—“वृत्तरणाभावादा-
क्रियारोपः ॥”

सर्वरत्नकोशे—“गेहेप्रगल्भः, गोष्ठेनेदी,
गेष्ठेपटुः, गेष्ठेपण्डितः, गोष्ठेव्याडः, गर्भेशूरः,
गर्भेशूरः, गर्भेशूरः, गर्भेशूरः, व्रणकृमिः,
गेहेनन्दी, गेहेनन्दी, गेहेनन्दी, गेहेनन्दी,
नगरश्वा, गेहेनन्दी, गेहेनन्दी, गेहेविजिती”
इत्यादयः शब्दाः समास-
यन्ते ॥

भट्टिकाव्ये—“कूपमाश्रयः पुलस्त्यः ॥ ५५)

५. ६।२।५१ ॥ असन्ना अनुक्रमेण

६. सा०—पृ० १९ ॥ तारुन्धती साध्वी ॥”

‘विशेषणं विशेष्येण बहुलम्’ ॥’ इत्यस्यापवादः । तत्र विशेषणस्य पूर्व-
निपातो भवति । बहुल-ग्रहणात् क्वचिद् विशेष्यस्यापि पूर्वनिपातः, क्वचित् समासे
प्रवृत्तिरेव [न] । अत्र तु सर्वं नियमेन यथा स्यात् । ‘सुप् सुपा’ इत्यनुवर्तते । पूर्वकाल-
एक-सर्व-जरत्-पुराण-नव-केवलाः । १ । ३ । समानाधिकरणेन । ३ । १ ।
पूर्वकालश्च एकश्च सर्वश्च जरच्च पुराणं च नवश्च केवलश्च, ते । ‘पूर्वकाल,
एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव, केवल’ इत्येते सप्त शब्दाः समानाधिकरणेन
सुवन्तेन सह समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति ॥

समानाधिकरण-ग्रहणं पादपर्यन्तं गमिष्यति । द्वयोः समर्थपदयोरेकस्मिन्नर्थे
प्रवृत्तिः = समानाधिकरणम् । पूर्वकाल—स्नातानुभुक्तः । पूर्व स्नातं, पश्चाद्
भुक्तम् । स्नानस्य भोजनस्य च कर्त्ता एक एवेति समानाधिकरणम् । पूर्वकालवाची
स्नात-शब्दोऽपरकालवाचिनाऽनुभुक्तसमानाधिकरणेन समस्यते । एक—एकश्चा-
सौ वैद्यः = एकवैद्यः । सर्व—सर्वे च ते मनुष्याः = सर्वमनुष्याः । जरत्—ज-
रंश्चासौ हस्ती = जरद्धस्ती । जरदश्वः । पुराण—पुराणश्चासौ गुडः = पुराण-
गुडः । पुराणवस्त्रम् । पुराणान्नम् । नव—नवं चादोऽन्नं = नवान्नम् । नव-
श्चासौ गुडः = नवगुडः । केवल—केवलं चादोऽन्नं = केवलान्नम् । केवलवस्त्रम् ॥

‘समानाधिकरणेन’ इति किम् । गुणेनैकेन वैद्यः । अत्र समासो न भवति ॥४८॥

समानाधिकरण उस को कहते हैं कि समास के लिये जो दो पद हैं, उन की एक पदार्थ
के बीच में प्रवृत्ति होना । [‘पूर्वकालैक’] पूर्वकालवाची शब्द, एक, सर्व, जरत्, पुराण,
नव, केवल, इन सात शब्दों का [‘समानाधिकरणेन’] समानाधिकरण सुबन्त के साथ
विकल्प करके समास हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । [पूर्वकाल—] स्नातानुभुक्तः । पूर्व
स्नान किया, पश्चात् भोजन कि । यहां पूर्वकालवाची स्नात-शब्द है, अपरकालवाची अनु-
भुक्त है । स्नान और भोजन का करने वाला एक ही है । यही समानाधिकरण है । एक—एक-
वैद्यः । यहां एक-शब्द का समास वैद्य समानाधिकरण के साथ । सर्व—सर्वमनुष्याः । यहां
सर्व-शब्द का समास मनुष्य समानाधिकरण के साथ । जरत्—जरत्पण्डितः । यहां जरत्-
शब्द का समास पण्डित समानाधिकरण के साथ । पुराण—पुराणकम्बलः । यहां पुराण-
शब्द का समास कम्बल के साथ । नव—नवान्नम् । यहां नव-शब्द का समास अन्न समाना-
धिकरण के साथ । केवल—केवलब्राह्मणाः । और यहां केवल-शब्द का समास ब्राह्मण संमा-
नाधिकरण सुब ॥ हुआ है ॥

समा

का अधिकार इस पाद में अन्त तक चला जायगा । समानाधिकरण

जो तत्पुरुष होता है, उस की कर्मधारय विशेष संज्ञा होती है। सो पूर्व^१ कह चुके हैं ॥ ४८ ॥

दिक्-सङ्ख्ये सञ्ज्ञायाम् ॥ ४९ ॥

‘समानाधिकरणेन’ इत्यनुवर्तते । दिक्-सङ्ख्ये । १।२।सञ्ज्ञायाम् । ७।
१। सञ्ज्ञायां विषये दिग्वाचि-सङ्ख्यावाचि-सुबन्ते समानाधिकरणसुबन्तेन सह
समस्येते । तत्पुरुषः [स] समासो भवति । पूर्वस्यां दिशि इषुकामशमी^३ = पूर्व-
षुकामशमी^३ । अपरेषुकामशमी । कस्यचित् सञ्ज्ञेयम् । अत्र समानाधिकरणा-
धिकारे पठितत्वादस्य कर्मधारय-सञ्ज्ञा । ततः ‘पुंवत् कर्मधारयः’^४ ॥ इति सू-
त्रेण दिग्वाचिनः पूर्व-शब्दस्य पुंवद्भावः । सङ्ख्या— पञ्चाग्राः । सप्तर्षयः^५ ॥

‘सञ्ज्ञायाम्’ इति किम् । पूर्वावृत्ताः । पञ्च वालाः । अत्र समासो न भवति ॥ ४९ ॥

[‘सञ्ज्ञायाम्’] सञ्ज्ञा विषय में [‘दिक्-सङ्ख्ये’] दिशावाची और सङ्ख्यावाची जो
सुबन्त हैं, वे समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास पावें । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो ।
पूर्वेषुकामशमी । यहां दिशावाची पूर्व-शब्द का समास इषुकामशमी के साथ, और
‘पञ्चाग्राः’ यहां सङ्ख्यावाची पञ्च-शब्द का समास समानाधिकरण आग्न-शब्द के साथ
हुआ है । यहां समानाधिकरण अधिकार में इस सूत्र के पढ़ने का प्रयोजन यह है कि
कर्मधारय-सञ्ज्ञा हो जाय । कर्मधारय-संज्ञा के प्रयोजन अनेक हैं ॥ ४९ ॥

तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च ॥ ५० ॥

‘दिक्-सङ्ख्ये’ इत्यनुवर्तते । [तद्धितार्थ-उत्तरपद-समाहारे । ७।१।च ।
अ० ।] तद्धितार्थश्च उत्तरपदं च समाहारश्च, तस्मिन् । तद्धितार्थे = तद्धितोत्प-
त्तिविषये, उत्तरपदे समाहारे च दिग्वाचि-सङ्ख्यावाचि-सुबन्ते समानाधिकरणेन

१. “तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः ॥”

(१।२।४२)

२. सा०—पृ० २२ ॥

३. अथ वा—पूर्वा चासाविषुकामशमी च ॥

४. न्यासकारः— “पूर्वेषुकामशमीत्यादिर्ग्रामाणां
सञ्ज्ञा ।”

इत्यतां दशकुमारचरिते (उ०। उच्छ्वास४)—

“महाभाग सोऽहमस्मि पूर्वेषुकामैश्चरः पूर्णभद्रो
नाम ।” (शिवरामः—इषुकाम इति देशस्य सञ्ज्ञा)

५. ६।३।४२ ॥

६. “विश्वकर्मा विमना आदिहाया
धाता विधाता परमेत सन्दृक् ।

तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति

यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः ॥” (ऋ० १०।८२।२)

अत्र निरुक्तकारः—“सप्तऋषीणामि ज्योती-

षि ।” (अ० १०। पा० ३)

शतपथब्राह्मणे—“सप्तऋषीन् ह स्म वै पुरऽर्चो
इत्याचक्षते । अमी ह्युत्तराहि सप्तऽर्षय उदन्ति ।”

(२।१।२।४)

बृहत्संहितायां (१३।५, ६)—

“पूर्वे भागे भगवान् मरीचिरपरे स्थितो वासिष्ठोऽस्मात् ।

तस्याङ्गिरास्ततोऽत्रिस्तस्यार-

पुलहः क्रतुरिति भगवान्

तत्र वासिष्ठं मुनिवरमुपासि-

श्च ॥

। पूर्वाधात् ।

सुवन्तेन सह विकल्पेन समस्येते । तत्पुरुषः स समासो भवति । तद्धितार्थे—
पूर्वस्यां शालायां भवः = पौर्वशालः । औत्तरशालः । पाञ्चनापितिः । पाञ्च-
त्राद्वणिः । 'पौर्वशालः' इति 'दिक्पूर्वपदादसञ्ज्ञायां जः' ॥' इति शेषार्थे
जः प्रत्ययः । पञ्चानां नापितानामपत्यमिति विग्रहे इज्-प्रत्ययः^१ । उत्तरपदे—
पूर्वा शाला प्रिया यस्य = पूर्वशालाप्रियः । पञ्च गावो धनं यस्य = पञ्चगवधनः ।
अत्र प्रिय-शब्दे धन-शब्दे चोत्तरपदपरे दिक्-सङ्ख्यायोः समानाधिकरणेन सह
समासः । पूर्व-शब्दस्य कर्मधारयत्वात् पुंवत् । 'पञ्चगवधनः' इत्यत्र 'गौरतद्धित-
लुकि' ॥' इति टच् । समाहारे—समाहारे दिक्-शब्देन सह समासो न भवति ।
अष्टानामध्यायानां समाहार इत्यष्टाध्यायी । 'अदन्तो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते ॥'
इति वार्तिकेन स्त्रीत्वे 'द्विगोः'^२ ॥' इति सूत्रेण ङीप् । एवं—पञ्चकुमारि ।
दशकुमारि । समाहारस्य नपुंसकत्वाद् ह्रस्वत्वम् ॥ ५० ॥

['तद्धितार्थ-उत्तरपद-समाहारे'] तद्धितार्थ में, उत्तरपद के परे [होने पर] और समाहार
में दिशावाची [और] सङ्ख्यावाची जो सुवन्त हैं, वे समानाधिकरण सुवन्त के साथ
विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । तद्धितार्थ—पौर्वशालः ।
यहां तद्धितार्थ में दिग्वाची पूर्व-शब्द का शाला-शब्द के साथ समास होने में ज-प्रत्यय भी हुआ ।
पाञ्चनापितिः । यहां सङ्ख्यावाची पञ्च-शब्द का समास [होने से इज्-प्रत्यय] हुआ है । उत्तर
पद के परे [होने पर]—पूर्वशालाप्रियः । पञ्चगवधनः । यहां प्रिय- और धन-शब्द उत्तरपद
परे होने से दिशावाची पूर्व-, सङ्ख्यावाची पञ्च-शब्द का समानाधिकरण शाला- और गो-शब्द
के साथ समास हुआ है । समास के होने से पूर्व-शब्द को पुंवत् और [गो-] शब्द से टच्-
प्रत्यय हुआ है । समाहार में—समाहार में दिग्वाची का समास नहीं होता । पञ्चपात्रम् ।
दशपात्रम् । पञ्चकुमारि । दशकुमारि । यहां समाहार में सङ्ख्यावाची शब्दों का समास
पात्र और कुमारी समानाधिकरण के साथ हुआ । पात्र-शब्द में एकवचन और कुमारी-शब्द को
ह्रस्व भी हो गया है ॥ ५० ॥

सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः^३ ॥ ५१ ॥

पूर्वसूत्रस्यायं शेषः । सङ्ख्यापूर्वः । १ । १ । द्विगुः । [१ । १ ।] सङ्ख्या
पूर्व यस्य, सः । पूर्वस्मिन् सूत्रे सङ्ख्यापूर्वो यः समासः, स द्विगु-सञ्ज्ञो भवति ।
तद्धितार्थे—पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य स्थालीपाकस्य = पञ्चेन्द्रः स्थालीपाकः ।

१. ४ । २ । १०७ ॥

४. ४ । १ । २१ ॥

२. "अत इज् ॥" (४ । १ । ६५)

५. सा०—पृ० २२ ॥

३. ५ । ४ । ६२ ॥

अत्र पञ्चेन्द्राणी-शब्दाद् देवतार्थेऽण्^१ । द्विगुत्वाद् 'द्विगोर्लुङ्गनपत्ये'^२ ॥' इत्यणो लुक् । उत्तरपदे—पञ्चनावप्रियः । अत्र द्विगु-सञ्ज्ञाविधानात् 'नावो द्विगोः'^३ ॥' इति नौ-शब्दात् टच्-प्रत्ययः । समाहारे—द्विगु-सञ्ज्ञत्वाद् 'अष्टाध्यायी' इत्यत्र ङीप्^४ ॥ ५१ ॥

पूर्व सूत्र का शेष यह सूत्र है । ['सङ्ख्यापूर्वः'] सङ्ख्या जिस के पूर्व हो, ऐसा जो पूर्व सूत्र में समास कहा है, उस की ['द्विगुः'] द्विगु-सञ्ज्ञा हो । तद्वितार्थ में—पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य = पञ्चेन्द्रः स्थापलीपाकः । यहां पञ्चेन्द्राणी-शब्द से देवता अर्थ में [प्रास] अण्-प्रत्यय का, द्विगु-सञ्ज्ञा के होने से, लुक् हो गया । उत्तर पद में—पञ्चनावप्रियः । यहां द्विगु-सञ्ज्ञा के होने से नौ-शब्द से समासान्त टच्-प्रत्यय हुआ है । समाहार में—पञ्चपूली । यहां द्विगु-सञ्ज्ञा के होने से ङीप्-प्रत्यय हुआ है । इत्यादि प्रयोजनों के लिये सङ्ख्यापूर्व समानाधिकरण तत्पुरुष समास की द्विगु-संज्ञा विधान की है ॥ ५१ ॥

कुत्सितानि कुत्सनैः^५ ॥ ५२ ॥

'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्^६ ॥' इत्यस्यापवादः । तत्र विशेषणस्य पूर्वनिपातो भवति । अत्र विशेष्यस्य पूर्वनिपातो यथा स्यात् । कुत्सितानि । १ । ३ । कुत्सनैः । ३ । ३ । 'कुत्सितानि' इति कर्मणि क्तः । 'कुत्सनैः' इति करणे ल्युट् । कुत्सयन्ति यैः, तानि कुत्सनानि, तैः । कुत्सितानि = कुत्सितवाचीनि सुबन्तानि कुत्सनवाचिभिः समानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । ब्राह्मणश्चासौ लोभी = ब्राह्मणलोभी । ब्राह्मणान्यायी । लोभि-शब्देन अन्यायि-शब्देन च निन्द्योऽस्ति ब्राह्मणः । अत्र विशेष्यस्य ब्राह्मण-शब्द-स्यैव पूर्वनिपातो भवति । अत्र नैव ब्राह्मणत्वं निन्द्यते, किन्तु तस्यैकस्य दुष्ट-मनुष्यस्यावगुणाः कथ्यन्ते ॥ ५२ ॥

'विशेषणं^७' इस आगे के सूत्र का अपवाद यह सूत्र है । वहां तो समास में विशेषण पूर्व होता है, और यहां विशेष्य का पूर्वनिपात होने के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया । ['कुत्सितानि'] कुत्सितवाची जो सुबन्त हैं, वे ['कुत्सनैः'] कुत्सनवाची समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्रास हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । वैद्यनिर्विद्यः । विद्याशून्योऽयं वैद्यः, किमपि न जानातीत्यर्थः । यहां विशेष्य वैद्य और निर्विद्य-शब्द विशेषण है । यहां कुछ वैद्यकविद्या की निन्दा नहीं, किन्तु उसी एक मनुष्य की है ॥ ५२ ॥

पापाणके कुत्सितैः^८ ॥ ५३ ॥

१. "साऽस्य देवता ॥" (४।२।२४)

४. "द्विगोः ॥" (४।१।२१)

२. ४।१।५५ ॥

५. सा०—पृ० २३ ॥

३. ५।४।३३ ॥

६. २।१।५६ ॥

पूर्वसूत्रस्याऽयमपवादः । पाप-अणक-शब्दो कुत्सनवाचिनौ, तयोः पूर्वसूत्रेण परनिपाते प्राप्ते पूर्वनिपातार्थमिदमारभ्यते । पाप-अणके । १ । २ । कुत्सितैः । ३ । ३ । पाप-शब्दोऽणक-शब्दश्च कुत्सितवाचिभिः समानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्येते । तत्पुरुषः स समासो भवति । पापश्चासौ शूद्रः = पाप्शूद्रः । अणकशूद्रः । सर्वथा निन्द्य इत्यर्थः । एवं—पापनापितः, पापकुलाल इत्यादी-न्यपि ॥ ५३ ॥

पूर्व सूत्र का अपवाद यह सूत्र है । क्योंकि पाप-अणक-शब्द कुत्सनवाची हैं, उन का परनिपात प्राप्त था । पूर्वनिपात होने के लिये इस का आरम्भ है । [‘पाप-अणके’] पाप- और अणक-शब्द जो हैं, वे [‘कुत्सितैः’] कुत्सितवाची सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सम्बन्धक हो । पापकुलालः । अणककुलालः । यहां कुम्भार पापी अर्थात् सब प्रकार बुरा है । इत्यादि और भी इसी प्रकार के उदाहरण बनते हैं ॥ ५३ ॥

उपमानानि सामान्यवचनैः ॥ ५४ ॥

अपूर्वोऽयमारम्भः । उपमानानि । १ । ३ । सामान्यवचनैः । ३ । ३ । अनिर्ज्ञा[तज्ञा]नाय तत्समीपमत्यन्तं यन्मिमीते, तदुपमानम् । उपमानोपमेययोरुभयत्र यः समानो धर्मः, तद्वाचकाः शब्दाः सामान्यवचना भवन्ति । उपमानवाचीनि सुबन्तानि सामान्यवचनैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषश्च समासो भवति । शस्त्रीव श्यामा = शस्त्रीश्यामा । घन इव श्यामः = घनश्यामो देवदत्तः । एवमन्यत्रापि ॥ ५४ ॥

अज्ञात वस्तु जानने के लिये जो अत्यन्त समीप अर्थात् शीघ्र जनाने का हेतु हो, उस को उपमान कहते हैं । उपमान और उपमेय दोनों के बीच में जो समान धर्म होता है, उस का वाची जो शब्द है, उस को सामान्यवचन कहते हैं । [‘उपमानानि’] उपमानवाची जो सुबन्त हैं, वे [‘सामान्यवचनैः’] सामान्यवचन सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सम्बन्धक हो । शस्त्रीव श्यामा = शस्त्रीश्यामा देवदत्ता । कोई छोटा शस्त्र जैसा श्याम हो, ऐसी श्याम यह स्त्री है । यहां शस्त्री उपमानवाची है, और श्याम सामान्य-वचन [है], अर्थात् [श्याम गुण] स्त्री और शस्त्र दोनों में रहता है ॥ ५४ ॥

उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे ॥ ५५ ॥

पूर्वसूत्रस्यायमपवादः । पूर्वोपमानस्य पूर्वनिपातो भवति । अत्रोपमितस्य = उपमेयस्य पूर्वनिपातो भविष्यति । उपमितम् । १ । १ । व्याघ्रादिभिः । ३ ।

१. यथा—पापग्रह, पापपुरुष, पापराक्षसी, पाप- के उदाहरण प्रायः देखने में नहीं आते ॥

लोक (अथर्ववेद १२।११।३) । अणक-शब्द २. सा०—पृ० २३ ॥

३। सामान्याप्रयोगे । ७। १। उपमितं = उपमेयम् । सामान्यस्य = उपमानोपमेय-
गतसाधारणधर्मस्य अप्रयोगः = अनुच्चारणं, तस्मिन् । सामान्याप्रयोगे सति उपमितं =
उपमेयवाचि सुबन्तं व्याघ्रादिभिः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स
समासे भवति । पुरुषो ऽयं व्याघ्र इव, पुरुषोऽयं सिंह इव = पुरुषव्याघ्रः, पुरुष-
सिंहः । अत्र पुरुष उपमेयं व्याघ्र-सिंहौ चोपमानम् । साधारणधर्मः शूर-
त्वं = बलवत्ता, तस्याप्रयोग एव ॥

‘सामान्याप्रयोगे’ इति किम् । पुरुषोऽयं व्याघ्र इव बलवान् । पुरुषोऽयं सिंह
इव शूरः । अत्र समास एव न भवति ॥

अथ व्याघ्रादिगणः—[१] व्याघ्र [२] सिंह [३] ऋक्ष [४]
ऋषभ [५] चन्दन^१ [६] वृक्ष^२ [७] वृक्ष^३ [८] वृष [९] वराह
[१०] हस्तिन् [११] तरु^४ [१२] कुञ्जर [१३] रुरु [१४] पृषत्^५
[१५] पुण्डरीक [१६] कितव^६ [१७] पलाश [१८] बलाहक^७ ॥५५॥

पूर्व सूत्र का अपवाद यह भी सूत्र है । पूर्व सूत्र से उपमानवाची शब्दों का पूर्वनिपात
होता है । इस से उपमेयवाची शब्दों का पूर्वनिपात होने के लिये यह सूत्र है । [‘सामान्या-
प्रयोगे’] सामान्य जो उपमान और उपमेय का साधारण धर्म है, उस का प्रयोग न हो, तो
[‘उपमितं’] उपमेयवाची जो सुबन्त है, वह [‘व्याघ्रादिभिः’] व्याघ्रादिक सुबन्तों के
साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । पुरुषो व्याघ्र इव =
पुरुषव्याघ्रः । पुरुष व्याघ्र के तुल्य है । यहां पुरुष तो उपमेय और व्याघ्र उपमान है । पुरुष
का व्याघ्र के साथ समास हुआ है । साधारण धर्म बल है । पुरुष व्याघ्र जैसा बलवान् है ।
उस साधारण धर्म का [समास में] प्रयोग नहीं ॥

१. प्रक्रियाकौमुदीटीकायां चन्दन-वृक्ष शब्दौ न स्तः ॥ ७. प्रक्रियाकौमुदीटीकायां नास्ति ॥

२. श्रीबोटल्लिङ्ग एतं शब्दं न पठति ॥

३. काशिकायां नास्ति ॥

प्रक्रियाकौमुदीटीकायां तु “वृक्ष” इत्यतः पूर्वं
“वृषल” इति ॥

४. काशिका-प्रक्रियाकौमुदीटीकयोर्नास्ति ॥

गण० म०—“वैरं तरुरिव समूलत्वात् ।
वैरतरुः ।” (२।१०८)

५. काशिकायां “पृषत्” इत्यकारान्तः पाठः ॥

६. श्रीविठ्ठल-बोटल्लिङ्गौ “पलाश । कितव” इति
क्रमभेदेन पठतः । काशिकायां तु कितव-पलाश-
शब्दावेव न स्तः ॥

अतः परं जयादित्य-विठ्ठलाचार्यौ—“आकृ-
तिगणश्चायम् । तेनेदमपि भवति (श्रीविठ्ठलः—
स्यात्)—मुखपद्मम् । मुखकमलम् । करकिस-
लयम् । पार्थिवचन्द्र इत्येवमादि (श्रीविठ्ठलः—
इत्यादि) ॥”

गणरत्नमहोदधौ—“कुञ्चा, महिप, इन्दु,
वज्र [अस्योदाहरणं—वाग्वज्रो यजमानं हिन-
स्ति], वृषभ, कलश, चन्द्र, कुम्भ, किसलय,
पल्लव, पद्म, हवा, ऋषि, विम्ब ” इति १४
शब्दा अधिकाः ॥ (२।१०८)

सामान्याप्रयोग का ग्रहण इसलिये है कि 'पुरुषो व्याघ्र इव बलवान्' यहाँ समास नहीं हुआ ॥

व्याघ्रादिगण पूर्व संस्कृत में क्रम से लिख दिया है ॥ ५५ ॥

विशेषणं विशेष्येण बहुलम् ॥ ५६ ॥

विशेषणम् । १ । १ । विशेष्येण । ३ । १ । [बहुलम् । अ० ।]
निवर्तकं विशेषणं भवति । मूलोऽर्थो विशेष्यम् । विशेष्यविशेषणे विवक्षा भवतः ।
कदाचिद् विवक्षा भवति—विशेष्यवाची शब्दो विशेषणवाचित्वमापद्यते, विशेषण-
वाची विशेष्यवाचित्वं च । विशेषणवाचि सुबन्तं विशेष्यवाचिना सुबन्तेन
सह बहुलं समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । रक्ता चासौ लता = रक्त-
लता । नीलं चाद उत्पलं = नीलोत्पलम् । अष्टाध्यायी च तद् व्याकरणं = अष्टा-
ध्यायीव्याकरणम् । अत्र सर्वत्र विशेषणं पूर्वं भवति, विशेष्यं च परम् ॥

बहुल-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनं—क्वचिन्नित्यसमासः, क्वचित् समास एव न
भवति ॥ ५६ ॥

विशेषण उस को कहते हैं जिस से किसी की निवृत्ति होके किसी का निश्चय हो । मूल
पदार्थ का वाची जो है, उस को विशेष्य कहते हैं । विशेष्य और विशेषण ये विवक्षा से जाने
जाते हैं । कहीं विशेषणवाची शब्द विशेष्यवाची भी हो जाता और विशेष्यवाची किसी
विवक्षा से विशेषणवाची हो जाता है । ['विशेषणं'] विशेषणवाची जो सुबन्त है, वह ['वि-
शेष्येण'] विशेष्यवाची सुबन्तों के साथ ['बहुलं'] विकल्प करके समास को प्राप्त हो ।
वह समास तत्पुरुष कहावे । रक्तलता । नीलोत्पलम् । शुक्लशाटी । इत्यादि शब्दों में
पूर्व जिन का प्रयोग है, वे विशेषणवाची शब्द, और परं प्रयोग वाले विशेष्य हैं ॥

बहुल-ग्रहण का प्रयोजन है कि कहीं नित्य समास हो जाय, अर्थात् वाक्य भी न रहे, और
कहीं समास हो भी नहीं ॥ ५६ ॥

पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च ॥ ५७ ॥

'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' ॥ इत्यस्य व्याख्यानरूपं सूत्रमिदम् ।
नियमार्थं वा, पूर्वादिषु बहुलेन समासो न भवेत् । 'विशेष्येण' इत्यनुवर्तते ।
पूर्वापर०वीराः । १ । ३ । च । अ० । 'पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य,
समान, मध्य, मध्यम, वीर' इत्येते शब्दाः समानाधिकरणेन विशेष्यवाचिना
सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । पूर्व—पूर्व-

१. सा०—पृ० २३ ॥

२. सा०—पृ० २३ ॥

चा० श०—'विशेषणमेकार्थेन ॥' (२।२।१८) ३. २।१।५६ ॥

पुरुषः । अपर—अपरश्चासौ पर्वतः=अपरपर्वतः । प्रथम^१—प्रथमपण्डितः ।
चरम^२—चरमवैद्यः । [जघन्य—] जघन्यपुरुषः । [समान—] समान-
ब्राह्मणाः । [मध्य—] मध्यपुत्रः । [मध्यम—] मध्यमपुत्रः । [वीर—]
वीरपुरुषः । पूर्वादीनां विशेषणानां पुरुषादिविशेष्यवचनैः सह समासः ॥ ५७ ॥

पूर्व सूत्र का व्याख्यानरूप यह भी सूत्र है । अथवा नियमार्थं समझना चाहिये कि पूर्वादि शब्दों में बहुल न हो । [‘पूर्वा०’] पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम, वीर, ये जो नव सुबन्त हैं, सो समानाधिकरण विशेष्यवाची सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सम्बन्ध हो । पूर्वपुरुषः । अपरपुरुषः । इत्यादि उदाहरणों में पूर्वादि विशेषणवाची शब्दों का पुरुष आदि विशेष्यवाची समानाधिकरण शब्दों के साथ समास होता है ॥ ५७ ॥

श्रेण्यादयः कृतादिभिः^३ ॥ ५८ ॥

‘समानाधिकरणेन’ इत्यनुवर्तते । श्रेण्यादयः । १ । ३ । कृतादिभिः ।
३ । ३ । श्रेण्यादयो गणशब्दाः, कृतादयश्च । श्रेण्यादयः शब्दाः कृतादिभिः
समानाधिकरणैः सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति ॥

वा०—श्रेण्यादिषु च्यर्थवचनम् ॥

अश्रेण्यः श्रेण्यः कृताः=श्रेणिकृताः ॥^४

एककृताः । पूगकृताः । सूत्रशिष्टवार्तिकमिदम् । न हि किञ्चिदपूर्वविधानम् ॥

भा०—श्रेण्यादयः पठ्यन्ते । कृतादिराकृतिगणः ॥^५

अनेनैतद् विज्ञायते—कृतादयः शब्दा गणे न पठिताः, आकृतिगणत्वेन
विज्ञातव्याः ॥

अथ श्रेण्यादिगणः—[१] श्रेणि^६ [२] एक^७ [३] पूग^८ [४]

१. इत्यतामृगवेदे (४ । ३६ । ५)—

“ऋमुतो रयिः प्रथमश्रवस्तमो

वाजश्रुतासो यमजीजनन्नरः ।”

२. इत्यन्ताम्—“चरमगिरि (भोजप्रबन्धे श्लो०

३१६), चरमवयः (मालतीमाधवे ६ । ९)

चरमावस्था” इत्यादयः शब्दाः । अथर्ववेदे च

चरमाजा-शब्दः (५ । १८ । ११)—

“ये केसरप्रावन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ।”

३. सा०—पृ० २३ ॥

४. अ० २ । पा० १ । आ० ३ ॥

५. एकशिल्पजीविनां समूहः श्रेणिरुच्यते ॥

६. श्रीवोटलिङ्गः—ऊक् ॥

गण० म०—“ऊकः = राशिस्थानम् । ‘कि-

लिङ्गा’ इत्यपरे । [उदाहरणं—] ऊकावकल्पि-
ताः ।” (२ । १०६)

७. शिशुपालवधे—“वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र
अमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः ।” (३ । ३८)

(मल्लिनाथः—अपूगाः पूगाः सम्पद्यमानानि

मुकुन्द^१ [५] कुण्ड^२ [६] राशि^३ [७] निचय^४ [८] विशिख^५ [९]
 विशेष^६ [१०] निधान^७ [११] विधान^८ [१२] इन्द्र^९ [१३] देव^{१०}
 [१४] मुण्ड^{११} [१५] भूत [१६] अवण [१७] वदान्य^{१२} [१८]
 अभ्यापक [१९] अभिरूपक^{१३} [२०] ब्राह्मण [२१] क्षत्रिय^{१४} [२२]
 पटु^{१५} [२३] पण्डित [२४] कुशल [२५] चपल [२६] निपुण
 [२७] कृपण^{१६} — इति श्रेण्यादिः ॥

[अथ कृतादिः^{१७} —] [१] कृत [२] मित^{१८} [३] भत [४] भूत

कृतानि पूगकृतानि = पुञ्जीकृतानि)

अपि च भट्टिकाव्ये (३।४) —

“प्रास्थापयत् पूगकृतान् स्वयंपं

पुष्टान् प्रयत्नाद् दृढगान्धनान् ॥”

१. काशिकायां नास्ति ॥ [काशिका]”

श्रीवोटलिङ्गः — “मुकुन्द (कुन्द K. [= इति

२. श्रीमद्योजि-वोटलिङ्गौ कुण्ड-शब्दं न पठतः ॥

३. गण० म० (२।१०६) — “राशिकल्पिताः”
 इत्युदाहरणम् ॥

शब्दकौस्तुभेऽतः परं विषय-शब्देऽपि दृश्यते ॥

४. काशिकायां “विशिख। निचय।” इति क्रमभेदः ॥

५. श्रीमद्योजि-वोटलिङ्गौ विशिख-शब्दं न पठतः ॥

६. काशिका-शब्दकौस्तुभयोर्नास्ति ॥

७. शब्दकौस्तुभे — निधन ॥

श्रीवोटलिङ्गो निधान-शब्दमपठित्वा — “विधान
 (निधन; निधान K.)” [वाहरणम् ॥

गण० म० — “निधनकृताः शत्रवः” इत्यु

८. काशिका-शब्दकौस्तुभयोर्न दृश्यते ॥

अतः परं श्रीवोटलिङ्गः — पर ॥

९. गण० म० — “इन्द्रावधारिताः” इत्युदाहरणम् ॥

१०. गण० म० — “देव” इति रत्नमतिः ।

“देवाम्नाताः” इत्युदाहरणम् ॥ [इन्द्रणम् ॥

११. गण० म० — “मुण्डसम्भाविताः” इत्युदा

१२. गण० म० — “वदान्योदीरिताः, अभ्यापको-
 दिताः” इत्युदाहरणे ॥

१३. काशिकायां नास्ति ॥ [K.)”

१४. अतः परं श्रीवोटलिङ्गः — “विशिष्टं (विशिख
 गण० म० — “ब्राह्मणमताः, क्षत्रियमताः”
 इत्युदाहरणे ॥

१५. गण० म० — “पटुक्ताः, पण्डितज्ञाताः,
 कुशलाख्याताः, चपलापाकृताः, निपुणोदाहृताः,
 कृपणाख्याताः” इत्युदाहरणानि ॥

१६. प्र० कौ० टीकायां ४, ७, ६, ११, १२,
 २० इति ६ शब्दा न सन्ति ॥

गणरत्नमहोदधौ “निधन, मन्त्र, विशिष, निर्धन,
 ऊक, अमण, कुन्दुम” इति ७ शब्दा अधिकाः ।
 पञ्चमुदाहरणादिकं च — “मन्त्रमिताः । विशिषं =
 गृहम् । अविशिषं विशिषं कृतं = विशिषकृतम् ।
 भोजस्तु ‘विशिष्ट’ इत्याह । वामनो ‘गण’ इत्यपि ।
 निर्धनोपकृताः । ऊकः [दृश्यतां पृ० २१६ टि० ६]
 अमणविश्रुताः । कुं = सुमि दुर्नैति [इति] कुन्दुः
 = उन्दुरः, तं मिनाति = हिनस्ति [इति] कुन्दुमः =
 मार्जारः । कुन्दुमावकल्पिताः । अपरे तु ‘कुन्दुम’
 इति पठन्ति । कुन्दुः = पाकस्थानं, तस्मिन् मिनो-
 तीति कुन्दुमः । अकुन्दुमाः कुन्दुमाः कृताः =
 कुन्दुमकृताः शालयः । ‘कुङ्कुम’ इति रत्नमतिः ।
 आकृतिगणोऽयम् ॥”

१७. शब्दकौस्तुभे कृतादयो न पठिताः ॥

१८. प्र० कौ० टीकायां — “मत । मित” इति
 क्रमभेदः ॥

[५] उक्त [६] युक्त' [७] समाज्ञात [८] समान्नात [९] समाख्यात
 [१०] सम्भावित [११] संसेवित' [१२] अवधारित' [१३] निराकृत'^३
 [१४] अवकल्पित [१५] उपकृत [१६] उपाकृत [१७] दृष्ट' [१८]
 कलित [१९] दलित [२०] उदाहृत [२१] विश्रुत [२२] उदित'—
 इति कृतादिः । आकृतिगणोऽयम् ॥ ५८ ॥

श्रेण्यादि और कृतादि दोनों गण हैं । ['श्रेण्यादयः'] श्रेण्यादि जो सुबन्त हैं, वे ['कृतादिभिः'] कृतादि समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सम्बन्धक हो ॥

'श्रेण्यादिषु०' इस वार्तिक का यह प्रयोजन है कि सूत्र से जो समास होता है, वहां स्वयं में हो । स्वयं उस को कहते हैं कि जो पहिले प्रसिद्ध न हो और पीछे हो जाय । अश्रेण्याः श्रेण्याः कृताः = श्रेणिकृताः । यहां श्रेणि-शब्द का कृत समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास हुआ है ॥

श्रेण्यादिगण सम्पूर्ण पूर्व संस्कृत में लिख दिया और कृतादि जो शब्द पढ़े हैं, वे लिख दिये । और कृतादि आकृतिगण भी है । आकृतिगण उस को कहते हैं कि जैसे थोड़े कृतादि दिखा दिये, इसी प्रकार के और भी शब्द सत्य ग्रन्थों में मिलें, उन को भी कृतादिकों में समझो ॥ ५८ ॥

क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ् ॥ ५९ ॥

क्तेन । ३ । १ । नञ्विशिष्टेन । ३ । १ । अनञ् । १ । १ । नवैव विशेषो यस्मिन् । अन्यत् सर्वं द्वितीयपदेन तुल्यम् । अनञ् = नञ् न विद्यते यस्मिन्, तत् । अनञ् क्तान्तं सुबन्तं नञ्विशिष्टेन क्तान्तेन समानाधिकरणसुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । कृतं च तदकृतं च = कृताकृतम्^४ । मुक्तामुक्तम् । पीतापीतम् । घृताघृतम् । सुप्तासुप्तम् । उदितानुदि-

१. काशिकायां न पठितः ॥

२. विट्ठलः—अवधारित ॥

३. श्रीवोटलिकः—“अवकल्पित । निराकृत” इति क्रमभेदेन पठति ॥ [न पठिताः ॥

४. जयादित्य-विट्ठलाम्यां १७—२ सङ्ख्याकाः शब्दा

५. विट्ठलः ६, ७, ११ इति ३ शब्दान् पठति ॥

गण० म०—“आस्थित, विकल्पित, आसीन, निरूपित, विहित, आम्नात, अवज्ञात, उदीरित, आख्यात” इत्येते ६ शब्दा अधिकाः ॥ (२।१।१०)

६. सा०—पृ० २४ ॥

७. न्यासे—“कृतभागसम्बन्धात् कृतम् । अकृतभागसम्बन्धात् तदेवाकृतमित्युच्यते । अथ वा यदर्थं कृतं तत्रासामर्थ्यादकृतम् । यथा पुत्रकार्यासामर्थ्यात् पुत्रोऽप्यपुत्र इति ।”

महानारते शान्तिपर्वणि—

“इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् ।

एवमीहासुखासक्तं कृतान्तः कुरुते वरो ॥”

(६।५।४२ ॥ अपि च दृश्यतां श्लो० ६६४६)

तम्^१ । अत्रानञ्विशिष्टं क्तान्तमुपसर्जनत्वात् पूर्वं भवति । अत्रोभयत्रैकस्या एव प्रकृत्याः समासः, नवैव भेदः । आगमस्य चागमिनो ग्रहणेन ग्रहणं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति^२ । इष्टानिष्टम् । अशितानशितम् । क्लिष्टाक्लिशितम् ॥

वा०—कृतापकृतादीनां चोपसङ्ख्यानम् ॥ [१ ॥]

कृतापकृतम्^३ । भुक्तविभुक्तम् । पीतविपीतम् ॥^४

कृतापकृतादय आकृतिगणः ॥

वा०—गतप्रत्यागतादीनां चोपसङ्ख्यानम् ॥ २ ॥

गतप्रत्यागतम् । पातानुपातम्^५ । पुटापुटिका । क्रयाक्रयिका^६ ।

फलाफलिका । मानोन्मानिका ॥^७

अयमप्याकृतिगण एव । अत्र स्वरूपभिन्नत्वात् सूत्रेण समासो न प्राप्तः । तदर्थं वार्तिकद्वयम् ॥ ५६ ॥

[‘अनञ्’] अनञ् अर्थात् जिस में नञ् समास न हो, ऐसा क्त-प्रत्ययान्त जो सुबन्त है, वह [‘नञ्विशिष्टेन’] नञ्विशिष्ट अर्थात् नञ् समास वाले [‘क्तेन’] क्त-प्रत्ययान्त समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । जिस २ का समास हो, उन दोनों शब्दों का स्वरूप एक ही हो । केवल इतना भेद हो कि एक में नञ् समास हो और एक शब्द केवल ही हो । कृतं च तदकृतं च=कृताकृतम् । भुक्ताभुक्तम् । यहां कृत-शब्द तो नञ् रहित और अकृत-शब्द में नञ् समास है । इन दोनों का समास हुआ, तो कृत-शब्द उपसर्जन के होने से पूर्व रहा । आगमों का आगमी के साथ ग्रहण होता है, अर्थात् आगम अलग नहीं गिने जाते । इससे यहां नुद् और इद् इन आगमों के सहित शब्दों का भी समास हो जाता है । अशितानशितम् । यहां अनशित-शब्द में नुद् का आगम है । क्लिष्टाक्लिशितम् । यहां भी पर शब्द में इद् का आगम है । [सो] समास हो गया ॥

‘कृतापकृता०’, ‘गतप्रत्यागता०’ इन दो वार्तिकों का यह प्रयोजन है कि जिन क्त-

न्यासे—“मुक्तं त्वभ्यवहृतत्वाद्, विमुक्तञ्चाशोभनत्वात् । विशब्दोऽत्राशोभनत्वं प्रतिभादयति विरूपवत् । अथ वा मुक्तञ्च तदेकदेशस्याभ्यवहृतत्वाद्, विमुक्तञ्च विशेषेणाभ्यवहृतत्वाद् ।”

१. आपस्तम्बश्रौतसूत्रे (१५ । १८ । १३)—

“यदा पुरस्तादरुणा स्याद, अथ प्रवृज्यः । उपकाश उपवृणं समयाविधि उदितानुदित उदि-

ते वा ।” (रुद्रदत्तः—“सूर्ये उदितानुदिते=अद्भौदिते”)

२. दृश्यतां वार्तिकम्—“नुडिडधिकेन च ॥”

३. न्यासे—“तदेकदेशस्येष्टस्य करणात् कृतम् । अपकृतञ्च तदेकदेशस्यानभिमतस्य करणात् ॥”

४. अ० २ । पा० १ । आ० ३ ॥

५. पाठान्तरम्—यातानुयतम् ॥

६. पाठान्तरम्—क्रियाक्रियका ॥

प्रत्ययान्त शब्दों की आकृति भिन्न २ हो, उन का भी परस्पर समास हो जाय। सूत्र से तो एक-स्वरूप वालों का समास होता है, सो कृतापकृतादि और गतप्रत्यागतदि ये दो गण चार्त्तिकों से हैं। इन के कुछ शब्द तो लिखे हैं। कृतापकृतम्। भुक्तविभुक्तम्। गतप्रत्यागतम्। पातानुपातम् इत्यादि। और ये दोनों आकृतिगण भी समझने चाहियें ॥ ५६ ॥

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः ॥ ६० ॥

सत्-महत्-परम-उत्तम-उत्कृष्टाः । १ । ३ । पूज्यमानैः । ३ । ३ । 'सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट' इत्येते पूजासाधनाः शब्दाः पूज्यमानैः समानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । सत्पुरुषः । महापुरुषः । परमपुरुषः । उत्तमपुरुषः । उत्कृष्टपुरुषः । पूजाहेतूनां सदादीनां पूज्यसमानाधिकरणेन समासः ॥ ६० ॥

['सन्महत्'] सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट—पूजा के हेतु जो ये पांच सुबन्त हैं, वे ['पूज्यमानैः'] पूज्यमान सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। सत्पुरुषः । महापुरुषः । परमपुरुषः । उत्तमपुरुषः । उत्कृष्टपुरुषः । यहाँ पूजा के हेतु सदादि शब्दों का समास पूज्यमान पुरुष-शब्द के साथ हुआ है ॥ ६० ॥

वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् ॥ ६१ ॥

पूर्वसूत्रस्यायमपवादः । पूर्वेण पूज्यमानस्य परनिपातो भवति । अनेन तु पूज्यमानस्य पूर्वनिपातो भवति । वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः । ३ । ३ । पूज्यमानम् । १ । १ । पूज्यमानवचनादेव वृन्दारक-नाग-कुञ्जराः पूजाहेतवः । पूज्यमान-वाचि सुबन्तं वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः समानाधिकरणसुबन्तैः सह समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । अश्ववृन्दारकः । वृषभनागः । गोकुञ्जरः । अश्व-वृषभ-नागः श्रेष्ठा इत्यर्थः । पूज्यमानानामश्व-वृषभ-गवां पूजावाचकैर्वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः सह समासः ॥ ६१ ॥

यह सूत्र पूर्व सूत्र का अपवाद है। पूर्व सूत्र से पूज्यमान का परनिपात होता है। यहाँ पूज्यमान का पूर्वनिपात होने के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया है। ['पूज्यमानम्'] पूज्यमानवाची जो सुबन्त है, वह पूजा के हेतु ['वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः'] वृन्दारक, नाग और कुञ्जर, इन तीन सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। अश्ववृन्दारकः । वृषभनागः । गोकुञ्जरः । यहाँ पूज्यमान अश्व-, वृषभ- और गो-शब्द का वृन्दारक, नाग और कुञ्जर सुबन्तों के साथ समास हुआ है ॥ ६१ ॥

कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने ॥ ६२ ॥

कतर-कतमौ । १ । २ । जातिपरिप्रश्ने । ७ । १ । जातेः । परि = सर्वतः
प्रश्नः = जातिपरिप्रश्नः । जातिपरिप्रश्ने वर्तमानौ कतर-कतमौ शब्दौ समानाधिकरण-
सुबन्तेन सह समस्येते । तत्पुरुषः स समासो भवति । अनयोः कतरब्राह्मणः ।
एषां कतमब्राह्मणः । कतरक्षत्रियः । कतमक्षत्रियः । अत्र ब्राह्मण-क्षत्रिय-शब्दौ
जातिवाचिनौ, ताभ्यां सह कतर-कतमयोः समासः ॥

‘जातिपरिप्रश्ने’ इति किम् । अनयोः कतरो देवदत्तः । एषां कतमो देवदत्तः ।
अत्र [स]मास एव न भवति ॥ ६२ ॥

['जातिपरिप्रश्ने'] जाति के सब प्रकार पूछने अर्थ में वर्तमान जो ['कतर-कतमौ']
कतर- और कतम-शब्द, वे समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास पावें । वह समास
तत्पुरुष-सम्बन्धक हो । अनयोः कतरब्राह्मणः । एषां कतमब्राह्मणः । यहां ब्राह्मण-शब्द
जातिवाची है । उस के साथ कतर- और कतम-शब्द का समास हुआ है ॥

जातिपरिप्रश्न-ग्रहण इसलिये है कि 'अनयोः कतरो देवदत्तः', एषां कतमो देवदत्तः'
यहां जाति का पूछना नहीं, इससे समास नहीं हुआ ॥ ६२ ॥

किं क्षेपे ॥ ६३ ॥

किम् । १ । १ । क्षेपे । ७ । १ । क्षेपे = निन्दार्थे गम्यमाने 'किं' इत्ये-
तच्छब्दः समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति ।
किंराजा यो न सम्यग् रक्षति । किम्ब्राह्मणः यो न पठति । दुष्टोऽस्तीत्यर्थः । किं-
शब्दस्य राजन्-शब्देन ब्राह्मण-शब्देन च सह समासः । समासप्रयोजनमैकपद्यमै-
कस्वर्यमित्यादि ॥

‘क्षेपे’ इति किम् । को राजा वाराणस्याम् । अत्र समासो न भवति ॥ ६३ ॥

['क्षेपे'] क्षेप अर्थात् निन्दार्थ में वर्तमान जो ['किम्'] किं-शब्द है, वह समानाधिकरण
सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सम्बन्धक हो । किंराजा यो रक्षां
सम्यक् न करोति । किम्ब्राह्मणो यो विद्यां न पठति । क्या राजा है, जो प्रजा की ठीक २
रक्षा नहीं करता । क्या ब्राह्मण है जो वेदों को नहीं पढ़ता । अर्थात् कुछ भी नहीं । यहां किं-

१. सा०—पृ० २४ ॥

२. किरातार्जुनीये (१ । ५)—

“स किसखा साधु न शास्ति योऽधिपम् ।

हितं न यः संश्रुते स किम्प्रभुः ॥”

इत्येतां च किन्नर-किम्पुरुष-शब्दौ । वाजस-

नेयिसंहितायां यथा (३० । १६)—

“स्वनेभ्यः पर्यकं गुहाभ्यः किरात^१ सानुभ्यो

जम्भकं पर्वतेभ्यः किम्पुरुषम् ॥” (भगवद्गीतानन्दः

—“गिरिभ्यः किम्पुरुषं = जाङ्गलं कुत्सितं मनुष्यं
परासुव”)

“किम्पुरुषो वै मयुः ।” (शतपथे ७ । ५ । २ । ३२)

तथा चैतरेयब्राह्मणे—“अथैनमुत्क्रान्तमेधं [पुरुषं
देवाः] अत्याजन्त । स किम्पुरुषोऽभवत् ॥”

(२ । ८)

शब्द का राजा- और ब्राह्मण-शब्द के साथ समास हुआ है । समास का प्रयोजन दो पदों का एक पद, दो स्वरों का एक स्वर होना [आदि है] ॥

चेप-ग्रहण इसलिये है कि 'को राजा वाराणस्याम्' यहां निन्दा अर्थ के न होने से समास भी नहीं होता ॥ ६३ ॥

**पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्वृष्कयणीप्रव-
क्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः' ॥ ६४ ॥**

पोटा०धूर्तैः । ३ । ३ । जातिः । १ । १ । अत्र जातिर्विशेष्यं, पोटादीनि विशेषणानि । विशेष्यस्य पूर्वनिपातो भवति । विशेषणविशेष्यसमासे च विशेषणं पूर्वं भवति । अतस्तस्यैवापवादः । पोटा = अल्पावस्था, गृष्टिः = एकवारप्रसूता, धेनुः = नवप्रसूता, वशा = वन्ध्या, वेहद् = गर्भपातिनी, वृष्कयणी^३ = तरुणवत्सा । अन्यत् स्पष्टम् । जातिवाचि सुबन्तं पोटादिभिः समानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । स समासस्तत्पुरुष-सञ्ज्ञो भवति । हस्तिनी चासौ पोटा = हस्तिपोटा । ब्राह्मणी चासौ युवतिः = ब्राह्मणयुवतिः । अन्नस्तोकम् । दुग्ध-कतिपयम् । गौश्चासौ गृष्टिः = गोगृष्टिः । गोधेनुः । गोवशा । गोवेहत् । इभव-वृष्कयणी । पोटादिस्त्रीलिङ्गशब्देषु समानाधिकरणतत्पुरुषस्य कर्मधारयत्वात् 'पुंवत् कर्मधारय०' ॥' इति सूत्रेण पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । ब्राह्मणश्चासौ प्रवक्ता = ब्राह्मणप्रवक्ता । ब्राह्मणश्रोत्रियः । ब्राह्मणाध्यापकः । शूद्रश्चासौ धूर्तः = शूद्रधूर्तः । अत्र हस्त्यादिविशेष्यवाचिजातिशब्दानां पोटादिविशेषणवाचिसमानाधिकरणैः सह समासः ॥

'जातिः' इति किम् । देवदत्तः प्रवक्ता । अत्र न भवति ॥ ६४ ॥

यह सूत्र 'विशेषणं विशेष्येण०' ॥' इस सूत्र का अपवाद है, क्योंकि वहां विशेषणवाची समास में पूर्व होते और इस सूत्र में विशेष्यवाची पूर्व होंगे । पोटा उस को कहते, जिस को उत्पन्न हुए थोड़े दिन हुए हों । गृष्टि—जो एक बार ब्यानी हो । धेनु—जिस को ब्याये थोड़े दिन हुए हों । वशा = वन्ध्या । वेहत्—जिस का गर्भ गिर पड़ता हो । वृष्कयणी—जिस के

१. सा०—पृ० २५ ॥

२. वाजसनेयिसंहितायां (२१ । २१)—

"ककुब्धन्द इहेन्द्रियं वशा वेहद्वयो दधुः ।"

(अपि च दृश्यन्तां १८ । २७ ॥ २४ । १ ॥

२८ । ३३)

३. वृष्कयोऽस्या अस्तीति वृष्कय("यि"वा)णी ।

अक्संहितायाम्—

"वत्से वृष्कयेऽपि सप्त तन्तुः

वितलिरे कवयः श्रोतवा उ ॥"

(१ । १६४ । ५)

४. ६ । ३ । ४२ ॥

५. २ । १ । ५६ ॥

सन्तान युवावस्था में हों। पूर्व जिन शब्दों के अर्थ दिखाये, वे सब स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं, और पशु जाति में उन की प्रवृत्ति होती है। ['पोटा-युवति०'] पोटा, युवति, स्तोक, कतिपय, गृष्टि, धेनु, वशा, वेहत्, वष्कयणी, प्रवक्तु, श्रोत्रिय, अभ्यापक, धूर्त—विशेषणवाची इन तेरह समानाधिकरण सुबन्तों के साथ जो ['जातिः' जातिवाची] विशेष्य सुबन्त हैं, वे विकल्प करके समास को प्राप्त हों। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। हस्तिनी चासौ पोटा = हस्तिपोटा। यहां हस्तिनी जातिवाची शब्द का समास पोटा के साथ हुआ है। पूर्व जिन पोटा आदि शब्दों के अर्थ दिखाये हैं, उन स्त्रीलिङ्ग शब्दों में समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय-सञ्ज्ञा होने से पूर्व शब्द को पुंवञ्चाव हो जाता है। इसी प्रकार पोटा आदि तेरह शब्दों के साथ जातिवाची शब्दों का समास होता है ॥

जाति-ग्रहण इसलिये है कि 'देवदत्तः प्रवक्ता' यहां समास न हो ॥ ६४ ॥

प्रशंसावचनैश्च ॥ ६५ ॥

'जातिः' इत्यनुवर्तते। प्रशंसावचनैः। ३।३।च।अ०। जातिवाचि सुबन्तं प्रशंसावचनैः समानाधिकरणसुबन्तैः सह समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। ब्राह्मणप्रवीणः। ब्राह्मणतेजस्वी। क्षत्रियशूरः। गोसाध्वी। अत्र जातिवाचिनां ब्राह्मण-क्षत्रिय-गो-शब्दानां प्रवीणादिप्रशंसावचनैः सह समासः ॥

जाति-ग्रहणं किम्। कुमारी प्रियदर्शना। अत्र जातिर्नास्तीति समासोऽपि न भवति ॥ ६५ ॥

जातिवाची जो सुबन्त है, वह ['प्रशंसावचनैः'] प्रशंसा के हेतु समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। ब्राह्मणप्रवीणः। क्षत्रियशूरः। गोसाध्वी। यहां जातिवाची ब्राह्मण, क्षत्रिय- और गो-शब्द का प्रवीण आदि प्रशंसा के हेतु समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास हुआ है ॥

जाति-ग्रहण इसलिये है कि 'कन्या प्रियंवदा' यहां जाति के न होने से समास भी नहीं हुआ ॥ ६५ ॥

युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः ॥ ६६ ॥

युवा। १।१।खलति-पलित-वलिन-जरतीभिः। ३।३।अत्र जरती-शब्दः स्त्रीलिङ्गः पठ्यते, अन्ये च पुल्लिङ्गाः। तस्यैतत् प्रयोजनं—प्रातिपदिक-ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं यथा स्यात्। युव-शब्दः खलत्यादिसमानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। युवा खलतिः = युवखलतिः। युवतिः खलती = युवखलती। युवा पलितः = युवपलितः।

युवतिः पलिता = युवपलिता । युवा वलिनः = युववलिनः । युवतिः वलिना = युववलिना । युवा चासौ जरन् = युवजरन् । युवतिश्चासौ जरती = युवजरती । अत्र युव-शब्दस्य खलत्यादिभिः समानाधिकरणसुबन्तैः सह समासः । स्त्रीलिङ्ग-पदे समानाधिकरणतत्पुरुषस्य कर्मधारयत्वात् पूर्वपदस्य युवति-शब्दस्य 'पुंवत् कर्मधारय०' ॥' इति सूत्रेण पुंवद्भावः ॥ ६६ ॥

इस सूत्र में जरती-शब्द स्त्रीलिङ्ग और सब शब्द पुँल्लिङ्ग पदे हैं । इस का यह प्रयोजन है कि खलति आदि यह प्रातिपदिक ग्रहण है, सो स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग दोनों का ग्रहण समझना चाहिये । ['युवा'] युवा जो सुबन्त है, वह ['खलति-पलित-वलिन-जरतीभिः'] खलति, पलित, वलिन, जरती, इन चार समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । युवा खलतिः = युवखलतिः । युवतिः खलती = युवखलती । यहां [युवखलतिः] इत्यादि उदाहरणों में युवा- और युवति-शब्द का खलति आदि समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास है । स्त्रीलिङ्ग पद में समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय-संज्ञा होने से पूर्व पद का पुंवत् हो जाता है' ॥ ६६ ॥

कृत्यतुल्याख्या अजात्या ॥ ६७ ॥

कृत्य-तुल्याख्याः । १ । ३ । अजात्या । ३ । १ । [कृत्याः =] कृत्यप्रत्ययान्ताः । तुल्याख्याः = तुल्यपर्यायाः । अजात्या = जातिभिन्नशब्देन । कृत्य-तुल्याख्याः शब्दा अजातिवाचिना समानाधिकरणसुबन्तेन सह विकल्पेन संस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । [कृत्याः—] अवद्यवाक्यम् । आदेय-विद्या । ग्राह्यविद्या । भोज्यान्नम् । तुल्याख्याः—तुल्यगुणः । सदृशवर्णः^१ । सदृश-श्वेतः । अत्र कृत्य-तुल्याख्यानामजातिसमानाधिकरणेन सह समासः ॥

'अजात्या' इति किम् । स्तुत्यो मनुष्यः । सदृशो मनुष्यः । अत्र न भवति समासः ॥ ६७ ॥

['कृत्य-तुल्याख्याः'] कृत्यप्रत्ययान्त और तुल्यवाची जो सुबन्त हैं, वे ['अजात्या'] जातिवाची को छोड़के अन्य समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो । अवद्यवाक्यम् । तुल्यश्वेतः । सदृशश्वेतः । यहां कृत्यप्रत्ययान्त और तुल्यवाची शब्दों [का] अजातिवाची समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास हुआ है ॥

१. ६ । ३ । ४२ ॥

२. सा०—पृ० २५ ॥

३. दृश्यतां च मनुस्मृतौ—

“सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ।

न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति, जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥”

(६ । १२५)

अजाति-ग्रहण इसलिये है कि 'स्तुत्यो मनुष्यः । सदृशो मनुष्यः' यहां जातिवाची मनुष्य-शब्द के होने से समास नहीं हुआ ॥ ६७ ॥

वर्णो वर्णेन' ॥ ६८ ॥

वर्णः । १ । १ । वर्णेन । ३ । १ । वर्णविशेषवाचि सुबन्तं वर्णविशेषवाचिसमानाधिकरणसुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । कृष्णसारङ्गः । लोहितकल्माषः । वर्णशब्दा गुणवाचिनः । गुणश्च द्रव्याश्रितो भवति । तत्र यस्मिन् द्रव्ये कृष्णसारङ्गौ लोहितकल्माषौ च गुणौ भवतः, तन्मत्वाऽत्र सामानाधिकरणम् ॥

वा०—समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसङ्ख्यानमुत्तरपदलोपश्च ॥

शाकभोजी पार्थिवः = शाकपार्थिवः । कुतपवासाः सौश्रुतः = कुतपसौश्रुतः । यष्टिप्रधानो मौद्गल्यः = यष्टिमौद्गल्यः । अजापयस्तौल्वलिः = अजातौल्वलिः^१ ॥^३

शाकं भोक्तुं शीलमस्य, स शाकभोजी । अत्रोपपदसमासस्योत्तरपदं भोजि-शब्दः । शाकभोजी चासौ पार्थिवः = शाकपार्थिवः । समानाधिकरणसमास उपपदसमासोत्तरपदस्य लोपः ॥ ६८ ॥

['वर्णः'] विशेष वर्णवाची जो सुबन्त है, वह ['वर्णेन'] विशेष वर्णवाची समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । कृष्णसारङ्गः । लोहितकल्माषः । वर्णविशेषवाची जो शब्द हैं, वे गुणवाची होते हैं । और गुण जो हैं, वे द्रव्याश्रय होते हैं । जिस द्रव्य में कृष्ण और सारङ्ग तथा लोहित और कल्माष गुण हों, उस को मानके यहां समानाधिकरण माना जाता है ॥

'समानाधिकरण' समानाधिकरण समास के अधिकार में शाकपार्थिवादि शब्दों को भी समझना अर्थात् इस अधिकार में समास के जो २ काम हैं, वे शाकपार्थिवादिकों में भी हों, और पूर्व किसी समास का जो उत्तर [पद] हो, उस का लोप हो । जैसे—शाकभोजी पार्थिवः । यहां शाकभोजी-शब्द का पार्थिव-शब्द के साथ समास हुआ, और शाकभोजी-पद में भोजी-शब्द उत्तर पद है, उस का लोप हो गया । प्रयोजन यह है कि दो शब्दों का पूर्व को समास हुआ हो, फिर उन दोनों [का] अन्य शब्द के साथ जो समानाधिकरण समास हो, तो पूर्व के

१. सा०—पृ० २५ ॥

नापि कचित् पठ्यते ॥

२. "अजापयस्तौल्वलिः = अजातौल्वलिः । यष्टिप्रधानो मौद्गल्यः = यष्टिमौद्गल्यः ।" इति क्रमभेदे-

३. अ० २ । पा० १ । आ० ३ ॥

दो शब्दों में से उत्तर पद का लोप हो जाय। इस चार्तिक से शाकपार्थिवादि आकृतिगण समझा जाता है ॥ ६८ ॥

कुमारः श्रमणादिभिः^१ ॥ ६९ ॥

कुमारः । १ । १ । श्रमणादिभिः । ३ । ३ । अस्मिन् सूत्रे कुमार-शब्दः पुँलिङ्गेन निर्दिष्टः । श्रमणादिभिः सह तस्य समासः । श्रमणादिषु च केचिच्छब्दाः स्त्रीलिङ्गा अपि पठ्यन्ते । तत्र कथं सामानाधिकरण्यम् । प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवतीति स्त्रीलिङ्गैस्सह कुमार-शब्दस्य स्त्रीलिङ्गस्य समासो भविष्यति । कुमार-शब्दः श्रमणादिसमानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । कुमारी चासौ श्रमणा = कुमारश्रमणा । कुमारी गर्भिणी = कुमारगर्भिणी । कुमारदासी । कुमारश्चासावध्यापकः = कुमारध्यापकः । कुमारपण्डितः । कुमारकुशलः । अत्र विशेष्यवाचिनः कुमार-शब्दस्य विशेषणवाचिभिः समानाधिकरणैः सह समासः ॥

अथ श्रमणादिगणः—

[१] श्रमणा [२] प्रव्रजिता [३] कुलढा [४] गर्भिणी [५] तापसी [६] दासी [७] बन्धकी [८] अध्यापक [९] अभिरूपक [१०] पण्डित^२ [११] पटु^३ [१२] मृदु [१३] कुशल [१४] चपल [१५] निपुण—इति^४ श्रमणादिः ॥ ६९ ॥

इस सूत्र में कुमार-शब्द पुँलिङ्ग पदा है, और श्रमणादिगण के साथ उस का समास किया है। सो श्रमणादिगण में बहुतेरे शब्द स्त्रीलिङ्ग भी पड़े हैं। फिर स्त्रीलिङ्ग और पुँलिङ्ग शब्द का सामानाधिकरण्य कैसे हो। (उत्तर) प्रातिपदिकों के निर्देश में भिन्न लिङ्ग वाले शब्दों का भी ग्रहण होता है, इससे स्त्रीलिङ्ग शब्दों के साथ कुमार-शब्द भी स्त्रीलिङ्ग हो जाता है। [‘कुमारः’] कुमार जो सुबन्त है, वह [‘श्रमणादिभिः’] श्रमणादि समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास पावे। वह समास तत्पुरुष-सम्बन्धक हो। कुमारी श्रमणा = कुमारश्रमणा। कुमारः कुशलः = कुमारकुशलः। यहां विशेष्यवाची कुमार-शब्द का श्रमणादि समानाधिकरण के साथ समास हुआ है ॥

श्रमणादिगण पूर्व संस्कृत में लिख दिया है ॥ ६९ ॥

१. सा०—पृ० २६ ॥

कुमारनिपुणा १” (२ । १०६)

२. श्रीवेटलिङ्गः पण्डित-शब्दं मृदु-शब्दात् परं पठति ॥

४. काशिका-प्रक्रियाकौमुदीटीका-शब्दकौस्तुभेषु न कश्चिद् भेदो दृश्यते ॥

३. श्रीवर्धमानस्तु—“कुमारपट्वी, कुमारमृद्वी

चतुष्पादो गर्भिण्या ॥ ७० ॥

चतुष्पादः । १ । ३ । गर्भिण्या । ३ । १ । चत्वारः पादा येषां, तै
चतुष्पादः = पश्वादयः^१ । चतुष्पादवाचिनः शब्दा गर्भिणी-समानाधिकरणसुबन्तेन
सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । गोगर्भिणी । महिषी-
गर्भिणी । अजागर्भिणी । अत्र विशेष्याणां चतुष्पादवाचिनां समासः ॥

वा०—चतुष्पाज्जातिरिति वक्तव्यम् । इह 'मा भूत्—
कालाक्षी गर्भिणी । स्वस्तिमती गर्भिणी ॥'^३

अत्र समासो न भवति । [अतः पूर्वत्र] जातिरेवोदाहृता ॥ ७० ॥

['चतुष्पादः'] चार पाद वाले पशु आदि के वाची जो सुबन्त हैं, वे ['गर्भिण्या']
गर्भिणी समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास
तत्पुरुष कहलवे । महिषीगर्भिणी । शुनीगर्भिणी । यहां जातिवाची महिषी- और शुनी-शब्द
का गर्भिणी-शब्द के साथ समास हुआ है ॥

'चतुष्पाज्जाति०' इस वार्तिक का प्रयोजन यह है कि चतुष्पादवाचियों का जो समास
किया है, वे जातिवाची शब्द होने चाहिये । सो पूर्व जातिवाचियों के ही उदाहरण दिये हैं ।
क्योंकि 'कालाक्षी गर्भिणी' यहां काले नेत्र वाली गौ वा अन्य कोई जन्म जातिवाची नहीं,
इससे समास नहीं हुआ ॥ ७० ॥

मयूरव्यंसकादयश्च ॥ ७१ ॥

मयूरव्यंसकादयः । १ । ३ । च । अ० । मयूरव्यंसकादयो गणशब्दाः
समानाधिकरणतत्पुरुष-सब्द्धकाः कृतसमासा निपात्यन्ते, नित्यसमासश्चैतेषु भव-
ति । समासप्रयोजनान्यैकपद्यादीन्यप्येतेषु भवन्त्येव । अस्मिन् सूत्रे चकारो नि-
श्चयार्थः । मयूरव्यंसकादय एव समस्ता निपात्यन्ते । क्व मा भूत् । परमो मयूर-
व्यंसक इति ॥

अथ मयूरव्यंसकादिगणः—

१. सा०—पृ० २६ ॥

२. = गवादयः ॥

दृश्यतां तैत्तिरीयब्राह्मणे—“अपरवो वा पते,
अजावयश्चारण्याश्च । पते वै सर्वे पशवः, यद्
मन्या इति ॥” (३. १. ६ । ६ । २)

सतपथे (१. १. ८. १. १४)—“गुहा हिं

पशवः ।”

तायजुष्यमहाब्राह्मणे । १५ । ३ । १. ८ ।

“अष्टाशफाः पशवः ।”

३. अ० ३. १. पा० ३. आ० ३. ॥

[१] मयूरव्यंसकः^१ [२] छात्रव्यंसकः^२ [३] कम्बोजमुण्डः^३ [४] खचनमुण्डः [५] छन्दसि—हस्तेगृह्य^४ [६] पादेगृह्य [७] लाङ्गुलेगृह्य [८] पुनर्दाय ॥ एहीडादयोऽन्यपदार्थे—[९] एहीडं^५ वर्त्तते [१०] एहियवं वर्त्तते^६ [११] एहिवाणिजा क्रिया [१२] अपेहिवाणिजा^७ [१३] प्रेहिवा-

१. शब्दकौस्तुभे—“व्यंसक-शब्दस्य गुणवचनत्वात् पूर्वनिपाते प्राप्ते वचनम् । एवं ... मुण्डपर्यन्तानाम् ॥”

गण० म०—“विगता अंसा यस्य = व्यंसकः । रमणीयाकारदेहनेपथ्योपेतत्वाद् मयूरवद् मयूरः पुमान् । स चासौ व्यंसकश्च बाहुसाध्यव्यापार-पुरुषकारविकलः कश्चिदेवं प्रतिक्षिप्यते । यद्वा—व्यंसयति = छलयति इति व्यंसकः । स चासौ स च यो लुब्धकानां मयूरो गृहीतशिखोऽन्यान् मयूरांश्छलयति = वञ्चयति, स विप्रलम्भक उच्यते ।”

(२।११५)

२. गण० म०—“छात्रो हि यथा लब्धभिन्नामा-अवृत्तिश्रुतसन्तोषो निर्वापारतया कार्यतो व्यंसकः, तद्वदन्योऽप्येवमुच्यते । छात्ररूपेण वञ्चको वा लोकस्य ।” (२।११५)

३. काशिकायाम्—कम्बोज० ॥

गण० म०—“कम्बोज इव मुण्डः । दीक्षितैः मुखितव्यम् । कम्बोजा यवनाश्च मुण्डा भवन्ति । एवमिभौ वृथा मुण्डावित्येकोऽर्थः ।”

(२।११५)

४. भाषायां तु “हस्ते गृहीत्वा” इत्यादि ॥

पदां पाठान्तराणि—हस्तगृह्य, पादगृह्य, लाङ्गुलेगृह्य, लाङ्गुलगृह्य, लाङ्गुलेगृह्य ॥

यथामुदाहरणानि—

“कस्ते देवो अभि माडीक आसीद्

यत्प्राणिनाः पितरं पादगृह्य ।”

(ऋ० ४।१.१२ ॥ अपिच दृश्यतां १० ।

२७।४)

“पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्या-श्विना त्वा प्र वहतां रथेन ।”

(ऋ० १०।८५।२६ ॥ अपि च दृश्यतां १०।१०६।२)

“पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिपम् ।”

(ऋ० १०।१०६।७)

चतुर्षु वेदेषु “लाङ्गुलेगृह्य, लाङ्गुलेगृह्य, लाङ्गुलगृह्य, लाङ्गुलेगृह्य” इत्येषां कश्चिदपि शब्दो न दृश्यते ॥

५. “एहीडादयोऽन्यपदार्थे” इत्येतद् गणशब्दत्वेन सङ्ख्यातवतः श्रौवोटलिङ्गस्य प्रमाद एव ॥

६. काशिकायाम्—“एहीडं, एहियवं वर्त्तते ।”

गण० म०—“इडा = स्त्री । यथा—महती इडा = महेष्वा । ‘एहि = आगच्छ, इडे = क्षि’ इति यस्मिन् कर्मणि, तद् एहीडं = विवाहादि कर्म । शास्त्राध्यायादिको वा ग्रन्थप्रविभागः । अन्यपदार्थत्वेऽपि शब्दशक्तेर्न पुंसकत्वमेव ।”

(२।११८)

७. श्रौविट्टलः—“एहियवम् ।”

८. श्रौविट्टलः क्रिया-पदं न पठति ॥

गण० म०—“एहि वाणिजिति यस्यां तिथौ क्रियायां वा, सा । केचिद् ‘आयान्ति गच्छन्ति वाणिजा यस्यां’ इति विगृह्य निपातनदिहि-भावः ।” (२।११६)

९. कोशे तु—“अपेहिवाणिजा क्रिया । अपेहिवा-णिजा ।” इति लेखकप्रमादाद् द्विलिखितं प्रतिभाति ॥

गण० म०—“अपसर दाणिजा इति यस्यां सा । एवं एहिस्वागता [इत्यादि]” (२।११६)

णिजा^१ [१४] एहिस्वागता [१५] अपेहिस्वागता^२ [१६] प्रेहिस्वागता^३
 [१७] एहिद्वितीया [१८] अपेहिद्वितीया [१९] प्रेहिद्वितीया^४ [२०]
 एहिकटा [२१] अपेहिकटा^५ [२२] प्रेहिकटा [२३] प्रोहकटा^६ [२४]
 अपोहकटा [२५] प्रेहिकर्दमा^७ [२६] प्रोहकर्दमा [२७] अपोहकर्दमा^८
 [२८] विधमचूडा^९ [२९] उद्धरचूडा [३०] आहरचेला^{१०} [३१]
 आहरवसना [३२] आहरसेना^{११} [३३] आहरवितना^{१२} [३४] आहरव-
 निता^{१३} [३५] कृन्तविचक्षणा^{१४} [३६] उद्धरोत्सृजा [३७] उद्धरावसृजा^{१५}
 [३८] उद्धमविधमा [३९] उत्पचनिपचा^{१६} [४०] उत्पचविपचा^{१७} [४१]
 उत्पतनिपता [४२] उच्चावचम्^{१८} [४३] उच्चनीचम्^{१९} [४४] आचोप-

१. गण० म०—“प्रेहि=प्रियस्व वाणिजा इति
 यस्यां, सा। अन्ये त्वाहुः—प्रेहि=आदरेणागच्छ
 इत्यर्थः। खीलिङ्गत्वादाङ्निपातनाद् एवाकार इति
 केचित्।” (२।१।१५)

२. प्रक्रियाकौमुदीटीकायां नास्ति ॥

३. श्रीबोटलिङ्गोऽत्रैतं शब्दं न पठति ॥

४. काशिकायां १६-२२ इति चत्वारः शब्दा
 न सन्ति ॥

५. श्रीविट्ठलः—“प्रेहिकटा । अपेहिकटा” इति
 क्रमभेदेन पठति ॥

६. श्रीबोटलिङ्गस्तु “प्रोहकटा, अपोहकटा” इत्येतौ
 “प्रेहिकटा, अपेहिकटा” इत्येतयोः पाठान्तरत्वेन
 मन्यते । तदनाकरम् ॥ [न पठति ॥

श्रीविट्ठलोऽपि “प्रोहकटा, अपोहकटा” इति

गण० म०—“प्रोह कर्ममिति यस्यां सा ।
 प्रोहणं वीरणादेः कटादिभावाय विरचना ।”
 (२।१।१६)

७. काशिकायां नास्ति ॥

श्रीविट्ठलः “प्रेहिकर्दमा” इत्यतः पूर्वं “एहि-
 कर्दमा” इति, बोटलिङ्गश्च “आहरकटा” इति
 पठति ॥ [पठति ॥

८. श्रीविट्ठलः २६-२९ इति चतुरः शब्दान्न

गण० म०—“प्रोह = अपनय कर्ममिति
 यस्यां सा ।” (२।१।२२)

९. श्रीबोटलिङ्गो न पठति ॥

१०. काशिकायां नास्ति ॥

११. श्रीविट्ठलः “आहरचेला” इत्यतः पूर्वं “उद्ध-
 मचूडा” इति ॥

१२. जयादित्य-विट्ठलो न पठतः ॥

१३. काशिकायां नास्ति । विट्ठल-वर्धमानौ (२।
 १।१७) च “वितता” इति पठतः ॥

१४. श्रीविट्ठल-बोटलिङ्गौ न पठतः ॥

१५. श्रीविट्ठलः—कृन्तविचक्षणा ॥

गण० म०—“कृती वेष्टने । कृन्दि विशिष्टं
 चक्षयमिति यस्यां, सा । शाकटायनस्तु—कृन्दि
 विच्छिणीहि इति यस्यां, सा कृन्दिविच्छिणा । कर्पा-
 सविषया क्रिया । निपातनाद्धि लोपो विकरणस्य
 ह्रस्वत्वं च इत्याह ॥” (२।१।१६)

१६. न्यासकारः—“उच्चावचमिति निपात्यते उदक्
 चावाक् चेति विगृह्य ।”

गण० म०—“उच्चितं चावचितं च ।
 उच्चावचमित्यन्ये ।” (२।१।१६)

१७. श्रीविट्ठलः “उच्चनीचम्” इत्यतः पूर्वं
 “आचोपचम्” इति ॥

चम् [४५] आचपराचम् [४६] अचितोपचितम् [४७] अवचित-
पराचितम् [४८] नखप्रचम् [४९] निश्चप्रचम् [५०] अकिञ्चनम् [५१]
स्नात्वाकालकः [५२] पीत्वास्थिरकः [५३] भुक्त्वासुहितः [५४]
प्रोष्यपापीयान् [५५] उत्पत्यव्याकुला [५६] निपत्यरोहिणी [५७] निष-
ण्णश्यामा [५८] अपेहिप्रघसा [५९] एहिप्रघसा [६०] इहपञ्चमी [६१]
इहद्वितीया ॥ जहि कर्मणा बहुलमाभीक्ष्ये कर्त्तारं चाभिदधाति [६२]
जहिजोडः [६३] उज्जहिजोडः [६४] जहिस्तम्बः [६५]
उज्जहिस्तम्बः [६६] ॥ आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये—[६६] अशनीतपिबता [६७]
पचतमृज्जता [६८] खादतमोदता [६९] खादताचमता [७०]

१. काशिकायां ४४, ४५ इत्युभौ न स्तः ॥

गण० म०—“आचितं च पराचितं च ।”
(२।११६)

२. बोदलिङ्गः ४६, ४७ इत्येतौ, विट्टलश्च ४६,
४७, ४८ इति शब्दान् न पठति ॥

३. काशिकायां नास्ति ॥

४. गण० म०—“निश्चितं च प्रचितं च =
निश्चप्रचम् । निश्चितं च प्रचितं च यस्यां
क्रियायां, सा निश्चप्रचा । निष्कृषितं च निस्त्वचं
च = निश्चत्वचम् इति केचित् ॥” (२।११६)

५. श्रीबोदलिङ्गः—“अकिञ्चन ।” एवमग्रेऽपि ॥

श्रीविट्टलः—“अकिञ्चनम्” इत्यतः पश्चात्
“सकिञ्चनम्” इति ॥

६. न्यासे—“स्नात्वाकालकः, पीत्वास्थिरकः, भुक्त्वा
सुहित इत्येतेषामन्तोदात्तार्थः पाठः ।”

गण० म०—“स्नात्वा कालीभूतः = कृष्णी-
भूतः । पीत्वा स्थिरीभूतः ।” (२।११७)

७. श्रीविट्टलः—“० सुहृत्कः ।”

८. गण० म०—“प्रोष्य वियुक्तो भूत्वा पापी-
यान् = विरूपकः ।” (२।१२०)

९. श्रीविट्टल-बोदलिङ्गौ—उत्पत्यपाकला ॥

शब्दकौस्तुभे—“उत्पत्य या कला उत्पत्तनं कृत्वा

या पाण्डुर्भवति, सोच्यते हस्तिजवरः पाकलः ।”

१०. न्यासे “अपेहिप्रसवा” इति, शब्दकौस्तुभे च
“अपेहिप्रणमा” इति ॥

११. श्रीजयादित्य-विट्टलौ न पठतः ॥

१२. गण० म०—“शाकटायनस्तु ‘अवपञ्चमी ।’
अवद्वितीया’ इत्याह ।” (२।१२३)

१३. श्रीविट्टलः—“० माभीक्ष्ये समस्यते, समा-
सेन कर्त्ताभिधीयते चेत् ।”

पुनरपि बोदलिङ्ग एतद्, “आख्यातमा०”
इति चानुपदं वक्ष्यमाणं वाक्यं गणपाठशब्दत्वेन
सङ्ख्याति ॥

१४. बोदलिङ्गः—० जोडम् ॥

गण० म०—“जहि जोडं देवदत्त [इति]
यो वक्ताभीक्ष्यं मातृत्वेन व्रवीति, स वक्ता ज-
हिजोडः ।” (२।११७)

१५. श्रीबोदलिङ्गः—“शब्दं पठति ॥

१६. प्र० कौ० टोकायां नास्ति ॥

श्रीबोदलिङ्गः—“साधुः ॥

१७. श्रीबोदलिङ्गः—“रताः ॥

१८. न्यासे—“अशनीत पिबत इत्यसकृद् यत्रोच्यते,
तत्र ‘अशनीतपिबता’ इति प्रयुज्यते ।”

१९. विट्टलः—“खादताचमता ॥

आहरनिवपा [७१] आवपनिष्करा^१ [७२] उत्पचविपचा^२ [७३]
 मिन्धिलवणा [७४] छिन्धिविचक्षणा^३ [७५] कृन्धिविचक्षणा^४ [७६]
 पचलवणा [७७] पचप्रकृटा^५ ॥ आकृतिगणोऽयम् । अर्थादविहितलक्षणः
 समानाधिकरणतत्पुरुषो मयूरव्यंसकादित्वात् सिद्धो भवति ॥ ७१ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

['मयूरव्यंसकादयः'] मयूरव्यंसकादि गणशब्द हैं । वे समास किये हुए समाना-
 धिकरणतत्पुरुष-सञ्ज्ञक निपातन किये हैं, और इन में नित्य समास होता है । अर्थात् पूर्व के
 विकल्प से यहां वाक्य भी नहीं रहा । जैसे—मयूरव्यंसकः । छात्रव्यंसकः । यहां मयूर-
 और छात्र-शब्द का व्यंसक सुबन्त के साथ नित्य समास हुआ है ॥

इस सूत्र में चकार-ग्रहण निश्चय के लिये है कि मयूरव्यंसकादि में ही नित्य समास हो ।
 परमो मयूरव्यंसकः । यहां परम-शब्द का समास नहीं हुआ । मयूरव्यंसकादिगण पूर्व
 संस्कृत में सब क्रम से लिख दिया है । सो यह आकृतिगण अर्थात् जितने शब्द पदे हैं, उन
 से अलग भी समास किये हुए समानाधिकरण तत्पुरुष विषयक शब्द मयूरव्यंसकादि से सिद्ध
 समझने चाहिये ॥ ७१ ॥

यह द्वितीयाध्याय का प्रथम पाद समास हुआ ॥

१. पाठान्तरम्—आहरनिष्करा ॥

२. विट्ठलः—०निपचा ॥

३. प्र०को०टीकायां ७४, ७५ इति द्वौ शब्दौ
 न स्तः । बोदलिङ्कोऽपि “०” इत्येतं
 “कृन्धि०” इत्यस्य पाठान्तरं मन्यते ॥

४. काशिकायां नास्ति ॥

५. अतः परं श्रीबोदलिङ्गः—“K. ausserdem:
 मेहिस्वागता, मोहकर्ममा, अचितोपचितं, अव-
 चितं, उज्जहिजोडः, Ist ein आकृति-
 गण, zu welchem auch अकुतोभयः,

कांदिशीकः, आहोपुरुषिका, अहमहमिका, यदृ-
 च्छा, यहिरियाहिरा, उन्मृजावमृजा, द्रव्यान्तरं
 und अवश्यकार्य gehören sollen.”

गणरत्नमहोदयौ “छात्रव्यंसकः, यहिप्रकसा,
 अपेहिप्रकसा, निकुच्यकारिणः, उद्भमचूडा, मुक्त्वा-
 सुहितः, अकुतोभयम्, कान्दिशीकः (कां दिशं
 त्रजामीति), उद्भपनिवपा, आहोपुरुषिका अहमह-
 मिका, यदृच्छा, यहिरियाहिरा, अहम्पूर्विका, अह-
 म्रथमिका” इत्यादयः शब्दा अधिकाः ॥

ओ३म्

अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥

[तत्पुरुषसमासाधिकारो वर्तते]

पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे ॥ १ ॥

समानाधिकरण-ग्रहणं निवृत्तम् । विभाषा-ग्रहणमनुवर्तते । पूर्व-अपर-अधर-उत्तरम् । १ । १ । एकदेशिना । ३ । १ । एकाधिकरणे । ७ । १ । पूर्व च अपरं च अधरं च उत्तरं च, तानि पूर्वापराधरोत्तरम् । 'विभाषा वृद्धमृग०' ॥ इत्येकवद्भावः । 'स नपुंसकम्' ॥ इति नपुंसकत्वम् । एकदेशः = अवयवः, सो ऽस्यास्तीति अवयवी, तेनैकदेशिना = अवयविना । एकं च तदधिकरणं = एकाधिकरणं, तस्मिन् । एकाधिकरणेऽभिधेये पूर्व-अपर-अधर-उत्तर-शब्दा एकदेशिवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । नद्याः पूर्व = पूर्वनदी । वृद्धस्यापरं = अपरवृद्धः । गृहस्याधरं = अधरगृहम् । शरीरस्योत्तरं = उत्तरशरीरम् । उत्तरपर्वतः । अत्रैकदेशवाचिनां पूर्वादीनामेकदेशिवाचिभिर्नद्यादिभिः सह समासः ॥

'एकदेशिना' इति किमर्थम् । पूर्व शिखरस्य पर्वतस्य । अत्र शिखर-शब्देन सह समासो न भवति ॥

'एकाधिकरणे इति' किम् । पूर्व विद्यावतां सत्कारः कर्तव्यः । अत्र पूर्व-विद्यावत्-शब्दयोरेकाधिकरणं नास्तीति समासोऽपि न भवति ॥ १ ॥

अवयववाची जो ['पूर्व-अपर-अधर-उत्तरम्'] पूर्व, अपर, अधर और उत्तर शब्द हैं, वे ['एकाधिकरणे'] एकाधिकरण अर्थ में ['एकदेशिना'] अवयवीवाची पदान्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष कहावे । एवं अवयव और अवयवी का अधिकरण एक हो, [तो] पूर्वपर्वतस्य = पूर्वपर्वत

१. सा—पृ० २६ ॥

२. २ । ४ । १२ ॥

३. २ । ४ । १७ ॥

ते

अपरपर्वतः । अधरपर्वतः । उत्तरपर्वतः । यहाँ पर्वत के एकदेशवाची पूर्वादि शब्दों का अवयवी पर्वत के साथ समास हुआ है ॥

एकदेशी-ग्रहण इसलिये है कि 'पूर्वे द्वारस्य गृहस्य' यहाँ द्वार-सब्द के साथ संमास न हो । क्योंकि अवयवी तो गृह है, द्वार भी अवयव है ॥

एकाधिकरण-ग्रहण इसलिये है कि 'पूर्वभुक्त्यविद्यानां परीक्षा' यहाँ एकाधिकरण नहीं है । इससे पूर्व-शब्द का समास उत्कृष्टविद्य-शब्द के साथ नहीं हुआ ॥ १ ॥

अर्द्ध नपुंसकम् ॥ २ ॥

'एकदेशिनैकाधिकरणे' इत्यनुवर्तते । अर्द्धम् । १ । १ । नपुंसकम् । १ ।
१ । एकस्य वस्तुनस्तुल्यौ द्वौ विभागौ भवतः । तत्रैकविभागे वर्तमानोऽर्द्ध-शब्दः, तस्येह सूत्रे ग्रहणम् । स च नपुंसकलिङ्गो भवति । अन्यश्चावयववाची पुँलिङ्गः^१ । एकाधिकरणे गम्यमाने नपुंसकलिङ्गोऽर्द्ध-शब्द एकदेशिवाचिना सुवन्तेन सह विकल्पेन समस्यते^२ । तत्पुरुषः सं समासो भवति । अर्द्धं पिप्पल्याः = अर्द्धपिप्पली । अर्द्धं राशेः = अर्द्धराशिः । अत्र विभागवाचिनोऽर्द्ध-शब्दस्य संमुदायवाचिभ्यां पिप्पली-राशि-शब्दाभ्यां सह समासः ॥

'नपुंसकम्' इति किम् । प्रामादः । अत्र पुँलिङ्गे षष्ठीसमासः ॥

'एकदेशिना' इति किम् । अर्द्धं देवदत्तस्य वस्त्रस्य । अत्र देवदत्तेन सह संमासो न भवति ॥

'एकाधिकरणे' इति किम् । अर्द्धं पिप्पलीनाम् । अत्र 'पिप्पलीनां' इति बहुवचनस्यैकाधिकरणं नास्तीति समासोऽयं न भवति^३ ॥

एतत् सूत्रद्वयं षष्ठीसमासस्यापवादः । षष्ठीसमासे सत्यवयविनः पूर्वनिपातः स्यात् । अत्र सत्यवयविनः परनिपातो भवति ॥ २ ॥

एक देश के दो भाग बराबर हों, उस एक भाग का वाची जो अर्द्ध-शब्द है, वह नपुंसक है । उस अर्द्ध-शब्द का ग्रहण इस सूत्र में है । अन्यत्र अवयव का वाची पुँलिङ्ग है । ['अर्द्ध नपुंसकम्']-

१. सा०—१ । १ ।

२. महाभाष्ये—'एकं पुनरयं नपुंसकलिङ्गः, कं पुँलिङ्गः । समासभागे नपुंसकलिङ्गः, अवयववाची पुँलिङ्गः ॥' अ० २ । पा० २ । आ० १)

३. वृहत्संहिता ३ । १ । २ । (२) अर्धदेव-शब्दः—

'अर्धदेव' इति शब्दः असन्

पुनः कदाचित् अर्धमाने ।

त आयजन्त त्रसदस्युमस्यां

इन्द्रं न वृत्रतुरमर्धदेवम् ॥^४

(अपि च ४ । ४२ । १)

४. महाभाष्ये—'इह कस्मान्न भवति—अर्धं पिप्पलीनामिति । न वा भवति 'अर्धपिप्पल्यः' इति । भवति यदा खण्डसमुच्चयः । अर्धपिप्पली चार्धपिप्पली चार्धपिप्पली च = अर्धपिप्पल्य इति ॥^५

नपुंसक जो अर्द्ध-शब्द है, वह [एकाधिकरण अर्थ में] एकदेशी सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष कहावे। अर्द्ध राशेः = अर्द्धराशिः। यहां विभागवाची अर्द्ध-शब्द का समास समुदायवाची राशि-शब्द के साथ हुआ है ॥

नपुंसक-ग्रहण इसलिये है कि 'ग्रामार्द्धः' यहां पुंलिङ्ग में षष्ठी समास हो जाता है ॥

एकदेशी-ग्रहण इसलिये है कि 'अर्द्ध देवदत्तस्य वस्त्रस्य' यहां देवदत्त-शब्द के साथ समास न हुआ ॥

और एकाधिकरण-ग्रहण इसलिये है कि 'अर्द्ध पिप्पलीनां' यहां बहुवचन और एकवचन का एकाधिकरण न होने से समास न हुआ ॥ २ ॥

द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्थ्याण्यन्यतरस्याम् ॥ ३ ॥

‘एकदेशिनैकाधिकरणे’ इत्यनुवर्त्तते। द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-तुर्थ्याणि । १ ।

३ । अन्यतरस्याम् । अ० । षष्ठीसमासस्यापवादोऽयं योगः । षष्ठीसमासे सति द्वितीयादीनां परनिपातो भविष्यति । अत्र तु पूर्वनिपातः । महाविभाषाऽनुवर्त्तते । पुनर्विभाषाग्रहणात् षष्ठीसमासोऽपि भवति । एवं रूपत्रयं सिद्धं भवति । एकाधिकरणे गम्यमाने द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-तुर्थ्य-शब्दा एकदेशिवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । द्वितीयं भिक्षायाः, द्वितीय-भिक्षा । षष्ठीसमासे—भिक्षाद्वितीयम् । तृतीयं भिक्षायाः, तृतीयभिक्षा, भिक्षा-तृतीयं वा । चतुर्थं भिक्षायाः, चतुर्थभिक्षा, भिक्षाचतुर्थं वा । तुर्थ्यं भिक्षायाः, तुर्थ्यभिक्षा, भिक्षातुर्थ्यं वा । एवं विकल्पद्वयेन रूपत्रयं सिद्धं भवति । अत्र विभागवाचिनां द्वितीयादिशब्दानां समुदायवाचिभिक्षा-शब्देन सह समासः ॥

‘एकदेशिना’ इति किम् । द्वितीयं भिक्षुकस्य भिक्षायाः ॥

‘एकाधिकरणे’ इति किम् । द्वितीयं भिक्षाणाम् । अत्र समास एव न भवति ॥

भा०—द्वितीयादीनां विभाषाप्रकरणे विभाषाग्रहणं क्रियते ज्ञापनार्थम्^१ । किं ज्ञाप्यते । एतज्ज्ञापयत्याचार्यः—अवयवविधौ सामान्यविधिर्न भवतीति । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ।

‘भिनत्ति, छिनत्ति’ इति भ्रमि^२ कृते शम्भ भवतीति ॥^३

अत्रैतत्कथनस्येदं प्रयोजनम्—षष्ठीसमासः = सामान्यविधिः, द्वितीयादीनां समासः = अवयवविधिः । तत्र महाविभाषया द्वितीयादीनां समासे कृते वाक्यमेव

१. सा०—पृ० २७ ॥

२. पाठान्तरम्—विभाषावचनं ... ज्ञापनार्थम् ॥

३. “रुधादिभ्यः शनम् ॥” (३।१।७८)

४. अ० २ । पा० २ । आ० ३॥

भवति, षष्ठीसमासो न प्राप्नोति । अतो द्वितीयं विकल्प-ग्रहणं सार्थं भवति ।
द्वितीयेनैव विकल्पेन षष्ठीसमासो भवति ॥ ३ ॥

यह सूत्र षष्ठी समास का अपवाद है । षष्ठी समास में द्वितीयादि शब्दों का परप्रयोग होता और अहां पूर्वप्रयोग होता है । पूर्व से विकल्प की अनुवृत्ति चली आती है, फिर विकल्प-ग्रहण इसलिए है [कि] षष्ठीसमास भी हो जाय । इस प्रकार दो विकल्पों के होने से तीन प्रयोग सिद्ध होते हैं । ['द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-तुर्याणि'] द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, तुर्यं, ये चार जो शब्द हैं, सो एकाधिकरण अर्थ में एकदेशिवाची सुबन्त के साथ ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । द्वितीयं भिक्षायाः, द्वितीयभिक्षा । और षष्ठी समास में 'भिक्षाद्वितीयम्' भिक्षा-शब्द पूर्व होता है । इसी प्रकार तृतीय आदि शब्दों के भी तीन २ रूप बनते हैं । यहां विभागवाची द्वितीय-आदि शब्दों का समुदायवाची भिक्षा-शब्द के साथ विकल्प करके समास हुआ है ॥

'अवयवविधौ' इस परिभाषा का यहां यह प्रयोजन है कि षष्ठी समास तो सामान्यविधि और द्वितीयादिकों का समास अवयवविधि है । वहां पूर्व [अर्थात् महाविभाषा के] विकल्प से द्वितीय आदि का समास करने में वाक्य ही होता, षष्ठी समास नहीं प्राप्त होता । इससे द्वितीय विकल्प-ग्रहण सार्थक हुआ, कि द्वितीय विकल्प के होने से ही षष्ठी समास होता है ॥ ३ ॥

प्राप्तापन्नो च द्वितीयया ॥ ४ ॥

अन्यतरस्यां-ग्रहणमनुवर्तते । 'एकदेशिनैकाधिकरणे' इति निवृत्तम् । प्राप्त-आपन्ने । १ । २ । (अः^१ । १ । १ ।) च । [अ० ।] द्वितीयया । ३ । १ । 'द्वितीयाश्रितातीत०^३ ॥' इति द्वितीयातत्पुरुषस्यापवादः । द्वितीयासमासे कृते द्वितीयान्तस्य पूर्वनिपातो भवति । अत्र तु द्वितीयान्तस्य परनिपातः । द्वितीयविकल्पस्यानुवर्तनाद् द्वितीयासमासोऽपि भवति । प्राप्त-आपन्न-शब्दौ द्वितीयान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्येते । तत्पुरुषः स समासो भवति । प्राप्त-आपन्न-शब्दयोरकारादेशश्च भवति । प्राप्तो जीविकां = प्राप्तजीविकः । आपन्नो जीविकां = आपन्नजीविकः । द्वितीयासमासे सति—जीविकाप्राप्तः । जीविकापन्नः ॥

प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति । प्राप्ता जीविकां = प्राप्तजीविका । आपन्ना जीविकां = आपन्नजीविका । समानाधिकरणतत्पुरुषे तु कर्मधारय-सञ्ज्ञत्वात् पुंवद्भावो भवति । अत्र समानाधिकरणं नास्तीति मत्वा सूत्रे

१. सा०—पृ० २७ ॥

२. [(१।२।११)]

पन्ने द्वितीयान्तेन सह समस्येते, अत्र च भवति।

चा० श०—“प्राप्तापन्नौ द्वितीयया च ॥”

प्राप्तापन्नयोरिति । प्राप्ता जीविकां = प्राप्तजीवि-

३. महाभाष्ये—“एवं तर्हि नायमनुकर्षणार्थश्च-

का । आपन्ना जीविकां = आपन्नजीविकाः ॥”

कारः । किं तर्हि । अत्रमनेन विधीयते । प्राप्ता-

३. २ । १ । २. ३ ॥

ऽकारस्य प्रश्लेषः कृतः । तेन 'प्राप्ता जीविकां = प्राप्तजीविका' इति पूर्वपदस्थस्या-

ऽऽकारस्य ह्रस्वोऽकारो भवति । एतज्जयादित्येन काशिकायां न लिखितम् ।

तु जाने तेन बुद्धं न वा ॥ ४ ॥

यह सूत्र द्वितीया तत्पुरुष का अपवाद है । द्वितीया तत्पुरुष में तो द्वितीयान्त का पूर्वनिपात होता और यहां द्वितीयान्त परप्रयोग होता है । सो इस सूत्र में दो विकल्पों की अनुवृत्ति होने से द्वितीया तत्पुरुष भी होता है । ['प्राप्त-आपन्न'] प्राप्त और आपन्न जो शब्द हैं, वे ['द्वि-तीयया'] द्वितीयान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष कहावे । और प्राप्त-आपन्न-शब्दों को ['अः'] अकारादेश हो जावे । प्राप्ता जीविकां = प्राप्तजीविका । आपन्नजीविका । यहां प्राप्त और आपन्न-शब्द का जीविका-शब्द के साथ समास हुआ है । जीविकाप्राप्तः । जीविकापन्नः । यहां द्वितीया तत्पुरुष समास में जीविका-शब्द पूर्व रहता है । प्राप्ता जीविकां = प्राप्तजीविका । आपन्ना जीविकां = आपन्नजीविका । यहां पूर्व पद प्राप्ता और आपन्ना-शब्द को ह्रस्व अकार आदेश हुआ है । समानाधिकरण तत्पुरुष से तो कर्मधारय-सम्बन्ध के होने से पूर्व पद को पुंवङ्गाव हो जाता है । यहां समानाधिकरण की अनुवृत्ति नहीं, इससे पुंवत् नहीं पाता । इसलिये इस सूत्र में अकार का प्रश्लेष किया अर्थात् 'प्राप्तापन्ने' इस के आगे अकार निकाला है ॥ ४ ॥

कालाः परिमाणिना ॥ ५ ॥

षष्ठीसमासस्यैवापवादः । पूर्वनिपातविपर्ययार्थः । कालाः । १ । ३ । परि-
माणिना । ३ । १ । परिमाणमस्यास्तीति परिमाणी, तेन । परिमाणवाचिनः
कालशब्दाः परिमाणवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स
समासो भवति । मासो जातस्य = मासजातः । संवत्सरो जातस्य = संवत्सरजातः ।
अत्र परिमाणवाचिनो मास-शब्दस्य परिमाणवाचिना जात-शब्देन समासः ॥

वा०—एकवचनद्विगोश्चोपसङ्ख्यानम् २ ॥^३

एकवचनान्तस्य द्विगु-सङ्ज्ञकस्य च कालवाचिशब्दस्य समासो भवतीति
नियमः । मासो जातस्य = मासजातः । इह मा भूत्—मासौ जातस्य । मासा
जातस्य । अत्र समासो न भवति । द्विगु-सङ्ज्ञकस्य—द्वौ मासौ जातस्य = द्विमास-
जातः । त्रिमासजातः । स्पष्टम् ॥ ५ ॥

यह सूत्र भी षष्ठी समास का अपवाद है । जो षष्ठी समास होता, तो कालवाची शब्दों का पूर्वनिपात होता । और जब इस सूत्र से समास होता है, तब कालवाची शब्द पूर्व होते हैं ।

१. सा०—५७, २७ ॥

२. कोशेऽत्र "॥ १ ॥" इति ॥

३. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥

['कालाः'] परिमाणवाची जो कालशब्द हैं, वे ['परिमाणिना'] परिमाणवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास पावें। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। मासो जातस्य = मासजातः। यहां मास-शब्द का समास परिमाणवाची जात-शब्द के साथ हुआ है ॥

‘एकवचनद्विगोश्चोपसङ्ख्यानम् ॥’ इस वार्तिक का यह प्रयोजन है कि सूत्र से जो समास होता है, वह एकवचनान्त मास-शब्द को और द्विगु-संज्ञक मास-शब्द को भी हो। एकवचनान्त का इसलिये है कि ‘मासौ जातस्य’ यहां द्विवचनान्त का समास नहीं हुआ। द्विगु-सञ्ज्ञक — द्विमासजातः। यहां समास हो जाता है ॥ ५ ॥

नञ् ॥ ६ ॥

नञ्। अ०। ‘नञ्’ इत्यव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। न ब्राह्मणः = अब्राह्मणः। न क्षत्रियः = अक्षत्रियः। अवृषलः। समासपक्षे ‘नलोपो नञः’^१ इति नकारलोपो भवति। अत्र ब्राह्मणादिशब्दैः सह नञः समासः ॥ ६ ॥

['नञ्'] नञ् जो अव्यय है, वह समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष कहावे। न ब्राह्मणः = अब्राह्मणः। यहां नञ् का समास ब्राह्मण-शब्द के साथ हुआ है। सो जिस पक्ष में समास होता है, वहां नञ् के नकार का लोप हो जाता है ॥ ६ ॥

ईषदकृता ॥ ७ ॥

ईषत्। अ०। अकृता। ३। १। ‘ईषद्’ इत्यव्ययम् अकृता = कृदन्त-भिन्नेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। ईषत्कडारः। ईषत्पिङ्गलः। अत्र ‘ईषद्’ इत्यस्य कडार-पिङ्गलाभ्यां सह समासः ॥

वा०—ईषद् गुणवचनेन ॥

‘अकृता’ इति ह्युच्यमान इह च प्रसज्येत—ईषद्भार्यः।

इह न स्यात्—ईषत्कडारः ॥^६

‘ईषदकृता’ इत्यस्य स्थाने ‘ईषद् गुणवचनेन’ इति सूत्रं कर्त्तव्यम्। तेन गुणवचनेनैव समासः स्यादिति वार्त्तिकाशयः ॥ ७ ॥

['ईषद्'] ईषत् जो अव्यय है, वह ‘अकृता’ अर्थात् कृदन्त भिन्न सुबन्त के साथ विकल्प करके समास पावे। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। ईषत्कडारः। ईषत्पिङ्गलः। यहां कडार- और पिङ्गल-शब्द के साथ ईषद् अव्यय का समास हुआ है ॥

१. सा०—पृ० २७ ॥

चा० श०—२।२।२० ॥ (तदेव)

२. ६।३।७३ ॥

३. सा०—पृ० २८ ॥

चा० श०—‘ईषद् गुणेन ॥’ (२।२।२१)

४. कोशेऽत्र “॥१॥” इति ॥

५. पाठान्तरम्—इह च ॥

६. अ० २।पा० २।आ० १ ॥

‘ईषद् गुणवचनेन ॥’ ‘अकृता’ इस के स्थान में ‘गुणवचनेन’ ऐसा कहना चाहिये, क्योंकि ‘अकृता’ के कहने से ‘ईषद्गार्ग्यः’ यहां भी समास पाता है। अर्थात् ईषद् अव्यय का गुणवचनवाची के साथ ही समास हो। इस नियम से कृदन्त का भी निषेध हो जावेगा। यह वार्तिक का प्रयोजन है ॥ ७ ॥

षष्ठी ॥ ८ ॥

षष्ठी । १ । १ । षष्ठ्यन्तं सुबन्तं समर्थसुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । राज्ञः पुरुषः = राजपुरुषः । ब्राह्मणस्य धनं = ब्राह्मणधनम् । ग्रामपतिः । भूपतिः । अत्र राजन्-शब्दस्य पुरुषेण सह समासः । एवमन्येष्वपि ॥

वा०—कृद्योगा च ॥^११ ॥

‘कर्तृकर्मणोः कृतिः ॥’ इति सूत्रेण या षष्ठी विधीयते, सा ‘कृद्योगा’ इत्युच्यते । सा च सुबन्तेन सह समस्यते । इध्मस्य प्रव्रश्चनः = इध्मप्रव्रश्चनः । पलाशस्य शातनः = पलाशशातनः । अस्य वार्तिकस्यैतत् प्रयोजनम्—‘न निर्धारणे ॥’ इत्यत्रोक्तं—“प्रतिपदविधाना च षष्ठी न समस्यत इति वक्तव्यम् ।” सर्वा च षष्ठी प्रतिपदविधाना शेषलक्षणांमार्थात् ‘षष्ठी शेषे ॥’ इत्यारभ्य पादपयन्तविहितां षष्ठीं वर्जयित्वा । कृद्योगा च षष्ठी शेषलक्षणा । तत्र प्रतिपदविधानप्रतिषेधं मत्वेदमुक्तम् ॥ १ ॥

वा०—तत्स्थैश्च गुणैः ॥^२२ ॥

तत्स्थाः = षष्ठ्यन्तस्था ये गुणशब्दाः, तैः सह षष्ठ्यन्तं समस्यते । चन्दनस्य गन्धः = चन्दनगन्धः । पटहशब्दः । नदीघोषः । ‘पूरणगुणं ॥’ इति सूत्रेण षष्ठ्यन्तस्य गुणेन सह समासप्रतिषेधः प्राप्तः । तदर्थमिदं द्वितीयं वार्तिकम् ॥ [२॥]

वा०—न तु तद्विशेषणैः ॥^३३ ॥

तद्विशेषणैः = गुणविशेषणैः सह षष्ठ्यन्तं न समस्यत इति द्वितीयवार्तिकस्यैव निषेधः । चन्दनस्य मृदुर्गन्धः । घृतस्य तीव्रो गन्धः । अत्र मृदु-तीव्र-विशेषणशब्दाभ्यां समासो न भवति ॥ [३] ॥ ८ ॥

१. सा०—पृ० २४॥चा०श०—२।२।२॥ (तदेव) ४. २।२।२०॥

२. अ० २।पा० २।आ० १॥

५. २।३।५०॥

३. २।३।६५॥

६. २।२।११॥

['पण्डी'] पठ्यन्त जो सुबन्त है, वह समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष कहावे। राज्ञः पुरुषः = राजपुरुषः। यहाँ राजन्-शब्द का समास पुरुष-शब्द के साथ हुआ है। इसी प्रकार अन्य असंख्य शब्दों में पठ्ठी तत्पुरुष समास होता है ॥

'कृद्योगा च ॥' कृद्योगा [पठ्ठी] उस को कहते हैं, जो कृदन्त के योग में कर्त्ता, कर्म में ['कर्त्तृकर्मणोः कृति' ॥' इस] सूत्र से पठ्ठी विधान है। उस पठ्ठी का समास सुबन्त के साथ हो। इधमप्रवृत्तः। यहाँ कृदन्त के योग में इधम पठ्यन्त का समास हुआ है। प्रयोजन यह है कि आगे प्रतिपदविधान पठ्ठी के समास [का निषेध] कहा है, सो प्रतिपदविधाना पठ्ठी से कृद्योगा पठ्ठी अलग है। सो प्रतिपदविधाना पठ्ठी [के समास के निषेध] से कृद्योगा पठ्ठी [के समास] का निषेध न हो जाय ॥ १ ॥

'तत्स्थैश्च गुणैः ॥' पठ्यन्त में रहने वाले जो गुण हैं, उन के साथ पठ्यन्त का समास हो। चन्दनस्य गन्धः = चन्दनगन्धः। यहाँ गन्ध गुण चन्दन में रहता है, इसलिये चन्दन के साथ समास हो गया। इस द्वितीय वार्तिक का प्रयोजन यह है कि आगे [सूत्र ११ में] गुणवाची शब्दों के साथ पठ्यन्त के समास का निषेध किया है, सो यहाँ न हो जाय ॥ २ ॥

'न तु तद्विशेषणैः ॥' गुण के विशेषणवाची शब्दों के साथ पठ्यन्त का समास न हो। घृतस्य तीव्रो गन्धः। यहाँ गन्ध के विशेषण तीव्र-शब्द के साथ समास न हुआ। द्वितीय वार्तिक का अपवाद यह भी वार्तिक है, अर्थात् उस से जो समास प्राप्त है, उस का यह निषेध करता है ॥ [३ ॥] ॥

याजकादिभिश्च ॥ ६ ॥

'षष्ठी' ॥ इति सूत्रेण सिद्ध एव समासः। तस्य 'कर्त्तरि च' ॥ इति [प्रति]षेधे प्राप्ते प्रतिप्रस[व]विध्यर्थं सूत्रमिदम्। याजकादिभिः। ३।३।च। अ०। याजकादिभिर्गणशब्दैः सह पठ्यन्तं विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। ब्राह्मणस्य याजकः = ब्राह्मणयाजकः। ब्राह्मणपूजकः। अत्र ब्राह्मण-शब्दस्य याजक-पूजक-शब्दाभ्यां सह समासः ॥

अथ याजकादिगणः—[१] याजक [२] पूजक [३] परिचारक [४] परिवेशक [५] परिषेचक [६] स्नातक [७] अध्यापक [८] उत्साहक [९] उद्वर्त्तक [१०] होतृ [११] पोतृ [१२] भर्तृ [१३]

१. २।३।६५ ॥

२. सा०—पृ० २८ ॥

३. २।२।८ ॥

४. २।२।१६ ॥

५. शब्दकौस्तुभे—परिवेषक ॥

श्रीजयादित्य-बोटलिङ्गौ परिवेशक-शब्दं न पठतः ॥

१. शब्दकौस्तुभे नास्ति ॥

७. बोटलिङ्गः—स्नापक ॥

८. बोटलिङ्गः—उत्साहक ॥

९. बोटलिङ्गः—पोतृ-शब्दं न पठति ॥

रथगणक [१४] परिगणक^१—इति^२ याजकादिगणः ॥ ६ ॥

पूर्व सूत्र से षष्ठी समास सिद्ध ही है। फिर आगे [सूत्र १६ से] कर्त्ता में जो षष्ठी है, उस का निषेध किया है। उस कर्त्ता में षष्ठी के निषेध का विधान इस सूत्र से किया है। षष्ठ्यन्त जो सुबन्त है, वह ['याजकादिभिः'] याजकादि गणशब्दों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-सम्बन्धक हो। ब्राह्मणस्य याजकः=ब्राह्मणयाजकः। यहां ब्राह्मण-शब्द का याजक-शब्द के साथ समास हुआ है ॥

याजकादिगण पूर्व संस्कृत में लिख दिये हैं ॥ ६ ॥

न निर्द्धारणे^३ ॥ १० ॥

‘षष्ठी^४ ॥’ इति सूत्रेण समासे प्राप्ते निषेधप्रकरण आरभ्यते। न। अ०। निर्द्धारणे। ७। १। जातिगुणक्रियाशब्दसमुदायादेकस्य पृथक्करणं=निर्द्धारणम्। निर्द्धारणे वर्त्तमानं षष्ठ्यन्तं सुबन्तं सुबन्तेन सह न समस्यते। मनुष्याणां क्षत्रियः शूरः। गवां कृष्णा गौः सम्पन्नक्षीरा। पण्डितानां वेदविदुत्तमः। अत्रैकस्य पृथक्करणे समासो न भवति ॥

वा०—प्रतिपदविधाना च षष्ठी न समस्यते इति वक्तव्यम्।

इह मा भूत्—सर्पिषो ज्ञानम्। मधुनो ज्ञानम् ॥^५

‘सर्पिषः, मधुनः’ इति प्रतिपदविधाना षष्ठी नास्ति शेषलक्षणत्वात्। शेषलक्षणां षष्ठीं विहायान्या च सर्वे प्रतिपदविधाना। सूत्रेण यः प्रतिषेधः क्रियते, तत्र प्रतिपदविधानायाः षष्ठ्याः प्रतिषेधः स्यात् ॥ १० ॥

षष्ठी सूत्र से जो समास विधान है, उस का निषेध प्रकरण यहां से चलता है। बहुतों में से एक को पृथक् करने को निर्द्धारण कहते हैं। [‘निर्द्धारणे’] निर्द्धारण अर्थ में वर्त्तमान जो षष्ठी है, वह सुबन्त के साथ समास को [‘न’] न प्राप्त हो। मनुष्याणां क्षत्रियः शूरः। मनुष्यों में क्षत्रिय शूर है। यहां बहुत मनुष्यों में से एक क्षत्रिय को अल[ग] किया। इससे समास भी नहीं हुआ ॥

१. जयादित्य-बोटलिङ्गो—पत्तिगणक ॥

शब्दकौस्तुभे “पत्ति, गणक” इति द्वौ शब्दौ ॥

२. शब्दकौस्तुभेऽत्र “वृत्” इति ॥

अत्र बोटलिङ्गः—“K. ausserdem: पोट्ट, हचुर्त्त, वर्त्तक.”

गणरत्नमहोदधौ “कर्त्तृ, कारकं, प्रयोजकं,

गोप्तृ, तुर्य, चतुर्थ, उन्मादकं, द्वितीयं, तृतीयं,

चतुर्थ” इत्यादयः शब्दा अधिका। अपि च—

“क्रियानुगतिमास्थाय लोके ख्यातिमुपागताः।

ये कान्ताः पावकापास्ते द्रष्टव्या याजकादिषु ॥”

(२।६६, १००)

३. चा०श०—“न लनिर्धारयैषूरणमावतृप्तायैः ॥”

(२।९।२३)

४. २।२।८ ॥

५. अ० २। पा० २। आ० १ ॥

‘प्रतिपदविधानां च० ॥’ इस वार्तिक का यह प्रयोजन है कि सूत्र से जो समास का निषेध किया है, वह प्रतिपदविधाना पट्टी का समझना चाहिये । और ‘सर्पिषो ज्ञानं’ वही प्रतिपदविधाना पट्टी नहीं, क्योंकि शेषलक्षण है ॥ १० ॥

पूरुणगुणसुहितार्थसद्व्ययतव्यसमानाधिकरणेन ॥ ११ ॥

सर्वं तृतीयैकवचनम् । समाहारत्वादेकवचनम् । पूरणप्रत्ययान्तेन, गुणवाचिना, सुहित-शब्दस्यार्थवाचिभिः, सत्-सञ्ज्ञकप्रत्ययान्तैः शब्दैः, अव्ययेन, तव्य-प्रत्ययान्तैः शब्दैः, समानाधिकरणशब्दैश्च सह षष्ठ्यन्तं सुबन्तं न समस्यते । पूरण—पण्डितानां सप्तमः । छात्राणां दशमः । गुण—काकस्य काण्ण्यम् । कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम् । सुहितार्थाः = तृप्त्यर्थाः — फलानां सुहितः । अन्नस्य तृप्तः । सत्-सञ्ज्ञकौ शतृ-शानचौ^१, तदन्तैः शब्दैः—ब्राह्मणस्य पद्यन् । ब्राह्मणस्य पद्यमाणः । अव्यय—पुरा सूर्यस्योदेतोरधेयः^२ । पुरा सूर्यस्य विमृषो विरप्शिन्^३ । अत्र ‘उदेतोः’ इति तोसुन्-प्रत्ययान्तमव्ययं, ‘विमृषः’ इति कसुन्-प्रत्ययान्तं च^४ । ताभ्यां सह ‘सूर्यस्य’ इति षष्ठ्याः समासो न भवति । तव्य—ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यम् । समानाधिकरणेन—यास्कस्य निरुक्तकारस्य । पाणिनेः सूत्रकारस्य । अत्र पण्डितादिशब्दानां पूरणप्रत्ययान्तादिशब्दैः सह पट्टीसमासो न भवति । समानाधिकरणेन सह यदि समासः स्यात्, तर्हि विशेषणस्य पूर्वनिपात-नियमः स्यात् । तदा ‘पाणिनेः सूत्रकारस्य’ इति प्रयोगो न स्यात् । इष्यते यथेष्टं प्रयोगेण भवितव्यम् ॥ ११ ॥

[‘पूरुणगुणसुहितार्थसद्व्ययतव्यसमानाधिकरणेन’] पूरणप्रत्ययान्तः, गुणवाची, सुहित अर्थात् तृप्ति के वाची, सत्-सञ्ज्ञकप्रत्ययान्त, अव्यय-सञ्ज्ञक, तव्य-प्रत्ययान्त, समानाधिकरणवाची, इन शब्दों के साथ षष्ठ्यन्त जो सुबन्त है, वह समास को न प्राप्त हो । [पूरण—] छात्राणां पञ्चमः । यहां षष्ठ्यन्त छात्र-शब्द का पूरणप्रत्ययान्त पञ्चम-शब्द के साथ समास न हुआ । गुण—काकस्य काण्ण्यम् । यहां षष्ठ्यन्त काक-शब्द का गुणवाची काण्ण्य-शब्द के साथ समास नहीं हुआ । सुहितार्थ—अन्नस्य सुहितः । अन्नस्य तृप्तः । यहां षष्ठ्यन्त अन्न-शब्द का सुहितार्थ के साथ । सत्-सञ्ज्ञक शतृ-शानच्-प्रत्ययान्त—ब्राह्मणस्य पद्यन् । ब्राह्मणस्य पद्यमाणः । यहां षष्ठ्यन्त ब्राह्मण-शब्द को

१. चा० श०—“न लनिर्धार्यपूरुणभाववृत्ता-
र्थैः ॥” (२।२।१३)

२. दृश्यताम्—“तौ सत् ॥” (३।२।१२७)

३. काठकसंहितायामिठिमिकायां—८।३॥

४. वाजसनेयि (१।२८)—तैत्तिरीय (१।१।३।३)—
काठक (१।३) संहितासु—“पुरा क्रूरस्थं विमृषौ
विरप्शिन् ।”

५. १।१।३६॥

सत्-सञ्ज्ञकप्रत्ययान्त के साथ। अव्यय—पुरा सूर्यस्योदेतोः^१। पुरा सूर्यस्य विसृपः^२। यहाँ षष्ठ्यन्त सूर्य-शब्द का तोसुन्-कसुन्-प्रत्ययान्त अव्यय के साथ। तव्य—ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यम्। यहाँ षष्ठ्यन्त ब्राह्मण-शब्द का तव्य-प्रत्ययान्त के साथ। समानाधिकरण—पाणिनेः सूत्रकारस्य। और यहाँ षष्ठ्यन्त पाणिनि-शब्द का सूत्रकार-शब्द के साथ समास नहीं हुआ। समानाधिकरण के साथ जो समास होता, तो विशेषण पूर्व होना, यह नियम हो जाता। इसलिये निषेध है कि विशेषण वा विशेष्य कोई [भी] पूर्व रहे ॥ ११ ॥

क्तेन च पूजायाम् ॥ १२ ॥

नकारग्रहणमनुवर्त्तते। क्तेन। ३।१।च। अ०। पूजायाम्। ७।१। 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च'^३ ॥' इति वर्त्तमाने यः क्तः प्रत्ययो विधीयते, तस्येह ग्रहणम्। पूजा-ग्रहणमुपलक्षणार्थम्^४। पूजायां वर्त्तमानेन क्त-प्रत्ययान्तसुबन्तेन सह षष्ठ्यन्तं सुबन्तं न समस्यते। राज्ञां मतः। राज्ञां बुद्धः। राज्ञां पूजितः। अत्र षष्ठ्यन्तस्य राजन्-शब्दस्य क्तान्तेन सह समासो न भवति ॥

'पूजायां' इति किम्। मयूरस्य नृत्तं=मयूरनृत्तम्। अत्र 'नपुंसके भावे क्तः'^५ ॥' तेन समासो भवति ॥ १२ ॥

'मतिबुद्धिः'^६ ॥' इस सूत्र से वर्त्तमान काल में जो क्त-प्रत्यय होता है, उस का इस सूत्र में ग्रहण है। ['पूजायाम्'] पूजा अर्थ में वर्त्तमान ['क्तेन'] क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ षष्ठ्यन्त सुबन्त समास को न प्राप्त हो। राज्ञां मतः। राज्ञां बुद्धः। राज्ञां पूजितः। यहाँ षष्ठ्यन्त राजन्-शब्द [का] क्त-प्रत्ययान्त के साथ समास नहीं हुआ ॥

पूजा-ग्रहण इसलिये है कि 'छात्रस्य हसितं=छात्रहसितं' यहाँ नपुंसकभाव में क्त है। उस के साथ समास हो जाता है ॥ १२ ॥

अधिकरणवाचिना च ॥ १३ ॥

'क्तेन' इत्यनुवर्त्तते। 'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः'^७ ॥' इत्यधिकरणे क्तो विधीयते। तस्येदं ग्रहणम्। अधिकरणवाचिना। ३।१।च। अ०। षष्ठ्यन्तं सुबन्तमधिकरणवाचिना क्त-प्रत्ययान्तेन च न समस्यते। इदमेषां जग्धम्। इदमेषां भुक्तम्। अत्र षष्ठ्यन्तस्य जग्ध-भुक्त-क्तप्रत्ययान्ताभ्यां सह समासो न भवति ॥

१. काठकसंहिता—८।३॥

२. वाजसनेयि (१।२८), तैत्तिरीय (१।१।६।३) और काठक (१।६) संहिताओं में—“पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्तिन्।”

३. ३।२।१८८ ॥

४. “पूजाग्रहणमुपलक्षणार्थम्” इति मतिबुद्धयोरपि यः क्तो विहितः, तेनापि षष्ठीसमासस्य प्रतिषेधः ॥

५. ३।३।११४ ॥

६. ३।४।७६ ॥

चकारग्रहणं 'क्तेन' इत्यनुवर्त्तनार्थम् ॥ १३ ॥

'क्तोऽधिकरणे च०' ॥' इस सूत्र से जो अधिकरण में क्त-प्रत्यय होता है, उस का यहाँ ग्रहण है। ['अधिकरणवाचिना'] अधिकरणवाची क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ पठ्यन्त जो सुबन्त है, वह समास को न प्राप्त हो। इदमेपां जग्धम्। यहाँ 'एपां' इस-पठ्यन्त का समास 'जग्धं' [इस] क्त-प्रत्ययान्त के साथ नहीं हुआ।

चकार-ग्रहण क्त की अनुवृत्ति के लिये समझना चाहिये ॥ १३ ॥

कर्मणि च ॥ १४ ॥

'उभयप्राप्तौ कर्मणि' ॥' इति सूत्रेण या षष्ठी, तस्या अत्र ग्रहणम्। कर्मणि ७।१।च।अ०। इति-शब्दार्थेऽत्र चकारः। 'कर्मणि' इत्येवं या षष्ठी। कर्मणि या षष्ठी, सा समर्थसुबन्तेन सह न समस्यते। गवां दोहो गोपालेन। मोदकस्य भोजनं बालेन। 'गां दोग्धि, मोदकं मुङ्क्ते' इति कर्मणि षष्ठ्याः समासो न भवति ॥

भा०—इत्यर्थेऽयं चः पठितः। कर्मणि च। 'कर्मणि' इत्येवं या षष्ठी ॥ १४ ॥

इस सूत्र में चकार इति-शब्द के अर्थ में पड़ा है। 'कर्मणि' ऐसे शब्द से जो षष्ठी अर्थात् 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' ॥' इस सूत्र से जो षष्ठी विधान है, उस का यहाँ ग्रहण है। ['कर्मणि'] कर्म में जो षष्ठी है, वह समर्थ सुबन्त के साथ समास को न प्राप्त हो। गवां दोहो गोपालेन। यहाँ 'गवां' इस पठ्यन्त का समास दोह-शब्द के साथ नहीं हुआ ॥ १४ ॥

तृजकाभ्यां कर्त्तरि ॥ १५ ॥

'कर्मणि' इत्यनुवर्त्तते। तृच्-अकाभ्याम्। ३।२।कर्त्तरि। ७।१।कर्त्तरि यौ तृच्-अकौ। तेन तृच्-प्रत्ययान्तेन अकान्तेन = एदुल्-प्रत्ययान्तेन च सह कर्मणि या षष्ठी, सा न समस्यते। पुरां भेत्ता। अपां स्रष्टा। यवानां लावकः। कूपस्य खनकः। अत्र 'पुरां' इत्यादिषष्ठ्याः समासो न भवति ॥

जयादित्येनास्मिन् सूत्रे 'कर्त्तृग्रहणं षष्ठीविशेषणम्' इत्युक्तम्। कर्त्तरि या षष्ठी, सा न समस्यत इत्यर्थः कृतः। एतद् महाभाष्यान्महद्विरुद्धमस्ति। कथम्। महाभाष्यकारेणैस्य सूत्रस्य 'पुरां भेत्ता, अपां स्रष्टा, यवानां लावकः' इति

१. ३।४।७६ ॥

२. २।३।६६ ॥

३. अ० २।पा० २।आ० १ ॥

४. "युवोरनाकौ ॥" (७।१।१)

५. अ० २।पा० २।आ० १ ॥ "कर्मणि च ॥"

(२।२।१४) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्याने ॥

६. महाभाष्ये "अपां स्रष्टा। पुरां भेत्ता" इति क्रमभेदः ॥

क्रीण्युदाहरणानि दत्तानि । अत्र सर्वत्र कर्मणि षष्ठी । जयादित्येन तृजन्तस्यो-
दाहरणमपि नोक्तम् । तत्रोक्तं तेन—‘तृच् कर्त्तर्येव विधीयते, तत्प्रयोगे कर्त्तरि
षष्ठी नास्ति । तस्मात् तृच्-ग्रहणमुत्तरार्थम् ।’ इति सर्वमवयमेवोक्तम् ॥ १५ ॥

‘कर्म’ में जो षष्ठी है, वह [‘कर्त्तरि’] कर्त्ता में [‘तृच्-अकार्या’] तृजन्त और
अकान्त सुबन्तों के साथ समास को न प्राप्त हो । पुरां भेत्ता । यवानां लावकः । यहां
‘पुरां’ और ‘यवानां’ इन षष्ठ्यन्त शब्दों का समास नहीं हुआ ॥

काशिकावृत्ति के बनाने वाले जयादित्य पण्डित ने इस सूत्र में “कर्त्तृ-ग्रहण षष्ठी
का विशेषण अर्थम् कर्त्ता में जो षष्ठी है, वह समास न पावे” यह अर्थ किया है । सो यह
महाभाष्य से अत्यन्त विरुद्ध है । महाभाष्यकार ने इस सूत्र के जो उदाहरण दिये हैं, वहां कर्म
में षष्ठी है । और ऐसा उलटा अर्थ करने से जयादित्य को तृजन्त का उदाहरण ही न मिला,
इसलिये उन ने लिखा कि तृच्-ग्रहण उत्तरार्थ है । अर्थात् इस सूत्र का जयादित्य ने कुछ
भी वहीं समझा, फिर अच्छा कहां से लिखते ॥ १५ ॥

कर्त्तरि च ॥ १६ ॥

कचिदेकदेशोऽप्यनुवर्त्तत इत्यक-ग्रहणमनुवर्त्तते । तृच् कर्त्तर्येव भवति, त-
स्मात् कर्त्तरि षष्ठी न भवति । [कर्त्तरि । ७ । १ । च । आ० ।] कर्त्तरि या
षष्ठी, साऽकान्तेन सह न समस्यते । तव शायिका । मम जागरिका । अत्र आवे
खुल । ‘तव, मम’ इति षष्ठ्यन्तस्य समासो न भवति ॥

अत्रापि जयादित्येन विरुद्धमेव व्याख्यानं कृतम् । पूर्वसूत्रस्यार्थोऽत्र कृतः,
अस्य योऽर्थः, स पूर्वसूत्रे कृतः ॥ १६ ॥

यहां पूर्व सूत्र से अक की अनुवृत्ति आती है, तृच् की नहीं । क्योंकि तृच् कर्त्ता ही में
होता है, इससे कर्त्ता में षष्ठी नहीं होती । [‘कर्त्तरि’] कर्त्ता में जो षष्ठी है, वह अकान्त
के साथ समास को न प्राप्त हो । तव शायिका । मम जागरिका । यहां आव में खुल-
अग्रय है, तब कर्त्ता से षष्ठी हुई । ‘तव, मम’ इन षष्ठ्यन्त शब्दों का समास नहीं हुआ ॥

इस सूत्र का भी जयादित्य ने विरुद्ध व्याख्यान किया, अर्थात् पूर्व सूत्र का अर्थ इस सूत्र
में और इस सूत्र का अर्थ पूर्व सूत्र में किया है । यह बड़ा भारी उन का दोष समझा जाता
है ॥ १६ ॥

नित्यं क्रीडाजीविकयोः ॥ १७ ॥

निषेधो निवृत्तः । अक-ग्रहणमनुवर्त्तते । निषेधे तु समासो भवत्येव न ।
अतो विभाषानिवृत्त्यर्थमेव नित्य-ग्रहणम् । क्रीडार्थे जीविकार्थे च षष्ठ्यन्तं सुबन्तं

१. सा०—पृ० २६ ॥

पेधः ।” (अ० २ । पा० २ । आ० १)

२. अक्षराभ्ये—“विधिं विभाषा, नित्यः प्रति-

समर्थसुबन्तेन सह नित्यं समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । क्रीडार्थे—
पुष्पभाञ्जिका^१ । जीविकार्थे—पुस्तकलेखकः । अत्र पुष्प-पुस्तक-पठ्यन्तशब्दयो-
र्नित्यसमासः ॥ १७ ॥

इस सूत्र में नित्य-ग्रहण विकल्प की निवृत्ति के लिये है, क्योंकि निषेध में समास होता ही नहीं । ['क्रीडा-जीविकयोः'] क्रीडा और जीविका अर्थ में पठ्यन्त जो सुबन्त है, वह समर्थ सुबन्त के साथ ['नित्यं'] नित्य समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । क्रीडा—पुष्पभाञ्जिका^१ । यहां क्रीडार्थ में पठ्यन्त पुष्प-शब्द का भाञ्जिका सुबन्त के साथ । जीविका—पुस्तकलेखकः । और यहां जीविकार्थ में पठ्यन्त पुस्तक-शब्द का लेखक सुबन्त के साथ नित्य समास हुआ है ॥

अथ यहां से आगे नित्य समास चलेगा ॥ १७ ॥

कुगतिप्रादयः^२ ॥ १८ ॥

'नित्यम्' इत्यनुवर्त्तते । कु-शब्दोऽच्यय-सञ्ज्ञकः । गति-सञ्ज्ञकाः = ऊर्ग्या-
द्यादयः । प्रादयः = उपसर्गाः । [कु-गति-प्रादयः । १ । ३ ।] कु-गति-प्रादयः
शब्दाः समर्थेन सह नित्यं समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । [कु—]
कुब्राह्मणः । कुवृषलः । कुत्सित इत्यर्थः । गति—ऊर्गकृत्य । उररीकृत्य । अत्र
समासकरणात् क्त्वास्थाने ल्यप् । प्रादि—प्रकृतम् । पराजितम् । अपहृतम् ।
संस्कृतम् । अत्र प्रादीनां नित्यसमासमाश्रित्य पूर्वपदप्रकृतिस्वरौ नित्यं भवति ॥

अथ वार्त्तिकानि—

प्रादिप्रसङ्गे कर्मप्रवचनीयप्रतिषेधः ॥ १ ॥

वृद्धं प्रति विद्योतते विद्युत् । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति ॥^३

अत्र प्रतेः प्रादित्वात् समासः प्राप्तः, स न भवति ॥ १ ॥

स्वती पूजयाम्^४ ॥ २ ॥

मुराजा । अतिराजा ॥^३

भूजनीयो राजेत्यर्थः ॥ २ ॥

दुर्निन्दायाम्^३ ॥ ३ ॥

१. पुष्पाणां मञ्जनेयत्र क्रीडायाम् । "सञ्ज्ञायाम् ॥"

२. सा०—पृ० २६ ॥

(३ । ३ । १०६) इति भावे एबुल् । पुष्पा-
णामिति कर्मणि षष्ठी ॥

चा० श०—“कुप्रादयोऽसुप्विधौ नित्यम् ॥”

(२ । २ । २४)

पवनेव—सहकारभाञ्जिका, अभ्युषखादिका,

३. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥

पुष्पावचायिका ॥

४. २-१० वार्त्तिकानि सौनामकृतानि ॥

दुष्कुलम् । दुर्गवः ॥^१

‘दुर्गवः’ इति नित्यसमासाद् ‘गोरतद्धितलुकि’ ॥^२ इति समासान्तः टच् प्रत्ययः ॥ ३ ॥

आढीषदर्थे ॥ ४ ॥

आकडारः । आपिङ्गलः ॥^१

ईषत्कडारः, ईषत्पिङ्गल इत्यर्थः ॥ ४ ॥

क्रुः पापार्थे ॥ ५ ॥

कुब्राह्मणः । कुवृषलः ॥^१

पापीत्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया ॥ ६ ॥

प्रादीनां गतादिष्वर्थेषु प्रथमया विभक्त्या समासो भवति ॥

प्रगत आचार्यः = प्राचार्यः । ग्रान्तेवासी । प्रपितामहः ॥^१ ६ ॥

अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया ॥^१ ७ ॥

अत्यादयः शब्दाः क्रान्तादिष्वर्थेषु द्वितीयया विभक्त्या नित्यं समस्यन्ते । अतिक्रान्तः खट्वां = अतिखट्वः । अतिमालः । अत्र ‘एकविभक्ति चापूर्वनिष्ठा-
ते’ ॥^२ इति खट्वा-माला-शब्दयोर्नियतद्वितीयाविभक्तित्वादुपसर्जन-सञ्ज्ञा । तस्माद्
‘गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य’ ॥^३ इति ह्रस्वत्वम् ॥ ७ ॥

अवादयः कृष्टाद्यर्थे तृतीयया ॥^१ ८ ॥

कृष्टादिष्वर्थेषु वर्तमाना अवादयः शब्दास्तृतीयया विभक्त्या नित्यं समस्यन्ते । अवक्रुष्टः कोकिलया = अवकोकिलः [वसन्तः] । अत्रापि पूर्ववदुपसर्जन-सञ्ज्ञा-
कार्यम् ॥ ८ ॥

पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ॥^१ ९ ॥

पर्यादयः^२ शब्दा ग्लानादिष्वर्थेषु चतुर्थ्या विभक्त्या सह नित्यं समस्यन्ते ।

परिग्लानोऽध्ययनाय = पर्यध्ययनः ॥^१ ९ ॥

निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या ॥^१ १० ॥

१. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥

४. १ । २ । ४८ ॥

२. ५ । ४ । ६२ ॥

५. न्यासे—“पर्यादिराकृतिगणः ।”

३. २ । ३ । ४४ ॥

क्रान्तादिष्वर्थेषु वर्तमाना निरादयः शब्दाः पठ्यन्त्या विभक्त्या सह सम-
स्यन्ते । निष्क्रान्तः कौशाम्याः = निष्कौशाम्विः । निर्वाणसिः । अत्राप्युपस-
र्जन-सञ्ज्ञा ह्रस्वत्वं च पूर्ववत् ॥ १० ॥

अव्ययं प्रवृद्धादिभिः ॥^१ ११ ॥

प्रवृद्धादिभिः शब्दैः सहाव्ययं नित्यं समस्यते । पुनःप्रवृद्धं वर्हिर्भवति ।
पुनर्गवः^२ । पुनःसुखम् । अत्र 'पुनर्' इत्यव्ययस्य नित्यसमासः ॥ ११ ॥

इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च ॥^३ १२ ॥

'इव' इत्यव्ययशब्देन सह सुवन्तस्य नित्यसमासो भवति, नित्यसमासेऽपि
विभक्तिर्न लुप्यते, पूर्वपदस्य च प्रकृतिस्वरो भवति । वाससीइव । कन्येइव ।
अत्र द्विवचनविभक्त्या लोपो न भवति ॥ १२ ॥

अव्ययमव्ययेन^३ ॥^४ १३ ॥

अव्ययस्याव्ययेनैव नित्यसमासः । प्रग्र यज्ञपातिम्^५ । अत्र 'प्र' इत्यव्ययस्य
प्र-शब्देनैव समासः ॥ १३ ॥

उदात्तवता तिङा गतिमता च तिङाऽव्ययं^६ समस्यत इति वक्त-
व्यम् ॥ १४ ॥

अनुव्यचलत् । अनुव्याकरोत्^७ । यत्परियन्ति^८ ॥^९

'अनुव्यचलत्, अनुव्याकरोत्' इति गतिमता तिङा सह अनु-अव्ययस्य
समासः । 'यत्परियन्ति' इत्युदात्तवता तिङा सह परेरव्ययस्य नित्यसमासः ॥ १४ ॥

द्वितीयवार्तिकमारभ्य दशमपर्यन्तानि सूत्रेण सामान्यविहितस्य विशेषविधा-
यकानि वार्तिकानि सन्ति । अन्यानि तु सूत्रादपूर्वविधायकानि च ॥ १८ ॥

['कु-गति-प्रादयः'] अव्यय-सञ्ज्ञक कु-शब्दः, गति-सञ्ज्ञक और प्रादि, ये सब
समर्थ शब्द के साथ नित्य समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । कु-

१. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥

तै०—१ । ३ । ४ । १ ॥

२. महाभाष्यकोशेषु पाठान्तरम्—पुनर्गवम् ॥

मे०—१ । २ । १३ ॥

३. केपुचिन्महाभाष्यकोशेषु "अव्ययमव्ययेन ॥"

का०—३ । १, २ ॥

इति वार्तिकं तद्व्याख्यानं च नोपलभ्यते ॥

५. पाठान्तरम्—गतिमता चाव्ययं ॥

४. अ०—७ । २६ । ३ ॥

६. पाठान्तरे—अनुव्याकरोति, अनुप्राविशत् ॥

वा०—५ । ३८, ४१ ॥

७. दृश्यताम्—"निपातैर्यद्यदिहन्त ॥"

वा० (कावशाखायां)—२ । ६ । ८ ॥

(८ । १ । ३०)

कुब्राह्मणः । कुवृषलः । यहाँ कु-अव्यय का समास ब्राह्मण- और वृषल-शब्द के साथ हुआ । गति—ऊरीकृत्य । उररीकृत्य । यहाँ गति-सञ्ज्ञक उरी- और उररी-शब्द का समास होने से क्त्वा के स्थान में स्यप् हुआ । प्रादि—प्रकृतम् । पराजितम् । और यहाँ प्र और परा उपसर्ग का समास होने से पूर्व पद को नित्य प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥

आगे वार्तिकों का अर्थ किया जाता है—

‘प्रादिप्रसङ्गे कर्मप्रवचनीयप्रतिषेधः ॥’ सूत्र से जो प्रादिकों का समास कहा है, वहाँ कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञक प्रादिकों का समास न हो । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति । यहाँ प्रति-शब्द का समास नहीं हुआ ॥ १ ॥

‘स्वती पूजायाम् ॥’ पूजा अर्थ में वर्तमान सु-अति-शब्द सुबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त हों । सुराजा । अतिराजा । राजा पूज्य है । यहाँ सु और अति का समास राजा-शब्द के साथ हुआ ॥ २ ॥

‘दुर्निन्दायाम् ॥’ दुर् शब्द निन्दा अर्थ में समास को प्राप्त हो । दुष्कुलम् । निन्दित कुल है । यहाँ दुर्-शब्द का समास कुल के साथ हुआ ॥ ३ ॥

‘आड्डीषदर्थे ॥’ ईषत् अर्थात् थोड़े का वाची आड्-शब्द समास को प्राप्त हो । आक-डारः । यहाँ ईषदर्थ में आड्-शब्द का समास हुआ ॥ ४ ॥

‘कुः पापार्थे ॥’ कु-शब्द पाप अर्थ में समास को प्राप्त हो । कुब्राह्मणः । पापी ब्राह्मण है ॥ ५ ॥

‘प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया ॥’ प्रादि जो शब्द हैं, वे गत आदि अर्थों में प्रथमा विभक्ति के साथ समास को प्राप्त हों । प्रगत आचार्यः = प्राचार्यः । यहाँ गत अर्थ में प्र-शब्द का समास हुआ ॥ ६ ॥

‘अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया ॥’ अति आदि जो शब्द हैं, वे क्रान्त आदि अर्थों में द्वितीया विभक्ति के साथ समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष कहावे । अतिखट्वः । यहाँ खट्वा-शब्द की नियत विभक्ति के होने से उपसर्जन-सञ्ज्ञा हुई । उस के होने से खट्वा-शब्द को ह्रस्व हो गया ॥ ७ ॥

‘अवादयः कृष्णाद्यर्थे तृतीयया ॥’ अवादि जो शब्द हैं, वे कृष्णादि अर्थों में तृतीया विभक्ति के साथ नित्य समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । अवकुष्टः कोकिल्या = अवकोकिलः । यहाँ पूर्व के तुल्य उ[पसर्जन-]सञ्ज्ञा होके ह्रस्व हुआ है ॥ ८ ॥

‘पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ॥’ परि आदि शब्द ग्लान[आदि] अर्थों में चतुर्थी विभक्ति के साथ समास पावें । परिग्लानोऽध्ययनाय = पर्यध्ययनः । यहाँ अध्ययन-शब्द के साथ परि का समास हुआ है ॥ ९ ॥

‘निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या ॥’ निर् आदि शब्द क्रान्त आदि अर्थों में नित्य समास को प्राप्त हों । निष्कौशाम्बिः । यहाँ निर्-शब्द का कौशाम्बी-शब्द के साथ समास हुआ, और पूर्व के तुल्य उपसर्जन-सञ्ज्ञा होके ह्रस्व भी हुआ है ॥ १० ॥

‘अव्ययं प्रवृद्धादिभिः ॥’ प्रवृद्ध आदि शब्दों के साथ अव्यय समास पावे । पुनर्गवः । यहाँ अव्यय का नित्य समास होने से गौ-शब्द से समासान्त टच्-प्रत्यय हुआ है ॥ ११ ॥

‘इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च ॥’ इव जो अव्यय है, उस के साथ नित्य समास हो, और विभक्ति का लोप न हो, तथा पूर्व पद को प्रकृतिस्वर हो जावे। वास्त-सिद्धि। यहां पूर्वोक्त सब कार्य हुए हैं ॥ १२ ॥

‘अव्ययमव्ययेन ॥’ अव्यय जो है, वह अव्यय के साथ नित्य समास को प्राप्त हो। ‘प्रप्र यज्ञपतिम्’। यहां प्र अव्यय का प्र के साथ समास हुआ है ॥ १३ ॥

‘उदात्तवता तिङा गतिमता च तिङाऽव्ययं समस्यत इति वक्तव्यम् ॥’ उदात्त वाले और गतियुक्त तिङन्त के साथ अव्यय नित्य समास को प्राप्त हो। यत्परियन्ति। यहां परि-शब्द का उदात्तवान् तिङन्त के साथ। अनुव्यचलत्। और यहां गतियुक्त तिङन्त के साथ अनु अव्यय का समास हुआ है ॥ १४ ॥

द्वितीय वार्तिक से लेके दशमपर्यन्त जो वार्तिक हैं, वे सूत्र से सामान्य समासविधान के विशेष विधान करने वाले हैं, और अन्य वार्तिक सूत्र से पृथक् विधान करने वाले हैं ॥ १८ ॥

उपपदमतिङ् ॥ १९ ॥

‘नित्यम्’ इत्यनुवर्त्तते। उपपदम् । १ । १ । अतिङ् । १ । १ । अति-
ङन्तमुपपदं समर्थेन सह नित्यं समस्यते। तत्पुरुषश्च समासो भवति। कुम्भं
करोतीति कुम्भकारः। गोदः। कम्बलदः। अत्र कुम्भादिकर्मण उपपदस्य नित्य-
समासो भवति ॥

‘अतिङ्’ इति किमर्थम्। कारको व्रजति। हारको व्रजति ॥^३

अत्र तिङन्तस्य समासो न भवति ॥ १६ ॥

[‘अतिङ्’] तिङ्भिन्न जो [‘उपपदं’] उपपद सुबन्त है, वह समर्थ शब्द के साथ नित्य समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-सङ्गक हो। कुम्भकारः। गोदः। कम्ब-
लदः। यहां कुम्भ आदि उपपद शब्दों का नित्य समास हुआ है ॥

अतिङ्-ग्रहण इसलिये है कि ‘कारको व्रजति’ यहां उपपद तिङन्त समास को न प्राप्त हो ॥ १६ ॥

अमैवाव्ययेन ॥ २० ॥

पूर्वेण सिद्धे पुनरारम्भो नियमार्थः। उपपदस्याव्ययेन समासो भवेत् चेत्,
तर्हि अमा एव अव्ययेन स्यात् नान्येन। निमूलकापं कषति। समूलकापं कषति।
अत्र निमूल-समूल-शब्दयोः ‘कापं’ इत्यमन्तेन सह नित्यसमासः ॥

‘अमैव’ इति किमर्थम्। कालो गन्तुम्। समयः पठितुम्। अत्र तुमुनन्ता-

१. देखो पृ० २४७ टिप्पण ४ ॥

२. सा०—पृ० ३० ॥

३. अ० २।१।१० २। आ० १ ॥

४. सा०—पृ० ३१ ॥

[यत्वम् ॥

५. “कुम्भेजन्तः ॥” (१।१।३८) इत्यव्य-

६. “कालसमयवेलास्तु तुमुन् ॥” (१।३।१६७)

व्ययेन सह समासो न भवति । अमैव तुल्येन यत्र केवलस्यामन्ताव्ययस्य विधानं, तत्रैव यथा स्यात् । यत्रामन्तस्यान्यप्रत्ययस्य [च तुल्य] विधानं, तत्र समा[सो] [मा] भूत् । अग्रे भुक्त्वा । अग्रे भोजम् । अत्र क्त्वा-णमुलौ सह विधीयेते^१ ॥२०॥

पूर्व सूत्र से उपपद समास सिद्ध है । फिर इस सूत्र का आरम्भ नियमार्थ है । उपपद का अव्यय के साथ जो समास हो, तो ['अमा'] अमन्त ['अव्ययेन एव'] अव्यय के ही साथ हो, अन्य के नहीं । शुष्कपेवं पिनष्टि । चूर्णपेवं पिनष्टि । यहाँ शुष्क और चूर्ण उपपदों का 'पेवं' इस अमन्त अव्यय के साथ समास है ॥

'अमैव' ग्रहण इसलिये है कि 'समय उत्थातुम्' यहाँ तुमुन्-प्रत्ययान्त अव्यय के साथ समास नहीं हुआ । जहाँ केवल अमन्त अव्यय का विधान हो, वहीं समास हो । अग्रे भोजम् । अग्रे भुक्त्वा । यहाँ एक सूत्र में क्त्वा और णमुल् दो प्रत्ययों का विधान है । इससे 'अग्रे' इस उपपद का 'भोजं' इस अमन्त के साथ समास नहीं हुआ ॥ २० ॥

तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्^२ ॥ २१ ॥

'उपपदं' इत्यनुवर्त्तते, 'अमैव' इति च । तृतीयाप्रभृतीनि । १ । ३ । अन्य-तरस्याम् । अ० । 'उपदंशस्तृतीयायाम्^३ ॥' इति सूत्रादग्रे यान्युपपदानि, तानि तृतीयाप्रभृतीन्युपपदान्यमन्तेनैवाव्ययेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । मूलकोपदंशं भुङ्क्ते । मूलकेनोपदंशं^३ भुङ्क्ते । यष्टिग्राहं, यष्टि ग्राहं^४ वा युध्यन्ते । अत्र मूलकोपपदस्यामन्तेन सह विकल्पेन समासः ॥

'अमैव' इति किम् । समर्थो भोक्तुम् । अत्र तुमुन्-प्रत्ययान्तेन सह समासो न भवति ॥ २१ ॥

['तृतीयाप्रभृतीनि'] तृतीया प्रभृति जो उपपद हैं, वे अमन्त ही अव्यय के साथ ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सम्ज्ञक हो । मूलकोपदंशं भुङ्क्ते । मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते । यहाँ मूलक उपपद का अमन्त अव्यय के साथ विकल्प करके समास हुआ है ॥

'अमैव' ग्रहण इसलिये है कि 'समर्थो भोक्तुं' यहाँ तुमुन्-प्रत्ययान्त के साथ समर्थ उपपद का विकल्प करके समास नहीं हुआ ॥ २१ ॥

क्त्वा च^३ ॥ २२ ॥

पूर्वसूत्रे 'अमैव' इत्यनुवर्त्तनादन्यत्र समासो न प्राप्तः । तदर्थोऽयमारम्भः । पूर्व सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । तृतीयाप्रभृतीन्युपपदानि क्त्वा-प्रत्ययान्तेनाव्ययेन सह

१. "विभाषाग्रेप्रथमपूर्वेषु ॥" (३।४।२४) ३. ३।४।४७ ॥

२. सा०—पृ० ३१ ॥

४. "द्वितीयायां च ॥" (३।४।५३)

[Faint, illegible handwritten text in Devanagari script, likely bleed-through from the reverse side of the page.]

Handwritten text in Devanagari script, likely bleed-through from the reverse side of the page. The text is arranged in several vertical columns. A faint rectangular border is visible on the left side, enclosing a portion of the text.

विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । उच्चैःकृत्य । उच्चैः कृत्वा । समासपक्षे ल्यप् ॥

‘तृतीयाप्रभृतीनि’ इति किम् । अतं भुक्त्वा । खलूक्त्वा । अत्र समासामावा-
ल्ल्यपि न भवति ॥ २२ ॥

इति तत्पुरुषसमासाधिकारः सम्पूर्णः ॥

पूर्व सूत्र में अमन्त की अनुवृत्ति आने से अन्यत्र समास नहीं पाता था, इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है । तृतीया प्रभृति जो उपपद हैं, वे [‘क्त्वा’] क्त्वा-प्रत्ययान्त अभ्यय के साथ विकल्प करके समास पावें । वह समास तत्पुरुष-सम्बन्धक हो । उच्चैःकृत्य । उच्चैः कृत्वा । यहां जिस पक्ष में समास होता है, वहां क्त्वा के स्थान में ल्यप्-आदेश हो जाता है ॥

तृतीयाप्रभृति-ग्रहण इसलिये है कि ‘खलूक्त्वा’ यहां समास के न होने से ल्यप् न हुआ ॥ २२ ॥

यह तत्पुरुष समास का अधिकार पूरा हुआ ॥

अब आगे बहुव्रीहि समास का अधिकार चलेगा—

[अथ बहुव्रीहिसमासाधिकारः]

शेषो बहुव्रीहिः ॥ २३ ॥

यस्या विभक्तेः समासो नोक्तः, स शेषः^१ । शेषः । १ । १ । बहुव्रीहिः ।
[१ । १ ।] शेषः समासो बहुव्रीहि-सम्बन्धो भवति । अधिकारसूत्रं चेदम् ।
अतोऽपि यः समासो भविष्यति, बहुव्रीहि-सम्बन्धो तस्य विज्ञेया ॥ २३ ॥

जिस प्रथमा विभक्ति का समास पूर्व नहीं कहा, वह शेष कहाता है । [‘शेषः’] शेष जो समास है, वह [‘बहुव्रीहिः’] बहुव्रीहि-सम्बन्धक हो । यहां से आगे जो समास कहेंगे, उस की बहुव्रीहि-संज्ञा होगी । इससे यह अधिकार सूत्र समझना चाहिये ॥ २३ ॥

अनेकमन्यपदार्थे^३ ॥ २४ ॥

बहुव्रीहि-ग्रहणमनुवर्त्तते । अनेकम् । १ । १ । अन्यपदार्थे । ७ । १ ।
अन्यपदार्थे वर्त्तमानमनेकं सुबन्तं परस्परं समस्यते । स समासो बहुव्रीहि-सम्बन्धो भवति । चित्रा गावो यस्य, स चित्रगुः । शबलगुः । उद्धृत ओदनः स्थाल्याः =

१. सा०—पृ० ३१ ॥

चानुक्तः । प्रथमायाः ॥”

२. महामाष्ये (अ० २ । पा० २ । आ० १) —

३. सा०—पृ० ३१ ॥

“यस्य त्रिकस्यानुक्तः समासः स शेषः । कस्य

चा० १०—“अनेकमन्यपदार्थे ॥” (२ । २ । ४६)

उद्धृतौदना स्थाली । वीराः पुरुषा यस्मिन्नगरे = वीरपुरुषकं नगरम् । अत्र बहुव्रीहि-सञ्ज्ञत्वात् कप् भवति ॥

अनेक-ग्रहणं किमर्थम् । त्रिप्रभृतीनामपि पदानां बहुव्रीहिर्यथा स्यात् । 'तुल्या-
स्यप्रयत्नं = तुल्य आस्ये प्रयत्न एषाम्' इति त्रिपदबहुव्रीहिः सिद्धो भवति ॥

वा०—बहुव्रीहिः समानाधिकरणानाम् ॥ १ ॥

किं प्रयोजनम् । व्यधिकरणानां मा भूत् । पञ्चभिर्भुक्तमस्य ॥^२

अत्र विभक्तिभेदात् सामानाधिकरण्यं नास्ति, अतः समासो न भवति ॥ १ ॥

अव्ययानां च ॥ २ ॥

उच्चैर्मुखमस्येति उच्चैर्मुखः^३ । नीचैर्मुखः ॥^३

'उच्चैः, नीचैः' इत्यव्यययोरधिकरणप्रधानत्वात् सामानाधिकरण्यं नास्ति,
तदर्थमिदमुक्तम् ॥ २ ॥

सप्तस्युपमानपूर्व[पद]स्योत्तरपदलोपश्च ॥^३ ३ ॥

सप्तमीपूर्वस्योपमानपूर्वस्य च यः समासो भवति, तत्रोत्तरपदस्य लोपो
विज्ञेयः । सप्तमीपूर्वस्य—कण्ठस्थः कालोऽस्य = कण्ठेकालः । उपमानपूर्वस्य—
उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य = उष्ट्रमुखः । खरमुखः । उत्तरपदलोपार्थमिदम् ॥ ३ ॥

समुदायविकारषष्ठ्याश्च ॥^३ ४ ॥

चकारादुत्तरपदलोपस्यानुवृत्तिः । समुदायावयवसम्बन्धे प्रकृतिविकारसम्बन्धे
च या षष्ठी तदन्तात् परं यत् पदं, त[दन्त]स्यान्यशब्देन सह बहुव्रीहिर्भवति । उत्तर-
पदस्य च लोपः । केशसंमाहारश्चूडा अस्य = केशचूडः । अत्र समाहार-उत्तरपदस्य
लोपः । सुवर्णविकारोऽलङ्कारोऽस्य = सुवर्णालङ्कारः । अत्र विकार-उत्तरपदस्य
लोपः ॥ ४ ॥

प्रादिभ्यो धातुजस्य वा ॥^२ ५ ॥

वा-ग्रहणमुत्तरपदलोपार्थम् । प्राद्युपसर्गेभ्यः परं धातुजं यत् पदं, तस्योत्तर-
पदस्य विकल्पेन लोपो भवति । बहुव्रीहिर्नित्यं भवति । प्रपतिताः पर्णा अस्य
= प्रपतितपर्णाः, = प्रपर्णाः । प्रपतितपलाशः, प्रपलाशः । उत्तरपदलोपविकल्पेन
रूपद्वयं सिद्धं भवति ॥ ५ ॥

१. यद्वाभाष्ये—अ० १ । पा० १ । आ० ४ ॥

२. आ० २ । पा० २ । आ० २ ॥

३. केषुचिन्महाभाष्यकोशेषु "उच्चैर्मुखमस्येति" इति
नास्ति ॥

नञोऽस्त्यर्थानां च ॥^१ ६ ॥

चकारेण वा-ग्रहणमुत्तरपदलोपश्चानुवर्त्तते । नञः परेषामस्त्यर्थानामुत्तरपदानां विकल्पेन लोपो भवति । बहुव्रीहिश्च नित्यमेव । अविद्यमानः पुत्रोऽस्य = अविद्यमानपुत्रः, = अपुत्रः । अवि[द्य]मानभार्यः, अभार्यः । अत्र विद्यमान-उत्तरपदस्य विकल्पेन लोपो भवति ॥ ६ ॥

सुबधिकारेऽस्तिक्षीरादीनामुपसङ्ख्यानम् ॥^२ ७ ॥

अस्ति क्षीरमस्याः = अस्तिक्षीरा ब्राह्मणी । अस्ति-शब्दस्य तिङन्तत्वात् प्राप्तम् ॥ [७ ॥] २४ ॥

['अन्यपदार्थे'] अन्य पदार्थ में वर्तमान ['अनेकम्'] अनेक जो सुबन्त हैं, वे परस्पर समास को प्राप्त हों । वह समास बहुव्रीहि-सम्बन्धक हो । वीराः पुरुषा अस्मिन् ग्रामे = वीरपुरुषको ग्रामः । यहां वीर- और पुरुष-शब्द का परस्पर बहुव्रीहि समास हुआ है, और अन्य पदार्थ ग्राम है । अर्थात् वीर और पुरुष दोनों शब्द मिलके ग्राम के वाची हो जाते हैं । यहां बहुव्रीहि समास के होने से समासान्त कप्-प्रत्यय हुआ है ॥

अनेक-ग्रहण इसलिये है कि तीन पद आदि का भी बहुव्रीहि समास हो जावे । तुल्यास्ये प्रयत्न एषां, तत् तुल्यास्यप्रयत्नम् । यहां तीन पदों का बहुव्रीहि हुआ है ॥

अब वार्तिकों का अर्थ किया जाता है—

“बहुव्रीहिः समानाधिकरणानाम् ॥” समानाधिकरण शब्दों का बहुव्रीहि समास होना चाहिये । इससे ‘पञ्चभिर्भुक्तमस्य’ यहां विभक्तिभेद होने से समास नहीं हुआ ॥ १ ॥

“अव्ययानां च ॥” अव्ययों का अन्य शब्दों के साथ बहुव्रीहि समास हो । उच्चैर्मुख-स्य = उच्चैर्मुखः । यहां उच्चैस् अव्यय के अधिकरणप्रधान होने से सामानाधिकरण्य नहीं, इससे समास नहीं पाता है । इसलिये यह वार्तिक कहा ॥ २ ॥

“सप्तम्युपमानपूर्व[पद]स्योत्तरपदलोपश्च ॥” सप्तमी विभक्ति जिस के पूर्व और उपमानवाची शब्द जिस के पूर्व हो, उस पद का समास अन्य पद के साथ हो, और उत्तर पद का लोप हो जावे । कण्ठस्थः कालोऽस्य = कण्ठेकालः । यहां सप्तमीपूर्वक स्थ उत्तर पद का लोप हुआ । उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य = उष्ट्रमुखः । यहां एक मुख- और इव-शब्द का लोप हुआ है ॥ ३ ॥

“समुदायविकारषष्ठ्याश्च ॥” समुदाय-अवयव के सम्बन्ध में जो षष्ठी और प्रकृति-विकार के सम्बन्ध में जो षष्ठी, उस से परे जो उत्तर पद, उस का लोप और अन्य शब्दों के साथ समास होता है । केशसमाहारश्चूडा अस्य = केशचूडः । यहां समाहार उत्तर पद

१. पाठान्तरम्—नञोऽस्त्यर्थानाम् ॥

३. पाठान्तरम्—०क्षीरेत्युपसङ्ख्यानम् ॥

२. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥

४. महाभाष्य में—अ० २ । पा० २ । आ० ३ ॥

का लोप । सुवर्णविकारोऽलङ्कारोऽस्य = सुवर्णालङ्कारः । और यहां विकार उत्तर पद का लोप हुआ है ॥ ४ ॥

‘प्रादिभ्यो घातुजस्य वा ॥’ प्रादि उपसर्गों से पर जो घातुज उत्तर पद, उस का विकल्प करके लोप और नित्य [बहुव्रीहि] समास हो । प्रपतिताः पर्णा अस्य = प्रपतितपर्णाः, = प्रपर्णाः । यहां उत्तर पद लोप के विकल्प से दो उदाहरण बनते हैं ॥ ५ ॥

‘नञोऽस्त्यर्थानां च ॥’ नञ् से परे जो अस्त्यर्थ उत्तर पद, उन का विकल्प करके लोप और नित्य [बहुव्रीहि] समास हो । अविद्यमानः पुत्रोऽस्य = अविद्यमानपुत्रः, = अपुत्रः । यहां विद्यमान उत्तर पद का विकल्प करके लोप हुआ है ॥ ६ ॥

सुबधिकारेऽस्तिचीरादीनामुपसङ्ख्यानम् ॥’ इस [सुबन्तों के] समास [के] अधिकार में अस्तिचीरा आदि शब्दों का भी समास हो । अस्तिचीरा ब्राह्मणी । यहां अस्ति-शब्द क्रियावाची तिष्ठन्त है । इससे समास नहीं पाता था, क्योंकि सुबन्तों का समास सुबन्तों के साथ होता है । इसलिये यह धार्तिक है ॥ [७ ॥] २४ ॥

सङ्ख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः सङ्ख्येये ॥ २५ ॥

सङ्ख्यया । ३ । १ । अव्यय-आसन्न-अदूर-अधिक-सङ्ख्याः । १ । ३ ।
सङ्ख्येये । ७ । १ ॥

मत्वर्थे पूर्वो योगः । अमत्वर्थोऽयमारम्भः ॥^१

‘अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक, सङ्ख्या’ इत्येते शब्दाः सङ्ख्येये = गणनीयेऽर्थे वर्तमानया सङ्ख्यया सह समस्यन्ते । [बहुव्रीहिः स समासो भवति ।] अव्यय— दशानां समीपः = उपदशाः । आसन्न— आसन्नदशाः । आसन्नविंशाः । अदूर— अदूरदशाः । अधिक— अधिकदशाः । सङ्ख्या— द्वित्राः । त्रिचतुराः । द्विदशाः । अत्राव्ययादीनां सङ्ख्यावाचिभिः सह समासः । बहुव्रीहिसमासाद् ‘बहुव्रीहौ सङ्ख्येये ङजबहुगणात्’ ॥ इति समासान्तो ङच्-प्रत्ययः ॥

‘सङ्ख्यया’ इति किम् । पञ्च शूराः । अत्र समासो न भवति ॥

‘सङ्ख्येये’ इति किम् । अधिका विंशतिः ॥ २५ ॥

पूर्व सूत्र से जो समास होता है, वह मत्वर्थ में समझना चाहिये, और यहां मत्वर्थ नहीं, इसलिये पृथक् सूत्र किया है । [‘अव्यया०’] अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक, संख्या, ये जो शब्द हैं, वे [‘सङ्ख्येये’] गणना करने अर्थ में वर्तमान जो [‘सङ्ख्यया’] सङ्ख्या है, उस के साथ समास को प्राप्त हों । वह समास बहुव्रीहि-सम्बन्धक हो । अव्यय— उपदशाः । यहां उप-

अव्यय का समास दश संख्या के साथ । आसन्न—आसन्नदशाः । यहां आसन्न-शब्द का समास । अवूर—अवूरदशाः । यहां अवूर-शब्द का समास । अधिक—अधिकदशाः । यहां अधिक-शब्द का समास । संख्या—द्विदशाः । और यहां संख्यावाची द्वि-शब्द का समास संख्यावाची दश-शब्द के साथ हुआ है । इन सब शब्दों का बहुव्रीहि समास होने से समासान्त इच्-प्रत्यय हुआ है ॥ २५ ॥

दिङ्नामान्यन्तराले' ॥ २६ ॥

दिङ्नामानि । १ । ३ । अन्तराले । ७ । १ । दिशां नामानि = दिङ्नामानि । अन्तराले वाच्ये दिङ्नामवाचीनि सुबन्तानि परस्परं समस्यन्ते । बहुव्रीहिः स समासो भवति । उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्चान्तराला दिग् = उत्तरपूर्वा । पूर्वदक्षिणा । दक्षिणपश्चिमा । पश्चिमोत्तरा । अत्रान्तरालायाः प्रदिशो वाची समासार्थो भवति ॥

वा०—सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावो वक्तव्यः ॥^१

वृत्तिमात्रे = समासमात्रे पूर्वपदस्य सर्वनाम्नः पुंवद्भाव इत्यर्थः ॥ २६ ॥

['दिङ्नामानि'] दिशाओं के नामवाची जो शब्द, वे ['अन्तराले'] अन्तराल अर्थ में परस्पर समास को प्राप्त हों । वह समास बहुव्रीहिसंज्ञक हो । उत्तरपूर्वा दिक् । उत्तर और पूर्व के बीच में जो दिशा है, उस को उत्तरपूर्वा कहते हैं । समासार्थे उपदिशा का वाची होता है ॥

• 'सर्वनाम्नो' समासमात्र में सर्वनामवाची पूर्व पद को पुंवद्भाव हो जावे । उत्तरपूर्वा । यहां उत्तर-शब्द को पुंवद् हुआ है । यह इस वार्तिक का प्रयोजन है ॥ २६ ॥

तत्र तेनेदमिति सरूपे' ॥ २७ ॥

तत्र । अ० । तेन । ३ । १ । इदम् । १ । १ । इति । अ० । सरूपे । १ । २ । 'तत्र' इति सप्तम्यन्तम् । 'तेन' इति तृतीयान्तम् । इदं-शब्दाद् इतिकरणः प्रयुज्यमानोऽन्यं कर्मव्यतिहारार्थं प्रत्याययति । सरूपे = समानरूपे द्वे पदे । 'तत्र' इति सप्तम्यन्ते सरूपे द्वे पदे 'तेन' इति तृतीयान्ते सरूपे द्वे पदे 'इदं' इति कर्मव्यतिहारेऽर्थे परस्परं समस्येते । बहुव्रीहिः स समासो भवति । हस्तेषु हस्तेषु गृहीत्वेदं युद्धं प्रवर्त्तते = हस्ताहस्ति । केशेषु केशेषु = केशाकेशि । दन्तैश्च दन्तैश्च = दन्तादन्ति । मुष्टामुष्टि । नखानखि । दण्डादण्डि इत्यादिशब्देषु बहुव्रीहिसमासकरणाद् 'इच् कर्मव्यतिहारे' ॥' इति सूत्रेण समासान्त इच्-प्रत्ययः ।

१. सा०—पृ० ३३ ॥

२. अ० १ । पा० २ । आ० २ ॥

३. सा०—पृ० ३३ ॥

चा० श०—'तत्र गृहीत्वा तेन प्रवृत्त्य युद्धे सरूपम् ॥' (२ । २ । ४७)

४. ५ । ४ । १२७ ॥

तिष्ठद्गुप्रभृतित्वादिजन्तस्याव्यय-सञ्ज्ञा' । 'अन्येषामपि दृश्यते' ॥' इति पूर्वपद-
स्य दीर्घत्वम् ॥

सरूप-ग्रहणं किमर्थम् । दण्डैर्मुसलैश्चेदं युद्धं प्रवृत्तम् । अत्र दण्डमुसलयो
रूपभेदात् समासो न भवति ॥ २७ ॥

['तत्र'] तत्र नाम सप्तम्यन्त और ['तेन'] तेन नाम तृतीयान्त ['सरूपे'] तुल्य
रूप वाले जो दो २ पद हैं, वे ['इदम्'] इदं अर्थात् कर्मव्यतिहार अर्थ में परस्पर समास
को प्राप्त हों । वह समास बहुव्रीहिसञ्ज्ञक हो । केशेषु केशेषु = केशाकेशि । यहां सप्तम्यन्त
दो केश-शब्दों का समास । दण्डैश्च दण्डैश्च = दण्डादण्डि । और यहां तृतीयान्त
दो दण्ड-शब्दों का परस्पर बहुव्रीहिसमास हुआ है । इत्यादि शब्दों में बहुव्रीहि समास के होने
से कर्मव्यतिहार अर्थ में समासान्त इच्-प्रत्यय^३ होता है । और इच्-प्रत्ययान्त जो शब्द हैं, वे
तिष्ठद्गुप्रभृतिगण में होने से अव्यय-सञ्ज्ञक हो जाते हैं । तथा 'अन्येषामपि दृश्यते' ॥'
इस सूत्र से यहां पूर्व पद को दीर्घ होता है ॥

सरूप-ग्रहण इसलिये है कि 'दण्डैश्च मुसलैश्चेदं युद्धं प्रवृत्तम्' दण्ड-और मुसल-
शब्द स्वरूपभिन्न होने से समास नहीं हुआ ॥ २७ ॥

तेन सहेति तुल्ययोगे' ॥ २८ ॥

तेन । ३ । १ । सह । अ० । इति । अ० । तुल्ययोगे । ७ । १ । सह - सम्बन्धि-
पदस्य 'तेन' इति तृतीयान्तस्य चैकस्यां क्रियायां योगः = तुल्ययोगः, तस्मिन् ।
[तुल्ययोगे] 'सह' इत्यव्ययपदं 'तेन' इति तृतीयान्तेन पदेन सह समस्यते । बहुव्रीहिः
स समासो भवति । शिष्येण सहागतः = सशिष्यः । पुत्रेण सहागतः = सपुत्रः ।
अत्रागमनक्रियायां द्वयोस्तुल्ययोगः । अत्र 'वोपसर्जनस्य' ॥' इति सह-शब्दस्य
सकारादेशः । अत्र शिष्य-पुत्र-शब्दाभ्यां सह-शब्दस्य समासः ॥

'तुल्ययोगे' इति किम् । त्रिभिः पुत्रैः सह कार्याणि करोति । त्रिभिर्विद्यमा-
नैः कार्याण्येक एव करोति [इत्यर्थः ।] अत्र क्रियायां तुल्ययोगाभावात् समासो
न भवति ॥ २८ ॥

[इति बहुव्रीहिसमासाधिकारः ॥]

तुल्ययोग उस को कहते हैं कि एक क्रिया में योग होना । ['सह'] सह जो अव्यय है,
वह ['तेन'] तृतीयान्त सुबन्त के साथ ['तुल्ययोगे'] तुल्ययोग अर्थ में] समास को प्राप्त

१. २ । १ । १६ ॥

२. ६ । ३ । १३७ ॥

३. ५ । ४ । १२७ ॥

४. सा०—पृ० ३४ ॥

महामाष्य इदं सूत्रं "दिङ्नामान्यन्तराले ॥"

(२।२।२६) "तत्र तेनेदमिति सरूपे ॥" (२।२।२७)

इत्यनयोर्मध्य उपलभ्यते ॥

५. ६ । ३ । ८२ ॥

हो । वह समास बहुव्रीहि-सम्बन्धक हो । शिष्येण सहागतः = सशिष्यः । यहां सह-शब्द का शिष्य-शब्द के साथ बहुव्रीहि समास हुआ है । समास होने से सह-शब्द को स-आदेश हो गया ॥

तुल्ययोग-ग्रहण इसलिये है कि 'त्रिभिः पुत्रैः सह प्रवर्त्तते' यहां तुल्ययोग के न होने से पुत्र-शब्द के साथ सह-शब्द का समास नहीं हुआ ॥ २८ ॥

[यह बहुव्रीहि समास का अधिकार पूरा हुआ ॥]

[अथ द्वन्द्व-संज्ञासूत्रम्]

चार्थे द्वन्द्वः ॥ २६ ॥

'अनेकम्' इत्यनुवर्त्तते । चार्थे । ७ । १ । द्वन्द्वः । १ । १ ॥

भा०—चेन कृतोऽर्थः चार्थ इति । क्रः पुनश्चेन कृतोऽर्थः । समुच्चयः, अन्वाचयः, इतरेतरयोगः, समाहार इति । समुच्चये^१—'प्लक्षश्च' इत्युक्ते गम्यत एतद् 'न्यग्रोधश्च' इति । तथा 'न्यग्रोधश्च' इत्युक्ते गम्यत एतत् 'प्लक्षश्च' इति^२ । अन्वाचये^३—'प्लक्षश्च' इत्युक्ते गम्यत एतत्—सापेक्षोऽयं प्रयुज्यते [इति] । इतरेतरयोगे^४—'प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च' इत्युक्ते गम्यत एतत् 'प्लक्षोऽपि न्यग्रोधसहायो न्यग्रोधोऽपि प्लक्षसहायः' इति । (समाहारे—'प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च' इत्युक्ते)^५ समाहारेऽपि क्रियते 'प्लक्षन्यग्रोधम्' इति । तत्रायमप्यर्थः—द्वन्द्वैकवद्भावो न पठितव्यो भवति । समाहारैकत्वाद् [एव] सिद्धम् ॥^६

चार्थाश्चत्वारः, तत्र समुच्चय-अन्वाचययोरन्यपदस्याध्या[हा]रात् समासो न भवति । चार्थे वर्तमानमनेकं सुबन्तं परस्परं समस्यते । स समासो द्वन्द्व-संज्ञो भवति । इतरेतरयोगे—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च = प्लक्षन्यग्रोधौ । परस्परं सहाया-

१. सा०—पृ० ४३ ॥

भा० रा०—'चार्थे ॥' (२ । २ । ४८)

२. पाठान्तरम्—समुच्चयः ॥ [नास्ति ॥

केपुचिन्महाभाष्यकोशेषु—'तथा ... इति' इति

पाठान्तरम्—अन्वाचयः ॥

३. पाठान्तरम्—इतरेतरयोगः ॥

४. कोष्ठान्तर्गतः पाठः केषुचिदपि महाभाष्यकोशेषु नोपलभ्यते ॥

५. पाठान्तरम्—समाहारस्यैकं ॥

६. कोशेऽत्र 'आ० २ [व्या०]' इत्युद्धरणस्थलम् ॥

वित्यर्थः । समाहारे—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च = प्लक्षन्यग्रोधम् । समाहार एकत्वं भवति । ‘द्वन्द्वैकवद्भावः’ अर्थात् ‘सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति’ ॥ इति परिभाषा न कर्त्तव्या भवति । समाहारस्य द्वन्द्वसमासादेकत्वं भविष्यत्येव ॥ २६ ॥

चकार के चार अर्थ हैं—[१] समुच्चय, [२] अन्वाचय, [३] इतरेतरयोग और [४] समाहार । इन में से समुच्चय और अन्वाचय अर्थ में सापेक्ष पद के होने से एक पद का समास नहीं होता । [‘चार्थे’] चकार के अर्थ में वर्तमान जो अनेक सुबन्त हैं, वे परस्पर समास को प्राप्त हों । वह समास [‘द्वन्द्वः’] द्वन्द्व-सञ्ज्ञक हो । इतरेतरयोग—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च = प्लक्षन्यग्रोधौ । यहां प्लक्ष- और न्यग्रोध-शब्द का द्वन्द्व समास हुआ है । समा[हार]—वाक् च सक् च त्वक् च = वाक्सक्त्वचम् । यहां द्वन्द्व समास के होने से समासान्त टच्-प्रत्यय हुआ है^१ । और समाहार के होने से एकवचन हो जाता है ॥ २६ ॥

उपसर्जनं पूर्वम्^३ ॥ ३०-॥

उपसर्जनम् । १ । १ । पूर्वम् । १ । १ । ‘प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्’ ॥ इत्युपसर्जन-सञ्ज्ञा कृता । तस्याः समासप्रकरणस्यान्ते प्रयोजनमुच्यते । समासविधायकेषु सूत्रेषु प्रथमानिर्दिष्टं यदुपसर्जनं, तत् पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । द्वितीया श्रितादिभिः समस्यते^४ । ‘द्वितीया’ इति प्रथमानिर्दिष्टम् । कष्टं श्रितः = कष्टश्रितः । कष्ट-शब्दस्य द्वितीयान्तस्यैव पूर्वनिपातो भवति । तथा ‘षष्ठी’^५ ॥ इति प्रथमानिर्दिष्टम् । राज्ञः पुरुषः = राजपुरुषः । षष्ठ्यन्तस्य राज-शब्दस्यैव पूर्वनिपातो भवति । एवं सर्वत्र विज्ञेयम् ॥ ३० ॥

समास सूत्रों में प्रथमानिर्दिष्ट पद की उपसर्जन-सञ्ज्ञा पूर्व^६ कर चुके हैं । उस का प्रयोजन यहां समास प्रकरण के अन्त [में] दिखाया जाता है । [‘उपसर्जनं’] उपसर्जन-सञ्ज्ञक जो पद है, उस का [‘पूर्वं’] पूर्वप्रयोग करना चाहिये । जैसे श्रितादि शब्दों के साथ द्वितीयान्त का समास होता है, तो द्वितीया प्रथमानिर्दिष्ट है । इससे [‘कष्टं श्रितः = कष्टश्रितः’] [यहां] द्वितीयान्त कष्ट-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है । इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये ॥ ३० ॥

राजदन्तादिषु परम्^३ ॥ ३१ ॥

‘उपसर्जनम्’ इत्यनुवर्त्तते । पूर्वसूत्रेण पूर्वनिपाते प्राप्ते परप्रयोगार्थं सूत्रमिदम् । राजदन्तादिषु । ७ । ३ । परम् । १ । १ । राजदन्तादिगाणशब्देषूपसर्जन-

१. पा०, प०—स० ३४ ॥

२. “द्वन्द्वान्चुदपहान्तात् समाहारे ॥”

(५ । ४ । १०६)

३. सा०—पृ० ४४ ॥

४. १ । २ । ४३ ॥

५. “द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः ॥”

(२ । १ । २३)

६. २ । २ । ८ ॥

सञ्ज्ञं पदं परं प्रयोक्तव्यम् । दन्तानां राजा = राजदन्तः । वनस्याग्रे = अग्रेव-
णम् । अत्र दन्त-वन-शब्दयोः पूर्वनिपाते प्राप्ते परप्रयोगो भवति ॥

अथ राजदन्तादिगणः—[१] राजदन्तः [२] अग्रेवणम् [३]
लिप्तवासितम् [४] नम्रमुषितम् [५] सिक्तसंसृष्टम् [६] मृष्टलुञ्चितम् [७]
अवक्लिन्नपक्वम् [८] अर्पितोत्तम् [९] उत्तगाढम् [१०] उल्लुखल-
मुसलम् [११] तण्डुलकिण्वम् [१२] दृषदुपलम् [१३] आरुवायनबन्ध-
की [१४] चित्ररथवाह्नीकम् [१५] अवन्त्यशमकम् [१६] शूद्रार्थम् [१७]
स्नातकराजानौ [१८] अक्षिभ्रुवम् [१९] दारगवम् [२०] शब्दार्थौ

१. गण० म०—“अत एव पाठात् सप्तम्या अलुक् ।
अम्भावरचाव्ययीभावत्वात् । ‘वनस्याग्रं = अग्रेव-
णम्’ इत्येके । निपातनायणत्वम् ।” (२।७८)
२. गण० म०—“पूर्वं वासितं = भावितं पश्चा-
ल्लिप्तं = दिग्धं, लिप्तवासितम् । अनयोरेकादि-
सूत्रेण [‘पूर्वकालैक० ॥’ २।१।४८]
यथा—यल्लिप्तवासितमिव धुसदोऽञ्जवातैः ॥”
(२।७८)
३. गण० म०—“पूर्वं मुषितः पश्चाच्चरनः । यथा
—धौरास नग्नमुषितेव हृतेऽरुणेन ।” (२।८२)
४. काशिका-प्रक्रियाकौमुद्यादिषु—सिक्तसम्भृष्टम् ॥
गण० म०—“पूर्वं सम्भृष्टं पश्चात् सिक्त-
म् । सिक्तसंसृष्टमित्यन्ये ।” (२।७९)
५. श्रीवर्धमानस्तु—“पूर्वं लुञ्चितं = अपनीतं प-
श्चाद् भृष्टं = पक्वं, मृष्टलुञ्चितम् ।” (२।७८)
६. श्रीवर्धमानस्तु—“अर्पितोत्तम्” इति । तद्व्याख्यानं
च—“पूर्वमुतं = आतानवितानीकृतं पश्चादपि-
तम् ।” (२।७८)
७. गण० म०—“पूर्वं गाढं = अवलोढितं पश्चा-
दुप्तम् । यथा—व्योमोप्तगाढमिव आनुमरीचि-
सस्यम् ।” (२।७९)
८. अतः पूर्व काशिकायां—“पूर्वकालस्य परनिपातः ।”
गण० म०—“उल्लुख्यन्त इत्युल्लवः = धान्या-
नि । आप्ये [कर्मणीत्यर्थः] किप् । उल्लवः

- खल्यन्ते = सञ्च्रीयन्ते = प्रक्षिप्यन्त इति उल्लुखलम् ।
तच्च मुसलं च ।” (२।८४)
९. गण० म०—“अजाबद्वारेण [‘अजाबदन्तम् ॥’
२।२।३३]” (२।८३)
न्यासकारस्तु—“प्रमादाच्चार्थं पाठो लक्ष्यते ।
अल्पाक्षरत्वाद् वृषच्छब्दस्य पूर्वनिपातः सिद्धः ।”
१०. श्रीविठ्ठलाचार्यः—आरुवायनिबान्धकम् ॥
श्रीवर्धमानस्तु “आरुवायनिबान्धनि” इति ।
मतान्तरत्वेन च—“काश्चिद् आरुवायनिबन्धनी-
त्याह । पाणिनिस्तु आरुवायनिबन्धकीत्याह ।”
(२।८३)
११. काशिकायाम्—वाह्नीकम् ॥
गण० म०—“चित्ररथवाह्नीकौ राजानौ ।
अल्पाक्षरेण । पाणिनि-वामनमतेन । शाकटाय-
नस्तु बहोऽस्यास्तीति बह्वी । बह्विकः । सम्भाप्र-
कृत्योरित्यनेन के । चित्ररथबह्विकम् । भोजस्तु
चित्ररथवाह्नीकौ अस्मिन् गण्ये पपाठ ।” (२।८५)
१२. काशिकायाम्—आवन्त्यशमकम् ॥
गण० म०—“अवन्तिनाम राजा जनपदो
वा । अशमका नाम [दक्षिणापथे] जनपदः
[अपि च दृश्यतां बृहत्संहितायां १४।२२]”
(२।८२)
१३. अतः परं काशिकादिषु—विश्वक्सेनाजुनौ ॥
१४. = दारारश्च गौरश्च ॥

[२१] धर्माथौ [२२] कामाथौ [२३] अर्थशब्दौ [२४] अर्थधर्मौ
 [२५] अर्थकामौ [२६] वैकारि[म]तम् [२७] गजवाजम् [२८] गोपाल-
 धानीपूलासम् [२९] पूलासकुरण्डम् [३०] स्थूलपूलासम् [३१] उशी-
 रबीजम् [३२] जिज्ञास्थि [३३] स्वसिञ्जास्थम् [३४] चित्रास्थाती
 [३५] भार्यापती [३६] जायापती [३७] जम्पती [३८] दम्पती [३९]
 [३९] पुत्रपती [४०] पुत्रपशू [४१] केशश्मश्रू [४२] श्मश्रुकेशौ [४३]

१. काशिकायामतः परम्—“अनियमश्चात्रेव्यते।”

२. प्र०कौ०टीकायां २३-२५ शब्दा न सन्ति ॥

३. काशिकायामतः परम्—“तत्कथं वक्तव्यमि-
 दम् । ‘धर्मादिषुभयम् ॥’ इति ॥”

४. गण० म०—“वैकारिण्यापत्यं=वैकारिः । स च
 सतश्च । शाकटायनस्तु ‘वैकारिर्मतः=वैकारिमतः ।
 गाजयतीति गाजः, वाजयतीति वाजः । गाजस्य
 वाजः=गाजवाजः । वैकारिमतश्च गाजवाजश्च
 =वैकारिमतगाजवाजम् ।’ इत्याह ॥” (२।८३)

५. श्रीबोटलिङ्गः—“गोजवाजम् (गाजवाजम्)”
 विट्टलाचार्यः—गाजव्याजम् ॥

गण० म०—“गाजश्च वाजश्च=गाजवा-
 जम् । अन्यस्तु—गजानां समूहः=गाजं, वाजि-
 सां समूहः=वाजम् । गाजं च वाजं चेति गाज-
 वाजम् । तत्प्रत्ययस्तु गणपाठदेव न भवतीत्याह ।
 अनियमप्रसङ्गे वाज-शब्दस्यैव परनिपातः ।” (२।८३)

६. श्रीविट्टलः—गोपालिधानपूलासम् ॥

गण० म०—“गौपालिः [=गोपालस्यापत्यं]
 शीयते यस्मिन्, तद् गौपालिधानम् । ग्रामोऽवस्थानं
 खा । पूलानस्यतीति पूलासः । गौपालिधानञ्च
 पूलासश्च=गौपालिधानपूलासम् ।” (२।८१)

७. काशिकायाम्—०कुरण्डम् ॥

श्रीविट्टलः—पूलासकुरण्डम् ॥ [पठति ॥

श्रीबोटलिङ्गः—“पूलासकारण्डम्” इति पाठान्तरत्वेन

श्रीवर्धमानः—“पूलासकुरण्डम्” इति पठित्वा
 अन्तरमाह—“शाकटायनस्तु ‘कुरण्डानां स्थलं
 =कुरण्डस्थलम् । कुरण्डस्थलञ्च पूलासश्च=

कुरण्डस्थलपूलासम्’ इत्युवाच ।” (२।८३)

८. प्र०कौ०टीकायां पाठान्तरम्—०मूलासम् ॥

९. गण० म०—“उशीरञ्च बीजश्च । शाकटाय-
 नस्तु—उशीरं बीजं यस्मिन् । उशीरबीजो नाम
 पर्वतः । सिञ्जायां तिष्ठतीति सिञ्जास्थः पर्वतः ।
 उशीरबीजश्च सिञ्जास्थश्च=उशीरबीजसिञ्जा-
 स्थम् ।” (२।८३)

१०. काशिका-प्र०कौ०टीकयोर्नास्ति ॥

११. काशिकायाम्—सिञ्जास्थम् ॥ (गण० म०—
 “सिञ्जनं=सिञ्जा । आस्थानं=आस्था । सिञ्जा
 चास्था च । अत्रानियमे प्राप्ते नियमः ।” २।८३)
 श्रीविट्टलः—सिञ्जास्थम् ॥

बोटलिङ्गः—सिञ्जाश्वरथम् ॥ [परं पठ्यते ॥

१२. प्र०कौ०टीकायामयं शब्दः “दम्पती” इत्यतः

१३. प्र०कौ०टीकायां नास्ति ॥

श्रीबोटलिङ्गः ३६-३८ शब्दान् “दम्पती,
 जम्पती, जायापती” इति क्रमेण पठति ॥

१४. अतः परं काशिकायाम्—“जाया-शब्दस्य
 जम्भावोदम्भावश्च निपात्यते ।” [भिचरेते ।] (६।४)
 काठकसंहितायां च—“अग्निहोत्रे वै जायम्पतीव्य-

१५. काशिकायाम्—०पशु ॥

प्र०कौ०टीकायां नास्ति ॥

१६. काशिका-प्र०कौ०टीकादिषु—०श्मश्रू ॥

गण० म०—“केशश्च श्मश्रू च=केशश्म-
 श्रू । ‘केशश्मश्रू’ इति भोजः । असखियुद्धारेण
 [‘द्वन्द्वे वि ॥’ २।२।३२]” (२।८२)

१७. विट्टल-बोटलिङ्गौ न पठतः ॥

[४३] शिरोविजम् [४४] शिरोबीजम् [४५] शिरोजानु [४६] सर्पि-
र्मधुनी [४७] मधुसर्पिणी [४८] आद्यन्तौ [४९] अन्तादी [५०]
गुणवृद्धी [५१] वृद्धिगुणौ — इति राजदन्तादिगणः ॥ ३१ ॥

पूर्व सूत्र से पूर्वनिपात प्राप्त था इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है । ['राजदन्ता-
दिषु'] राजदन्त आदि गणशब्दों में उपसर्जन-सञ्ज्ञक शब्दों का ['परम्'] परप्रयोग
करना चाहिये । दन्तानां राजा=राजदन्तः । यहां दन्त-शब्द का पूर्वप्रयोग प्राप्त था । इस
सूत्र से परप्रयोग होता है ॥

राजदन्तादिगण पूर्व संस्कृत भाष्य में सब क्रम से लिख दिया है ॥ ३१ ॥

द्वन्द्वे घि ॥ ३२ ॥

'उपसर्जनं पूर्वम्' इति सर्वमनुवर्तते । द्वन्द्वे । ७।०१।घि । [१।१।]
'घि' इति सञ्ज्ञानिर्देशः । ह्रस्वेकारान्तोकारान्तशब्दानां घि-सञ्ज्ञा कृता । द्वन्द्वसमासे
घि-सञ्ज्ञस्य पूर्वनिपातो भवति । अग्निवातौ । अग्निमरुतौ । वायुसूर्यौ । पटुवीरौ ।
अत्र द्वन्द्वसमासे घि-सञ्ज्ञस्यैव पूर्वनिपातः ॥

'द्वन्द्वे' इति किम् । पूर्ववायुः । अत्र षष्ठीतत्पुरुषे घि-सञ्ज्ञकस्य पूर्वनिपातो
न भवति ॥ ३२ ॥

ह्रस्व इकरान्त उकारान्त शब्दों की पूर्व घि-सञ्ज्ञा कर चुके हैं । ['द्वन्द्वे'] द्वन्द्व समास में
['घि'] घि-सञ्ज्ञक शब्द का पूर्वप्रयोग होना चाहिये । अग्निवातौ । यहां अग्नि-शब्द की
घि-सञ्ज्ञा है । उसी का पूर्वप्रयोग हुआ ॥

द्वन्द्वग्रहण इसलिये है कि 'पूर्ववायुः' यहां षष्ठी तत्पुरुष समास में घि-सञ्ज्ञक वायु-शब्द
का पूर्वनिपात नहीं हुआ ॥ ३२ ॥

अजाद्यदन्तम् ॥ ३३ ॥

१. काशिकादिषु नोपलभ्यते ॥

२. विट्ठलः—०विजु ॥

वर्धमानश्च—“शिरश्च विजुश्च = शिरो-
विजु । विजुः=ग्रीवा स्कन्धो वा । असखियुद्-
द्वारेण ।” (२ । ८०)

३. काशिका-अ० कौ० टीकयोर्नास्ति ॥

४. अतः परं बोटलिङ्गः—“Bei Doppel-
formen ist die eine die regelmä-
sige.”

५. आकृतिगणोऽयम् ॥

यणरत्नमहोदधौ—“परःशताः, नृवरः, कुरुभ्रेष्ठः,

उत्तमर्षः, अधमर्षः, परःसहस्राः, अज्ञातपत्नी,
अथरोष्ठश्च, मेघातपत्नी, दीक्षातपत्नी, अश्वान्द्रौ,
इन्द्राक्षी, अर्कचन्द्रौ, चन्द्राकौ, ग्रीष्मवसन्तौ,
वसन्तग्रीष्मौ, कुशकाराम्, काराकुराम्, तपःश्रुते,
श्रुततपत्नी, शङ्खमूत्रम्, मूत्रशङ्खम्, पाणिनीयरो-
दीयाः, रौढीयपाणिनीयाः” इत्यादयः शब्दा
अधिकाः ॥

६. सा०—पृ० ४४ ॥

७. १।४।७ ॥

८. सा०—पृ० ४५ ॥

‘द्वन्द्वे’ इत्यनुवर्तते । अजाद्यदन्तम् । १ । १ । अजादि चादोऽदन्तं = अजाद्यदन्तं पदम् । द्वन्द्वसमासे अजाद्यदन्तं पदं पूर्वं प्रयुक्तं भवति । उष्ट्रश्च वृषश्च = उष्ट्रवृषौ । अश्वसिंहौ । ‘द्वन्द्वे धि’ ॥’ इत्यस्य प्राप्तावप्यजाद्यदन्तं भवति विप्रतिषेधेन । इन्द्राग्नी^१ । इन्द्रवायू । अत्रेन्द्र-शब्दोऽजादिरदन्तश्च, तस्यैव पूर्वनिपातो भवति । एवमन्यत्रापि ॥ ३३ ॥

[‘अजाद्यदन्तम्’] अच् जिस के आदि में [और] अकार जिस का अन्त हो, ऐसा जो पद है, वह द्वन्द्व समास में पूर्व प्रयुक्त करना चाहिये । अश्वसिंहौ । उष्ट्रवृषौ । इभवृषौ । यहां अजादि अदन्त अश्व-, उष्ट्र- और इभ-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है । पूर्व सूत्र की प्राप्ति में भी अजादि अदन्त धर्म वाला पद पूर्व प्रयुक्त होता है, क्योंकि दो कार्यों की प्राप्ति में विप्रतिषेध के होने से पर को कार्य होता है । इन्द्राग्नी । इन्द्रवायू । यहां अग्नि- और वायु-शब्द की विसम्बन्धा है, और इन्द्र-शब्द अजादि अदन्त है, सो परविप्रतिषेध के होने से इन्द्र-शब्द का द्वन्द्व समास में पूर्वप्रयोग किया जाता है ॥ ३३ ॥

अल्पात्तरम् ॥ ३४ ॥

‘द्वन्द्वे’ इत्यनुवर्तते । अल्पश्चासावच् = अल्पाच् । अतिशयेनाल्पाच् = अल्पात्तरम् । द्वन्द्वसमासेऽल्पात्तरं पदं पूर्वं प्रयोज्यम् । सत्तन्त्रग्रोधौ । कुशकाशौ । अत्राल्पात्त्वात् सत्त-शब्दस्य पूर्वनिपातो भवति ॥

तरप्-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—कुश-काश-शब्दयोर्द्वौ द्वावच्, काश-शब्द एकमात्राऽधिकास्ति । तत्रापि मात्रान्यूनस्य कुश-शब्दस्यैव पूर्वनिपातो यथा स्यात् ॥

अथ वार्तिकानि—

अनेकस्य प्राप्तौवेकस्य नियमोऽनियमः शेषेषु ॥^१ १ ॥

अनेकस्य पदस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते एकस्य पदस्य नियमो भवति, शेषाणां पदानामनियमः । पटु-मृदु-शुक्लाः । पटु-शुक्ल-मृदवः । अत्र पटु-शब्दस्य पूर्व प्रयोगः स्यादिति नियमः । अन्येषां मध्ये वा स्याद्, अन्ते वेति नियमाभावः ॥ १ ॥

मृदुनक्षत्राणामानुपूर्व्येण समानाक्षराणाम् ॥^२ २ ॥

समानाक्षराणामृदूनां समानाक्षराणां नक्षत्राणां च क्रमेण पूर्वनिपातो भवति । हेमन्तशिशिरौ । शिशिरवसन्तौ । समानाक्षराणामिति किम् । ग्रीष्मवसन्तौ ।

१. २ । २ । ३२ ॥

३. पाठान्तरम्—अनेकप्राप्ता० ॥

२. वाजसनेयिसंहितायां तु “अग्नीन्द्रौ” इत्यपि—

४. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥

“उपग्रामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वा ॥” (७।३२)

अत्र वसन्त-शब्दस्य पूर्वनिपातो न भवति । नक्षत्राणाम्—चित्रास्वाती । कृत्ति-
कारोहिण्यः । समानाक्षराणामिति किम् । पुष्यपुनर्वसू । तिष्यपुनर्वसू । अत्र
पुनर्वसु-शब्दस्य पूर्वनिपातो न भवति ॥ २ ॥

अभ्यर्हितं च^१ ॥^२ ३ ॥

अमितः=सर्वतः अर्हितं=पूजितुं योग्यं द्वन्द्वसमासे पूर्व प्रयोक्तव्यम् । माता-
पितरौ । श्वश्रूवशुरौ । श्रद्धामेधे । पित्रपेक्षायां माताऽधिकतया सेव्यास्ति ॥ ३ ॥

लघ्वक्षरम् ॥^३ ४ ॥

दीर्घाक्षरपदानामपेक्षायां लघ्वक्षरं पदं पूर्व प्रयोक्तव्यम् । कुशाकाशम् ।
शरचापम् ॥ ४ ॥

अपर आह—सर्वत एवाभ्यर्हितं पूर्व निपततीति वक्तव्यम् ।

लघ्वक्षरादपीति ॥^३ ५ ॥

दीक्षातपसी । श्रद्धातपसी । तपसः फले दीक्षा-श्रद्धे, तस्माच्छ्रेष्ठे ॥ ५ ॥

वर्णानामनुपूर्व्येण ॥^२ ६ ॥

ब्राह्मणादिवर्णानामनुक्रमेणै पूर्वनिपातो भवति । ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः ॥ ६ ॥

भ्रातृश्च ज्यायसः ॥^२ ७ ॥

ज्येष्ठस्य भ्रातुः पूर्व प्रयोगो भवति । युधिष्ठिरार्जुनौ । रामलक्ष्मणौ । भरत-
शत्रुघ्नौ । अत्र युधिष्ठिरादिज्येष्ठभ्रातृणां पूर्वप्रयोगः ॥ ७ ॥

सङ्ख्याया अल्पीयसः ॥^२ ८ ॥

अल्पार्थवाचिकायाः सङ्ख्यायाः पूर्वनिपातो भवति^४ । एकादशद्वादशम् ।
त्रयोदशचतुर्दशम् । अत्र न्यूनार्थवाचिन एकादश-शब्दस्य [त्रयोदश-शब्दस्य च]
पूर्वनिपातः ॥ ८ ॥

धर्मादिषूभयम् ॥^२ ९ ॥

धर्मादिशब्देषु द्वयोर्व्यतिक्रमेण पूर्वनिपातो भवति । धर्माथौ । अर्थधर्मौ ।
कामाथौ । अर्थकामौ । गुणवृद्धी । वृद्धिगुणौ । आद्यन्तौ । अन्तादी ॥ ९ ॥ ३४ ॥

['अल्पाक्षरम्'] थोड़े अक्षरों वाला जो पद है, उस का द्वन्द्व समास में पूर्वप्रयोग

१. पाठान्तरम्—अभ्यर्हितम् ॥

(ऋ० १० । ६० । १२) इति वर्णानामनु-

२. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥

पूर्व्यम् ॥

३. "ब्राह्मणोऽस्य सुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।

४. "द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने ॥" (१।४।२२)

कुरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत ॥"

इति तु सौत्रो निर्देशः ॥

करना चाहिये । प्लक्षन्त्यप्रोधौ । यहां प्लक्ष-शब्द में दो स्वर और न्यप्रोध-शब्द में तीन स्वर हैं । इस[से] प्लक्ष-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है ॥

यहां से वार्तिकों का अर्थ किया जाता है—

‘अनेकस्य०’ द्वन्द्व समास में अनेक पदों का पूर्वनिपात प्राप्त हो, वहां एक पद का तो पूर्व होने का नियम हो जाय और अन्य पदों का नियम नहीं । अन्य पद मध्य का अन्त में हो, वा अन्त का मध्य में, कुछ नियम नहीं । [जैसे—पटु-मृदु-शुक्लाः । यहां पटु-शब्द के पूर्वनिपात का नियम करके मृदु और शुक्ल का अनियम करने से ‘पटु-शुक्ल-मृदवः’ यह दूसरा प्रयोग बनता है ॥] १ ॥

‘ऋतुनक्षत्राणां०’ बराबर अक्षर वाले ऋतुवाची और नक्षत्रवाची शब्दों का द्वन्द्व समास में क्रम से पूर्वप्रयोग करना चाहिये । ऋतुवाची—शिशिरवसन्तौ । यहां तीन २ अक्षर वाले शिशिर-वसन्त-शब्दों में शिशिर-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है । समानाक्षर-ग्रहण इसलिये है कि ‘ग्रीष्मवसन्तौ’ यहां वसन्त-शब्द का पूर्वप्रयोग न हो । नक्षत्रवाची—कृत्तिकारोहिण्यः । चित्रास्वाती । यहां बराबर अक्षरों वाले नक्षत्रों का क्रम से पूर्वनिपात होता है । समानाक्षर-ग्रहण इसलिये है कि ‘पुष्यपुनर्वसू’ यहां पुनर्वसु-शब्द का पूर्वनिपात न हो ॥ २ ॥

‘अभ्यर्हितं च ॥’ सब प्रकार जो पूजनीय है, उस पद का द्वन्द्व समास में पूर्वप्रयोग हो । मातापितरौ । पिता की अपेक्षा में माता अत्यन्त सेवा करने योग्य है । इससे उस का पूर्वप्रयोग होता है ॥ ३ ॥

‘लघ्वक्षरम् ॥’ दो पदों में से ह्रस्व अक्षर वाला पद पूर्व होना चाहिये । शरचापौ । यहां शर-शब्द ह्रस्व अक्षर वाला है । उसी का पूर्वप्रयोग होता है ॥ ४ ॥

‘सर्वत एवाभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् ॥’ किन्हीं अवियों का ऐसा मत है कि सब सूत्र वार्तिकों की अपेक्षा में अभ्यर्हित अर्थात् जो सब से श्रेष्ठ हो, उसी का पूर्वप्रयोग हो । दीक्षातपसी । यहां तपस्-शब्द लघ्वक्षर भी है, परन्तु श्रेष्ठ होने से दीक्षा-शब्द का ही पूर्वप्रयोग होता है ॥ ५ ॥

‘वर्णानामानुपूर्व्येण ॥’ ब्राह्मण आदि वर्णों का क्रम से पूर्वप्रयोग होना अर्थात् जो जिस से पूर्व हो, उस का उस से पूर्वनिपात समझना चाहिये । ब्राह्मण-क्षत्रिय-विद्-शूद्राः । ब्राह्मण-शब्द का सब से पूर्व प्रयोग, विद्=वैश्य से पूर्व क्षत्रिय और शूद्र से पूर्व विद्-शब्द का प्रयोग क्रम से होता है ॥ ६ ॥

‘आतुश्च ज्यायसः ॥’ ज्येष्ठ भाई का वाची जो शब्द हो, उस का पूर्वप्रयोग हो । रामलक्ष्मणौ । युधिष्ठिरार्जुनौ । यहां राम और युधिष्ठिर ज्येष्ठ थे । उन्हीं का पूर्वप्रयोग होता है ॥ ७ ॥

‘सङ्ख्याया अल्पीयसः ॥’ थोड़े अर्थ की वाची जो सङ्ख्या है, उस का पूर्वप्रयोग हो । एकादशद्वादशम् । यहां थोड़े के वाची एकादश-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है ॥ ८ ॥

‘धर्मादिषुभयम् ॥’ धर्मादि शब्दों में लोट फेर दोनों का पूर्वप्रयोग हो । धर्माथौ । अर्थधर्मौ । यहां धर्म और अर्थ दोनों का पूर्वप्रयोग होता है ॥ ९ ॥ ३४ ॥

सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ ॥ ३५ ॥

बहुव्रीहिसमासे सर्वस्योपसर्जन-सञ्ज्ञा, तत्र नियमाभावेऽनेन सूत्रेण नियमः क्रियते । 'द्वन्द्वे' इति निवृत्तम् । 'उपसर्जनं पूर्वं' इत्यनुवर्तते । सप्तमी-विशेषणम् । १।२। बहुव्रीहौ । ७।१। बहुव्रीहिसमासे सप्तम्यन्तं पदं विशेषणवाचिं च यत् पदं, तत् पूर्वं निपतति । कण्ठकालः । अत्र सप्तम्यन्तस्य कण्ठ-शब्दस्य पूर्वनिपातः । 'घकालतनेषु कालनाम्नः' ॥ इति सप्तम्या अलुक् । विशेषणम् — बहुधनः । विद्याधनः । अत्र बहु-शब्दस्य विद्या-शब्दस्य च विशेषणत्वात् पूर्वप्रयोगो भवति ॥

वा०—बहुव्रीहौ सर्वनामसङ्ख्यायोरुपसङ्ख्यानम् ॥ १ ॥

विश्वदेवः^३ । विश्वयशाः । द्विपुत्रः । द्विभार्यः^४ ॥^५

अत्र सर्वनामः सङ्ख्याशब्दस्य च विशेष्यत्वात् पूर्वप्रयोगः सूत्रेण न प्राप्तः, तदर्थं वचनम् ॥ १ ॥

वा प्रियस्य ॥^६ २ ॥

प्रिय-शब्दस्य विशेषणवाचित्वात् सूत्रेण नित्ये पूर्वप्रयोगे प्राप्ते विकल्पः क्रियते । प्रिय-शब्दस्य विकल्पेन पूर्वनिपातो भवति । प्रियगुडः । गुडप्रियः ॥ ३ ॥

सप्तम्याः पूर्वनिपाते गङ्गादिभ्यः परवचनम् ॥^७ ३ ॥

'सप्तमीविशेषणे' ०^८ ॥ इति सूत्रेण सप्तम्यन्तस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते वार्त्तिकाः रूम्भः । गङ्गादिभ्यः पदेभ्यः सप्तम्यन्तं पदं परं प्रयोक्तव्यम् । गङ्गुकण्ठः । गङ्गुशिराः । अत्र कण्ठ-शिरस्-शब्दयोः परनिपातो भवति ॥ [३ ॥] ३५ ॥

बहुव्रीहि समास में सब पदों की उपसर्जन-सञ्ज्ञा होने से पूर्वप्रयोग का कुछ नियम नहीं था, इसलिये यह सूत्र पड़ा है । ['बहुव्रीहौ'] बहुव्रीहि समास में ['सप्तमी-विशेषणे'] सप्तम्यन्त और विशेषणवाची जो पद हैं, उन का पूर्वप्रयोग होना चाहिये । सप्तम्यन्त—कण्ठकालः । यहाँ सप्तम्यन्त कण्ठ-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है । और षष्ठाध्याय के

१. सा०—पृ० ४२ ॥

२. ६।३।१७ ॥

३. अत्र विश्वस्य विशेष्यत्वम्—विश्वं देवो यस्य

४. कैयटश्चाह—'द्विपुत्रः [द्विभार्यः] इति द्विक्रम-

दर्शनमेतत् । अत्र हि विशेषणत्वादेव सिद्धः

सङ्ख्यायाः पूर्वनिपातः । तस्माद् 'द्विपुत्रः'

इत्याद्युदाहरणम् ।^९

अथात्र नागेराः—'पुत्र-भार्या-शब्दावपि पुण्य-

वचनाविति भाष्यारायः । जन्यपुंस्त्वभेदोपयोग्यत्वा-

त्वाद्योऽप्युक्तत्वादित्यन्ये ।^{१०}

५. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥

६. २।२।३५ ॥

सूत्र^१ से कण्ठ-शब्द की सप्तमी का अलुक् हो जाता है । विशेषण—बहुधनः । यहां विशेषण-वाची बहु-शब्द का पूर्वप्रयोग हुआ ॥

वार्तिकों के अर्थ—

बहुव्रीहौ सर्वनामसङ्ख्यायोरुपसङ्ख्यानम् ॥' बहुव्रीहि समास में सर्वनामवाची और सङ्ख्यावाची जो शब्द हैं, उन का पूर्वप्रयोग हो । सर्वनाम—विश्वदेवः । विश्वयशाः । यहां सर्वनामवाची विरव-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है । सङ्ख्या—द्विपुत्रः । द्विभार्यः । यहां संख्यावाची द्वि-शब्द का पूर्वनिपात हुआ है ॥ १ ॥

'वा प्रियस्य ॥' प्रिय-शब्द के विशेषणवाची होने से पूर्व सूत्र से नित्य पूर्वप्रयोग प्राप्त था, इस वार्तिक से उस का विकल्प करते हैं । प्रिय-शब्द का पूर्वनिपात विकल्प करके हो । प्रियगुडः । गुडप्रियः । यहां प्रिय-शब्द विकल्प से पूर्व होता है ॥ २ ॥

'सप्तम्याः पूर्वनिपाते गङ्गादिभ्यः परवचनम् ॥' सप्तम्यन्त शब्द का पूर्वनिपात सूत्र से होता है । उस में गङ्गु आदि शब्दों का पूर्वप्रयोग हो । कण्ठे गङ्गुः = गङ्गुकण्ठः । गङ्गुशिराः । यहां सप्तम्यन्त कण्ठ- और शिस्-शब्द का परप्रयोग होता है ॥ [३ ॥] ३५ ॥

निष्ठा^३ ॥ ३६ ॥

'बहुव्रीहौ' इत्यनुवर्तते । बहुव्रीहिसमासे निष्ठान्तं पदं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । कृतकटः । भुक्तौदनः । पठितविद्यः । कृतक्षम इत्यादिप्रयोगेषु निष्ठान्तस्य पूर्वनिपातो भवति ॥

वा०—निष्ठायाः पूर्वनिपाते जातिकालमुखादिभ्यः परवचनम् ॥^८ १ ॥

जातिवाचिभ्यः कालवाचिभ्यः सुखादिशब्देभ्यश्च परं निष्ठाप्रत्ययान्तं पदं प्रयोक्तव्यम् । जाति—शार्ङ्गभक्षिती । पलाण्डुभक्षिती । काल—मासजाता । संवत्सरजाता । सुखादि—सुखजाता । दुःखजाता । अत्र जात्यादिभ्यः परं निष्ठान्तं प्रयुज्यते ॥ १ ॥

प्रहरणार्थेभ्यश्च ॥^३ २ ॥

चकारग्रहणात् 'सप्तमी' इत्यनुवर्तते । प्रहरणवाचिभ्यः पदेभ्यः परं निष्ठान्तं सप्तम्यन्तं च पदं प्रयोक्तव्यम् । [निष्ठान्तं—] अस्युद्यतः । मुंसलोद्यतः । सप्तम्यन्तं—पाणावसिरस्य = असिपाणिः । दण्डपाणिः । सूत्रेण प्राप्तं सप्तम्यन्तं निष्ठान्तं च पदं पूर्वं, अनेन परं प्रयुज्यते ॥ [२ ॥] ३६ ॥

बहुव्रीहि समास में ['निष्ठा'] निष्ठा-प्रत्ययान्त जो पद है, उस का पूर्वप्रयोग करना चाहिये । पठितविद्यः । कृतक्षमः । इत्यादि प्रयोगों में निष्ठान्त का पूर्वनिपात होता है ॥

१. "कालतनेषु कालान्मनः ॥" (६ । ३ । १७) ३. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥

२. सा०—पृ० ४२ ॥

वार्तिकों के अर्थ—

‘निष्ठायाः पूर्वनिपाते जातिकालसुखादिभ्यः परवचनम् ॥’ निष्ठा-प्रत्ययान्त जो पद है, उस का जातिवाची, कालवाची और सुखादि शब्दों से परप्रयोग हो। जाति—पलाण्डुभक्षिती। पलाण्डु कहते हैं प्याज़ को, सो यह जाति है। उस से पर भक्षिती निष्ठान्त का प्रयोग होता है। कालवाची—मासजाता। संवत्सरजाता। यहां मास और संवत्सर कालवाची शब्दों से पर निष्ठान्त का प्रयोग है। सुखादि—सुखजाता। दुःखजाता। यहां सुखादिकों से पर निष्ठान्त का प्रयोग है ॥ १ ॥

‘प्रहरणार्थेभ्यश्च ॥’ शस्त्रवाची शब्दों से पर निष्ठान्त और ससम्यन्त पदों का प्रयोग होना चाहिये। अस्युद्यतः। यहां तलवार का वाची असि-शब्द है, उस से पर निष्ठान्त का प्रयोग है। असिपाणिः। और यहां असि-शब्द से पर ससम्यन्त का प्रयोग है ॥ ३६ ॥

वाऽऽहिताग्न्यादिषु ॥ ३७ ॥

प्राप्तविभाषेयम्। पूर्वसूत्रेण निष्ठान्तस्य नित्ये पूर्वनिपाते प्राप्ते विकल्प उच्यते। वा। [अ० ।] आहिताग्न्यादिषु। ७। ३। आहिताग्न्यादिगणशब्देषु निष्ठान्तस्य पूर्वनिपातो विकल्पेन भवति। आहिताग्निः। अग्न्याहितः। जातपुत्रः। पुत्रजातः। एवं सर्वेषां गणशब्दानां रूपद्वयं भवति ॥

अथाहिताग्न्यादिगणः—[१] आहिताग्निः [२] पुत्रजातः^१ [३] दन्तजातः^३ [४] जातश्मश्रुः [५] तैलपीतः [६] घृतपीतः [७] मद्यपीतः^५ [८] ऊढभार्यः [९] गतार्थः—इत्याहिताग्न्यादिगणः ॥ ३७ ॥

इस सूत्र में प्राप्तविभाषा है। पूर्व सूत्र से निष्ठान्त का नित्य पूर्वनिपात प्राप्त था। इस सूत्र से विकल्प किया है। [‘आहिताग्न्यादिषु’] आहिताग्न्यादि गणशब्दों में निष्ठा-प्रत्ययान्त का पूर्वप्रयोग [‘वा’] विकल्प करके हो। आहिताग्निः। अग्न्याहितः। इसी प्रकार गण के सब शब्दों के दो २ प्रयोग होते हैं ॥

आहिताग्न्यादिगण पूर्व संस्कृत भाष्य में लिख दिया है ॥ ३७ ॥

कडाराः कर्मधारये ॥ ३८ ॥

१. सा०—पृ० ४३ ॥

२. पाठान्तरम्—जातपुत्रः ॥

३. पाठान्तरम्—जातदन्तः ॥

४. काशिकायां नास्ति ॥

५. विट्ठलोदाहृते गणपाठे कश्चिद्भेदो न लक्ष्यते ॥

काशिकादिषु—आकृतिगणश्चायम् ॥

गण० म०—‘प्रिभःशब्दस्य केवलस्येह (‘आ-

हिताग्नि-गतार्थ-ऊढभार्य-पीतघृत-प्रियाः’ इत्यत्र) उपदेशादुत्तरपदमनियतम् । तेन प्रियगुहः, गुह-प्रियः । प्रियविश्वः, विश्वप्रियः । प्रियद्विः, द्विप्रियः । एतेन आहिताग्न्यादयो गणाधीता एव ग्राह्या नाधिकप्रयोगाः । तेनाहितवसुरित्यादौ यथाप्राप्तं स्यान्न विकल्पः ॥” (२ । ६०)

‘वा’ इत्यनुवर्तते । कडाराः । १ । ३ । कर्मधारये । ७ । १ । कर्मधारये = समानाधिकरणतत्पुरुषसमासे कडारादयो गणशब्दा विकल्पेन पूर्वं प्रयुक्ता भवन्ति । कडारशाण्डिल्यः । शाण्डिल्यकडारः । गडुलशाण्डिल्यः । शाण्डिल्यगडुलः । एवं सर्वत्र । ‘कडाराः’ इति बहुवचननिर्देशात् ‘कडारादयः’ इति प्रतीयते ॥

अथ गणः—[१] कडार [२] गडुल [३] खण्ड^१ [४] काण [५] खञ्ज [६] कुण्ड^२ [७] खञ्जर^३ [८] खलति [९] गौर [१०] वृद्ध^४ [११] भित्तुक [१२] पिङ्ग^५ [१३] पिङ्गल [१४] जठर^६ [१५] तनु [१६] बधिर [१७] मठर [१८] कञ्ज^७ [१९] बटर्—इति कडारादिगणः ॥ ३८ ॥

इत्येकसञ्ज्ञाधिकारः समासाधिकारश्च सम्पूर्णः ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष समास की कर्मधारय-सञ्ज्ञा की है । उस [‘कर्मधारये’] कर्मधारय-समास में [‘कडाराः’] कडारादि जो गणशब्द हैं, उन का विकल्प करके पूर्वप्रयोग हो । कडारशाण्डिल्यः । शाण्डिल्यकडारः । इसी प्रकार गण के सब शब्दों के दो २ प्रयोग बनते हैं ॥

कडारादिगण पूर्व संस्कृत भाष्य में सब लिख दिया है ॥ ३८ ॥

यह एकसञ्ज्ञा का अधिकार और समास का अधिकार पूरा हुआ ॥

तथा द्वितीयाध्याय का द्वितीय पाद भी समाप्त हुआ ॥

१. काशिका-प्र० कौ० टीका-शब्दकौस्तुभेषु नोपलभ्यते ॥ [काण] इत्येवं पठति ॥

बोटलिङ्गस्तु ३-५ शब्दान् “खञ्ज, खोड,

२. शब्दकौस्तुभे—कुण्ड ॥ [मन्यते ॥

३. बोटलिङ्गः खञ्जर-शब्दं खञ्ज-शब्दस्य पाठान्तरं प्र० कौ० टीका-शब्दकौस्तुभयोः—खोडः ॥

४. शब्दकौस्तुभे—वृद्ध ॥

५. काशिका-प्र० कौ० टीकायोर्नास्ति ॥ [न सन्ति ॥

६. काशिकायां १४, १६-१८ इति चत्वारः शब्दाः भट्टोजि-बोटलिङ्गौ—तनु, जठर ॥

प्र० कौ० टीकायां “जठर” इति नास्ति ॥

७. शब्दकौस्तुभे—कुञ्ज ॥

अतः परं विट्ठल-भट्टोजि-बोटलिङ्गाः—बटर् ॥

८. प्र० कौ० टीका-शब्दकौस्तुभयोर्नास्ति ॥

अथ द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः ॥

अथातो विभक्तिविधानप्रकरणम् ॥

अनभिहिते' ॥ १ ॥

अनभिहिते । ७ । १ । अभिधीयते प्रत्ययो यस्मिन्, तत् कर्त्रादिकारकम् । अर्थाद् यस्मिन् कारके प्रत्ययो भवति, तद् अभिहितम् । न अभिहितं = अनभिहितं, तस्मिन् । 'अनभिहिते' इत्यधिकारो वेदितव्यः । अतो यद् विभक्तिविधानं भविष्यति, अनभिहिते कारके तद् बोध्यम् । 'अनुक्ते, अनभिहिते, अनिर्दिष्टे' इति पर्यायशब्दाः ॥ १ ॥

जिस में प्रत्यय विधान किया जाय, वह कारक अभिहित होता है, और जिस में प्रत्यय विधान न हो, उस को अनभिहित कहते हैं । 'अनभिहिते' यह इस पाद के अन्त तक अधिकार किया है । यहां से आगे जो विभक्ति विधान करेंगे, वह अनभिहित कारक [में] होगी ॥ १ ॥

कर्मणि द्वितीया' ॥ २ ॥

'अनभिहिते' इत्यनुवर्त्तते । कर्मणि । ७ । १ । द्वितीया । १ । १ । 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' ॥' इति कर्म-संज्ञा कृता, तस्या इदानीं फलं दर्शयते । अनभिहिते कर्मणि कारके द्वितीया विभक्तिर्भवति । द्वितीया-शब्देन त्रिकस्यात्र ग्रहणम् । ओदनं पचति । कटं करोति । प्राप्तं गच्छति । शरीरं पश्यति । अत्र सर्वत्र कर्मणि कारके द्वितीया विधीयते ॥

'अनभिहिते' इति किम् । ओदनः पच्यते । कटः क्रियते । अत्र कर्मणि प्रत्ययः, स चाभिहितः, तस्माद् द्वितीया न भवति ॥

अथ वार्तिकानि—

‘समयानिकषाहायोगेषूपसङ्ख्यानम्’ ॥^१ १ ॥

‘समया, निकषा, हा’ इति त्रयाणामन्ययानां योगे द्वितीया विभक्तिर्भवति ।
समया—समया ग्रामम् । [निकषा—] निकषा ग्रामम् । [हा—] हा
देवदत्तम् ॥ १ ॥

अपर आह—द्वितीयाभिधाने^३ऽभितः-परितः-समया-निकषा-
अध्यधि-धिग्योगेषूपसङ्ख्यानम् ॥ २ ॥

अभितो ग्रामम् । परितो ग्रामम् । अध्यधि ग्रामम् । धिग्
जाल्मम् ॥^२

समया-निकषा-शब्दयोः पूर्वं उदाहरणे ॥ २ ॥

अपर आह—उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।

द्वितीयाग्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥^३ ३ ॥

‘उभ,^६ सर्व’ इत्येताभ्यां तसन्ताभ्यां^७ द्वितीया वक्तव्या ।
उभयतो ग्रामम् । सर्वतो ग्रामम् । [धिग्योगे—] धिग्
जाल्मम् । धिग् वृषलम् । उपर्यादिषु त्रिष्वग्रेडितान्तेषु
द्वितीया वक्तव्या । उपर्युपरि ग्रामम् । अध्यधि ग्रामम् ।
अधोऽधो ग्रामम् । ततोऽन्यत्रापि दृश्यते—न देवदत्तं प्रति^४-
भाति किञ्चित् । बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् ॥^५

‘अन्यत्रापि दृश्यते’ इति वचनाद् विनायोगेऽपि क्वचिद् द्वितीया दृश्यते ।
मृगाणां माहिषं विना । एवमन्यत्रापि यत्र कचिद्विहिता द्वितीया दृश्येत, तत्राने-
नैव वचनेन भवतीति बोद्धव्यम् ॥ [३ ॥] २ ॥

कर्ता को जो अत्यन्त दृष्ट है, उस की कर्म-सञ्ज्ञा कर चुके हैं^१ । उस सञ्ज्ञा का फल अब
दिखाया जाता है । अनभिहित [‘कर्मणि’] कर्म कारक में [‘द्वितीया’] द्वितीया विभक्तिः

१. चा० श०—‘समयानिकषाहाधिगन्तरान्तरेण-
शुक्तात् ॥’ (२ । १ । ५०)

२. अ० २ । पा० ३ । आ० १ ॥

३. पाठान्तरम्—०विधाने ॥

४. चा० श०—‘द्वित्वेऽध्यादिभिः ॥ सर्वाभिप-
र्युमयात् तस्मात् ॥’ (२ । ३ । ५१, ५२)

५. कोशे— १ ॥

६. पाठान्तरम्—उभय ॥

७. पाठान्तरम्—तसन्ताभ्यां योगे ॥

८. षष्ठ्यत्र प्राप्ता । प्रति-शब्दश्चात्र क्रियाविशेषकः

उपसर्गो न तु कर्मप्रवचनीय इत्युदाहृतम् ॥

९. १ । ४ । ४६ ॥

होती है। द्वितीया विभक्ति में तीनों वचनों का ग्रहण समझा जाता है। ओदनं पचति । ग्रामं गच्छति इत्यादि सब उदाहरणों में कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति होती है ॥

अनभिहित-ग्रहण इसलिये है कि 'ओदनः पच्यते' यहां कर्म में प्रत्यय है, इससे अनभिहित कर्म नहीं। इससे द्वितीया विभक्ति नहीं होती ॥

अब वार्तिकों का अर्थ किया जाता है—

'समयानिकषाहायोगेषूपसङ्ख्यानम् ॥' समया, निकषा और हा इन तीन अव्ययों के योग में द्वितीया विभक्ति हो। समया ग्रामम् । निकषा ग्रामम् । हा देवदत्तम् । यहां उक्त अव्ययों के योग में ग्राम- और देवदत्त-शब्द में द्वितीया हुई है ॥ १ ॥

'द्वितीयाभिधानेऽभितः-परितः-समया-निकषा-अध्यधि-धिग्योगेषूपसङ्ख्यानम् ॥' अभितः, परितः, [समया, निकषा,] अध्यधि, धिग्, इन शब्दों के योग में भी द्वितीया विभक्ति हो। अभितो ग्रामम् । परितो ग्रामम् । अध्यधि-ग्रामम् । धिग् जालम् । यहां भी ग्राम- और जालम्-शब्द में द्वितीया हुई है। [समया और निकषा के उदाहरण पहले दे आए हैं] ॥ २ ॥

'उभसर्वतसोः०' तसि-प्रत्ययान्त उभ- और सर्व-शब्द तथा धिग्, आत्रेडितान्त जो उपरि अधि, अधस्, इन शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति हो। यह अन्य ऋषियों का मत है। उभ—उभयतो ग्रामम् । सर्व—सर्वतो ग्रामम् । धिग्—धिग् जालम् । धिग् वृषलम् । आत्रेडितान्त उपरि—उपर्युपरि ग्रामम् । आत्रेडितान्त अधि—अध्यधि ग्रामम् । आत्रेडितान्त अधस्—अधोऽधो ग्रामम् । यहां ग्राम-, जालम्- और वृषल-शब्द में द्वितीया विभक्ति हुई है। इस से अन्यत्र जहां किसी सूत्र, वार्तिक से द्वितीया विधान नहीं, वहां भी इस कारिका के प्रमाण से द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये। जैसे—बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् । यहां प्रति के योग में द्वितीया है। इसी प्रकार जहां कहीं द्वितीया विभक्ति देखने में आवे, वहां इसी प्रमाण से समझनी चाहिये ॥ [३ ॥] २ ॥

तृतीया च होश्छन्दसि ॥ ३ ॥

चकारग्रहणाद् द्वितीयाप्यनुवर्तते । तृतीया । १ । १ । च । [अ० ।]
होः । ६ । १ । छन्दसि । ७ । १ । 'हु दानादनयोः । आदाने चेत्येके'
इत्यस्य धातोः कर्मणि कारके छन्दसि = वेदविषये तृतीया च द्वितीया च भवति ।
यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति^३ । यवागूमग्निहोत्रं जुहोति । अत्र कर्मवाचिनि यवागू-शब्दे
तृतीया-द्वितीये विभक्ती भवतः ॥

१. कार०—सू० ११ ॥

त्वा 'आदानेऽप्येके' इति ॥' [ग्रीष्मनेऽपि]"

२. धा०—जुहो० १ ॥

श्रीबोटलिङ्गः—'हु दाने (आदाने, अदाने,

माधवीयायां धातुवृत्त्याम्—'हु दानादनयोः ।

३. काठक शठिमिकायामग्निहोत्रब्राह्मणे—६ । ३ ॥

दानादानयोरित्यन्ये । आत्रेयस्तु 'दाने' इति प्रठि-

अपि च शाङ्ख्यायनश्रौतसूत्रे—३।१.२।१५, १६ ॥

‘छन्दसि’ इति किमर्थम् । यवागूमग्निहोत्रं जुहोति । अत्र तृतीया न भवति, किन्तु लोके द्वितीयैव यथा स्यात् ॥ ३ ॥

[‘छन्दसि’] वेदविषय में [‘होः’] हु घातु के कर्मकारक में तृतीया और चकार से द्वितीया विभक्ति भी हो । यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति । यवागूमग्निहोत्रं जुहोति । यहां कर्मवाची यवागू-शब्द में तृतीया और द्वितीया विभक्ति हुई हैं ॥

‘छन्दसि’ ग्रहण इसलिये है कि ‘यवागूमग्निहोत्रं जुहोति’ यहां तृतीया विभक्ति न हो ॥ ३ ॥

अन्तराऽन्तरेणयुक्ते ॥ ४ ॥

‘द्वितीयां’ इत्यनुवर्त्तते । तृतीया निवृत्ता । अन्तरा-अन्तरेणयुक्ते । ७।१। अन्तरा-अन्तरेण-शब्दौ निपातौ, तयोर्योगे द्वितीया विभक्तिर्भवति । अभिमन्तरां कथं पचेत् । अभिमन्तरेण कथं पचेत् । अभिना विनेत्यर्थः । ‘अन्तरा, अन्तरेण’ इति शब्दौ विनार्थे वर्त्तते ॥ ४ ॥

[‘अन्तरा-अन्तरेणयुक्ते’] विना अर्थवाची जो अन्तरा और अन्तरेण ये दो अव्यय शब्द हैं, उन के योग में द्वितीया विभक्ति हो । अभिमन्तरा कथं पचेत् । अग्निमन्तरेण कथं पचेत् । यहां अन्तरा, अन्तरेण इन दो शब्दों के योग होने से अग्नि-शब्द में द्वितीया विभक्ति होती है । ‘अग्निमन्तरेण’ अर्थात् अग्नि के विना ॥ ४ ॥

कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ॥ ५ ॥

कालाध्वनोः । ७।२। अत्यन्तसंयोगे । ७।१। अत्यन्तसंयोगे गम्यमाने कालवाचिनि शब्दे अध्ववाचिनि च द्वितीयाविभक्तिर्भवति । [काले—] मासमधीतोऽनुवाकः । संवत्सरमधीतोऽष्टकः । अध्वनि—क्रौशं कुटिला नदी । क्रौशं रमणीया वनराजी । अत्र मास-संवत्सर-कालवाचिशब्दयोः क्रौशे चाध्ववाचिनि द्वितीया विधीयते ॥

‘अत्यन्तसंयोगे’ इति किम् । क्रौशांशे पर्वतः । अत्र द्वितीया विभक्तिर्न भवति ॥ ५ ॥

[‘अत्यन्तसंयोगे’] अत्यन्त संयोग अर्थ में [‘काल-अध्वनोः’] कालवाची और मार्गवाची शब्दों में द्वितीया विभक्ति हो । मासमधीतोऽनुवाकः । क्रौशं कुटिला नदी । यहां कालवाची मास-शब्द और मार्गवाची क्रौश-शब्द में द्वितीया हुई है ॥

अत्यन्तसंयोग-ग्रहण इसलिये है कि ‘दिवसस्य द्विर्मुक्ते’ यहां दिवस-शब्द में द्वितीया विभक्ति न हो ॥ ५ ॥

अपवर्गे तृतीया^१ ॥ ६ ॥

‘कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे^१’ इति सर्वं सूत्रमनुवर्त्तते । अपवर्गे । ७ । १ ।
तृतीया । १ । १ । दुःखान्निवृत्तिः शुभकर्मफलस्य सुखस्य प्राप्तिः = अपवर्गः ।
अपवर्गोऽर्थे कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे सति तृतीया विभक्तिर्भवति । मासेनानुवा-
कोऽधीतः । क्रोशेनाधीतोऽनुवाकः । पूर्वसूत्रस्यापवादत्वेन तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

‘अपवर्गे’ इति किम् । मासमधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीतः । अत्राध्य-
यनस्य धारणाभावे फलाभावः ॥ ६ ॥

शुभ कर्म के फल की जो प्राप्ति वह अपवर्ग कहाता है । [‘अपवर्गे’] अपवर्ग अर्थ में
कालवाची और मार्गवाची शब्दों से [‘तृतीया’] तृतीया विभक्ति हो अत्यन्त संयोग में ।
मासेनाधीतोऽनुवाकः । क्रोशेनाधीतोऽनुवाकः । यहां कालवाची मास- और मार्गवाची
क्रोश-शब्द से तृतीया विभक्ति होती है ॥

अपवर्ग-ग्रहण इसलिये है कि ‘मासमधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीतः’ यहां अपवर्ग
के न होने से तृतीया विभक्ति नहीं हुई ॥ ६ ॥

सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये^३ ॥ ७ ॥

‘कालाध्वनोः’ इति वर्त्तते । सप्तमी-पञ्चम्यौ । १ । २ । कारकमध्ये । ७ ।
१ । कारकयोर्मध्यं = कारकमध्यं, तस्मिन् । कारकमध्ये कालाध्ववाचिभ्यां शब्दाभ्यां
सप्तमी-पञ्चम्यौ विभक्ती भवतः । अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्वयहाद् भोक्ता, द्वयहे
भोक्ता । अत्र कालवाचिनो द्वयह-शब्दात् सप्तमी-पञ्चम्यौ भवतः । इहस्थोऽयमिष्वास-
सः क्रोशाल्लक्ष्यं विध्यति, क्रोशे लक्ष्यं विध्यति । अत्राध्ववाचिनः क्रोश-शब्दात्
सप्तमी-पञ्चम्यौ भवतः । अत्र कर्तृकर्मवाचिनोः शब्दयोर्मध्ये क्रोश-शब्दः ॥ ७ ॥

[‘कारकमध्ये’] दो कारकों के बीच में कालवाची और मार्गवाची शब्दों से [‘सप्तमी-
पञ्चम्यौ’] सप्तमी और पंचमी विभक्ति हों । अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्वयहाद्
भोक्ता, द्वयहे भोक्ता । यहां कालवाची द्वयह-शब्द से सप्तमी और पंचमी विभक्ति हुई है ।
इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशाल्लक्ष्यं विध्यति, क्रोशे लक्ष्यं विध्यति । यहां कर्ता कर्मवाची
कारकों के बीच में क्रोश-शब्द से सप्तमी, पंचमी विभक्ति हुई है ॥ ७ ॥

[अथ कर्मप्रवचनीययोगे विभक्तिनियमप्रकरणम्]

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया^२ ॥ ८ ॥

१. कार०—स० १४ ॥

३. कार०—स० १५ ॥

२. २ । ३ । ५ ॥

४. कार०—स० १५४ ॥

कर्मप्रवचनीययुक्ते । ७ । १ । द्वितीया । १ । १ । कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञैः
शब्दैर्युक्ते = कर्मप्रवचनीययुक्ते । कर्मप्रवचनीययुक्ते सति द्वितीया विभक्तिर्भवति ।
अनु-शब्दो लक्षणे कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञो भवति । शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् ।
अत्र कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञानु-शब्दस्य योगे संहिता-शब्दे द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ ८ ॥

['कर्मप्रवचनीययुक्ते'] कर्मप्रवचनीय-संज्ञक शब्दों के योग में ['द्वितीया']
द्वितीया विभक्ति हो । शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् । यहां कर्मप्रवचनीय-संज्ञक अनु-
शब्द के योग में संहिता-शब्द से द्वितीया विभक्ति हुई है ॥ ८ ॥

यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं, तत्र सप्तमी ॥ ९ ॥

'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इति वर्तते । यस्मात् । ५ । १ । अधिकम् । १ । १ ।
यस्य । ६ । १ । च । [अ० ।] ईश्वरवचनम् । १ । १ । तत्र । [अ० ।]
सप्तमी । १ । १ । यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं, तत्र कर्मप्रवचनीययोगे सप्तमी
विभक्तिर्भवति । उपरौप्ये कार्षापणम् । अत्र 'उपोऽधिके च' ॥' इत्यधिकार्थ उप-
शब्दस्य कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञा । रौप्यात् कार्षापणमधिकम् । रौप्य-शब्दात् सप्तमी
विभक्तिर्भवति । अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः । अत्र 'अधिरीश्वरे' ॥' इति कर्म-
प्रवचनीय-सञ्ज्ञा । पञ्चालवासिषु ब्रह्मदत्तस्येश्वरवचनं = अधिकसामर्थ्यं, तस्माद्
ब्रह्मदत्त-शब्दे सप्तमी विभक्तिर्भवति । पूर्वसूत्रेण द्वितीया प्राप्ता, तस्यापवादीज्यं
योगः ॥ ९ ॥

पूर्व सूत्र से द्वितीया विभक्ति प्राप्त थी, उस का अपवाद यह सूत्र है । ['यस्माद्'] जिस
से ['अधिकं'] अधिक हो ['यस्य च'] और जिस का ['ईश्वरवचनं'] ईश्वरवचन
अर्थात् बहुतों के बीच में अधिक सामर्थ्य हो, ['तत्र'] वहां कर्मप्रवचनीय शब्दों के योग में
['सप्तमी'] सप्तमी विभक्ति हो । उपरौप्ये कार्षापणम् । यहां उप-शब्द की कर्मप्रव-
चनीय-संज्ञा है । तथा रूप्ये से एक कार्षापण अधिक है, इसलिये कर्मप्रवचनीय के योग में
रौप्य-शब्द से सप्तमी हो गई । अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः । यहां अधि-शब्द की कर्म-
प्रवचनीय-संज्ञा है । उस के योग में ईश्वरवचन अर्थात् अधिक सामर्थ्य वाले ब्रह्मदत्त-शब्द
से सप्तमी विभक्ति होती है ॥ ९ ॥

पञ्चम्यपाङ्परिभिः ॥ १० ॥

'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इत्यनुवर्तते । पञ्चमी । १ । १ । अप-आङ्-परिभिः ।

१. १ । ४ । ८३ ॥

२. कार०—सू० १५६ ॥

चा० श०—“सप्तम्याधिक्ये ॥ स्वाम्येऽधित्वा ॥”

(२ । १ । ६०, ६१)

३. १ । ४ । ८६ ॥

४. १ । ४ । ६६ ॥

५. कार०—सू० १६२ ॥

चा० श०—“पर्यपास्यां वर्जने ॥” (१ । १ । ८२)

३।३। कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञकैः अप-आङ्-परि-शब्दैर्योगे पञ्चमी विभक्तिर्भवति । अप पर्वतात् = पर्वतं वर्जयित्वा । आ पर्वतात् = पर्वतं मर्यादीकृत्य । परि पर्वताद्बृष्टो मेघः; पर्वतं विहायेत्यर्थः । अप-पर्योर्वर्जनार्थयोरङ्-शब्दस्य मर्यादार्थस्य ग्रहणमत्रास्ति । अपादियोगे पर्वत-शब्दात् पञ्चमी ॥ १० ॥

कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञक जो ['अप-आङ्-परिभिः'] अप-, आङ्- और परि-शब्द हैं, उन के योग में ['पञ्चमी'] पञ्चमी विभक्ति होती है । अप — अप पर्वतात् । [आङ् —] आ पर्वतात् । [परि —] परि पर्वताद् बृष्टो मेघः । यहां पर्वत-शब्द में पञ्चमी विभक्ति हुई है । अप और परि दो शब्द तो यहां वर्जन-अर्थ में, और आङ्-शब्द मर्यादा-अर्थ में हैं ॥ १० ॥

प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् ॥ ११ ॥

पञ्चमी-ग्रहणं, 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इति चानुवर्त्तते । प्रतिनिधि-प्रतिदाने । १।२।च। [अ० ।] यस्मात् । ५।१। यस्मात् प्रतिनिधिः, यस्माच्च प्रतिदानं, तत्र [कर्मप्रवचनीययुक्ते] पञ्चमी विभक्तिर्भवति । अध्यापकात् प्रति शिष्यः । तिलेभ्यः प्रति माषान् समै ददाति । अत्र अध्यापक-शब्दात् तिल-शब्दाच्च पञ्चमी विभक्तिर्भवति । अध्यापककार्यं शिष्यः करोतीति शिष्यः प्रतिनिधिः । तिलेषु दातव्येषु माषदानं प्रतिदानम् ॥ ११ ॥

इति कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञाकार्यं निवृत्तम् ॥

प्रतिनिधि उस को कहते हैं जो मनुष्य किसी के बदले में कार्य के लिये प्रवृत्त हो । प्रतिदान उस को कहते हैं कि जो अन्न देना चाहिये, उस के बदले में दूसरा दे देना । ['यस्मात्'] जिस से ['प्रतिनिधि-प्रतिदाने'] प्रतिनिधि और प्रतिदान हो, वहां कर्मप्रवचनीय के योग में पञ्चमी विभक्ति हो । अध्यापकात् प्रति शिष्यः । यहां अध्यापक से प्रतिनिधि है । उस से पञ्चमी विभक्ति हो गई । तिलेभ्यः प्रति माषान् ददाति । यहां तिलों से प्रतिदान है । उस में कर्मप्रवचनीय के योग से पञ्चमी विभक्ति हो गई ॥ ११ ॥

[यह कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञा का कार्य समाप्त हुआ ॥]

गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनिः ॥ १२ ॥

गत्यर्थकर्मणि । ७।१। द्वितीया-चतुर्थ्यौ । १।२। चेष्टायाम् । ७।१। अनध्वनिः । ७।१। गत्यर्थानां धातूनां कर्म = गत्यर्थकर्म, तस्मिन् ।

१. कार०—सू० १६६ ॥ (२।१।८३) २. कार०—सू० १६६ ॥

चा० श०—“प्रतिना प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ॥”

चेष्टाक्रियाणां गंत्यर्थानां धातूनामध्ववर्जिते कर्मणि द्वितीया-चतुर्थ्यौ विभक्ती भवतः । ग्रामं गच्छति, ग्रामाय गच्छति । ग्रामं व्रजति, ग्रामाय व्रजति । अत्र ग्राम-कर्मणि द्वितीया-चतुर्थ्यौ भवतः ॥

गत्यर्थ-ग्रहणं किम् । कटं करोति । अत्र चतुर्थी न भवति ॥

‘कर्मणि’ इति किमर्थम् । अश्वेन गच्छति । अत्र करणे द्वितीया-चतुर्थ्यौ न भवतः ॥

‘चेष्टायां’ इति किम् । मनसा गृहं गच्छति । अत्र चेष्टा नास्तीति द्वितीया-चतुर्थ्यौ न भवतः ॥

अनध्वनि-ग्रहणं किमर्थम् । अध्वानं गच्छति । अत्र अध्व-शब्दे चतुर्थी न भवति ॥

वा०—अध्वन्यर्थग्रहणम् ॥ १ ॥

इह मा भूत्—पन्थानं गच्छति । वीवधं गच्छतीति ॥^२

अर्थग्रहणादध्वपर्यायग्रहणम् । तेन ‘पन्थानं, [वीवधं]’ इत्यत्र चतुर्थी न भवति ॥ १ ॥

आस्थितप्रतिषेधश्च ॥^३ २ ॥

‘आस्थितप्रतिषेधः’ अर्थाद् ‘अनध्वनि’ इति यः प्रतिषेधः, स मुख्यस्याध्वनो विज्ञेयः । तेनेह न भवति । यत्र उत्पथेन पन्थानं गच्छति ‘पथे गच्छति’ इति प्रतिषेधाभावे चतुर्थी भवत्येवात्र ॥ [२॥] १२ ॥

[‘चेष्टायाम्’] चेष्टा जिन की क्रिया हो, ऐसे [‘गत्यर्थकर्मणि, अनध्वनि’] गत्यर्थक धातुओं के मार्ग रहित कर्म में द्वितीया, चतुर्थी विभक्ति हों । ग्रामं गच्छति । ग्रामाय गच्छति । यहां गत्यर्थक धातुओं के ग्राम कर्म में द्वितीया, चतुर्थी हुई हैं ॥

गत्यर्थक धातुओं का ग्रहण इसलिये है कि ‘कटं करोति’ यहां चतुर्थी न हो ॥

कर्म-ग्रहण इसलिये है कि ‘अश्वेन गच्छति’ यहां करण में द्वितीया, चतुर्थी न हों ॥

चेष्टा-ग्रहण इसलिये है कि ‘मनसा गृहं गच्छति’ यहां चेष्टा नहीं, इससे उक्त [अर्थात् चतुर्थी] विभक्ति नहीं हुई ॥

और ‘अनध्वनि’ ग्रहण इसलिये [है कि] ‘अध्वानं गच्छति’ यहां चतुर्थी विभक्ति न हो ॥

‘अध्वन्यर्थग्रहणम् ॥’ अध्व-शब्द के पर्यायवाची जो शब्द हैं, उन का भी निषेध में ग्रहण हो जावे ॥ [१॥]

‘आस्थितप्रतिषेधश्च ॥’ मार्गवाची मुख्य-शब्दों का निषेध होना चाहिये, क्योंकि ‘उत्पथेन पन्थानं गच्छति, पथे गच्छति’ यहां निषेध न हो ॥ [२॥] १२ ॥

चतुर्थी सम्प्रदाने ॥ १३ ॥

‘चतुर्थी । १ । १ । सम्प्रदाने । ७ । १ । ‘कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्’ ॥’ इति सम्प्रदान-सञ्ज्ञा कृता, तस्या इह फलमुच्यते । सम्प्रदानकारके चतुर्थी विभक्तिर्भवति । शिष्याय विद्यां ददाति । ब्राह्मणेभ्यो धनं ददाति । भिक्षवे भिक्षां ददाति । इत्यादिसम्प्रदान-सञ्ज्ञकेषु शब्देषु चतुर्थी भवति ॥

वा०—चतुर्थीविधाने तादर्थ्यं उपसङ्ख्यानम्^१ ॥ १ ॥

यूपाय दारु । कुण्डलाय हिरण्यमिति ॥^२

तस्मै = चतुर्थ्यन्तप्रयोजनाय यद् भवति, तद् तदर्थम् । तदर्थस्य भावः = तादर्थ्यम्, तस्मिन् ॥ १ ॥

क्लृपिसम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या ॥ २ ॥

मूत्राय कल्पते यवागूः । उच्चाराय^३ यवान्नमिति^४ ॥^५

यवागूमूत्रमुत्पादयितुं समर्थेत्यर्थः । क्लृप-धातोः सम्पद्यमाने = उत्पद्यमाने कारके चतुर्थी भवति ॥ २ ॥

उत्पातेन ज्ञाप्यमाने चतुर्थी वक्तव्या ॥ ३ ॥

वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी ।

कृष्णा सर्वविनाशाय^६ दुर्मिक्षाय सिता भवेत् ॥^७

मांसौदनाय व्याहरति मृगः ॥^८

उत्पातेन = कदाचिदाश्चर्यासम्भवदर्शनेन शकुनेन ज्ञाप्यमाने, इदमस्याश्चर्य-दर्शनस्य फलं भविष्यतीत्युत्पातो ज्ञापयति । तद्यथा— कपिला विद्युद् दृश्येत चेद् वायुवेगो भविष्यतीति ज्ञापनम् ॥ ३ ॥

हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या ॥ ४ ॥

हितमरोचकिने । हितमामयाविने ॥^९

१. कार०—सू० ५५ ॥

चा० श०—“सम्प्रदाने चतुर्थी ॥” (२।१।७३)

२. १ । ४ । ३२ ॥

३. चा० श०—“तादर्थ्ये ॥” (२।१।७६)

४. अ० २ । पा० ३ । आ० १ ॥

५. पाठान्तरम्—उच्चाराय कल्पते ॥

६. काशिकायां तु—उच्चाराय कल्पते यवागूः ॥

७. पाठान्तरम्—पीता भवति सस्याय ॥

काशिकायां तु—पीता वर्षाय विज्ञेया ॥

८. कोरोडत्र—“॥१॥” इति ॥

हितयोगे सर्वत्रैव चतुर्थी भवति ॥ [४॥] १३ ॥

सम्प्रदान-संज्ञा पूर्व कर चुके हैं। उस का फल यहां दिखाया जाता है। [‘सम्प्रदाने’] सम्प्रदान कारक में [‘चतुर्थी’] चतुर्थी विभक्ति हो। शिष्याय विद्यां ददाति। यहां शिष्य-शब्द की सम्प्रदान-संज्ञा होने से शिष्य-शब्द में चतुर्थी हुई है ॥

‘चतुर्थीविधाने तादर्थ्य उपसङ्ख्यानम् ॥’ कार्यवाची शब्द में चतुर्थी विभक्ति हो। यूपाय दारु। यहां यूप-शब्द कार्यवाची है, इससे यूप-शब्द में चतुर्थी हुई है ॥ १ ॥

‘क्लृपिसम्प्रद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या ॥’ क्लृपि धातु का उत्पन्न होने वाला जो कारक है, उस में चतुर्थी विभक्ति हो। मूत्राय कल्पते यवागूः। मूत्र के उत्पन्न करने में यवागू समर्थ है ॥ २ ॥

‘उत्पातेन ज्ञाप्यमाने चतुर्थी वक्तव्या ॥’ आकाश में विद्युत् के चमकने और गिरने को उत्पात कहते हैं। उत्पात से होने वाली बात जनाने में चतुर्थी विभक्ति हो। वाताय कपिला विद्युत्। कपिला विद्युत् जो चमके तो वायु अधिक चले। यह बात कपिला बिजली से जानी गई। इससे वात-शब्द में चतुर्थी हुई ॥ [३ ॥]

‘हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या ॥’ हित-शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति हो। हितमरोचकिने। यहां अरो[च]की-शब्द में चतुर्थी हुई ॥ [४ ॥] १३ ॥

क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः^२ ॥ १४ ॥

चतुर्थी-ग्रहणमनुवर्तते। क्रियार्थोपपदस्य। ६।१।च। [अ०।] कर्मणि। ७।१। स्थानिनः। ६।१। क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य, स क्रियार्थोपपदो धातुः, तस्य। स्थानिनः = अप्रयुज्यमानस्य। स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य क्रियार्थोपपदस्य धातोः कर्मणि कारके चतुर्थी विभक्तिर्भवति। वृक्रेभ्यो व्रजति। शशेभ्यो व्रजति। वृकान् शशांश्च हन्तुं व्रजति। अत्र हन-धातोरुपपदं व्रज-धातुः। हन्तिः क्रियार्थोपपदः, स चाप्रयुज्यमानः, तस्य वृक-शशौ कर्मणि, तत्र चतुर्थी भवति। ‘कर्मणि द्वितीया’^३ ॥ इति द्वितीया प्राप्ता। [अनेन सूत्रेण] चतुर्थी भवति। अतो द्वितीयापवादोऽयं योगः ॥

‘कर्मणि’ इति किम्। वृक्रेभ्यो व्रजत्यश्वेन। अत्राश्व-शब्दे चतुर्थी न भवति ॥

‘स्थानिनः’ इति किम्। वृकान् हन्तुं व्रजति। अत्रापि न भवति ॥ १४ ॥

१. कोश में “असम्भव आश्चर्यरूप [श]कुन देखने में आये उस” इन शब्दों को काटकर पंक्ति के ऊपर “आकाश में विद्युत् के चमकने और गिरने” ये शब्द बनाये गये हैं। हस्तलेख और स्याही आदि में कोई भेद नहीं ॥

कारकीय में—“आकाश से बिजली के चमकने और ओले पत्थर आदि गिरने को उत्पात कहते हैं।” (सू० ५८)

२. कार०—सू० ६० ॥

३. २।३।२ ॥

अनभिहित कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति प्राप्त थी। उस का अपवाद यह सूत्र है। [‘क्रियार्थोपपदस्य’] क्रिया के लिये क्रिया हो उपपद जिस के, उस [‘स्थानिनः’] अप्रयुज्यमान धातु के [‘कर्मणि’] अनभिहित कर्म कारक में चतुर्थी विभक्ति हो। वृकेभ्यो व्रजति = वृकान् हन्तुं व्रजति। यहां मारना जो क्रिया है, उस के लिये ‘व्रजति’ उपपद है^१। वह इन धातु अप्रयुज्यमान है। उस के कर्म में चतुर्थी विभक्ति हुई है ॥

कर्म-ग्रहण इसलिये है कि ‘वृकेभ्यो व्रजत्यश्वेन’ यहां अश्व-शब्द में चतुर्थी न हो ॥

और स्थानी-ग्रहण इसलिये है कि ‘वृकान् हन्तुं व्रजति’ यहां प्रयुज्यमान के होने से चतुर्थी नहीं हुई ॥ १४ ॥

तुमर्थाच्च भाववचनात् ॥ १५ ॥

पूर्व सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते। तुमर्थात्। ५।१।च। [अ०।] भाववचनात्। ५।१। अप्रयुज्यमानस्य क्रियार्थोपपदस्य धातोर्यत् कर्म, तद्वाचिनो भाववचनात् तुमर्थात् प्रातिपदिकाच्च चतुर्थी विभक्तिर्भवति। इष्टये व्रजति = इष्टिं कर्तुं व्रजति। पाकाय व्रजति = पाकं कर्तुं व्रजति। अत्राप्रयुज्यमानः क्रियार्थोपपदः कृन्-धातुः, तस्येष्टिः कर्म, तस्मिन् चतुर्थी ॥

तुमर्थ-ग्रहणं किम्। पाकं करोति ॥

[॥ १५ ॥

‘भाववचनाद्’ इति किमर्थम्। स्तावको गच्छति। अत्रोभयत्र चतुर्थी न भवति अप्रयुज्यमान क्रियार्थोपपद धातु का जो कर्म, उस का वाची [‘तुमर्थाद् भाववचनात्’] तुमर्थभाववचन जो प्रातिपदिक, उस से चतुर्थी विभक्ति हो। इष्टये व्रजति = इष्टिं कर्तुं व्रजति। यहां अप्रयुज्यमान क्रियार्थोपपद कृन् धातु है। इष्टि उस का कर्म है। उस में चतुर्थी विभक्ति होती है ॥

तुमर्थ-ग्रहण इसलिये है कि ‘पाकं करोति’ यहां चतुर्थी न हो ॥

और भाववचन-ग्रहण इसलिये है कि ‘स्तावको गच्छति’ यहां चतुर्थी न हो ॥ १५ ॥

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलं वषट् योगाच्च ॥ १६ ॥

चतुर्थी-ग्रहणमनुवर्त्तते। अन्यत् सर्वं निवृत्तम्। नमस्-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधा-अलं-वषट् योगात्। ५।१।च। [अ०।] ‘नमस्, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं, वषट्’ इत्येतैः शब्दैर्योगे चतुर्थी विभक्तिर्भवति। नमो गुरुभ्यः। नमः पितृभ्यः^४।

१. कोश में “उपपद है” इस के आगे “इन धातु के” इतना अधिक है ॥

२. कार०—सू० ६१ ॥

३. कार०—सू० ६२ ॥

चा० श०—“नमःस्वस्तिस्वाहास्वधावषट्-क्तायैः ॥” (२।१।७८)

४. अथर्ववेदे (५।३०।१२)—“नमः पितृभ्यः छत ये नयन्ति।”

स्वस्ति शिष्येभ्यः^१। अग्नये स्वाहा^२। सोमाय स्वाहा^३। स्वधा पितृभ्यः^४। अलं मल्लो मल्लाय। वषडग्नये। वषडिन्द्राय^५। एवं नमःस्वस्त्यादिषट्शब्दानां योगे चतुर्थी भवति ॥

वा०—अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणं कर्तव्यम् ॥ १ ॥

इह मा भूत्—अलङ्कुरुते कन्याम्। इहापि यथा स्यात्—प्रभु-
मल्लो मल्लाय। प्रभवति मल्लो मल्लाय ॥^६

पर्याप्त्यर्थाः समर्थपर्यायाः शब्दाः। मल्लाय मल्लः समर्थः ॥ १६ ॥

[‘नमःस्वस्ति०’] नमस्, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं, वषट्, इन शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति हो। नमो गुरुभ्यः। यहां नमस्-शब्द के योग में गुरु-शब्द से चतुर्थी। स्वस्ति शिष्येभ्यः। यहां स्वस्ति-शब्द के योग में शिष्य-शब्द से चतुर्थी। अग्नये स्वाहा^२। यहां स्वाहा-शब्द के योग में अग्नि-शब्द से चतुर्थी। स्वधा पितृभ्यः^४। यहां स्वधा-शब्द के योग में पितृ-शब्द से चतुर्थी। अलं मल्लो मल्लाय। यहां अलं-शब्द के योग में मल्ल-शब्द से चतुर्थी। वषडग्नये। और यहां वषट्-शब्द के योग में अग्नि-शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है ॥

‘अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणं कर्तव्यम् ॥’ अलं-शब्द से समर्थवाचक शब्दों का ग्रहण होना चाहिये, क्योंकि ‘अलङ्कुरुते कन्याम्’ यहां तो चतुर्थी विभक्ति न हो और ‘प्रभुर्मल्लो मल्लाय’ यहां अलं के पर्यायवाची प्रभु-शब्द से भी चतुर्थी विभक्ति हो जावे ॥ १६ ॥

मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु ॥ १७ ॥

१. अथर्ववेदे (१।३१।४)—“स्वस्ति गोभ्यो
जगते पुरुषेभ्यः।”

२. वा०—१०।५॥

तै०—१।८।१३।३॥

मै०—२।६।११॥

का०—१५।७॥

अ०—१६।४।१॥

३. वा०—१०।५॥

तै०—७।१।१४॥

मै०—२।६।११॥

का०—१५।७॥

अ०—१६।४३।५॥

४. वा०—२।७॥

तै०—१।१।११।१॥

मै०—१।२।१३॥

का०—३।१॥

[आ कृणोमि।”

५. ऋग्वेदे (७।६६।७)—“वषट् ते विष्णवांस

दृश्यतां कारकीथे—“[‘नमस्ते रुद्रमन्यवे’]

प्राण के लिये ‘नमः’ अन्न। [‘अग्नये स्वाहा’]

अग्नि में ‘स्वाहा’ संस्कृत हवि। [‘स्वधा पितृ-

भ्यः’] पितरों अर्थात् पिता आदि ज्ञानियों से

‘स्वधा’ अर्थात् अपने योग्य सुशिक्षा। [‘वष-

डिन्द्राय’] ‘इन्द्र’ बिजली की विद्या ग्रहण करने

के लिये उत्तम क्रिया अच्छी होती है।”

(सू० ६२ टिप्पणं †)

६. अ० २। पा० ३। आ० १॥

७. कार०—सू० ६४॥ [(२।१।८०)

चा० श०—“मन्याप्ये कुस्तायामनावादी वा ॥”

चतुर्थी-ग्रहणमनुवर्त्तते । मन्यकर्मणि । ७ । १ । अनादरे । ७ । १ । विभाषा । [अ० ।] अप्राणिषु । ७ । ३ । मन्यतेर्देवादिकस्य धातोः कर्म = मन्यकर्म, तस्मिन् । अनादरे = तिरस्कारे । मन्य-धातोरेनभिहितेऽचेतनवाचिकर्मणि चतुर्थी विभक्तिर्विकल्पेन भवत्यनादरे कर्त्तव्ये । त्वां तृणं मन्ये । त्वां तृणाय मन्ये । तृणवन्मन्य इत्यर्थः । अत्राप्राणिवाचिनि तृण-शब्दे द्वितीया-चतुर्थ्यौ भवतः ॥

‘मन्य’ इति विकरणग्रहणं किम् । त्वां तृणं मन्ये । अत्र चतुर्थी न भवति ॥

‘मन्यकर्मणि’ इति किम् । त्वां तृणं जानामि ॥

‘अनादरे’ इति किम् । भ्रातृपुत्रं सुतं मन्ये ॥

‘अप्राणिषु’ इति किम् । त्वां काकं मन्ये, शुक्रं मन्ये । अत्र सर्वत्र चतुर्थी न भवति ॥

वा०—अनावादिष्विति वक्तव्यम् ॥ १ ॥

‘अप्राणिषु’ इत्येतस्य स्थाने ‘अनावादिषु’ इति न्योसरूपं वार्त्तिकं कर्त्तव्यं, तेन प्राणिष्वपि कचिद् यथा स्यात् । न त्वा श्वानं मन्ये । न त्वा शुने मन्ये । अत्र प्राणिवाचिन्यपि श्व-शब्दे चतुर्थी भवति । अप्राणिवाचिन्यपि क्वचिन्न भवति । न त्वा नावं मन्ये यावत् तीर्णं न नाव्यम् । न त्वाऽन्नं मन्ये यावद् भुक्तं न श्राद्धम् । अत्राऽप्राणिवाचिनि नौ-शब्देऽन्न-शब्दे च चतुर्थी न भवति ॥ १७ ॥

इस सूत्र में ‘मन्य’ निर्देश दिवादिगण के धातु का किया है । [‘मन्यकर्मणि अप्राणिषु’] मन्य धातु के अप्राणिवाची अनभिहित कर्म में [‘विभाषा’] विकल्प करके [‘अनादरे’] तिरस्कार अर्थ में चतुर्थी विभक्ति हो । त्वां तृणं मन्ये । त्वां तृणाय मन्ये । यहां मन्य धातु के तृण कर्म में चतुर्थी और पक्ष में द्वितीया विभक्ति हुई है । मैं तुझ को तृण के तुल्य मानता हूं । यह तिरस्कार है ॥

दिवादिविकरण के ग्रहण से ‘त्वां तृणं मन्ये’ यहां चतुर्थी नहीं होती ॥

मन्यकर्म-ग्रहण इसलिये है कि ‘त्वां तृणं जानामि’ यहां जा धातु के कर्म में चतुर्थी न हो ॥

अनादर-ग्रहण इसलिये है कि ‘वाचं मन्ये सरस्वतीम्’ यहां चतुर्थी न हो ॥

१. चा० श०—“मन्याये कुत्सायामनावादौ वा ॥” (२ । १ । ८०)

वादिष्विति वक्तव्यम् ॥”

महाभाष्यकोशेषु पाठान्तरम्—“यदेतदप्राणिष्वित्येतदनावादिष्विति वक्ष्यामि ॥”

प्रक्रियाकौमुद्यां तु—“अप्राणिष्विति नौ-काकान्नशुकशृगालवर्जेष्विति वाच्यम् ॥” (विभक्त्यर्थप्रकरणे)

काशिकायां च—“यदेतदप्राणिष्विति तदना-

२. अ० २ । पा० ३ । आ० १ ॥

और अप्राणि-ग्रहण इसलिये है कि '[त्वां] काकं मन्ये' यहां भी चतुर्थी न हो ॥

'अनावादिष्विति वक्तव्यम् ॥' सूत्र में अप्राणि जो ग्रहण किया है, उस के स्थान में वार्तिक रूप 'अनावादिषु' ऐसा न्यास करना चाहिये, क्योंकि कहीं २ प्राणिवाची मन्य धातु के कर्म में भी चतुर्थी होती है। जैसे—न त्वा श्वानं मन्ये । न त्वा शुने मन्ये । यहां कुत्ते के वाची श्व-शब्द से चतुर्थी हो गई। तथा कहीं २ अप्राणिवाची में भी नहीं होती। जैसे—न त्वा नावं मन्ये यावत् तीर्थं न नाव्यम् । यहां नौका के वाची नौ-शब्द में भी चतुर्थी विभक्ति नहीं हुई ॥ १७ ॥

कर्तृकरणयोस्तृतीया' ॥ १८ ॥

कर्तृ-करणयोः । ७ । २ । तृतीया । १ । १ । अनभिहितयोः कर्तृ-करण-कारकयोस्तृतीया विभक्तिर्भवति । [कर्तरि—] देवदत्तेन कृतम् । देवदत्तेन भुक्तम् । मयाऽधीतम् । त्वया दृष्टम् । करणे—असिना छिनत्ति । दात्रेण लुनाति । अग्निना पचति । कर्तृ-करण-सङ्घे पूर्व^१ कृते, तयोरिदं फलं तृतीयाविधानम् ॥

वा०—तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य^३ उपसङ्ख्यानम् ॥

प्रकृत्या दर्शनीयः । प्रायेण याज्ञिकः^२ । प्रायेण वैयाकरणः^४ । माठरोऽस्मि गोत्रेण । गार्ग्योऽस्मि गोत्रेण । समेन धावति । विषमेण धावति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । [त्रिद्रोणेन धान्यं क्रीणाति ।] पञ्चकेन पशून् क्रीणाति । साहस्रेणाश्वान् क्रीणाति^५ ॥^७

अत्र कर्तृकरणकारकौ न स्तः, अतस्तृतीया न प्राप्ता । अनेन वार्तिकेन विधीयते ॥ १८ ॥

१. कार०—सू० ४० ॥ [(२ । १ । ६२, ६३)

चा० श०—“कर्तरि तृतीया ॥ करणे ॥”

२. १ । ४ । ५४, ४२ ॥

३. काशेकायाम्—प्रकृत्यादिनाम् ॥

प्रक्रियाकौमुद्यां तु “प्रकृत्यादिभ्यस्तृतीया ॥” इति वार्तिकम् ॥

४. पाठान्तरम्—याज्ञिकाः ॥

५. पाठान्तरम्—वैयाकरणाः ॥

६. “प्रकृत्या दर्शनीयः” इत्यादौ क्रियाया अविधानत्वात् कर्तृकरणे न सम्भवतः । तयोः क्रिया-पेक्षत्वात् । ततश्च सम्बन्धलक्षणा षष्ठी स्यात् —प्रकृतेर्दर्शनीयः । प्रायस्य याज्ञिकः । प्रायस्य

वैयाकरणः । (“प्रायेण याज्ञिकाः । प्रायेण वैयाकरणाः” इत्यत्र तु प्राय-शब्दो बहुवचनी । तत्र प्रथमा प्राप्नोति) “गोत्रेण” इत्यत्र प्रथमा षष्ठी वा स्यात् । “समेन धावति” इत्यादौ सत्यामपि क्रियायां न सम-विषम-शब्दौ करणत्वेन विवक्षितौ । किं तर्हि । कर्मत्वेन । ततश्च द्वितीया स्यात् । “द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति” इत्यत्रापि पूर्ववद् द्वितीयाप्राप्तिः । “पञ्चकेन” पञ्चकं सङ्घं कृत्वेति । “पशून्” इत्यनेनैतत् समानाधिकरणमिति द्वितीयैव स्यात् । “साहस्रेण” साहस्रं सङ्घं कृत्वेति । साहस्रं सङ्घं कृत्वेत्यर्थः ॥

७. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

अनभिहित ['कर्तृ-करणयोः'] कर्ता, करण कारकों में ['तृतीया'] तृतीया विभक्ति हो । [कर्ता—] देवदत्तेन कृतम् । यहां कर्तावाची देवदत्त-शब्द से तृतीया हुई । करण— दात्रेण लुनाति । और यहां करणवाची दात्र-शब्द से तृतीया विभक्ति हुई है । पूर्व प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद में 'कर्ता- और करण-संज्ञा कर चुके हैं । उस का फल यहां दिखलाया है ॥

'तृतीयाविग्रहे प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम् ॥' प्रकृति आदि शब्दों से भी तृतीया विभक्ति हो । प्रकृत्याऽभिरूपः । यहां कर्ता, करण कारक के न होने से तृतीया नहीं प्राप्त थी, सो इस वार्तिक से विधान की है । प्रकृति आदि शब्द बहुवचन हैं । वे संस्कृत में पूर्व लिख दिये हैं ॥ १८ ॥

सहयुक्तेऽप्रधाने ॥ १९ ॥

'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते । सहयुक्ते । ७ । १ । अप्रधाने । ७ । १ । सह-शब्देन युक्तेऽप्रधाने कर्तृकारके तृतीया विभक्तिर्भवति । शिष्येण सहागतोऽध्यापकः । पुत्रेण सहागतः पिता । अत्र शिष्यपुत्रावप्रधानौ, तत्र तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

अनभिहितस्याप्रधानत्वात् पूर्वसूत्रेणैव सिद्धा तृतीया । पुनर्वचनं सह-शब्देन विनाऽपि सहाय्ये गम्यमानेऽनेनैव तृतीया विभक्तिर्यथा स्यात्^१ । वत्सेन गौश्चरति । 'वत्सेन सह' इत्यर्थः ॥ १९ ॥

['सहयुक्ते'] सह-शब्द से युक्त ['अप्रधाने'] अप्रधान कर्ता कारक में तृतीया विभक्ति होती है । पुत्रेण सहागतः पिता । यहां पुत्र अप्रधान है । उस में तृतीया विभक्ति होती है ॥

पूर्व सूत्र से अप्रधान कर्ता में तृतीया विभक्ति हो जाती, फिर इस सूत्र के पृथक् पढ़ने से कहीं २ सह-शब्द का योग न हो, वहां भी तृतीया हो जाती है ॥ १९ ॥

येनाङ्गविकारः ॥ २० ॥

'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते । येन । ३ । १ । अङ्गविकारः । १ । १ । अङ्गस्य = शरीरस्य विकारः = अङ्गविकारः । 'येन' अङ्गेन इत्याक्षेपः । येनाङ्गेन = अवयवेन [विकृतेन] अङ्गिनो विकारो लक्ष्यते, तत्र तृतीया विभक्तिर्भवति^२ । अङ्गणा काणः । पादेन खञ्जः । अत्राक्षि-शब्देन पाद-शब्देन च काणत्वं खञ्जत्वं च लक्ष्यते, तत्रावयवे तृतीया भवति । एवं 'शिरसा खल्वाटः' [इति] अत्रापि ॥ २० ॥

['येन'] जिस [विकृत] अंग = अवयव से ['अङ्गविकारः'] शरीर का विकार प्रसिद्ध

१. सूत्र ५४ और ४२ ॥

४. कार०—सू० ४३ ॥

२. कार०—सू० ४२ ॥

५. वार्तिकं चापि भवति—“अङ्गाद् विकृतात्

चा० रा०—“सहयेन ॥” (२ । १ । ६५)

तद्विकारतश्चेदङ्गिनो वचनम् ॥” (अ० २ ।

३. “वृद्धो यूना० ॥” (१ । २ । ६५) इति

पा० ३ । आ० २)

निदर्शनात् ॥

हो, उस अवयव में तृतीया विभक्ति हो। शिरसा खल्वाटः। यहां शिरस्-शब्द से गञ्जापन प्रसिद्ध होता है, इससे शिरस्-शब्द में तृतीया विभक्ति हुई है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में समझना चाहिये ॥ २० ॥

इत्थंभूतलक्षणैः ॥ २१ ॥

इत्थंभूतलक्षणे । ७ । १ । लक्ष्यते येन तल्लक्षणम् । इत्थंभूतस्य लक्षणं = इत्थंभूतलक्षणं, तस्मिन् । इत्थंभूतलक्षणे तृतीया विभक्तिर्भवति । अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत् । अपि भवान् मेखलया ब्रह्मचारिणमद्राक्षीत् । अत्र कमण्डलु-मेखले लक्षणे, तत्र तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

‘इत्थंभूत’ इति किम् । वृत्तं प्रति विद्योतते विद्युत् । अत्र वृत्त-शब्दे तृतीया न भवति ॥ २१ ॥

[‘इत्थंभूतलक्षणे’] इत्थंभूत अर्थात् ‘इस प्रकार का’ यह बात जिस से जानी जाय, वहां तृतीया विभक्ति हो । अपि भवान् मेखलया ब्रह्मचारिणमद्राक्षीत् । यहां मेखला-शब्द से ब्रह्मचारी का स्वरूप जाना जाता है, इसलिये मेखला-शब्द में तृतीया होती है ॥

इत्थंभूत-ग्रहण इसलिये है कि ‘वृत्तं प्रति विद्योतते विद्युत्’ यहां वृत्त-शब्द में तृतीया न हो ॥ २१ ॥

सञ्ज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि ॥ २२ ॥

अप्राप्तविभाषेयम् । ‘कर्मणि द्वितीया’ ॥’ इति द्वितीया प्राप्ता । अप्राप्ता तृतीयाऽनेन विधीयते । पक्षे द्वितीयाऽपि भवति । सञ्ज्ञः । ६ । १ । अन्यतरस्याम् [अ० ।] कर्मणि । ७ । १ । सं-पूर्वकस्य ज्ञा-धातोरनभि[हि]ते कर्मणि विकल्पेन तृतीया विभक्तिर्भवति । मात्रा सञ्जानीते बालः । मातरं सञ्जानीते बालः । अत्र मातृ-शब्दे तृतीया-द्वितीये विभक्ती भवतः ॥ २२ ॥

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है, क्योंकि अनभि[हि]त कर्म में द्वितीया प्राप्त है और तृतीया किसी से प्राप्त नहीं । [‘सञ्ज्ञः’] सं पूर्वक ज्ञा धातु के [‘कर्मणि’] अनभिहित कर्म में तृतीया विभक्ति [‘अन्यतरस्यां’] विकल्प करके हो । पक्ष में द्वितीया हो । मात्रा सञ्जानीते बालः । मातरं सञ्जानीते बालः । यहां मातृ-शब्द में तृतीया और द्वितीया विभक्ति विकल्प से हुई हैं ॥ २२ ॥

हेतौ ॥ २३ ॥

१. कार०—सू० ४४ ॥

३. २।३।२॥

चा० श०—“लक्षणे ॥” (२।१।६६)

४. कार०—सू० ४६ ॥

२. कार०—सू० ४५ ॥

चा० श०—“हेतौ ॥” (२।१।६८)

चा० श०—“सञ्ज्ञो व्याप्ये वा ॥” (२।१।६७)

हेतौ । ७ । १ । हेतुवाचिशब्दे तृतीया विभक्तिर्भवति । विद्यया यशः ।
सत्सङ्गेन बुद्धिः । यशसो हेतुर्विद्या, तस्माद् विद्या-शब्दे तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

वा०—निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम् ॥^१ ॥

* निमित्त-कारण-हेतुषु त्रिषु शब्देषु सर्वासां [विभक्तीनां] प्रायेण = बहुलेन दर्शनं भवति ।

किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन वसति । कस्मै निमित्ताय वसति । कस्मान् निमित्ताद् वसति । कस्य निमित्तस्य वसति । कस्मिन् निमित्ते वसति । किं कारणं वसति । केन कारणेन वसति । कस्मै कारणाय वसति । कस्मात् कारणात् वसति । कस्य कारणस्य वसति । कस्मिन् कारणे वसति । को हेतुर्वसति । कं हेतुं वसति । केन हेतुनी वसति । कस्मै हेतवे वसति । कस्माद्धेतोर्वसति । कस्य हेतोर्वसति । कस्मिन् हेतौ वसति ॥^२ २३ ॥

['हेतौ'] हेतुवाची शब्द में तृतीया विभक्ति हो । विद्यया यशः । यश होने का हेतु विद्या है, इसलिये विद्या-शब्द में तृतीया विभक्ति हो गई ॥

'निमित्त-कारण-हेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम् ॥' निमित्त, कारण और हेतु इन तीन शब्दों [में] सब विभक्ति बहुत करके होती हैं । जैसे—किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय इत्यादि उदाहरण संस्कृत में सब लिख दिये हैं ॥ २३ ॥

अकर्त्तर्युणे पञ्चमी^३ ॥ २४ ॥

'हेतौ' इत्यनुवर्त्तते । अकर्त्तरि । ७ । १ । ऋणे । ७ । १ । पञ्चमी । १ । १ । कर्तृरहिते हेतौ पञ्चमी विभक्तिर्भवति ऋणे वाच्ये सति । शताद् बद्धः । सहस्राद् बद्धः । शतं सहस्रं वा ऋणमस्योपरि वर्त्तते, तस्माद् हेतोरुत्तमर्णेनाऽयं बद्ध इत्यर्थः । अत एव शत-सहस्र-शब्दयोः पञ्चमी भवति ॥

१. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

वृत्तिकारेण त्विदं वार्त्तिकं "सर्वनाम्नस्तृतीया च ॥" (२ । ३ । २७) इति सूत्रे पठितम् ॥

अत्र कैयटः—“निमित्तेति असर्वनाम्नोऽपि विधानार्थमत्र सूत्र इदं पठितं, न तु [वृत्तिकारवत्]

'सर्वनाम्नस्तृतीया च ॥' (२ । ३ । २७)

सूत्र । तत्र प्राय-ग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमा-

द्वितीये न भवतः, अन्यास्तु यथादर्शनं भवन्ति ।

पर्यायोपादानं केचित् पर्यायान्तरनिवृत्त्यर्थमिच्छन्ति । अन्ये तूपलक्ष्यार्थमिच्छन्तः प्रयोजनादिः प्रयोगेप्येतद्विभक्तिविधानं मन्यन्ते ॥”

२. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

३. कार०—सू० ४८ ॥

चा० श०—“ऋणे पञ्चमी ॥” (२ । १ । ६६)

अकर्तरि-ग्रहणं किमर्थम् । शतेन बन्धितः । अत्र प्रयोजककर्तृत्वेन शत-शब्दो विवाहितः, तस्मात् पञ्चमी [न] भवति ॥ २४ ॥

['अकर्तरि'] कर्ताभिन्न हेतुवाची शब्दों में ['पञ्चमी'] पञ्चमी विभक्ति हो ['ऋणे'] ऋण अर्थ में । शताद् बद्धः । सौ रुपये जिस पर आते थे, [उस को] उस ऋण के होने से ऋण वाले ने बांधा । इसलिये शत-शब्द में पञ्चमी विभक्ति हुई है ॥

'अकर्तरि' ग्रहण इसलिये है कि 'शतेन बन्धितः' यहाँ शत-शब्द में प्रयोजक कर्ता की विवक्षा होने से पञ्चमी विभक्ति न हुई ॥ २४ ॥

विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् ॥ २५ ॥

'हेतौ' इत्यनुवर्तते । विभाषा । [अ० ।] गुणे । ७ । १ । अस्त्रियाम् । ७ । १ । अप्राप्तविभार्षयम् । पूर्वेषु हेतुवाचिनि नित्यं तृतीया प्राप्ता, पञ्चमी विकल्प्यते । अस्त्रियां = स्त्रीलिङ्गं विहाय पुन्रपुंसकलिङ्गे वर्तमानो यो गुणशब्दः, तस्मिन् विकल्पेन पञ्चमी विभक्तिर्भवति । मौढ्याद् बद्धः । मौढ्येन बद्धः । पाण्डित्यात् पाण्डित्येन वा पूजितः । अत्र मौढ्यं पाण्डित्यं च गुणः, तत्र पञ्चमी-तृतीये भवतः ॥

'अस्त्रियाम्' इति किम् । प्रज्ञया पूजितः । बुद्ध्या पूजितः । अत्र स्त्रीलिङ्गत्वात् पञ्चमी विभक्तिर्न भवति ॥ २५ ॥

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है, क्योंकि हेतु अर्थ में तृतीया प्राप्त है [और] यहाँ पञ्चमी का विकल्प किया है । ['अस्त्रियां'] स्त्रीलिङ्ग को छोड़के पुल्लिङ्ग वा नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान जो ['गुणे'] गुणवाची शब्द, उस में ['विभाषा'] विकल्प करके पञ्चमी विभक्ति हो । मौढ्यान् मौढ्येन वा बद्धः । यहाँ मौढ्य अर्थात् मूढपन यह गुणवाची शब्द है । उस में पञ्चमी और तृतीया विभक्ति होती हैं ॥

'अस्त्रियां' ग्रहण इसलिये है कि 'प्रज्ञया पूजितः' यहाँ पञ्चमी विभक्ति न हो ॥ २५ ॥

षष्ठी हेतुप्रयोगे ॥ २६ ॥

तृतीया-पञ्चम्यौ निवृत्ते । षष्ठी । १ । १ । हेतुप्रयोगे । ७ । १ । हेतोः प्रयोगः = हेतुप्रयोगः, तस्मिन् । हेतु-शब्दस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्भवति । विद्याया हेतोर्वागणस्यां वसति । अन्नस्य हेतोर्धनिकुले वसति । अत्र सविशेषणे हेतु-शब्दे षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ २६ ॥

१. बन्धेर्यन्तस्य निष्ठायामेतद् रूपम् ॥

४. २।३।२३ ॥

२. अर्थात् सौ रुपये के ऋण ने बन्धवा दिया ॥

५. कार०—सू० ५० ॥

३. कार०—सू० ४६ ॥

चा० श०—“षष्ठी हेतुना ॥” (२।१।७१)

चा० श०—“गुणे वा ॥” (२।१।७०)

['हेतुप्रयोगे'] हेतु-शब्द के प्रयोग में ['षष्ठी'] षष्ठी विभक्ति-हो । अन्नस्य हेतोर्निकुले वसति । यहां विशेषण सहित हेतु-शब्द में षष्ठी विभक्ति हुई है ॥ २६ ॥

सर्वनामस्तृतीया च ॥ २७ ॥

पूर्व सूत्रं सर्वमनुवर्तते । सर्वनामः । ६ । १ । तृतीया । १ । १ । च । [अ० ।] सर्वनामविशेषणस्य हेतु-शब्दस्य प्रयोगे तृतीया-षष्ठ्यौ विभक्ती भवतः । केन हेतुना वसति, कस्य हेतोर्वसति । अनेन हेतुना, अस्य हेतोर्वा वसति । तेन हेतुना, तस्य हेतोर्वा वसति । अत्र सर्वनामविशेषणस्य हेतु-शब्दस्य प्रयोगे तृतीया-षष्ठ्यौ विभक्ती भवतः ॥ २७ ॥

['सर्वनामः'] सर्वनामवाची शब्द विशेषण सहित हेतु-शब्द के प्रयोग में ['तृतीया च'] तृतीया [और] षष्ठी विभक्ति हों । केन हेतुना, कस्य हेतोर्वा वसति । यहां सर्वनामवाची किं-शब्द विशेषणसहित [हेतु-] शब्द के प्रयोग में तृतीया, षष्ठी विभक्ति हुई है ॥ २७ ॥

अपादाने पञ्चमी ॥ २८ ॥

'ध्रुवमपायेऽपादानम्' ॥ इत्यपादान-सञ्ज्ञा कृता । तस्या इह फलमुच्यते ! अपादाने । ७ । १ । पञ्चमी । १ । १ । अपादानकारके पञ्चमी विभक्ति-र्भवति । ग्रामादागच्छति । वृक्षात् पर्णानि पतन्ति । वृकेभ्यो बिभेति । अध्ययनात् पराजयत इत्युदाहरणेषु ग्रामाद्यपादानशब्देषु पञ्चमी विभक्तिर्भवति ॥

वा०—पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसङ्ख्यानम् ॥ १ ॥

ल्यबन्तस्य यत् कर्म, तत्र [ल्यब्लोपे] पञ्चमी विभक्तिर्भवति । प्रासादमारुह्य प्रेक्षते = प्रासादात् प्रेक्षते । अत्र 'आरुह्य' इति ल्यबन्तं, तस्य प्रासादः कर्म, तत्र पञ्चमी ॥ १ ॥

अधिकरणे च ॥ २ ॥

ल्यबन्तस्य यदधिकरणं, तत्रापि [ल्यब्लोपे] पञ्चमी भवति । आसन उपविश्य प्रेक्षते = आसनात् प्रेक्षते । शयनात् प्रेक्षते । अत्र 'उपविश्य' इति ल्यबन्तस्यासनमधिकरणं, तस्मिन् पञ्चमी ॥ २ ॥

प्रश्नाख्यानयोश्च ॥ ३ ॥

१. कार०—सू० ५१ ॥

चा० श० (२।१।७२)—“सर्वाः सर्वादिभ्यो हेत्वर्थैः ॥ (हेत्वर्थैः शब्दैर्योगे सर्वादिभ्यः सर्वा विभक्तयो भवन्ति)”

२. कार०—सू० ७७ ॥

चा० श०—“अवधेः पञ्चमी ॥” (२।१।८१)

३. १।४।२४ ॥

४. अ० २।पा० ३।आ० २ ॥

प्रश्नवाचिशब्दे आख्यानवाचिशब्दे च पञ्चमी भवति । कुतो भवान् । पाटलिपुत्रात्^१ । अत्र 'कुतः' इति प्रश्नवाचिशब्दे पञ्चमी, 'पाटलिपुत्रात्' इत्याख्यानवाचिशब्दे च ॥ ३ ॥

यतश्चाध्वकालनिर्माणम् ॥^२४ ॥

यस्मादध्वनिर्माणं कालनिर्माणं च भवति, तद्वचिशब्दादपि पञ्चमी वक्तव्या । गवीधुमतः^३ साङ्काश्यं चत्वारि योजनानि । गवीधुमतो नगरात् साङ्काश्यं नगरं चत्वारि योजनानि इति मार्गनिर्माणं = [मार्ग-] इयत्तादर्शनम् । कालनिर्माणम्— कार्तिक्या आप्रहायणी मासे । कार्तिक्याः पौर्णमास्या आप्रहायणी मास इति कालनिर्माणम् । गवीधुमत-शब्दादध्वनिर्माणं, तत्र पञ्चमी । कार्तिकी-शब्दात् कालनिर्माणं, तत्र च ॥ ४.॥

तद्युक्तात् काले सप्तमी ॥^२५ ॥

१. कोशे तु—“पाटलिपुत्रादसति ।” इति । कारकी-
येऽप्येष एव पाठः ॥ (सू० ८०)

२. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

३. नेदं नगरं कुत्रचिदप्युपवर्णितम् । दिष्ट्या सं-
युक्तप्रान्त इटावानगरात् त्रिषु योजनेषु पूर्वोत्तर-
दिश्ये कुद्वारकोटग्रामे श्रीहरिदत्तसुतस्य श्रीहरि-
वर्मणः शिलालेखः सम्प्राप्तः । (इत्यतां “पपि-
ग्राफिया इण्डिका” प्रथमो भागः पृ० १८०.
Epigr. Ind. Vol. 1. p. 180). यतस्मा-
च्छ्रव्यतेऽनुमातुं—पुरा “गवीधुमान्” इति लब्ध-
प्रतिष्ठं “रम्यं सन्ततवेदविद्याव्याख्यानघोषवाधिरिकृ-
तदिङ्मुखं” नगरं सम्प्रति नष्टविभवं “कुद्वारकोट”
इति नामान्तरं विधत्त इति ॥

अथ शिलालेखः—

(पं० १) आसीच्छ्रीहरिदत्ताख्यः

(पं० २) ख्यातो हरिरिवापरः ।

श्रीहर्षे समुत्कर्ष नीतोपि विद्वतो नयः ॥ [२॥]

(पं० १०) रम्ये गवीधुमति सन्ततवेदविद्या-
व्याख्यान-

(पं० १२) घोषव[व]धिरिकृतदिङ्मुखेस्मिन् ।

उच्चैरचीकारदुरस्थिरचारचित्रं

त्रैविद्यमन्दिरमुदारमिदं स साधुः ॥ [१५॥]

४. रामायणे “साङ्काश्या” इति ॥ (महाराष्ट्रशा-
खीये बालकाण्डे सप्ततितमे सर्गे श्लो० ३, ७)

इदं नगरमिच्छुमत्याः (“कालीनदी” इत्य-
परनाम्न्याः) वामतारे फतहगढ़नगरात् पश्चिमदिश्ये-
कादशक्रोशेषु, कान्यकुब्जनगराच्चोत्तरपश्चिमस्थां
द्वाविंशतिक्रोशेषु “संकिसा” इति नाम्ना सम्प्रति
लोके प्रासिद्धम् । कुद्वारकोटग्रामादष्टादशक्रोशाध्वना
विच्छिन्नोऽयं संकिसाग्रामः । पुरात्र बौद्धानां महाच-
तीर्थ आसीत् । धर्मराजप्रियदर्शिनः शोकेन
कारितः स्तूपश्चात्राद्यावधि तिष्ठति ॥

रामायणे चोक्तम्—

“ततः प्रभाते जनकः कृतकर्मा महर्षिभिः ।

उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शतानन्दं पुरोहितम् ॥ १॥

आता मम महतेजा वीर्यवानतिधार्मिकः ।

कुशध्वज इति ख्यातः पुरीमध्यवसच्छुभाम् ॥ २॥

वार्याफलकपर्यन्तां पिवन्निच्छुमतीं नदीम् ।

साङ्काश्यां पुष्पसङ्काशां विमानमिव पुष्पकम् ॥ ३॥”

(महाराष्ट्रशाखीये बालकाण्डे सप्ततितमः सर्गः)

अथापि इत्यतां विनयपिटके सुत्तविभक्ते

प्रथमपाराजिके (१ । ४) वेरञ्जमाणवारम् ॥

तैथुकात् = पञ्चमीयुकात् कालवाचिशब्दे सप्तमी भवति, सा च मास-शब्दे पूर्ववार्तिके दर्शिता ॥ ५ ॥

अध्वनः प्रथमा च ॥ ६ ॥

‘सप्तमी’ इत्यनुवर्तते । अध्ववाचिनि शब्दे प्रथमा-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः । गवीधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानि । गवीधुमतः साङ्काश्यं चतुर्षु योजनेषु । अत्र योजन-शब्दे प्रथमा-सप्तम्यौ भवतः ॥ [६॥] २८ ॥

पूर्व^२ अपादान-सञ्ज्ञा कर चुके हैं । उस का फल यहां दिखलाते हैं । [‘अपादाने’] अपादान कारक में [‘पञ्चमी’] पंचमी विभक्ति हो । ग्रामादागच्छति इत्यादि उदाहरणों में ग्राम आदि अपादान-सञ्ज्ञक शब्दों से पंचमी विभक्ति होती है ॥

अब आगे वार्तिकों के अर्थ किये जाते हैं—

‘पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसङ्ख्यानम् ॥’ ल्यब्लुप्त क्रिया का लोप हो और उस का जो कर्म है, उस में पञ्चमी विभक्ति हो । प्रासादमारुह्य प्रेक्षते = प्रासादात् प्रेक्षते । यहां ल्यबन्त क्रिया आरुह्य है । उस का लोप हो गया है, इससे उस के प्रासाद कर्म में पंचमी विभक्ति हुई है ॥ १ ॥

‘अधिकरणे च ॥’ ल्यबन्त क्रिया का जो अधिकरण है, इस में पञ्चमी विभक्ति हो और ल्यबन्त क्रिया का लोप हो जावे । आसने उपविश्य प्रेक्षते = आसनात् प्रेक्षते । यहां उपविश्य ल्यबन्त क्रिया है । उस के आसन अधिकरण शब्द में पंचमी हुई और उप-विश्य ल्यबन्त का लोप हो गया ॥ २ ॥

‘प्रश्नाख्यानयोश्च ॥’ प्रश्न और आख्यानवाची शब्द में पंचमी विभक्ति हो । कुतो भवान् । पाटलिपुत्रात्^३ । यहां कुतः-शब्द में प्रश्नवाची के होने से और पाटलिपुत्र-शब्द में आख्यान के होने से पंचमी विभक्ति हुई है ॥ ३ ॥

‘यतश्चाध्वकालनिर्माणम् ॥’ जहां से मार्ग और काल का प्रमाण किया जाय, वहां पंचमी विभक्ति हो । गवीधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानि । गवीधुमान् किसी नगर का नाम है, उस से सांकाश्य नगर चार योजन दूर है । यहां गवीधुमान् से मार्ग का प्रमाण होता है । इससे उस में पंचमी विभक्ति हो गई । और योजन-शब्द में प्रथमा और सप्तमी दो विभक्ति हों—योजनानि, योजनेषु । कालनिर्माण—कार्तिक्या आग्रहायणी मासे । यहां कार्तिकी-शब्द से काल का प्रमाण है । उस में पंचमी और मास-शब्द में सप्तमी विभक्ति होती है ॥ [४—६॥] २८ ॥

अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते^४ ॥ २९ ॥

१. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

(सू० ८०) भी इसी प्रकार से है ॥

२. १ । ४ । २४ ॥

४. कार०—सू० ८४ ॥

३. कोश में—“पाटलिपुत्रादसति ॥” कारकीय में

चा० श०—“अते द्वितीया च ॥” (२।१।व४)

‘पञ्चमी’ इत्यनुवर्तते । [अन्य० । ७ । १ ।] ‘अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिक्छब्द, अञ्चूत्तरपद, आच्, आहि’ इत्येतैर्योगे पञ्चमी विभक्तिर्भवति । अन्य’—अन्योऽयं वृत्तः पूर्वदृष्टात् । अन्यमिदं कुलं पूर्वदृष्टात् । आरात्—क्षत्रियादारात् । इतर—इतरो देवदत्तात् । ऋते—ऋते ज्ञानाज्ञ मुक्तिः । दिग्वाचिनः शब्दाः=दिक्छब्दाः—पूर्वो ग्रामात् कूपः । उत्तरो ग्रामात् कूपः । अञ्चुः क्विन्नन्तो धातुरुत्तरपदं यस्य, सोऽञ्चूत्तरपदः—प्राग् ग्रामाज्ञदी । प्रत्यग् ग्रामाज्ञदी । आच्—दक्षिणा ग्रामात् । अत्र ‘दक्षिणादाच्’ ॥’ इत्याच्-प्रत्ययान्तस्याव्यय-शब्दस्य ग्रहणम् । आहि—दक्षिणाहि ग्रामात् । अत्राप्याहि-प्रत्ययान्तस्याव्ययस्यैव ग्रहणम् । अन्य-शब्दादियोगे शब्दान्तरेभ्यः परा पञ्चमी भवति ॥

‘दिक्छब्द’ इत्येत् सिद्धेऽञ्चूत्तरपद-ग्रहणं किमर्थम् । ‘षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन’ ॥’ इत्यतसर्थप्रत्ययान्तस्य योगे षष्ठी विहिता, तद्वाधनार्थमञ्चूत्तरपद-ग्रहणम् । अञ्चूत्तरपदस्यातसर्थत्वात् । अतसर्थेऽञ्चूत्तरपदमप्यव्ययं वर्तते ॥ २९ ॥

[‘अन्यारा०’] अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिशावाची शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच्-प्रत्ययान्त अव्यय शब्द, आहि-प्रत्ययान्त अव्यय, इन शब्दों के योग में पंचमी विभक्ति हो । अन्य—अन्यो देवदत्ताद् यज्ञदत्तः । यहां अन्य-शब्द के योग में देवदत्त-शब्द से पंचमी विभक्ति हुई । आरात्—आराच्छूद्राद् रजकः । यहां आरात् के योग में शूद्र-शब्द से । इतर—स्वस्मादितरं न गृह्णीयात् । यहां इतर-शब्द के योग में स्व-शब्द से पंचमी । ऋते—ऋते ज्ञानाज्ञ मुक्तिः । यहां ऋते-शब्द के योग में ज्ञान-शब्द से पंचमी । दिग्वाची शब्द—पूर्वो ग्रामात् कूपः । यहां दिग्वाची पूर्व-शब्द के योग में ग्राम-शब्द से पंचमी । अञ्चूत्तरपद—प्राग् ग्रामात् । यहां अञ्चूत्तरपद प्राक्-शब्द के योग में ग्राम-शब्द से पंचमी । आच्-प्रत्ययान्त—दक्षिणा कूपाद् वृत्तः । यहां आच्-प्रत्ययान्त दक्षिणा-शब्द के योग में कूप-शब्द से पंचमी । आहि-प्रत्ययान्त—दक्षिणाहि नगराद् वृत्तः । और यहां आहि-प्रत्ययान्त दक्षिणाहि-शब्द के योग में नगर-शब्द से पंचमी विभक्ति होती है ॥

“दिक्छब्द” के ग्रहण से अञ्चूत्तरपद के उदाहरण भी सिद्ध हो जाते, फिर अञ्चूत्तरपद-ग्रहण इसलिये है कि आगे के सूत्र से षष्ठी विभक्ति प्राप्त है, उस को बाध कर पंचमी विभक्ति ही हो ॥ २० ॥

षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन ॥ ३० ॥

षष्ठी । १ । १ । अतसर्थप्रत्ययेन । ३ । १ । अतसुच्-प्रत्ययस्य येऽर्थाः,

१. जयादित्यः—“अन्य इत्यर्थग्रहणम् ॥”

३. २ । ३ । ३० ॥

२. ५ । ३ । ३६ ॥

४. कार०—सू० ८५ ॥

तत्र विहिताः प्रत्यया अतसर्थाः । अतसर्थाश्च ते प्रत्ययाः = अतसर्थप्रत्ययाः । अतसर्थप्रत्ययान्तेन युक्ते सति षष्ठी विभक्तिर्भवति । दक्षिणतो ग्रामस्य । उत्तरतो ग्रामस्य । उपरि ग्रामस्य । उपरिष्ठाद् ग्रामस्य । पश्चाद् ग्रामस्य इत्याद्युदाहरणेष्व-
तसर्थप्रत्ययान्ताव्यययोगे ग्राम-शब्दात् षष्ठी भवति ॥ ३० ॥

['अतसर्थप्रत्ययेन'] अतसुच्-प्रत्ययान्त के अर्थों में वर्तमान जो अव्यय-शब्द हैं, उन के योग में अन्य शब्द से ['षष्ठी'] षष्ठी विभक्ति हो । दक्षिणतो ग्रामस्य । उपरि ग्रामस्य । इत्यादि उदाहरणों में अतसर्थप्रत्ययान्त अव्ययों के योग में ग्राम-शब्द से षष्ठी विभक्ति हुई है ॥ ३० ॥

एनपा द्वितीया' ॥ ३१ ॥

पूर्वसूत्रेण षष्ठी प्राप्ता । तस्यायमपवादः । एनप्-प्रत्ययस्यातसर्थत्वात् । 'एनवन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः' ॥' इति सूत्रमागमिष्यति, अस्येदं ग्रहणम् । एनपा । ३ । १ । द्वितीया । १ । १ । एनप्-प्रत्ययस्य योगे द्वितीया विभक्तिर्भवति । दक्षिणेन ग्रामम् । उत्तरेण ग्रामम् । अत्रैनप्-प्रत्ययस्य योगे ग्राम-शब्दाद् द्वितीया ॥ ३१ ॥

अतसर्थ प्रत्ययों में एनप्-प्रत्यय के होने से पूर्व सूत्र से षष्ठी विभक्ति प्राप्त थी, उस का अपवाद यह सूत्र है । ['एनपा'] एनप्-प्रत्ययान्त अव्यय के योग में ['द्वितीया'] द्वितीया विभक्ति हो । दक्षिणेन ग्रामम् । यहां दक्षिणेन एनप्-प्रत्ययान्त के योग में ग्राम-शब्द से द्वितीया हुई है ॥ ३१ ॥

पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् ॥ ३२ ॥

अप्राप्तविभाषेयम् । अप्राप्ता तृतीया विकल्प्यते । [पृथग्-विना-नानाभिः । ३ । ३ । तृतीया । १ । १ । अन्यतरस्याम् । अ० ।] 'पृथक्, विना, नाना' इति त्रयाणामव्ययानां योगे विकल्पेन तृतीया विभक्तिर्भवति । पक्षे पञ्चमी भवति । पृथग्रामेण, पृथग्रामात् । विना धृतेन, विना धृतात् । नाना धृतेन, नाना धृतात् । अत्र पृथगादियोगे ग्रामादिशब्देषु तृतीया-पञ्चम्यौ भवतः ॥

अत्र जयादित्य-भट्टोजिदीक्षितादयो येन केन प्रकारेण विनायोगे द्वितीयां

१. कार०—स० ८६ ॥

चा० श०—“एनपा ॥” (२ । १ । ५३)

२. ५ । ३ । ३५ ॥

३. कार०—स० ८७ ॥

चा० श०—“विना तृतीया च ॥ पृथग्विना-
नानाम् ॥” (२ । १ । ८५, ८६)

४. काशिकायाम्—“पृथग्विनानानाभिरिति योग-
विभागो द्वितीयार्थः ।”

सिद्धान्तकौमुद्याम्—“पञ्चमीद्वितीयेऽनुवर्त्ते-
ते ।” (कारकप्रकरणे)

प्रक्रियाकौमुद्याम्—“पक्षे पञ्चमीद्वितीये ।”
(विभक्त्यर्थप्रकरणे)

विदधति । तदिदं तेषां भ्रम एवास्ति । कुतः । यदि विनायोगे द्वितीयाऽनेन स्यात्, तर्हि महाभाष्यकारेण पञ्चम्या व्याख्यानं कृतं, द्वितीयायाः कथं न कुर्यात् । अन्यच्च 'कर्मणि द्वितीया' ॥' इति सूत्रस्य व्याख्याने 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति वचनादविहिता द्वितीया कस्यचिच्छब्दस्य योगे सत्प्रयोगेषु दृष्टा चेत्, सिद्धा मन्तव्या । अतो जयादित्यादीनां कथनमवद्यतरमेवास्ति ॥ ३२ ॥

इस सूत्र में अग्रासविभाषा है, क्योंकि तृतीया विभक्ति किसी से प्राप्त नहीं । उस का विकल्प इस सूत्र से किया है । ['पृथक्-विना-नानाभिः'] पृथक्, विना, नाना इन तीन अव्यय शब्दों के योग में ['अन्यतस्स्याम्'] विकल्प करके ['तृतीया'] तृतीया विभक्ति हो । पञ्च में पंचमी हो । पृथक् स्थानेन, पृथक् स्थानात् । यहां पृथक्-शब्द के योग में स्थान-शब्द से । विना—विना घृतेन, विना घृतात् । यहां विना-शब्द के योग में घृत-शब्द से । नाना—नाना पदार्थेन, नाना पदार्थात् । और यहां नाना-शब्द के योग में पदार्थ-शब्द से तृतीया और पंचमी विभक्ति होती हैं ॥

इस सूत्र में जयादित्य और भट्टोजिदीक्षित आदि पण्डितों ने जिस किसी प्रकार से 'विना-शब्द के योग में द्वितीया विभक्ति होती है' ऐसा लिखा है, सो ठीक नहीं, क्योंकि महाभाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या में पंचमी की अनुवृत्ति ली है । जो द्वितीया आती, सो उस को भी लिखते । और अनभिहित कर्म में जहां द्वितीया विभक्ति होती है, वहां एक कारिका लिख चुके हैं । उस का यही प्रयोजन है कि जिन शब्दों के योग में किसी सूत्र से द्वितीया विधान नहीं और सत्य ग्रन्थों में आवे, उस को इसी कारिका से समझना चाहिये । इसलिये उक्त लोगों का व्याख्यान किसी प्रकार ठीक नहीं ॥ ३२ ॥

करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य^२ ॥ ३३ ॥

चकारेण 'तृतीया' इत्यनुवर्तते । पञ्चमी स्वाभाविकाऽनुवर्तत एव । करणे । ७ । १ । च । [अ० ।] स्तोक-अल्प-कृच्छ्र-कतिपयस्य । ६ । १ । असत्त्व-वचनस्य । ६ । १ । असत्त्ववचनस्य = अद्रव्यवाचिनां स्तोकादीनां करणे तृतीया-पञ्चम्यौ विभक्ती भवतः । यत्र स्तोकादिभिः सह विशेषो नोच्यते, तत्र स्तोका-द्वयोऽसत्त्ववचना भवन्ति । स्तोकेन मुक्तः, स्तोकान्मुक्तः । अल्पेन मुक्तः, अल्पा-न्मुक्तः । कृच्छ्रेण बद्धः, कृच्छ्राद्बद्धः । कतिपयेन मुक्तः, कतिपयान्मुक्तः । अत्र करणवाचिभ्यः स्तोकादिभ्यस्तृतीया-पञ्चम्यौ भवतः ॥

'असत्त्ववचनस्य' इति किम् । स्तोकेन जलेन तृप्तः । अल्पेन मद्येन मत्तः ॥

करण-ग्रहणं किम् । अल्पं त्यजति । स्तोकं मुञ्चति । अत्रौभयत्र करणा-
भावात् तृतीया विभक्तिर्न भवति ॥ ३३ ॥

['असत्त्वचनस्य'] अद्रव्यवाची ['स्तोक-अल्प-कृच्छ्र-कतिपयस्य'] स्तोक,
अल्प; कृच्छ्र, कतिपय इन शब्दों से ['करणे'] करण कारक में तृतीया और पंचमी विभ-
क्ति हैं । स्तोकेन मुक्तः, स्तोकान्मुक्तः । अल्पेन अल्पाद्वा मुक्तः । कृच्छ्रेण
कृच्छ्राद्वा मुक्तः । कतिपयेन कतिपयाद्वा मुक्तः । यहां स्तोक आदि शब्दों से तृतीया,
पंचमी विभक्ति हुई हैं ॥

अद्रव्यवाची का ग्रहण इसलिये है कि 'अल्पेन जलेन तृप्तः' यहां पंचमी विभक्ति
नहीं हो ॥

करण-ग्रहण इसलिये है कि 'अल्पं त्यजति' यहां तृतीया [और] पंचमी विभक्ति
न हों ॥ ३३ ॥

दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् ॥ ३४ ॥

दूरान्तिकार्थैः । ३ । ३ । षष्ठी । १ । १ । अन्यतरस्याम् । १० । [अ० ।]
दूरार्थानामन्तिकार्थानां = समीपार्थानां शब्दानां योगे षष्ठी विभक्तिर्विकल्पेन भवति ।
पक्षे पञ्चमी । दूरं ग्रामस्य, दूरं ग्रामात् । विप्रकृष्टं ग्रामस्य, विप्रकृष्टं ग्रामात् ।
अन्तिकं ग्रामस्य, अन्तिकं ग्रामात् । समीपं ग्रामस्य, समीपं ग्रामात् ॥

[अन्यतरस्यां-ग्रहणे प्रकृते पुनर्] अन्यतरस्यां-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—
पञ्चमी यथा स्यात् । अन्यथा समीपस्यानुवर्तनात् तृतीया मा भूत् ॥ ३४ ॥

['दूरान्तिकार्थैः'] दूरवाची और समीपवाची शब्दों के योग में ['अन्यतरस्यां']
विकल्प करके ['षष्ठी'] षष्ठी विभक्ति हो, और पक्ष में पंचमी हो । दूरे विप्रकृष्टं वा
ग्रामस्य । दूरं विप्रकृष्टं वा ग्रामात् । यहां दूरवाची दूर- और विप्रकृष्ट-शब्द के योग में
ग्राम-शब्द से षष्ठी, पञ्चमी विभक्ति । अन्तिकं समीपं वा ग्रामस्य ग्रामाद् वा । यहां
समीपवाची अन्तिक- और समीप-शब्द के योग में ग्राम-शब्द से षष्ठी, पंचमी विभक्ति हुई हैं ॥

विकल्प-ग्रहण पक्ष में पंचमी होने के लिये समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च ॥ ३५ ॥

'षष्ठ्यन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्तते । षष्ठ्या विकल्पात् पक्षे पञ्चमी भवति ।
एवं विभक्तित्रयं सिद्धं भवति । दूरान्तिकार्थेभ्यः शब्देभ्यो द्वितीया भवति, विकल्पेन
षष्ठी भवति । पक्षे पञ्चमी च^३ । दूरं, दूरस्य, दूराद् वा ग्रामस्य । विप्रकृष्टं, विप्र-

१. कार०—सू० ८६ ॥

२. कार०—सू० ६० ॥

३. जयदित्यस्तु—“पञ्चम्यनुवर्तते । दूरान्ति-

कार्थेभ्यः शब्देभ्यो द्वितीया विभक्तिर्भवति ।

चकारात् पञ्चमी तृतीयापि समुच्चीयते ।”

शब्दकौस्तुभे—“चकारात् पञ्चमीतृतीये ।”

कृष्टस्य, विप्रकृष्टाद् वा ग्रामस्य । अन्तिकं, अन्तिकस्य, अन्तिकाद् वा ग्रामस्य । सनीडं, सनीडस्य, सनीडाद् वा ग्रामस्य । पूर्वसूत्रेण दूरान्तिकार्थयोगेऽन्यशब्दैभ्यो विभक्तिविधानम् । अत्र तु दूरान्तिकार्थेभ्य एव विभक्तयो भवन्ति ॥ ३५ ॥

['दूरान्तिकार्थेभ्यः'] दूरवाची और समीपवाची शब्दों से ['द्वितीया'] द्वितीया हो । विकल्प करके षष्ठी और पञ्च में पञ्चमी विभक्ति हो । दूरं, दूरस्य, दूराद् वा ग्रामस्य । विप्रकृष्टं, विप्रकृष्टस्य, विप्रकृष्टाद् वा ग्रामस्य । यहां दूरवाची शब्दों से द्वितीया, षष्ठी और पञ्चमी । तथा 'अन्तिकं, अन्तिकस्य, अन्तिकाद् वा ग्रामस्य । समीपं, समीपस्य, समीपाद् वा ग्रामस्य' यहां समीपवाची शब्दों से उक्त तीनों विभक्ति होती हैं । पूर्व सूत्र से तो दूरवाची और समीपवाचियों के योग में विभक्ति होती हैं और यहां इन्हीं से होती हैं ॥ ३५ ॥

सप्तम्यधिकरणे च ॥ ३६ ॥

'दूरान्तिकार्थेभ्यः' इत्यनुवर्तते । सप्तमी । १ । १ । अधिकरणे । ७ । १ । च । [अ० ।] अधिकरण-सञ्ज्ञा पूर्व कृता^१, तस्या इह फलं दर्शयते ॥

भा०—अधिकरणं नाम त्रिप्रकारकं^३ भवति^४—व्यापकं, औपश्लेषिकं, वैषयिकमिति ॥^५

इदं वचनं महाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य प्रथमपादे 'संहितायाम्^६ ॥' इति सूत्रस्योपरि वर्तते । अस्मिन् त्रिप्रकारकेऽधिकरणकारके सप्तमी विभक्तिर्भवति, दूरान्तिकार्थेभ्य-श्च^७ । व्यापके—तिलेषु तैलम् । दध्नि घृतम् । तैलं तिलेषु व्याप्तं, दध्नि घृतं च व्याप्तं भवति । अतोऽत्र व्यापकेऽधिकरणे सप्तमी । औपश्लेषिके—कटे शेते । खट्वायां शेते । ग्रामे वसति । अत्र कट-खट्वा-ग्रामा[णां] सर्वावयवेषु व्याप्तो न भवत्यत उपश्लेषः । वैषयिके—अशिति = अशिद्विषये । आर्धधातुके = आर्धधातु-कविषये । खेशकुनयः । खेविषय इति गम्यते ॥

वार्तिकानि—

सप्तमीविधाने क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम् ॥^८ १ ॥

क्त-प्रत्ययान्ताद् इन्-प्रत्ययविषये यत् कर्म, तत्र सप्तमी विभक्तिर्भवति । असा-

१. कार०—सू० १३३ ॥

चा० श०—"सप्तम्याधारे ॥" (२ । १ । ८८)

२. "आधारोऽधिकरणम् ॥" (१ । ४ । ४५)

३. कोशे—त्रिःप्रकारकम् ॥

४. महाभाष्यकोशेषु न दृश्यते ॥

५. अ० ६ । पा० १ । आ० ३ ॥

६. ६ । १ । ७२ ॥

७. एतेषामुदाहरणानि—दूरे ग्रामस्य । विप्रकृष्टे ग्रामस्य । अन्तिके ग्रामस्य । सनीडे ग्रामस्य ॥

८. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

वधीती व्याकरणे । परिगणिती याज्ञिक्ये^१ । अत्र 'असावधीती' इत्यस्य व्याकरणं कर्म, तत्र सप्तमी । अमुना मनुष्येण व्याकरणमधीतम् ॥ १ ॥

साध्वसाधुप्रयोगे च ॥^२२॥

साधु-शब्दस्य असाधु-शब्दस्य च योगेऽन्यशब्दात् सप्तमी भवति । साधु-देवदत्तो मातरि^३ । असाधुर्मातुले कृष्णः । अत्र साधु-असाधु-शब्दप्रयोगे मातृ-मातुल-शब्दाभ्यां सप्तमी ॥ २ ॥

कारकार्हाणां च कारकत्वे ॥^४३॥

कारकार्हेषु = कारकयोगेषु स्वकार्यत्वमापन्ने सति सप्तमी विभक्तिर्भवति^५ । ऋ-द्धेषु भुञ्जानेषु दरिद्रा आसते । ब्राह्मणेषु तरत्सु वृषला आसते । अत्र ऋद्धा ब्राह्मणाश्च कारका[र्हाः], ते स्वकार्यत्वमापन्नाः, तेष्वेव सप्तमी भवति ॥ ३ ॥

अकारकार्हाणां चाकारकत्वे ॥ ४ ॥

मूर्खेष्व्वासीनेषु ऋद्धा भुञ्जते । वृषलेष्व्वासीनेषु ब्राह्मणास्तरन्ति ॥^६

अत्राकारकार्हा मूर्खा वृषलाश्च स्वकार्यत्वमापन्नाः, तत्र सप्तमी ॥ ४ ॥

तद्विपर्यसे च ॥^७५॥

अकारकार्हाः कारकार्हाणां योग्यतामापन्नाः कारकार्हाश्चाकारकार्हाणां, तदा पूर्व-प्रयुक्तेषु सप्तमी भवति । ऋ[द्धे]ष्व्वासीनेषु मूर्खा भुञ्जते । ब्राह्मणेष्व्वासीनेषु वृषलास्तरन्ति ॥ ५ ॥

निमित्तात् कर्मसंयोगे ॥^८६॥

निमित्तवाचिशब्दात् सप्तमी विभक्तिर्भवति कर्मसंयोगे सति ।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।

केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको^९ हतः ॥^{१०}१॥

अत्र निमित्तवाचिषु चर्मादिशब्देषु सप्तमी विभक्तिर्भवति ॥ [६ ॥] ३६ ॥

१. कोशे—“याज्ञिके ।” इति । कारकायेऽप्येष एव पाठः ॥ (सू० १३४)

२. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

३. न्यासे—“अत्राप्यधिकरण एव सप्तमी । तथा ह्यत्र मातृस्थासु क्रियासु मातृ-शब्दो वर्तते ।... तासां च क्रियायां साध्वसाधुतां प्रति विषयभावो ऽस्तीति वैषयिकाधिकरण एव सप्तमी ।”

४. न्यासे—“भावप्रधानोऽत्र कारकशब्दः । क्रियां प्रति येषां कारकत्वं साधनत्वं न्याय्यं, ते कारकार्हाः, तेषां कारकार्हेत्वे सप्तमी वक्तव्या ॥” [(२।१।८६)]

५. चा० श०—“निमित्ताद् व्याप्येन ॥”

६. हरदत्तः—“पुष्कलकः = शङ्कुः । स सीम्नि = सीमाज्ञानार्थं हतः [= निहतः] = निखात इत्यर्थः ।”
शब्दकौस्तुभे—“दुर्गवाक्यप्रबोधे तु कुलचन्द्र-

अधिकरण तीन प्रकार का होता है—[१] व्यापक [२] औपश्लेषिक [३] वैषयिक । व्यापक उस को कहते हैं कि जो एक वस्तु में दूसरी मिली हुई हो । औपश्लेषिक वह होता है कि जिस में स्थिति हो । और वैषयिक [जो] उस के विषय में हो । इस तीन प्रकार के अधिकरण में सप्तमी विभक्ति हों । और चकार से दूरवाची तथा समीपवाची शब्दों से भी सप्तमी हो^१ । व्यापक—तिलेषु तैलम् । तिलों के बीच तेल व्यापक है, इससे तिल-शब्द में सप्तमी । औपश्लेषिक—कटे शेते । चटाई पर सोता है । यहां कट-शब्द में सप्तमी । और वैषयिक—खेशकुनयः । आकाश के विषय [में] पत्ती उड़ते हैं । यहां ख-शब्द में सप्तमी विभक्ति हुई है ॥

अब वार्त्तिकों के अर्थ किये जाते हैं—

‘सप्तमीविधाने क्तस्येनविषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम् ॥’ क्त-प्रत्ययान्त से जहां इन्-प्रत्यय हो, वहां [उस के] कर्म में सप्तमी विभक्ति हो । असावधीती व्याकरणे । यहां अधीती-शब्द में क्त-प्रत्ययान्त से इन्-प्रत्यय हुआ है, और व्याकरण-शब्द कर्म है । उस में सप्तमी हो गई ॥ १ ॥

‘साध्वसाधुप्रयोगे च ॥’ साधु- और असाधु-शब्द के योग में सप्तमी विभक्ति हो । साधुदेवदत्तो मातरि । यहां साधु-शब्द के योग में मातृ-शब्द से । असाधुर्मातुले कृष्णः । और यहां असाधु-शब्द के योग में मातुल-शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है ॥ २ ॥

‘कारकाह्वानां च कारकत्वे ॥’ कारक जो हैं, वे अपने कृत्य को ठीक २ प्राप्त हों, तो उन से सप्तमी हो । ऋद्धेषु भुञ्जानेषु दरिद्रा आसते । यहां ऋद्ध-शब्द कारक है । उस के यथावत् कृत्य को प्राप्त होने से उस में सप्तमी विभक्ति होती है ॥ ३ ॥

‘अकारकाह्वानां चाकारकत्वे ॥’ जो कारक योग्य नहीं हैं, वे अपने कृत्य को ठीक २ प्राप्त हों, तो भी सप्तमी विभक्ति हो । मूर्खेष्व्वासीनेषु ऋद्धा भुञ्जते । यहां मूर्ख-शब्द में अकारक के होने से सप्तमी हुई है ॥ ४ ॥

‘तद्विपर्यासे च ॥’ और इन के कर्म के बदलने में अर्थात् मूर्खों को शिष्टों के [और शिष्टों को मूर्खों के] कर्म प्राप्त होने में [पूर्व प्रयुक्त से] सप्तमी हो जावे । ऋद्धेष्व्वासीनेषु मूर्खा भुञ्जते । यहां विपरीत भाव होने से ऋद्ध-शब्द में सप्तमी हुई ॥ ५ ॥

[‘निमित्तात् कर्मसंयोगे ॥’] निमित्तवाची शब्द से कर्म के संयोग में सप्तमी हो । चर्मणि द्वीपिनं हन्ति । यहां ‘द्वीपिनं’ इस कर्म के संयोग में निमित्तवाची चर्म-शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है ॥ ६ ॥ ३६ ॥

यस्य च भावेन भावलक्षणम् ॥ ३७ ॥

स्वाह—सीमा = अण्डकोशः, पुष्कलकः = गन्धमृगः ।”

कारकाये (सू० १३६)—“ (सीमि पुष्कलको०) कस्तूरी की चाहना करके कस्तूरिया मृग को मारता है ।”

१. इन के उदाहरणों के लिये देखो पृष्ठ २६४ टिप्पण ७ ॥

२. कार०—सू० १४० ॥

चा० श० (२ । १ । ६०)—“यत्क्रिया क्रियाचिह्नम् ॥”

सप्तमी-ग्रहणमनुवर्त्तते । यस्य । ६ । १ । च । [अ० ।] भावेन । ३ ।
 १ । भावलक्षणम् । [१ । १ ।] भावस्य लक्षणं = भावलक्षणम् । यस्य
 भावेन = यस्य क्रियाया भावलक्षणं = क्रियाया लक्षणं भवति, तत्र सप्तमी
 विभक्तिर्भवति । अक्षिषु ह्यमानेषु गतः । हुतेष्वागतः । गोषु दुह्यमानासु गतः ।
 दुग्धास्वागतः । अत्र 'दुह्यमानासु, दुग्धासु' इति च सप्तमी भवति ॥

'भावेन' इति किम् । यो जटिलः स भुङ्क्ते । अत्र सप्तमी न भवति ॥ ३७ ॥

['यस्य भावेन'] जिस की क्रिया से ['भावलक्षणम्'] दूसरी क्रिया का लक्षण
 किया जाय, उस में सप्तमी विभक्ति हो । गोषु दुह्यमानासु गतः । दुग्धास्वागतः । यहाँ
 गमनागमन क्रिया का लक्षण दोहन क्रिया से किया जाता है । उस में सप्तमी हो गई ॥

'भावेन' ग्रहण इसलिये है कि 'यो जटिलः स भुङ्क्ते' यहाँ सप्तमी न हो ॥ ३७ ॥

षष्ठी चानादरे ॥ ३८ ॥

षष्ठी । १ । १ । च । [अ० ।] अनादरे । ७ । १ । चकारात् सप्तम्य-
 नुवर्त्तते । अनादरेऽर्थे गम्यमाने [यस्य क्रियाया क्रियान्तरं लक्ष्यते, ततः] षष्ठी
 भवति, चकारात् सप्तमी च । आहूयमानस्य देवदत्तस्य आहूयमाने वा चौरो गतः ।
 रुदतः रुदति वा बालो गतः । आहूयमानं रुदन्तं चानादृत्य गत इत्यर्थः ।
 आहूयमान-शब्दे रुदत्-शब्दे च षष्ठी-सप्तम्यौ भवतः ॥ ३८ ॥

['अनादरे'] अनादर अर्थ में [जिस की क्रिया से दूसरी क्रिया का लक्षण किया जाय,
 वहाँ 'षष्ठी'] षष्ठी विभक्ति हो, ['च'] और चकार से सप्तमी हो । आहूयमानस्य आहू-
 यमाने वा गतः । यहाँ आहूयमान-शब्द में षष्ठी और सप्तमी हुई है । आहूयमान अर्थात्
 बुलाए जाते हुए का तिरस्कार करके गया ॥ ३८ ॥

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च ॥ ३९ ॥

स्वामि-ईश्वर-अधिपति-दायाद-साक्षि-प्रतिभू-प्रसूतैः । ३ । ३ । च ।
 [अ० ।] षष्ठी-सप्तम्यावनुवर्त्तते । 'स्वामिन्, ईश्वर, अधिपति, दायाद, सा-
 क्षिन्, प्रतिभू, प्रसूत' इत्येतैः शब्दैर्योगे षष्ठी-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः । गवां
 स्वामी, गोषु स्वामी । पृथिव्या ईश्वरः, पृथिव्यामीश्वरः । ग्रामस्याधिपतिः, ग्रामेऽ-
 धिपतिः । क्षेत्रस्य दायादः, क्षेत्रे दायादः । दत्तस्य साक्षी, दत्ते साक्षी । धनस्य
 प्रतिभूः, धने प्रतिभूः । गवां प्रसूतः, गोषु प्रसूतः । अस्मिन् सूत्रे स्व-स्वामि-

सम्बन्धत्वात् [शेषलक्षणा] षष्ठी-येव प्राप्ता । सप्तम्यपि स्यादिति प्रयोजनार्थं सूत्रमिदम् । स्वाम्यादियोगे गवादिशब्देषु षष्ठी-सप्तम्यौ ॥ ३६ ॥

['स्वामि-ईश्वर-अधिपति-दायाद-साक्षि-प्रतिभू-प्रसूतैः'] स्वामिन्, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू, प्रसूत इन शब्दों के योग में षष्ठी और सप्तमी दो विभक्ति हों । [स्वामिन्—] गवां स्वामी । गोषु स्वामी । यहां स्वामि-शब्द के योग में गो-शब्द से । ईश्वर—पृथिव्या ईश्वरः । पृथिव्यामीश्वरः । यहां ईश्वर-शब्द के योग में पृथिवी-शब्द से । अधिपति—ग्रामस्याधिपतिः । ग्रामेऽधिपतिः । यहां अधिपति-शब्द के योग में ग्राम-शब्द से । दायाद—क्षेत्रस्य क्षेत्रे वा दायादः । यहां दायाद-शब्द के योग में क्षेत्र-शब्द से । साक्षिन्—देवदत्तस्य साक्षी । देवदत्ते साक्षी । यहां साक्षि-शब्द के योग में देवदत्त-शब्द से । प्रतिभू—धनस्य प्रतिभूः । धने प्रतिभूः । यहां प्रतिभू-शब्द के योग में धन-शब्द से । प्रसूत—गवां प्रसूतः । गोषु प्रसूतः । और यहां प्रसूत-शब्द के योग में गो-शब्द से षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती हैं । इस सूत्र के न होने से सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति होती । 'सप्तमी भी हो' इसलिये है कि सप्तमी भी हो जावे ॥ ३६ ॥

आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् ॥ ४० ॥

षष्ठी-सप्तम्यावनुवर्तते । आयुक्त-कुशलाभ्याम् । ३ । २ । च । [अ० ।]
आसेवायाम् । ७ । १ । आ=समन्ताद् युक्तः=आयुक्तः । आयुक्त-कुशल-
शब्दाभ्यां योगे आसेवायां सत्यां षष्ठी-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः । आयुक्तः पठनस्य,
आयुक्तः पठने । कुशलो लेखनस्य, कुशलो लेखने । अत्र पठन-लेखन-शब्दाभ्यां
षष्ठी-सप्तम्यौ भवतः ॥

'आसेवायाम्' इति किम् । आयुक्तो वृषभः शकटे । अत्र ईषद्युक्तत्वाद्
आसेवा नास्ति । तत्राधिकरणे-सप्तमी भवति । अधि[करणे] सप्तम्यां प्राप्तायां
षष्ठ्यर्थं सूत्रमिदम् ॥ ४० ॥

['आसेवायाम्'] आसेवा अर्थ में ['आयुक्त-कुशलाभ्यां'] आयुक्त-और-
कुशल-शब्द के योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हों । आयुक्तः पठनस्य । आयुक्तः
पठने । यहां आयुक्त-शब्द के योग में पठन-शब्द से । कुशलो लेखनस्य । कुशलो
लेखने । और कुशल-शब्द के योग में लेखन-शब्द से षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती हैं ॥

आसेवा-प्रहण इसलिये है कि 'आयुक्तो वृषभः शकटे' यहां आसेवा के न होने से
षष्ठी विभक्ति न हुई । अधिकरण में सप्तमी तो प्राप्त ही थी, षष्ठी होने के लिये यह सूत्र है ॥ ४० ॥

यतश्च निर्धारणम् ॥ ४१ ॥

यतः । [अ० ।] च । [अ० ।] निर्द्धारणम् । १ । १ । षष्ठी-सप्तम्या-
धनुवर्त्तते । यतः = यस्मात् समुदायवाचिजाति-गुण-क्रिया-शब्दात् निर्द्धारणम् =
एकस्य पृथक्करणं भवति, तस्मात् षष्ठी-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः । ब्राह्मणानां
वेदविच्छेष्टतमः, ब्राह्मणेषु वेदविच्छेष्टतमः । मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतमः,
मनुष्येषु क्षत्रियः शूरतमः । अत्र जातिवाचिब्राह्मण-शब्दात् मनुष्य-शब्दाच्च
निर्द्धारणं, तत्र षष्ठी-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः ॥ ४१ ॥

समुदायवाची जाति आदि शब्द से एक जो अलग करना है, उस को निर्द्धारण कहते
हैं । ['यतः'] जिस से ['निर्द्धारणं'] निर्द्धारण किया जाय, अर्थात् एक को अलग किया
जाय, वहां षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हों । ब्राह्मणानां ब्राह्मणेषु वा वेदविच्छेष्टतमः ।
यहां जातिवाची ब्राह्मण-शब्द से निर्द्धारण है, उस में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती हैं ॥ ४१ ॥

पञ्चमी विभक्तेः ॥ ४२ ॥

षष्ठी-सप्तम्यौ निवृत्ते । पञ्चमी । १ । १ । विभक्ते । ७ । १ । यस्मिन्
निर्द्धारणे विभागो भवति, तत्र पञ्चमी विभक्तिर्भवति । पाटलिपुत्रेभ्यः सांकाश्या
आढ्यतराः । अत्र पाटलिपुत्रनिवासिभ्यः सांकाश्यनिवासिनां विभागो भवति,
तस्मात् पाटलिपुत्रे पञ्चमी । निर्द्धारणं तु वस्तुत एकत्वमेव भवति, कथनमात्रं
पृथक्त्वम् । अत्र तु वस्तुत एव विभागः^१ । पूर्वसूत्रेण षष्ठी-सप्तम्यौ प्राप्ते,
तयोरपवादः ॥ ४२ ॥

पूर्व सूत्र से निर्द्धारण अर्थ में षष्ठी, सप्तमी विभक्ति प्राप्त हैं । उस का अपवाद यह सूत्र
है । जिस से निर्द्धारण में ['विभक्ते'] विभाग किया जाय, उस में ['पञ्चमी'] पञ्चमी
विभक्ति हो । पाटलिपुत्रेभ्यः सांकाश्या आढ्यतराः । यहां पाटलिपुत्र से सांकाश्य का
विभाग होता है, इससे पाटलिपुत्र में पञ्चमी हो गई । पूर्व सूत्र से जो निर्द्धारण होता है, वह
तो समुदाय से एक का पृथक् समझना ही है । और यहां तो प्रथम ही से विभाग है ॥ ४२ ॥

साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः^३ ॥ ४३ ॥

साधु-निपुणाभ्याम् । ३ । २ । अर्चायाम् । ७ । १ । सप्तमी । १ । १ ।
अप्रतेः । ६ । १ । अर्चायां = पूजायां = सत्कारे । साधु-निपुण-शब्दाभ्यां योगे
सप्तमी विभक्तिर्भवति, अर्चायां = सत्कारे सति, अप्रतेः = प्रतियोगं विहाय ।

१. कार०—सू० १४५ ॥

गुणान्तराविष्करणं सोऽस्य । तत्र द्वयोरप्यवस्थयो-

२. न्यास्तकारः—“यत्र राशिमिदृतस्य पृथक्करणं, स
पूर्वस्य योगस्य विषयः । यत्र तु पृथग्भूतस्यैव

विभाग एवेति कृत्वा ।”

३. कार०—सू० १४६ ॥

मातरि साधुः । पितरि साधुः । मातरि निपुणः । पितरि निपुणः । मातापित्रोः
प्रीत्या सेवकः [इत्यर्थः ।] सेवनमेव तयोरर्चा । तत्र मातृ-शब्दे पितृ-शब्दे
सप्तमी विभक्तिर्भवति ॥

‘अर्चायाम्’ इति किम् । राज्ञो भृत्यः साधुः । अत्र सेवा नास्तीति सप्तमी
न भवति ॥

‘अप्रतेः’ इति किम् । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति । अत्र प्रति-योगे सप्तमी
न भवति ॥

वा०—अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् ॥

इहापि यथा स्यात्—साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति । मातरं परि ।
मातरमनु ॥^२

अत्र प्रत्यादीनां कर्मप्रवचनीयत्वाद् द्वितीया भवति ॥ ४३ ॥

[‘अर्चायाम्’] पूजा अर्थात् सत्कारपूर्वक सेवा करने अर्थ में वर्तमान जो [‘साधु-
निपुणाभ्यां’] साधु- और निपुण-शब्द, इन के योग में [‘सप्तमी’] सप्तमी विभक्ति हो,
[‘अप्रतेः’] प्रति के योग में न हो । मातरि साधुः । पितरि साधुः । मातरि निपुणः ।
पितरि निपुणः । यह पुत्र माता पिता की प्रति पूर्वक सेवा करता है । यही पूजा कहाती है ।
इससे मातृ-पितृ-शब्द में सप्तमी विभक्ति हो गई ॥

अर्चा-ग्रहण इसलिये है कि ‘साधुर्देवदत्तस्य पुत्रः’ यहां पूजा के न होने से सप्तमी
वहीं हुई ॥

‘अप्रतेः’ इस का ग्रहण इसलिये है कि ‘साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति’ यहां प्रति के योग
में सप्तमी न हो ॥

‘अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् ॥’ इस वार्तिक का प्रयोजन यह है कि सूत्र से जो प्रति
के योग में निषेध किया है, सो प्रति आदि अन्य शब्दों के योग में भी समझना चाहिये ।
साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति, मातरं परि, मातरमनु । यहां सर्वत्र सप्तमी न हो ॥ ४३ ॥

प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च^३ ॥ ४४ ॥

सप्तम्यनुवर्तते । प्रसित-उत्सुकाभ्याम् । ३ । २ । तृतीया । १ । १ । च ।

[अ० ।] ‘प्रसित, उत्सुक’ इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां योगे तृतीया विभक्तिर्भवति ।

चात् सप्तमी च । प्रसितः = प्रतिबद्धः^४ । उत्सुकः = उत्कण्ठितः । विद्यया प्रसितः ।

१. केषुचिन्महाभाष्यकोशेषु प्रति-शब्दो नोपलभ्यते ॥

सितो नाम । यस्तत्र नित्यं प्रतिबद्धः । कुत एतत् ।

२. अ० २ । पा० ३ । अ० २ ॥

सिनोपतिरयं वधात्यर्थे वर्तते । बद्ध इवासौ तत्र

३. कार०—सू० १४८ ॥

भवति ॥” (अ० २ । पा० ३ । अ० २)

४. महाभाष्ये—“ ‘प्रसितः’ इत्युच्यते । कः प्र-

विद्यायां प्रसितः । पठनेनोत्सुकः, पठन उत्सुकः । विद्यायां पठने च नित्यं लिप्त एवास्ति । अतो विद्या-शब्दे पठन-शब्दे च तृतीया-सप्तम्यौ । अधिकरणे सप्तमीति सप्तमी प्राप्ता । तस्या अपवादत्वेन तृतीया विधीयते ॥ ४४ ॥

, अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति प्राप्त है । उस का अपवाद यह सूत्र है । ['प्रसित-उत्सुकाभ्यां'] प्रसित और उत्सुक इन शब्दों के योग में ['तृतीया च'] तृतीया और सप्तमी विभक्ति हो । विद्यायां विद्यायां वा प्रसितः । यहां प्रसित-शब्द के योग में विद्या-शब्द से तृतीया, सप्तमी । गानेन गाने चोत्सुकः । और यहां उत्सुक-शब्द के योग में गान-शब्द से तृतीया, सप्तमी विभक्ति हुई है ॥ ४४ ॥

नक्षत्रे च लुपि ॥ ४५ ॥

तृतीया-सप्तम्यावनुवर्त्तते । नक्षत्रे । ७ । १ । च । [अ० ।] लुपि । ७ । १ । 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' ॥' इति नक्षत्रवाचिशब्दादण्-प्रत्ययः । 'लुववि-शेषे' ॥' इत्यणो लुप् । तस्येदं ग्रहणम् । लुबन्तात् नक्षत्रशब्दात् तृतीया-सप्तम्यौ भवतः । पुष्येण युक्तः कालः = पुष्यः । पुष्येण कार्यमारभेत, पुष्ये कार्यमारभेत । अत्रापि सप्तमी प्राप्ता, अपवादत्वेन तृतीया विधीयते । पुष्य-शब्दोऽत्र कालवाची, तस्मिन् तृतीया-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः ॥ ४५ ॥

- नक्षत्रवाची शब्द से काल अर्थ में जहां प्रत्यय का लुप् हो जाता है, उस नक्षत्र का इस सूत्र में ग्रहण है । ['लुपि'] लुबन्त ['नक्षत्रे'] नक्षत्र से तृतीया, सप्तमी विभक्ति हों । पुष्य नक्षत्र से युक्त जो काल, वह पुष्य कहावे । पुष्येण पुष्ये वा कार्यमारभेत । पुष्य-शब्द यहां कालवाची है । उस से तृतीया, सप्तमी विभक्ति हुई है । यहां भी नक्षत्रवाची शब्द से अधिकरण में सप्तमी प्राप्त थी । उस का अपवाद यह सूत्र है ॥ ४५ ॥

यह सप्तमी [विभक्ति] का अधिकार पूरा हुआ ॥

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ॥ ४६ ॥

प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे । ७ । १ । प्रथमा । १ । १ । प्रातिपदिकार्थः = प्रातिपदिकस्य सत्ता । लिङ्गं = स्त्री-पुं-नपुंसकानि । परिमाणं = तोलनम् । वचनं = एकत्व-द्वित्व-बहुत्वानि । मात्र-शब्दः सर्वैः सह सम्बध्यते । प्रातिपदिकार्थमात्रे, लिङ्गमात्रे, परिमाणमात्रे, वचनमात्रे च प्रथमा विभक्तिर्भवति ।

१. कार०—स० १४६ ॥

४. कार०—स० ४ ॥

२. ४।२।३ ॥

चा० श०—'अर्थमात्रे प्रथमा ॥' (२।१।६३)

३. ४।२।४ ॥

प्रातिपदिकार्थमात्रे—उच्चैः । नीचैः । अत्र प्रथमया पदत्वं यथा स्यात् । लिङ्ग-
मात्रे—कुमारी । वृत्तः । कुण्डम् । परि[माण]मात्रे—द्रोणः । खारी । आढकम् ।
वचनमात्रे—एकः । द्वौ । बहवः ॥

मात्र-ग्रहणं किमर्थम् । एतत्परिगणनमात्रे प्रथमा यथा स्याद्, अन्यत्र
[कर्मादिविशिष्टे] मा भूत् । ओदनं पचति । कटं करोति । अत्र प्रथमा विभक्तिर्मा
भूत् ॥ ४६ ॥

['प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे'] प्रातिपदिकार्थमात्र में, लिङ्गमात्र में,
परिमाणमात्र में और वचनमात्र में ['प्रथमा'] प्रथमा विभक्ति हो । प्रातिपदिकार्थमात्र में—
उच्चैः । नीचैः । यहां प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा विभक्ति है । लिङ्गमात्र में—कुमारी । वृत्तः ।
कुण्डम् । यहां कुमारी स्त्रीलिङ्ग, वृत्त पुंल्लिङ्ग और कुण्ड नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा । परिमाण
अर्थात् तोलमात्र में—द्रोणः । खारी । आढकम् । यहां परिमाणवाची शब्दों में प्रथमा ।
वचन [अर्थात्], एक, दो, बहुत— एकः । द्वौ । बहवः । यहां वचनमात्र में प्रथमा विभक्ति
होती है ॥

मात्र-ग्रहण इसलिये है कि हलने स्थानों ही में प्रथमा विभक्ति हो । 'कटं करोति' यहां
न हो ॥ ४६ ॥

सम्बोधने च ॥ ४७ ॥

प्रथमाऽनुवर्तते । [सम्बोधने । ७ । १ । च । अ० ।] सम्बोधनं = सम्यक्-
ज्ञापनम् [= अभिमुखीकरणम् ।] सम्बोधने च प्रथमा विभक्तिर्भवति । हे
देवदत्त । हे देवदत्तौ । हे देवदत्ताः । सम्बोधने प्रातिपदिकार्थादधिकार्थत्वात्^१
प्रथमा विभक्तिर्न प्राप्ता । तदर्थं सूत्रमिदमारभ्यते ॥ ४७ ॥

सब प्रकार-चेताने को सम्बोधन कहते [हैं] । यहां प्रातिपदिकार्थ से अधिक होने से प्रथ-
मा विभक्ति नहीं प्राप्त होती, इसलिये यह सूत्र है । ['सम्बोधने'] सम्बोधन में प्रथमा
विभक्ति हो । हे देवदत्त । हे देवदत्तौ । हे देवदत्ताः । यहां देवदत्त-शब्द में प्रथमा विभ-
क्ति के तीनों वचन क्रम से होते हैं ॥ ४७ ॥

साऽऽमन्त्रितम्^३ ॥ ४८ ॥

[सा । १ । १ । आमन्त्रितम् । १ । १ ।] 'सा' इति प्रथमा निर्दिश्यते ।

१. ना०—सू० ३७ ॥

चा० श०—“सम्बोधने ॥” (२ । १ । ६४)

२. न्यासे—“अभिमुखीकरणस्य क्रियापरत्वात् प्रा-

तिपदिकार्थे तस्यान्तर्भावो नास्ति । तस्यातदात्म-
कत्वात् ।”

३. ना०—सू० ३८ ॥

सम्बोधने या प्रथमा, तदन्तं प्रातिपदिकम् आमन्त्रित-सब्जं भवति । अग्ने ।
‘आमन्त्रितस्य च’ ॥’ इति षाष्टिकेनाद्युदात्तं सिद्धं भवति ॥ ४८ ॥

सम्बोधन में जो [‘सा’] प्रथमान्त प्रातिपदिक है, वह [‘आमन्त्रितम्’] आमन्त्रित-सब्जक हो । अग्ने । यहां आमन्त्रित-सब्जा के होने से अग्नि-शब्द में आद्युदात्त स्वर हुआ है ॥ ४८ ॥

एकवचनं सम्बुद्धिः ॥ ४९ ॥

एकवचनम् । १ । १ । सम्बुद्धिः । १ । १ । तस्या आमन्त्रितप्रथमाविभ-
क्तेरेकवचनं सम्बुद्धि-सब्जं भवति । अग्ने । वायो । देवदत्त । अत्रैकवचनस्य
सम्बुद्धि-सब्जत्वाद् विभक्त्यलोपः ॥ ४९ ॥

आमन्त्रित-सब्जक प्रथमा विभक्ति का [‘एकवचनं’] एक वचन जो है, उस की
[‘सम्बुद्धिः’] सम्बुद्धि-सब्जा हो । अग्ने । वायो । देवदत्त । यहां सम्बुद्धि-सब्जा के
होने से सु-विभक्ति का लोप हो जाता है ॥ ४९ ॥

षष्ठी शेषे ॥ ५० ॥

षष्ठी । १ । १ । शेषे । ७ । १ । कर्मादीनामविवक्षा शेषः । कर्मादीनि
कारकाणि यत्र न विवक्ष्यन्ते, स शेषः । शेषे षष्ठी विभक्तिर्भवति । राज्ञः पुरुषः ।
कार्पासस्य वस्त्रम् । वृक्षस्य शाखा । मृत्तिकाया घट इत्यादिशेषे षष्ठी विभक्ति-
र्भवति ॥ ५० ॥

कर्म आदि कारक संज्ञा की जहां विवक्षा न हो, वह शेष कहा जाता है । [‘शेषे’] शेष
अर्थ में [‘षष्ठी’] षष्ठी विभक्ति हो । राज्ञः पुरुषः । वृक्षस्य शाखा इत्यादि शेष में षष्ठी
होती है ॥ ५० ॥

ज्ञोऽविदर्थस्य करणे ॥ ५१ ॥

ज्ञः । ६ । १ । अविदर्थस्य । ६ । १ । करणे । ७ । १ । अविदर्थस्य =
अज्ञानार्थस्य ज्ञा-धातोः करणकारके षष्ठी विभक्तिर्भवति । [अग्निः] सर्पिषो जानीते ।

१. न्यासे—“‘आमन्त्रितम्’ इति महत्याः सब्जा-

याः करणं वैचित्र्यार्थम् ॥”

२. ६ । १ । १६८ ॥

३. ना०—सू० ३६ ॥

४. ७ । ३ । १०८ ॥

५. ६ । १ । ६६ ॥

६. कार०—सू० ६८ ॥

चा० श०—“षष्ठी सम्बन्धे ॥” (२।१।६५)

७. कार०—सू० ६६ ॥

८. जयादित्यस्तु—“सर्पिषो जानीते । मधुनो
जानीते । सर्पिषा करणेन प्रवर्त्तत इत्यर्थः । मधु-
त्तिवचनो जानातिरविदर्थः । अथ वा मिथ्याज्ञा-
नवचनः । सर्पिषि रक्तः प्रतिहतो वा । चित्त-
आन्त्या तदात्मना सर्वमेव ग्राह्यं प्रतिपद्यते । मिथ्या-
ज्ञानमज्ञानमेव ।”

मधुनो जानीते । सर्पिषा = घृतेनाग्निः प्रसिद्धो भवति । अभ्रेर्जडत्वाज्ज्ञानं नास्ति ॥

‘अविदर्थस्य’ इति किमर्थम् । स्वरेण वत्सं जानाति गौः । अत्र गोर्ज्ञानवत्त्वात् ‘स्वरेण’ इति करणे षष्ठी न भवति ॥ ५१ ॥

[‘अविदर्थस्य’] अविदर्थ = अज्ञानार्थ जो [‘ज्ञाः’] ज्ञा धातु, उस के [‘करणे’] करण कारक में षष्ठी विभक्ति हो जाय । सर्पिषो जानीते । यहां ज्ञा धातु के सर्पिः करण में षष्ठी हुई है ॥

अविदर्थ-ग्रहण इसलिये है कि ‘स्वरेण वत्सं जानाति गौः’ यहां ज्ञानार्थ के होने से करणवाची स्वर-शब्द से षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥ ५१ ॥

अधीगर्थदयेशां कर्मणि ॥ ५२ ॥

‘शेषे’ इत्यनुवर्तते । ‘इक् [नित्यमधिपूर्वः] स्मरणे^१ ।’ अधिपूर्वकस्येग-धातोरर्थे वर्तमाना अधीगार्थाः = स्मरणार्थाः । ते च दयश्च ईट् च, तेषाम् । अधीगर्थदयेशाम् । ६ । ३ । कर्मणि । ७ । १ । अधीगर्थदयेशां धातूनां शेषे कर्मणि षष्ठी विभक्तिर्भवति । [अधीगर्थ—] मातुरध्येति । मातुः स्मरति । दय—अन्नस्य दयते । [ईश्—] अन्नस्येष्टे । दय-धातुर्दानार्थोऽत्र गृह्यते । अन्नं ददातीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

[‘अधीगर्थ-दय-ईशां’] स्मरण अर्थ वाले, दय और ईश् इन धातुओं के शेष [‘कर्मणि’] कर्म में षष्ठी विभक्ति हो । मातुरध्येति । मातुः स्मरति । यहां स्मरणार्थक धातुओं के कर्म में । अन्नस्य दयते । यहां दय धातु के कर्म में । और ‘अन्नस्येष्टे’ यहां ईश् धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

कर्म-ग्रहण इसलिये है कि ‘मातृगुरौः स्मरति’ यहां करणवाची गुण-शब्द के होने से षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥ ५२ ॥

कृञः प्रतियत्ने^३ ॥ ५३ ॥

कृञः । ६ । १ । प्रतियत्ने । ७ । १ । ‘कर्मणि’ इत्यनुवर्तते । प्रतियत्ने वर्तमानस्य कृञ्-धातोः शेषे कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति । एधोदकस्योप-स्फुरते । अत्र प्रतियत्नेऽर्थे कृञ्-धातोः सुङ्-आगमोऽपि भवति^४ । कर्मवाचिन्येधो-दक-शब्दे षष्ठी च ॥

प्रतियत्न-ग्रहणं किमर्थम् । कटं करोति । अत्र कर्मणि षष्ठी न भवति ॥

१. कार०—सू० १०० ॥

२. धा०—अदा० ३८ ॥

३. कार०—सू० १०१ ॥

४. “उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु ॥”

(६ । १ । १३६)

‘कर्मणि’ इति किम् । एधोदकस्योपस्कुरुते प्रज्ञया । अत्र प्रज्ञा-शब्दे षष्ठी न भवेत् ॥ ५३ ॥

[‘प्रतियत्ने’] प्रतियत्न अर्थ में वर्तमान जो [‘कृजः’] कृञ् धातु, उस के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो । एधोदकस्योपस्कुरुते । यहां प्रतियत्न अर्थ में कृञ् धातु के ककार के पूर्व सुद् का आगम हुआ और कर्मवाची एधोदक-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है ॥ ५३ ॥

रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः ॥ ५४ ॥

‘कर्मणि’ इत्यनुवर्तते । रुजार्थानाम् । ६ । ३ । भाववचनानाम् । ६ । ३ । अज्वरेः । ५ । १ । भाववचनानां = कर्तृस्थभावकानां रुजार्थानां धातूनां [शेषे] कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति, अज्वरेः = ज्वरिं वर्जयित्वा । चौरस्य रुजति रोगः । चौरस्यामयति रोगः । रोगभोगो भावः = धात्वर्थः । स कर्तरि स्थितः ॥

‘रुजार्थानाम्’ इति किम् । ग्रामं गच्छति ॥

‘भाववचनानाम्’ इति किम् । नदी कूलानि रुजति^१ । अत्र कर्मस्थभावकस्य कर्मणि षष्ठी न भवति ॥

‘अज्वरेः’ इति किम् । बालं ज्वरयति ज्वरः । अत्र ज्वर-धातोः कर्मणि षष्ठी न स्यात् ॥

वा०—अज्वरिसन्ताप्योरिति वक्तव्यम् ॥ १ ॥

इहापि यथा स्यात्—चोरं^३ सन्तापयति । वृषलं सन्तापयति ॥^४

ज्वरेः प्रतिषेधे सं-पूर्वकस्य तापि-धातोरपि कर्मणि षष्ठ्याः प्रतिषेधो यथा स्यादिति वार्त्तिकाशयः ॥ ५४ ॥

[‘भाववचनानां’] जिन धातुओं का अर्थ कर्त्ता में स्थित रहता है, ऐसे जो [‘रुजार्थानां’] रुजार्थक धातु हैं, उन के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो, [‘अज्वरेः’] ज्वर धातु को छोड़के । चौरस्य रुजति । चौरस्यामयति । यहां रोग का भोगना जो धात्वर्थ है, वह कर्त्ता में रहता है । इससे उस चौर कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

रुजार्थ-ग्रहण इसलिये है कि ‘ग्रामं गच्छति’ यहां षष्ठी न हो ॥

१. कार०—सू० १०२ ॥

ग्राहयतीत्यर्थः ।^१

२. न्यासे—“रुजा-शब्दो हि रुढिशब्दत्वाद् व्याधि-
मेवाचष्टे । न चात्र व्याधिवचनः । किं तर्हि ।

कैयटः—“‘रुजार्थानाम्’ इति धातुमात्रनिर्दे-
शाश्रयमिदं प्रत्युदाहरणम् ।^२

मङ्गवचनो रुजिः । एवं तर्हि प्रत्युदाहरणदिगियं
दर्शिता वृत्तिकृता [भाष्यकृता ।] इदं त्वत्र प्र-

३. पाठान्तरम्—चौरम् ॥

४. अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

त्युदाहरणम्—श्लेष्मा पुरुषं रुजतीति । व्याधिना

भाववचन-ग्रहण इसलिये है कि 'नदी कूलानि रुजति' यहां [रुज धातु] कर्मस्थभावक है । इससे [उस के] कर्मवाची कूल-शब्द से षष्ठी न हुई ॥

और 'अज्वरेः' ग्रहण इसलिये है कि 'बालं ज्वरयति ज्वरः' यहां ज्वर धातु के कर्म में षष्ठी न हो ॥

'अज्वरिसन्ताप्योरिति वक्तव्यम् ॥' ज्वर धातु के कर्म में जो षष्ठी का प्रतिषेध किया है, वहां सं-पूर्वक तापि धातु का भी समझना चाहिये । चोरं सन्तापयति । यह धार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ ५४ ॥

आशिषि नाथः^१ ॥ ५५ ॥

कर्मणि-ग्रहणमनुवर्त्तते । आशिषि वर्त्तमानस्य नाथ्-धातोः [शेषे] कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति । सर्पिषो नाथते । मधुनो नाथते । आशीः=इच्छा । सर्पिरेच्छति, मध्विच्छतीत्यर्थः ॥

'आशिषि-ग्रहणं किमर्थम् । अन्नं नाथते । याचत इत्यर्थः । अत्र याच्यार्थस्य नाथ्-धातोः कर्मणि षष्ठी न भवति^२ ॥ ५५ ॥

['आशिषि'] आशीर्वचन अर्थ में वर्त्तमान जो ['नाथः'] नाथ् धातु, उस के शेष कर्म कारक में षष्ठी विभक्ति हो । सर्पिषो नाथते । मधुनो नाथते । यहां आशीः-शब्द से इच्छा ली जाती है । इससे कर्मवाची सर्पिः-शब्द में षष्ठी विभक्ति हो ॥

'आशिषि' ग्रहण इसलिये है कि 'अन्नं नाथते' यहां मांगने अर्थ में नाथ् धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥ ५५ ॥

जासिनिग्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्^३ ॥ ५६ ॥

जासि-निग्रहण-नाट-क्राथ-पिषाम् । ६ । ३ । हिंसायाम् । ७ । १ । 'जसु [जसी] ताडने^४ चुरादौ पठ्यते । तस्येदं ग्रहणम् । 'निग्रहण' इति नि-पूर्वकस्य प्र-पूर्वकस्य च पृथक्, नि-प्र-पूर्वस्य सङ्घात-ग्रहणं च भवति । हिंसार्थानां जासि-निग्रहण-नाट-क्राथ-पिषां धातूनां शेषे कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति । [जासि—] चौरस्यो-ज्जासयति । निग्रहण—दुष्टस्य निग्रहन्ति । वृषलस्य निहन्ति । चौरस्य ग्रहन्ति । [नाट—] चौरस्योन्नाटयति । [क्राथ—] चौरस्य क्राथयति । [पिष्—] चौरस्य पिनष्टि । अत्र 'चौरं निहन्ति' इति सर्वत्रार्थः ॥

१. कार०—सू० १०४ ॥

१० । ६, २)

२. अपि च नाथयोगे सप्तमी—“ब्राह्मणौ वै त्वा-
यमभिचरति तस्मिन्नाथस्वेति तमुपाशिषिचि ।”
“अथेन्द्रोऽधृतश्शथिल इवामन्यत सोऽन्वागच्छत्
सोऽग्नौ चैव सोमे चानाथत ।” (काठकसंहितायां

३. कार०—सू० १०५ ॥

४. धा०—चुरा० १७८ ॥ “जसु हिंसायाम्”
इति च ॥ (चुरा० १३०)

‘जास्यादीनाम्’ इति किमर्थम् । चौरं हिनस्ति । अत्र ‘चौरं’ इति कर्मणि षष्ठी न भवति ॥

हिंसायाम्’ इति किम् । चूर्णं पिनष्टि । अत्रापि षष्ठी न भवति ॥ ५६ ॥

‘जासि धातु चुरादि का ग्रहण है । नि प्र उपसर्ग इकट्ठे और दोनों पृथक् [पृथक् हन धातु से] पूर्व हों तो भी । [‘जासि०पिषां हिंसायाम्’] जासि, निग्रहण, नाट, काथ, पिप्— हिंसार्थक इन धातुओं के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो । चौरस्योज्जासयति । यहां जासि धातु के चौर कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है । निग्रहण—चौरस्य निग्रहन्ति । चौरस्य निहन्ति । चौरस्य प्रहन्ति । यहां नि-प्र-पूर्वक हन धातु के कर्म में । [नाट—] चौरस्यो-ज्जाटयति । यहां नाट धातु के कर्म में । [काथ—] चौरस्य काथयति । यहां काथ धातु के कर्म में । [पिप्—] दुष्टस्य पिनष्टि । और यहां पिप् धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

जासि आदि धातुओं का ग्रहण इसलिये है कि ‘चौरं हिनस्ति’ यहां कर्म में षष्ठी-विभक्ति न हो ॥

और हिंसा-ग्रहण इसलिये है कि ‘चूर्णं पिनष्टि’ यहां हिंसा के न होने से षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥ ५६ ॥

व्यवहृपणोः समर्थयोः ॥ ५७ ॥

‘कर्मणि’ इत्यनुवर्तते । व्यवहृ-पणोः । ६ । २ । समर्थयोः । [६ । २ ।] समर्थयोः = समानार्थयोः । वि-अव-पूर्वको हृच्-धातुः, पण्-धातुश्च । अनयोः समानार्थयोः [शेषे] कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति । शतस्य व्यवहरति । शतस्य पणायति^१ । व्यवहारे समानार्थौ धातू । तत्र कर्मणि षष्ठी भवति ॥

‘समर्थयोः’ इति किम् । विद्वांसं पणायति^२ । स्तौतीत्यर्थः । अत्र स्तुत्यर्थस्य कर्मणि षष्ठी न भवति ॥ ५७ ॥

[‘समर्थयोः’] समानार्थक [‘व्यवहृ-पणोः’] वि-अव-पूर्वक हृ धातु और पण् धातु, इन के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो । शतस्य व्यवहरति । शतस्य पणायति^३ । यहां व्यवहार अर्थ में दोनों धातु हैं । इससे कर्म में षष्ठी विभक्ति हुई है ॥

‘समर्थ-ग्रहण इसलिये है कि ‘विद्वांसं पणायति’ यहां पण् धातु [का] अर्थ स्तुति है । इससे कर्म में षष्ठी नहीं होती ॥ ५७ ॥

दिवस्तदर्थस्य ॥ ५८ ॥

१. कार०—सू० १०६ ॥

३. निवण्टौ (३ । १४) “पणायति, पणयते”

२. जयादित्यः—“शतस्य पणते । सहस्रस्य पणते ।

इति द्वावपि समानार्थावर्चनिकर्माणौ ॥

आय-प्रत्ययः [३ । १ । २८] कस्मान्न भवति ॥

४. कार०—सू० १०७ ॥

स्तुत्यर्थस्य पणयते-प्रत्यय इत्यते ।”

दिवः । ६ । १ । तदर्थस्य । ६ । १ । तदर्थस्य = व्यवहारार्थस्य दिवु-धातोः शेषकर्मणि षष्ठी विभक्तिर्भवति । शतस्य दीव्यति । सहस्रस्य दीव्यति । व्यवहरतीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

['तदर्थस्य'] व्यवहारार्थक ['दिवः'] दिवु धातु के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो । शतस्य दीव्यति । यहां व्यवहार अर्थ में दिवु धातु के शत कर्म में षष्ठी विभक्ति हो ॥ ५८ ॥

विभाषोपसर्गे ॥ ५९ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । पूर्वसूत्रेण नित्ये प्राप्ते विकल्प आरभ्यते । पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । व्यवहारार्थस्य दिवु-धातोः सोपसर्गे सति शेषकर्मणि विकल्पेन षष्ठी विभक्तिर्भवति । शतस्य प्रतिदीव्यति । शतं प्रतिदीव्यति । अत्र षष्ठ्या विकल्पे पक्षे 'कर्मणि द्वितीया' ॥ इति द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ ५९ ॥

इस सूत्र में प्राप्तविभाषा है । पूर्व सूत्र से षष्ठी नित्य प्राप्त है । उस का विकल्प इस सूत्र से किया है । ['उपसर्गे'] उपसर्गपूर्वक व्यवहारार्थक दिवु धातु के शेष कर्म में ['विभाषा'] विकल्प करके षष्ठी विभक्ति हो । शतस्य प्र[ति]दीव्यति । शतं प्र[ति]दीव्यति । यहां षष्ठी के विकल्प होने के पक्ष में कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ॥ ५९ ॥

द्वितीया ब्राह्मणे ॥ ६० ॥

'दिवस्तदर्थस्य' इत्यनुवर्त्तते । द्वितीया । १ । १ । ब्राह्मणे । ७ । १ । ब्राह्मणग्रन्थेषु तदर्थस्य = व्यवहारार्थस्य दिवु-धातोः कर्मणि कारके द्वितीया विभक्तिर्भवति । गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः । अत्र 'गां' इति कर्म, तत्र 'दिवस्तदर्थस्य' ॥ इत्यनुपसर्गस्य दिवु-धातोः कर्मणि नित्यं षष्ठी प्राप्ता । सोपसर्गे तु सामान्येन पूर्वसूत्रे विकल्पः कृत एवास्ति । अतोऽनुपसर्गस्य दिवः कर्मणि ब्राह्मणे द्वि[ती]यार्थं वचनमिदम् ॥ ६० ॥

['ब्राह्मणे'] ब्राह्मण ग्रन्थों में व्यवहारार्थ जो दिवु धातु, उस के कर्म कारक में ['द्वितीया'] द्वितीया विभक्ति हो । गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः । यहां गां-शब्द कर्म-वाची है । अनुपसर्गे दिवु धातु के कर्म कारक में नित्य षष्ठी विभक्ति प्राप्त है । इसलिये अनुपसर्गे

१. कार०—सू० १०८ ॥

२. २।३।२॥

३. कार०—सू० १०९ ॥

४. न्यासकारः—'ब्राह्मण-शब्दः शतपथस्याख्या ॥'

५. महाभाष्ये—'किमुदाहरणम् । गां ध्वान्ति । गां

प्रदीव्यन्ति । गां सभासदभ्या उपहरन्ति । नैतदस्ति ॥

पूर्वेणप्येतत् सिद्धम् ॥ इदं तर्हि—गामस्य तदहः

सभायां दीव्येयुः ।' (अ० २।पा० ३।आ० ३)

६. २।३।५८ ॥

दिष्ट धातु के कर्म में भी ब्राह्मण ग्रन्थ के विषय में द्वितीया हो, इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया गया है ॥ ६० ॥

प्रेष्यन्नुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने ॥ ६१ ॥

• 'ब्राह्मणे' इत्यनुवर्तते । प्रेष्य-न्नुवोः । ६।२। हविषः । ६।१। देव-
तासम्प्रदाने । ७।१। प्र-पूर्वस्य इष-धातोर्देवादिकस्य ग्रहणम्^३ । देवताभ्यः
सम्प्रदानं=देवतासम्प्रदानं, तस्मिन् । देवतासम्प्रदाने सति ब्राह्मणविषये प्रेष्य-
न्नुवोर्धात्वोर्हविषः कर्मणः स्थाने षष्ठी विभक्तिर्भवति । इन्द्राग्निभ्यां^४ छागस्य हवि-
षो वपाया मेदसः प्रेष्य । इन्द्राग्निभ्यां^५ छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनु-
ब्रूहि । अत्र हविः कर्म, तस्यान्यानि षष्ठ्यन्तानि विशेषणानि । 'छागं हवि-
र्वपां मेदः प्रेष्य' इति प्राप्तम् । तत्र षष्ठीविधानार्थं वचनम्—

'प्रेष्य-न्नुवोः' इति किम् । अग्नये छागं हविर्वपां मेदो जुहुधि ॥

'हविषः' इति किम् । अग्नये समिधं प्रेष्य ॥

'देवतासम्प्रदाने' इति किम् । बालाय पुरोडाशं प्रेष्य । अत्र सर्वत्र कर्मणि
षष्ठी न भवति ॥

वा०—हविषोऽप्रस्थितस्येति वक्तव्यम्^६ ॥

प्रस्थित-विशेषणरहितस्य हविषः कर्मणः स्थाने षष्ठी भवति । तेनेह न
भवति—इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां मेदः प्रस्थितं प्रेष्य । अत्रापि कर्मणि
षष्ठी न भवति ॥ ६१ ॥

['प्रेष्य-न्नुवोः'] प्र-पूर्वक दिवादिगण वाला इष धातु और नू धातु इन के ['हविषः']
हविः कर्म में ब्राह्मण विषय में षष्ठी विभक्ति हो, वह कर्म ['देवतासम्प्रदाने'] देवताओं
के लिये दिया जाता हो, तो । इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य ।
इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि^७ । यहां हविः कर्म है, अन्य
षष्ठ्यन्त पद उस के विशेषण हैं । 'छागं हविर्वपां मेदः प्रेष्य' ऐसा प्राप्त था । सो इस
सूत्र से कर्म में षष्ठी विभक्ति हो गई ॥

१. कार०—सू० ११० ॥

५. जयादित्यस्तु—“प्रस्थितस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥”

२. न्यासकारः—“भाषाविषयेऽप्ययं योगः । उत्तर-
सूत्रे छन्दोगग्रहणात् ।”

६. कोशे “॥ १ ॥” इति ॥

अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

३. जयादित्यः—“‘प्रेष्य’ इति इष्यतेर्देवादिकस्य
होष्मध्यमपुरुषस्यैकवचनम् । तत्साहचर्याद् भुवि-
रपि तद्विषय एव गृह्यते ।”

७. कारकीय में इस उदाहरण का व्याख्यान इस
प्रकार किया है—“अज्ञा के अर्थ खाने पीने की
वस्तु के योग में विजुली और अग्नि को उपयुक्त
कर और सुनकर उपदेश भी कर ।” (टिप्पण्य ४)

४. काशिकादिषु “अग्नये” इति ॥

प्र-पूर्वकं इप और मू धातु का ग्रहण इसलिये है कि 'अग्नये छागं हविर्वपां मेदो जुहु-
धि' यहां हु धातु के कर्म में षष्ठी न हो ॥

हविः-ग्रहण इसलिये है कि 'अग्नये समिधं प्रेष्य' यहां समिध कर्म में षष्ठी न हो ॥

और देवतासम्प्रदान-ग्रहण इसलिये है कि 'वालाय पुरोडाशं प्रेष्य' यहां बालक देवता नहीं । इससे षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥

'हविषोऽप्रस्थितस्येति वक्तव्यम् ॥' प्रस्थित विशेषण रहित हविः कर्म में षष्ठी हो, किन्तु 'इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां मेदः प्रस्थितं प्रेष्य' यहां प्रस्थित विशेषण के होने से षष्ठी नहीं हुई ॥ ६१ ॥

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥ ६२ ॥

छन्दः-शब्देन मन्त्रभागस्य मूलवेदस्य ग्रहणं भवति । ब्राह्मण-शब्देनैतरेया-
दिन्याख्यानानाम् । अत एव 'ब्राह्मणे' इत्यनुवर्तमाने पुनश्छन्दः-ग्रहणं कृतम् ।
छन्दसि = वेदविषये चतुर्थ्यर्थे बहुलं षष्ठी विभक्तिर्भवति । दार्वाघाटस्ते वनस्प-
तीनाम् । ते वनस्पतीभ्य इति ॥

वा०—षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या ॥^४

यां खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते । अत्र 'तस्याः' इति प्राप्ते ॥^५

अत्र वार्तिकेन षष्ठ्यर्थे चतुर्थी भवति । बहुल-ग्रहणात् क्वचिन्नापि भवति ॥ ६२ ॥

१. कार०—सू० ११२ ॥

२. सायणोऽपि—“तत्र शतपथब्राह्मणस्य मन्त्र-
व्याख्यानरूपत्वाद् व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः सं-
हिताग्रन्थः पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति ।”

(काण्वसंहिताभाष्ये पृ० ८)

“ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वान्मन्त्रा-
ण्यवादी व्याख्याताः” । (आनन्दाश्रमग्रन्थावलि-
प्रकाशने तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये पृ० ७)

३. वा०—२४ । ३५ ॥

तै०—५ । ५ । १५ । १ ॥

मै०—३ । १४ । १६ ॥

४. कोशे “॥१॥” इति ॥

५. अत्र नागेशः—“रजस्वलाप्रस्तावे तैत्तिरीयश्रुतौ
‘न सहासीत, नस्या अन्नमथाद्...’ इत्युपक्रम्य
‘यां मलवद्वाससम्’ इत्यादि ।”

महाभाष्ये—“यां खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो

जायते । अत्र 'तस्याः' इति प्राप्ते । यस्ततोऽभि-
जायते सोमिशस्तः । यामरय्ये तस्यै स्तेनः, यां
पराचीं तस्यै हीतमुख्यपगलूमः, या स्नाति तस्या
अप्सु मारुकः, याभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मः, या
प्रलिखते तस्यै खलतिरपमारी, याङ्क्ते तस्यै काणः,
या दतो धावते तस्यै श्यावदन्, या नखानि नि-
कृन्तते तस्यै कुनखी, या कृणाति तस्यै क्लीबः,
या रज्जुं सृजति तस्या उद्वन्धुकः, या पर्येन
पिबति तस्या उन्मादुको जायते (अहल्यायै जार)
मनाय्यै तन्तुः ॥” (दृश्यतां तैत्तिरीयसंहितायां
द्वितीयकाण्डे पञ्चमप्रपाठके प्रथमोऽनुवाकः)

६. महामाध्यकोशेषु पाठान्तरे—

“खर्वो जायते यां मलवद्वाससं सम्भवन्ति ।”

“०खर्वस्तिष्ठो रात्रीः । 'तस्याः' इति प्राप्ते ।”

७. अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

ब्राह्मण-शब्द से ऐतरेय आदि व्याख्यानों का ग्रहण होता है, और छन्दस्-शब्द से मन्त्र-भाग मूल वेदों का ग्रहण है। इसलिये इस सूत्र में छन्दः-ग्रहण किया है। [‘छन्दसि’] वेद विषय में [‘चतुर्थ्यर्थे’] चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति हो [‘बहुलं’] बहुल करके। दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम् । यहां ‘वनस्पतिभ्यः’ ऐसा प्राप्त था, सो षष्ठी विभक्ति हो गई ॥

‘षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या ॥’ षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति हो। या खर्वेण पिवति तस्यै खर्वो जायते। यहां तस्यै-शब्द में षष्ठी के स्थान में चतुर्थी हुई है ॥

इस सूत्र में बहुल-ग्रहण करने से कहीं २ [चतुर्थी के स्थान में] षष्ठी और [षष्ठी के स्थान में] चतुर्थी विभक्ति नहीं भी होती ॥ ६२ ॥

यजेश्च करणे ॥ ६३ ॥

‘बहुलं छन्दसि’ इत्यनुवर्तते। यजेः। ६।१।च। [अ०।] करणे। ७।१। यज-धातोः करणकारके वेदविषये बहुलं षष्ठी विभक्तिर्भवति। घृतेन यजते, घृतस्य यजते^३। सोमस्य यजते, सोमेन यजते। अत्र करणकारके तृतीया प्राप्ता, तस्या अपवादः ॥ ६३ ॥

वेदविषय में [‘यजेः’] यज धातु के [‘करणे’] करण कारक में बहुल करके षष्ठी विभक्ति हो। घृतस्य घृतेन वा यजते। यहां करण कारक में तृतीया विभक्ति प्राप्त थी। उस का अपवाद होने से घृत-शब्द में तृतीया, षष्ठी दोनों ही होती हैं ॥ ६३ ॥

कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे ॥ ६४ ॥

‘बहुलं छन्दसि’ इति निवृत्तम्। [कृत्वोऽर्थप्रयोगे। ७।१।काले। ७।१। अधिकरणे। ७।१।] कृत्वसुच्-प्रत्ययस्यार्थे वर्त्तमाना ये प्रत्य-यास्तदन्तशब्दप्रयोगे सति कालवाचिन्यधिकरणशब्दे षष्ठी विभक्तिर्भवति। दिव-सस्य पञ्चकृत्वो मुङ्क्ते वालः। दिवसे पञ्चवारं मुङ्क्त इत्यर्थः। दिवसस्य द्विर-धीते। दिवसे द्विवारमधीत इत्यर्थः। अत्राधिकरणदिवस-शब्दे षष्ठी विभक्ति-र्भवति ॥

कृत्वोऽर्थप्रयोग-ग्रहणं किम्। अहनि शेते। अत्र षष्ठी न भवति ॥

काल-ग्रहणं किमर्थम्। आयसपात्रे द्विमुङ्क्ते। अत्रायसपात्रेऽधिकरणशब्दे षष्ठी न भवति ॥ ६४ ॥

१. देखो पृष्ठ ३१० टि० ३ ॥

२. कार०—सू० ११४ ॥

३. कौषीतकि-शतपथब्राह्मणयोः (क्रमेण १६।५ ॥

४।४।२।४) शाङ्ख्यायन-कात्यायन-आप-

स्तम्ब-मानवश्रौतसूत्रेषु (क्रमेण ८।४।१, ३ ॥

१०।६।१० ॥ १३।१३।२१ ॥ २।५।

२।२, ४) च—“घृतस्य यज।”

४. कार०—सू० ११५ ॥

['कृत्वोऽर्थप्रयोगे'] कृत्वसुच्-प्रत्यय के अर्थ में वर्तमान जो प्रत्यय हैं, तदन्त प्राति-पदिकों के प्रयोग में ['काले'] कालवाची जो ['अधिकरणे'] अधिकरण शब्द, उस में षष्ठी विभक्ति हो । अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति प्राप्त है, उस का अपवाद यह सूत्र है । दिवसस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते । एक दिन में यह बालक पांच बार खाता है । यहां अधिकरणवाची दिवस-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है । दिवसस्य द्विरधीते । इसी प्रकार 'दिन भर में दो बार पढ़ता है' यहां दिवस-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

कृत्वोऽर्थप्रयोग-ग्रहण इसलिये है कि 'अहनि शेते' यहां षष्ठी न हो ॥

और काल-ग्रहण इसलिये है कि 'आयसपात्रे [द्विः] भुङ्क्ते' यहां अधिकरणवाची आयसपात्र-शब्द में षष्ठी न हो ॥ ६४ ॥

कर्तृकर्मणोः कृति' ॥ ६५ ॥

कर्तृ-कर्मणोः ॥ ७ । २ । कृति । ७ । १ । कृत्सम्बन्धे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी विभक्तिर्भवति । कर्तरि—तव शायिका । मम जागरिका । देवदत्तस्य व्रज्या । देवदत्तस्येज्या । कर्मणि—पुरां भेत्ता । अपां स्रष्टा । अत्र त्वत्-मत्-देवदत्त-शब्देषु कर्तरि षष्ठी, पुर्-अप्-शब्दयोः कर्मणि च ॥

'कर्तृ-कर्मणोः' इति किम् । दात्रेण लविता । अत्र करणकारके षष्ठी विभक्तिर्न भवति ॥

'कृति' इति किम् । तद्धितप्रयोगे मा भूत् । कृतपूर्वी कटम् । मुक्तपूर्वी ओदनम् । अत्र कट-शब्दे ओदन-शब्दे च षष्ठी विभक्तिर्न भवति ॥ ६५ ॥

['कृति'] कृदन्तसम्बन्धी ['कर्तृ-कर्मणोः'] कर्ता और कर्म कारक में षष्ठी विभक्ति हो । देवदत्तस्य व्रज्या । देवदत्तस्येज्या । यहां कर्तावाची देवदत्त-शब्द में षष्ठी । पुरां भेत्ता । और यहां कर्मवाची पुर्-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

कर्तृकर्म-ग्रहण इसलिये है कि 'दात्रेण छेत्ता' यहां करण कारक में षष्ठी न हो ॥

और कृत-ग्रहण इसलिये है कि 'कृतपूर्वी कटं' यहां तद्धित के प्रयोग में षष्ठी न हो ॥ ६५ ॥

उभयप्राप्तौ कर्मणि' ॥ ६६ ॥

'कृति' इत्यनुवर्त्तते । उभयप्राप्तौ । ७ । १ । कर्मणि । ७ । १ । उभयोः = कर्तृ-कर्मणोः प्राप्तिर्यस्मिन्, तस्मिन् कृद्योगे कर्मणि षष्ठी भवति, कर्तरि नेति

१. कार०—सू० ११६ ॥

मिन्द्रो मुनीनां सखा ।"

२. शाङ्ख्यायनश्रौतसूत्रे—८ । १७ । १ ॥

ऐतरेयब्राह्मणे (८ । १२ । ५) च "पुरां

ऋग्वेदे (८ । १७ । १४)—

भेत्ताजनि" इति ॥

"द्रष्टो भेत्ता पुरां शरवतीना-

३. कार०—सू० ११७ ॥

नियमः । गवां दोहो गोपालेन । ओदनस्य पाको देवदत्तेन । कर्मणि षष्ठ्या विधाने कर्तुरनभिहितत्वात् तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

वा०—अकाकारयोः प्रयोगे प्रतिषेधो नेति वक्तव्यम् ॥^२ १ ॥

. अकप्रयोगे = एवुच्प्रयोगे, अकारप्रयोगे = 'अ प्रत्ययाद्' ॥^३ इत्यप्रयोगे च कर्तरि षष्ठ्याः प्रतिषेधो न भवति, किन्तु कर्तृकर्मणोरुभयत्र षष्ठी विभक्तिर्भवति । भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम् । चिकीर्षा विष्णुमित्रस्य कटस्य । अत्र 'देवदत्तस्य, विष्णुमित्रस्य' चेति कर्तरि, 'काष्ठानां, कटस्य' च [इति] कर्मणि षष्ठ्यौ ॥ १ ॥

शेषे विभाषा^४ ॥^२ २ ॥

अकाकारप्रयोगादन्यः शेषः, तत्र विकल्पेन कर्तरि षष्ठी विभक्तिर्भवति । शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः, शोभना खलु पाणिनिना सूत्रस्य कृतिः । शोभना खलु दाक्षायणस्य सङ्ग्रहस्य कृतिः, शोभना खलु दाक्षायणेन सङ्ग्रहस्य कृतिः । अत्र कर्तृवाचिनि पाणिनि-शब्दे दाक्षायण-शब्दे च विकल्पेन षष्ठी, पदे-ऽनभिहितकर्तरि तृतीया भवति ॥ [२ ॥] ६६ ॥

पूर्व सूत्र से कृत् के योग में कर्ता, कर्म में सर्वत्र षष्ठी प्राप्त है । उस का नियम करने के लिये यह सूत्र है । जिस कृदन्त के योग में ['उभयप्राप्तौ'] कर्ता और कर्म दोनों में एक साथ षष्ठी प्राप्त हो, वहां ['कर्मणि'] कर्म में षष्ठी हो और कर्ता में [तृतीया हो] । ओदनस्य पाको देवदत्तेन । यहां ओदन कर्म है, उस में षष्ठी हो गई । और देवदत्त कर्ता है, उस में अनभिहित के होने से तृतीया हो गई ॥

'अकाकारयोः प्रयोगे प्रतिषेधो नेति वक्तव्यम् ॥' एवुच्-प्रत्ययान्त और अ-प्रत्ययान्त कृदन्त के योग में कर्ता में [भी] षष्ठी विभक्ति हो जावे । भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम् । चिकीर्षा विष्णुमित्रस्य कटस्य । यहां देवदत्त- और विष्णुमित्र-शब्द में कर्ता में, और काष्ठ- तथा कट-शब्द में कर्म में षष्ठी है ॥ [१ ॥]

'शेषे विभाषा ॥' पूर्व वार्तिक से शेष कृदन्त के योग में विकल्प करके कर्ता में षष्ठी

१. जयादित्यस्तु — "अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम् ॥"

भाषावृत्तौ च — "अकाकारयोस्तु स्त्रियां नियमप्रतिषेधः ॥"

मिताक्षरा-प्रक्रियाकौमुद्योः — "स्त्रीप्रत्यययोर-काकारयोः प्रयोगे नेति वाच्यम् ।" (प्र०कौ० विभक्त्यर्थप्रकरणे)

कारकीये — "अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे

प्रतिषेधो न ॥" (सू० ११८)

२. अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

३. ३ । ३ । १०२ ॥ [विभक्त्यर्थप्रकरणे]

४. प्रक्रियाकौमुद्याम् — "शेषे स्त्रीप्रत्यये वा ॥"

भाष्ये ऽकाकारयोः "भेदिका, चिकीर्षा, कृतिः" इति स्त्रीप्रत्यय एवोदाहरणाद् अकाकारव्यतिरिक्त-स्त्रीप्रत्यय एव नान्यसिन्निहि केचिदाहुः । अपरे तु प्रत्ययमात्रे ऽकाकारवर्जिते विकल्पमिच्छन्ति ॥

विभक्ति हो। और कर्म में तो नित्य विधान ही है। शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः। शोभना खलु पाणिनिना सूत्रस्य कृतिः। यहां कर्त्तावाची पाणिनि-शब्द में विकल्प करके षष्ठी और पञ्च में तृतीया विभक्ति होती है ॥ [२॥] ६६ ॥

क्तस्य च वर्त्तमाने' ॥ ६७ ॥

क्त-प्रत्ययस्य निष्ठा-सञ्ज्ञत्वात् 'न लोकाव्यय०' ॥' इति प्रतिषेधः प्राप्तः। पुनः षष्ठी विधीयते। क्तस्य। ६।१।च। [अ०।] वर्त्तमाने। ७।१। वर्त्तमानकाले विहितस्य क्त-प्रत्ययान्तस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्भवति। राज्ञां मतः। राज्ञां बुद्धः। राज्ञां पूजितः। राज्ञामर्चितः। 'भतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' ॥' इति वर्त्तमाने क्त्वा विधीयते। तस्येदं ग्रहणम् ॥

'क्तस्य' इति किम्। भारं वहमानः ॥

'वर्त्तमाने' इति किम्। ग्रामं गतः। अत्र भूतस्य कर्मणि षष्ठी न भवति ॥

वा०—क्तस्य च वर्त्तमाने' नपुंसके भाव उपसङ्ख्यानम् ॥

छात्रस्य हसितम्। नटस्य भुक्तम्। मयूरस्य नृत्तम्। कोकिलस्य व्याहृतम् ॥

'नपुंसके भावे क्तः' ॥' इति सूत्रेण यः क्त्वा विधीयते, तदन्तस्य कर्त्तरि षष्ठी विभक्तिर्भवतीति वार्त्तिकप्रयोजनम् ॥ ६७ ॥

क्त-प्रत्यय की निष्ठा-सञ्ज्ञा होने से आगे के सूत्र से षष्ठी का निषेध प्राप्त है, इसलिये यह सूत्र है। ['वर्त्तमाने'] वर्त्तमान काल में जो ['क्तस्य'] क्त-प्रत्ययान्त है, उस के सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति हो। राज्ञां मतः। राज्ञां बुद्धः। राज्ञां पूजितः। यहां राज-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

'क्तस्य' ग्रहण इसलिये है कि 'गुरुं भजमानः' यहां कर्म में षष्ठी न हो ॥

और वर्त्तमान-ग्रहण इसलिये है कि 'ग्रामं गतः' यहां भूतकाल के होने से षष्ठी न हो ॥

'क्तस्य च वर्त्तमाने नपुंसके भाव उपसङ्ख्यानम् ॥' नपुंसक भाव में जो क्त-प्रत्ययान्त है, उस के कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति हो। छात्रस्य हसितम्। यहां छात्र-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है। यह वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ ६७ ॥

अधिकरणवाचिनश्च' ॥ ६८ ॥

१. कार०—सू० १२० ॥

२. २।३।६६ ॥

३. ३।२।१८८ ॥

४. काशिकायां "क्तस्य च वर्त्तमाने" इति नास्ति ॥

५. अ० २।पा० ३।आ० ३ ॥

६. ३।३।११४ ॥

७. कार०—सू० १२२ ॥

‘क्तस्य’ इत्यनुवर्त्तते । अधिकरणवाचिनः । ६।१।च। [अ०।]
 ‘क्तोऽधिकरणे च०’ ॥’ इत्यधिकरणे यः क्तो विधीयते, तस्येदं ग्रहणम् । अधि-
 करणवाचिनः क्त-प्रत्ययान्तस्य योगे षष्ठी विभक्तिर्भवति । इदमेषामासितम् । इद-
 मेषां शयितम् । इदमेषां मुक्तम् । इदमेषां यातम् । ‘एषां’ इति सर्वत्र कर्त्तरि षष्ठी ।
 ‘आसितं, शयितं, मुक्तं’ इति स्थानविशेषणम् । ‘यातं’ इति मार्गविशेषणं च ।
 ‘आस्तेऽस्मिन्’ इति निर्वचनम् ॥ ६८ ॥

[‘अधिकरणवाचिनः’] अधिकरणवाची क्त-प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी विभक्ति हो ।
 इदमेषामासितम् । इदमेषां यातम् । यहां ‘एषां’ यह कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति है । जिस में
 स्थित हो, उस स्थान का वाची आसित-शब्द है । इसलिये स्थान ही अधिकरण है ॥ ६८ ॥

न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम् ॥ ६६ ॥

‘कर्तृकर्मणोः कृतिः’ ॥ उभयप्राप्तौ कर्मणि ॥’ इति सूत्रद्वयेन प्राप्तायाः
 षष्ठ्याः प्रतिषेधः क्रियते । न । अ० । ल-उ-उक-अव्यय-निष्ठा-खलर्थ-तृणाम् । ६ ।
 ३ । ‘ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ, तृन्’ [इति] एषां योगे षष्ठी
 विभक्तिर्न भवति । ल-ग्रहणेन लकारस्थाने य आदेशास्तदन्तानां कर्मणि षष्ठी न
 भवति । तत्र शतृ-शानचौ, कानच्-कसू, कि-किनौ च गृह्यन्ते । शतृ-शानचौ—
 ओदनं पचन् । ओदनं पचमानः । कानच्—सूर्य ददृशानः^४ । कसुः—प्रयोगं
 सेधिवान् । कि-किनौ—पपिः सोमं ददिर्गाः^५ । उ—विद्यां पिपठिषुः । गृहं
 जिगमिषुः । उक—प्रपातुका गर्भम् । अनृतं प्रतिपादुकः । अव्यय—ग्रामं गत्वा ।
 वचनमुक्त्वा । निष्ठा—कटं कृतवान् । देवदत्तेन कृतम् । खलर्थ—ईषत्करः
 कुम्भस्त्वया । ईषत्पानः सोमस्त्वया । [तृन्—] तृन्-प्रत्याहारग्रहणं भवति ।
 ‘लटश्शतृशानचाव०’ ॥’ इत्यारभ्य आ तृनो नकारात् । तेन ‘शानन्’

१. ३।४।७६॥

२. कार०—सू० १२३॥

३. २।३।६५॥

४. २।३।६६॥

५. ऋग्वेदे (४।७।१०)—

“सद्यो जातस्य ददृशानमोजौ

यदस्य वातो अनुवाति शोचिः ।”

६. “गन्तेयान्ति सवन्म हरिभ्यां

वअिर्वजं पपिः सोमं ददिर्गाः ।

कर्त्ता वीरं नर्यं सर्ववीरं [२३।४]

ओता हवं गृणतः स्तोमवाहाः ॥” (ऋ० ६।

अपि च (ऋ० ८।४६।१५)—

“ददी रेक्यस्तन्वे ददिर्वसु

ददिर्वाजेषु पुरुहूत वाजिनम् ।”

७. ३।२।१२४॥

८. “तृन् ॥” (३।२।१३५)

चानश्, शतृ, तृन्' इति चतुर्णां प्रत्ययानां ग्रहणं भवति । शानन्—सोमं पवमानः ।
चानश्—पतङ्गान् निघ्नानः । शतृ—धारयन् विद्याम् । तृन्—कर्त्ता कटान् ।
लविता यवान् । अत्र सर्वत्र कर्मणि षष्ठी प्राप्ता, सा प्रतिषिध्यते ॥

वा०—उकप्रतिषेधे कमेर्भाषायामप्रतिषेधः ॥^१ १ ॥

भाषायां=वेदादितरग्रन्थेषु [उक-प्रत्ययान्तस्य कर्मिधातोर्योगे] षष्ठ्याः
प्रतिषेधो न भवति । दास्याः कामुकः । वृषल्याः कामुकः । अत्र दासी[-शब्दे]
वृषली-शब्दे च षष्ठ्याः प्रतिषेधे द्वितीया प्राप्ता । पुनः प्रतिषेधात् षष्ठ्येव
भवति ॥ १ ॥

अव्ययप्रतिषेधे तोसुन्-कसुनोरप्रतिषेधः ॥^२ [२ ॥]

तोसुन्-कसुन्-प्रत्ययान्तस्य योगे षष्ठ्याः प्रतिषेधो न भवति । पुरा सूर्यस्यो-
देतोराधेयः^३ । पुरा वत्सानामपाकर्तोः^४ । पुरा क्रूरस्य विसृपो विरश्मिन्^५ । अत्र
सूर्य-[वत्स]-क्रूर-शब्दानामनेन वार्त्तिकेन षष्ठी ॥ २ ॥

द्विषः शतुर्वावचनम् ॥^६ ३ ॥

चौरं द्विषन् । चौरस्य द्विषन् । अत्र 'तृन्' इति प्रत्याहारग्रहणेन नित्यं प्रति-
षेधः प्राप्तः । अनेन वार्त्तिकेन विकल्प्यते ॥ [३ ॥] ६६ ॥

कृदन्त के योग में कर्त्ता, कर्म में षष्ठी विभक्ति प्राप्त है । उस का निषेध करने वाला यह
सूत्र है । ['ल-उ-उक-अव्यय-निष्ठा-स्वार्थ-तृणाम्'] ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, स्वार्थ,
तृन्, इन के योग में षष्ठी विभक्ति ['न'] न हो । ल करके लकार के स्थान में जो आदेश होते हैं,
उन के कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो । शतृ, शानच्, कानच्, कसु, कि, किन्, ये सब
लकार के स्थान में आदेश होते हैं । ओदनं पचन् । ओदनं पचमानः । इत्यादि उदाहरणों
में ओदन[आदि] शब्द[ों] में षष्ठी नहीं हुई । उ—उ-प्रत्ययान्त के योग में कर्म में षष्ठी न
हो । कटं चिकीर्षुः । यहां कट-शब्द में । उक—उकन्-प्रत्ययान्त के कर्म में षष्ठी न हो ।
अनृतं प्रतिपादुकः । यहां अनृत-शब्द में षष्ठी न हुई । अव्यय—कृदन्त अव्यय के कर्म
में षष्ठी न हो । ग्रामं गत्वा । ओदनं भुक्त्वा । यहां ग्राम- और ओदन-शब्द में षष्ठी

१. आ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

(४ । १ । २ । १) "आस्तमेतोरादिस्यात् ॥"

२. का०—८ । ३ ॥

(४ । २ । २ । १)

३. काश्वीये शतपथब्राह्मणे तु तोसुन्-प्रत्ययस्य योगे
पञ्चमी विभक्तिरपि दृश्यते । यथा—“आ तिसृभ्यो
(माध्यन्दिनीये—“तिसृणां”) दोगधोः ।” (२ ।

४. वा०—१ । २८ ॥

तै०—१ । १ । ६ । ३ ॥

मै०—१ । १ । १० ॥

६ ॥ ३ । ८) “पुरा नखेभ्यो निकर्तितोः ।”

का०—१ । ६ ॥

नहीं हुई। निष्ठा—क्त- और क्तवतु-प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी न हो। देवदत्तेन कृतम्। कटं कृतवान्। यहां देवदत्त- और कट-शब्द में षष्ठी प्राप्त है। खलर्थे—ईषत्केरः कट-स्त्वया। ईषत्पानः सोमस्त्वया। यहां कट- और सोम-शब्द में षष्ठी प्राप्त है। तृन्—यह प्रत्याहार लिया जाता है। शतृ-प्रत्यय के तृ से लेके तृन्-प्रत्यय के नकार पर्यन्त। उस में शानन्, चानश, शतृ, तृन्, इतने प्रत्ययों का ग्रहण होता है। शानन् आदि प्रत्ययान्त शब्दों के कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो। सोमं पवमानः। पतङ्गान् निष्पानः। वियां धारयन्। लविता यवान्। यहां सोम आदि शब्दों में षष्ठी विभक्ति प्राप्त है, सो नहीं हो ॥

‘उकप्रतिषेधे कमेर्भाषायामप्रतिषेधः॥’ उक-प्रत्ययान्त के योग में जो षष्ठी का निषेध किया है, वहां कर्मि धातु से उक-प्रत्ययान्त के योग में लौकिक प्रयोगों में निषेध न हो, किन्तु षष्ठी विभक्ति हो जावे। दास्याः कामुकः। यहां दासी-शब्द में षष्ठी का निषेध प्राप्त था, सो न हुआ ॥ १ ॥

‘अव्ययप्रतिषेधे तोसुन्-कसुनोरप्रतिषेधः॥’ इस सूत्र में अव्यय के योग में जो षष्ठी का निषेध किया है, वहां तोसुन्- और कसुन्-प्रत्ययान्त अव्यय के योग में षष्ठी का निषेध न हो, किन्तु षष्ठी विभक्ति हो जावे। पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः। पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्तिन्। यहां सूर्य- और क्रूर-शब्द में षष्ठी का निषेध प्राप्त था, सो न हुआ ॥ २ ॥

‘द्विषः शतुर्वाचनम्॥’ द्विष धातु से शतृ-प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी विभक्ति विकल्प करके हो। चौरस्य द्विषन्। चौरं द्विषन्। यहां चौर-शब्द में षष्ठी के विकल्प में पठ में कर्म की द्वितीया हो जाती है। तृन् प्रत्याहार में शतृ-प्रत्यय के होने से षष्ठी का निषेध प्राप्त है। इसलिये यह तीसरा वार्तिक है ॥ [३ ॥]

निषेध की अनुवृत्ति यहां से आगे भी जायगी ॥ ६६ ॥

अकेनोर्भविष्यदाधमर्णयोः^३ ॥ ७० ॥

‘न’ इत्यनुवर्त्तते। अक-इनोः। ६।२। भविष्यद्-आधमर्णयोः। ७।२। भविष्यति काल आधमर्ण्येऽर्थे चाकान्तस्य कर्मणि इन्-प्रत्ययान्तस्य च कर्मणि षष्ठी विभक्तिर्न भवति। अकेनौ द्वौ, भविष्यदाधमर्ण्यौ च द्वावर्थौ, तत्र यथा-सङ्ख्यं प्राप्नोति ॥

भा०—अकस्य भविष्यति^३ ॥ [१ ॥]

अकान्तस्य कर्मणि भविष्यत्काले षष्ठी न भवति। यवान् लावको व्रजति। ओदनं भोजको व्रजति ॥

इन आधमर्ण्ये च^३ ॥ [२ ॥]

१. देखो पृष्ठ ३१६ टिप्पण २ और ४ ॥

३. वार्तिकमिदम् ॥

४. कार०—सू० ३.२.७ ॥

४. अ० २।पा० ३।आ० ३ ॥

चकाराद् भविष्यत्काले । इन्-प्रत्ययान्तस्य कर्मणि भविष्यदाधमर्णयोर्द्वयो-
रप्यर्थयोः षष्ठी न भवति । आधमर्ण्ये—शतं दायी । सहस्रं दायी । भवि-
ष्यति—ग्रामं गमी । ग्रामं गामी । अत्रापि 'कर्तृकर्मणोः कृति' ॥' इति षष्ठी
प्राप्ता, साऽनेन प्रतिषिध्यते ॥

'भविष्यदाधमर्णयोः' इति किम् । यवानां लावकः । जगतः प्रकाशकः ।
अत्र षष्ठ्याः प्रतिषेधो न भवति ॥ ७० ॥

['अक-इनोः'] अक-प्रत्ययान्त और इन्-प्रत्ययान्त शब्दों के कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो
['भविष्यद् आधमर्णयोः'] भविष्यत्काल और आधमर्ण्य अर्थ में । दो अर्थ और दो प्रत्य-
यों के होने से यथासंख्य प्रक्ष होता है, इसलिये 'अकस्य० ॥' महाभाष्य में व्याख्या है
कि अकान्त के योग में भविष्यत्काल और इन्-प्रत्ययान्त के योग में दोनों अर्थों में षष्ठी न हो ।
यवान् लावको व्रजति । यहां अकान्त के योग में भविष्यत्काल में षष्ठी नहीं हुई । और
'ग्रामं गमी' यहां इन्नन्त के योग में भविष्यत्काल में, तथा 'शतं दायी' यहां आधमर्ण्य अर्थ
में षष्ठी विभक्ति का निषेध हुआ है ॥

भविष्यत्- और आधमर्ण्य-ग्रहण इसलिये है कि 'यवानां लावकः' यहां षष्ठी का निषेध
न हो ॥ ७० ॥

कृत्यानां कर्त्तरि वा ॥ ७१ ॥

प्रातविभाषेयम् । 'कर्तृकर्मणोः कृति' ॥' इति नित्यं षष्ठी प्राप्ता, कर्त्तरि
विकल्प्यते । कृत्यानाम् । ६ । ३ । कर्त्तरि । ७ । १ । वा । [अ० ।] कृत्यानां=
कृत्यप्रत्ययान्तानां कर्त्तरि विकल्पेन षष्ठी विभक्तिर्भवति । देवदत्तस्य कर्त्तव्यम् ।
देवदत्तेन कर्त्तव्यम् । अत्र कर्तुरनभिहितत्वात् षष्ठ्या विकल्पपक्षे कर्त्तरि तृतीया
भवति ॥

'कर्त्तरि' इति किम् । वक्तव्यः श्लोकः । अत्र श्लोक-शब्दे षष्ठी-तृतीये न
भवतः ॥

अस्य सूत्रस्य महाभाष्यकारेण योगविभागः कृतः । तत्राऽयमर्थः—'कृत्या-
नां' इति पृथग्योगः । 'उभयप्राप्तौ' इत्यनुवर्त्तते । उभयप्राप्तौ^३ कृत्यप्रत्ययान्तस्य
योगे षष्ठी विभक्तिर्न भवति । ग्राममाकृष्टव्या शाखा देवदत्तेन । अत्र कर्तृकर्मणो-

१. २ । ३ । ६५ ॥

२. कार०—ख० १२६ ॥

३. महाभाष्ये—'उभयप्राप्तिर्नाम सा भवति,

यतोभयस्य युगपत् प्रसङ्गः । अत्र च यदा क-
र्मणि, न तदा कर्त्तरि, यदा कर्त्तरि न तदा
कर्मणीति ।'

रुभयत्र प्राप्ता षष्ठी प्रतिषिध्यते । ततः 'कर्त्तरि वा ।' कर्त्तरि विकल्पेन षष्ठी भवति । तदेव पूर्वमुदाहृतम् ॥ ७१ ॥

['कृत्यानां'] कृत्य-प्रत्ययान्त के ['कर्त्तरि'] कर्त्ता में ['वा'] विकल्प करके षष्ठी विभक्ति हो । देवदत्तस्य देवदत्तेन वा कर्त्तव्यम् । यहां देवदत्त-शब्द में षष्ठी विकल्प करके होती है । षष्ठी के निषेध पक्ष में अनभिहित कर्त्ता के होने से तृतीया होती है ॥

'कर्त्तरि' ग्रहण इसलिये है कि 'वक्तव्यः श्लोकः' यहां कर्म में षष्ठी न हो ॥

इस सूत्र में महाभाष्यकार ने योगविभाग किया है । इस से दो अर्थ होते हैं—[१] उभयप्राप्त कृत्य-प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी न हो । ग्राममाक्रष्टव्या शाखा देवदत्तेन । यहां कर्त्ता, कर्म दोनों में षष्ठी प्राप्त है, सो कहीं न हुई । [२] और कृत्य-प्रत्यय के योग में कर्त्ता में षष्ठी विकल्प करके हो । इस का उदाहरण पूर्व इसी सूत्र की व्याख्या में लिख चुके हैं ॥ ७१ ॥

तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् ॥ ७२ ॥

'वा' इत्यनुवर्त्तमाने पुनर् अन्यतरस्यां-ग्रहणं = 'कर्त्तरि' इति निवृत्त्यर्थम् । अप्राप्तविभाषेयम् । शेषत्वात् षष्ठी प्राप्ता, तृतीयाऽनेन विकल्प्यते । अत एव पक्षे षष्ठी भवति । तुल्यार्थैः । ३ । ३ । अतुला-उपमाभ्याम् । ३ । २ । तृतीया । १ । १ । अन्यतरस्याम् । [अ० ।] तुल्यार्थैः शब्दैर्योगे तृतीया विभक्तिर्विकल्पेन भवति तुला-उपमा-शब्दौ वर्जयित्वा । तुल्यो देवदत्तेन, तुल्यो देवदत्तस्य । सदृशो देवदत्तेन, सदृशो देवदत्तस्य ॥

'अतुलोपमाभ्यां' इति किम् । तुला परमेश्वरस्य, उपमा परमेश्वरस्य च नास्ति । अत्र परमेश्वर-शब्दे तृतीया न भवति । शेषत्वात् षष्ठ्येव भवति ॥ ७२ ॥

विकल्प की अनुवृत्ति चली आती थी, फिर विकल्पग्रहण इसलिये है कि कर्त्ता की अनुवृत्ति न आवे । इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है । शेष के होने से षष्ठी प्राप्त थी, तृतीया किसी से प्राप्त नहीं, उस का विकल्प किया है । ['तुल्यार्थैः'] तुल्य के पर्यायवाची शब्दों के योग में ['अन्यतरस्यां'] विकल्प करके ['तृतीया'] तृतीया और पक्ष में षष्ठी विभक्ति हो, ['अतुला-उपमाभ्यां'] तुला- और उपमा-शब्द को छोड़के । तुल्यः सदृशो वा देवदत्तेन देवदत्तस्य वा । यहां तुल्यार्थ शब्दों के योग में देवदत्त-शब्द से तृतीया और षष्ठी विभक्ति हुई है ॥

तुला- और उपमा-शब्द का निषेध इसलिये है कि 'तुलोपमा वा परमेश्वरस्य नास्ति' यहां परमेश्वर-शब्द में शेष के होने से षष्ठी हो गई ॥ ७२ ॥

चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः ॥ ७३ ॥

१. कार०—स० १३० ॥ [(२ । १ । ६६) २. कार०—स० १३१ ॥

चा० श०—“तुल्यार्थैस्तृतीया वा” ॥

चा० श०—“हितसुखाभ्यां चतुर्थी च ॥ आशि-

अन्यतरस्यां-ग्रहणमनुवर्तते । चतुर्थी । १ । १ । च । [अ० ।] आशि-
 पि । ७ । १ । आयुष्य-मद्र-भद्र-कुशल-सुख अर्थ-हितैः । ३ । ३ । आशिपि =
 आशीर्वचनेऽर्थे सति 'आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ, हित' इत्येतैः
 शब्दैर्योगे विकल्पेन चतुर्थी विभक्तिर्भवति । पक्षे शेषत्वात् षष्ठी । आयुष्यं शि-
 ष्याय शिष्यस्य वा भूयात् । मद्र—मद्रं बालाय बालस्य वा । भद्र—भद्रं पुत्राय
 पुत्रस्य वा । कुशल—कुशलं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । [सुख—] सुखं पण्डि-
 ताय पण्डितस्य वा । [अर्थ—] अर्थो देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । [हित—]
 हितं माणवकाय माणवकस्य वा । अत्र सर्वत्राशिष्यर्थे चतुर्थी-षष्ठ्यौ भवतः ॥

‘आशिपि’ इति किम् । आयुष्यमस्य ब्रह्मचर्यम् । अत्र चतुर्थी न भवति ॥ ७३ ॥

इति विश्वजनीनायां पाणिनीयसूत्रवृत्तौ

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः पूर्त्तिमगमत् ॥

[‘आशिपि’] आशीर्वचन अर्थ में [‘आयुष्य-मद्र-भद्र-कुशल-सुख-अर्थ-हितैः’]
 आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ, हित, इन शब्दों के योग में विकल्प करके [‘चतुर्थी’]
 चतुर्थी और पक्ष में षष्ठी विभक्ति हो । आयुष्यं शिष्याय शिष्यस्य वा इत्यादि उदाहरणों
 में आयुष्य आदि शब्दों के योग में शिष्य आदि शब्दों से चतुर्थी और षष्ठी विभक्ति होती हैं ॥

आशीर्वचन-ग्रहण इसलिये है कि ‘आयुष्यमस्य ब्रह्मचर्यम्’ यहां चतुर्थी विभक्ति
 नहीं होती, किन्तु शेष में षष्ठी होती है ॥ ७३ ॥

यह द्वितीयाध्याय का तृतीय [पा]द समाप्त हुआ ॥

आयुष्यमद्रार्थकुशलायैश्च ॥” (२।१।६७, ६८)

१. अत्र काशिकायां “अत्रायुष्यादीनां पर्यायग्रहणं

कर्त्तव्यम् ॥” इति वार्त्तिकम् । महाभाष्ये त्वत्रेदं

न दृश्यते ॥

ओ३म्

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः ॥

[अथैकवङ्गावप्रकरणम्]

द्विगुरेकवचनम् ॥ १ ॥

द्विगुः । १ । १ । एकवचनम् । १ । १ । उच्यते तद्वचनम् । एकस्य वचनं = एकवचनम् । द्विगुः समास एकवचनं = एकवद् भवतीति । सङ्ख्यापूर्वस्य तत्पुरुषस्य द्विगु-सञ्ज्ञास्ति । पञ्चपात्रम् । दशपात्रम् । प्रत्यधिकरणं वचनोत्पत्तिर्भवति, अतो बहुषु बहुवचनं प्राप्तं, एकवचनं विधीयते । तच्च नपुंसकं भवति ॥ १ ॥

संख्या जिस के पूर्व हो, ऐसे तत्पुरुष समास की द्विगु-संज्ञा है । ['द्विगुः'] द्विगु समास ['एकवचनम्'] एकवचन हो । पञ्चपात्रम् । दशपात्रम् । यहां प्रति द्रव्य के वचन के उत्पन्न होने से बहुत में बहुवचन प्राप्त था, इसलिये एकवचन का आरम्भ किया है ॥

यहां से आगे एकवचन का अधिकार चलेगा और एकवचन को नपुंसकभाव हुआ करेगा ॥ १ ॥

द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् ॥ २ ॥

'एकवचनम्' इत्यनुवर्तते । द्वन्द्वः । [१ । १ ।] च । [अ० ।] प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम् । ६ । ३ । प्राणिश्च तूर्यश्च सेना च, तासामङ्गानि = प्राणि-तूर्यसेनाङ्गानि, तेषाम् । अङ्ग-शब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते । प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानां च द्वन्द्व एकवद्भवति^१ । प्राण्यङ्गानाम्—पाणी च पादौ च = पाणिपादम् । कण्ठश्च पृष्ठं च ग्रीवा च जंघौ च = कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घम् । तूर्याङ्गानां = वादनाङ्गानाम्—वंशी च वीणा च = वंशीवीणम् । मृदङ्गश्च शङ्खश्च पणवश्च = मृदङ्गशङ्खपणवम् । सेनाङ्गानाम्—हस्तिनश्च अश्वाश्च उष्ट्राश्च = हस्त्यश्वोष्ट्रम् ।

१. सा०—पृ० ४५ ॥

चा० श०—“प्राणितूर्याङ्गानाम् ॥ सेनाङ्गानां बहुल्ये ॥” (२ । २ । ५८, ५९)

२. अत्र महामाष्ये—“प्राण्यङ्गानां प्राण्यङ्गैरिति वक्तव्यम् । तूर्याङ्गानां तूर्याङ्गैः । सेनाङ्गानां सेनाङ्गैरिति ।”

रथशकटम् । अत्र द्वन्द्वसमासस्योभयपदार्थप्रधानत्वाद् बहुवचनं द्विवचनं च प्राप्तं, एकवचनं विधीयते । तच्च वक्ष्यमाणसूत्रेण^१ नपुंसकमेव भवति ॥ २ ॥

अंग-शब्द अवयववाची यहां लिया है । ['प्राणि-तूर्य्य-सेनाङ्गानाम्'] मनुष्य आदि प्राणियों, तूर्य्य=बजाने [के] बाजे और सेना के अवयववाचियों का जो ['द्वन्द्वः'] द्वन्द्व समास है, वह एकवचन को प्राप्त हो । प्राण्यङ्ग—प्राणिपादम् । यहां प्राणि=हाथ और पादों के द्वन्द्व समास में बहुवचन प्राप्त था, सो एकवचन हो गया । तूर्याङ्ग—वंशीवीणाम् । यहां वंशी- और वीणा-शब्द के द्वन्द्व समास में द्विवचन प्राप्त था । सेनाङ्ग—हस्त्यश्वोष्ट्रम् । और यहां हस्ति, अश्व, उष्ट्र, इन तीनों के द्वन्द्व समास में बहुवचन प्राप्त है । इस सूत्र से एकवचन होता है । द्वन्द्व समास उभयपदार्थप्रधान है, इससे द्विवचन और बहुवचन प्राप्त हैं । इसलिये यह सूत्र है ॥ २ ॥

अनुवादे चरणानाम्^२ ॥ ३ ॥

'द्वन्द्वः' इत्यनुवर्त्तते । अनुवादे । ७ । १ । चरणानाम् । ६ । ३ । चरण-शब्दः प्राचीनपुरुषविशेषाणां सञ्ज्ञा^३ । उक्तस्य पुनः कथनमनुवादः^४ । अनुवादे गन्धमाने सति चरणवाचिनां द्वन्द्व एकवद् भवति । उदगात् कठकालापम् । प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्^५ । कठाश्च कालापाश्च, कठाश्च कौथुमाश्चेति विग्रहः ॥

अनुवाद एवैकवचनं भवति । यदा प्रथमत एव वादस्तदा—उदगुः कठ-कालापाः । अनुवादस्यैतत् प्रत्युदाहरणम् ॥

वा०—स्थेणोर्द्वितन्यां चेति वक्तव्यम् ॥^६

१. २ । ४ । १७ ॥

२. सा०—पृ० ४५ ॥

चा० श०—“अनुवादे चरणानां स्थेणोर्द्वि ॥”

(२ । २ । ५०)

३. जयदित्यः—“चरण-शब्दः शाखानिमित्तकः पुरुषेषु वर्त्तते ।”

मालतीमाधवटीकायां जगद्धरः—“चरण-शब्दः शाखाविशेषाध्ययनपरैकतापन्नजनसङ्गवाची ।”

४. जयदित्यः—“प्रमाणान्तरावगतस्यार्थस्य शब्देन सङ्कीर्तनमात्रमनुवादः ।” [ध्यायिनः ॥

५. = कठ-कालापशाखाध्यायिनः, कठ-कौथुमशाखा- तथा च चरणव्यूहपरिशिष्टसूत्रे—“यजुर्वेदस्य षडशीतिभेदा भवन्ति । तत्र चरणानां द्वादश भेदा

भवन्ति—चरका आह्वरकाः कठाः प्राच्यकठाः कपिष्ठलकठाश्चारायणीया वारायणीया वात्तान्त-वीया श्वेताश्वतरा औपमन्यवः पाताण्डनीया मैत्रायणीयाश्चेति ।” (द्वितीयकण्डिकायाम्)

“सामवेदस्य किल सहस्रभेदा भवन्ति । एष्वनध्यायेष्वधीयानास्ते शतक्रतुवज्रेणाभिहताः । शेषान् व्याख्यामः । तत्र राखायनीयानां राप्ता भेदा भवन्ति—राखायनीयाः शाठ्यमुग्राः का-लोपाः [कालापाः] महाकालोपा लाङ्गलायनाः शार्दूलाः कौथुमाश्चेति ।” (तृतीयकण्डिकायाम्)

६. महामाध्वे “स्थेणोरिति वक्तव्यम् ॥” इति पृथग् व्याख्यातम् ॥

७. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

अद्यतन्यां = लुङ्लकारे स्था-धातोरिण्-धातोश्च प्रयोगेऽस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिर्भवतीति वार्त्तिकाशयः । तथैव पूर्वमुदाहृतम् ॥

‘स्थेणोः’ इति किम् । अनन्दिषुः कठकालापाः ॥

‘अद्यतन्याम्’ इति किम् । तिष्ठन्तु कठकालापाः । अत्रोभयत्रैकवचनं न भवति ॥ ३ ॥

चरण-शब्द प्राचीन ऋषियों के किसी कुल विशेष की संज्ञा में आता है । कही हुई बात को फिर कहना, इस को अनुवाद कहते हैं । [‘अनुवादे’] अनुवाद अर्थ में [‘चरणानाम्’] चरणवाचियों का जो द्वन्द्व समास है, वह एकवचन को प्राप्त हो । उदात्तात् कठकालापम् । प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम् । यहां अनुवाद अर्थ में एकवचन हुआ है ॥

अनुवाद-ग्रहण इसलिये है कि ‘उद्गुः कठकालापाः’ यहां एकवचन न हो ॥

‘स्थेणोरद्यतन्यां चेति वक्ष्यम् ॥’ लुङ् लकार में स्था और इण् धातु के प्रयोग में इस सूत्र की प्रवृत्ति हो, यह इस वार्त्तिक का प्रयोजन है । इसी के अनुकूल सूत्र के उदाहरण दे चुके हैं ॥

स्था और इण् का ग्रहण इसलिये है कि ‘अनन्दिषुः कठकालापाः’ यहां एकवचन न हो ॥

और अद्यतन-ग्रहण इसलिये है कि ‘तिष्ठन्तु कठकालापाः’ यहां भी एकवचन न हो ॥ ३ ॥

अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम् ॥ ४ ॥

अध्वर्यौ = [यजुः] वेदे विहितः क्रतुः = अध्वर्युक्रतुः । अनपुंसकलिङ्गानामध्वर्युक्रतुवाचिनां शब्दानां द्वन्द्वसमास एकवद् भवति । सोमयागराजसूयम् । अर्काश्वमेधम्^२ ॥

‘अनपुंसकम्’ इति किम् । राजसूयवाजपेये^३ । अत्रैकवद्भावो न भवति ॥ ४ ॥

[‘अनपुंसकम्’] नपुंसकलिङ्ग को छोड़के जो [‘अध्वर्युक्रतुः’ यजुः] वेदविहित यज्ञवाची शब्द हैं, उन का द्वन्द्व समास एकवचन हो । अर्काश्वमेधम् । यहां अर्क- और अश्वमेध-शब्द का द्वन्द्व एकवचन हुआ है ॥

अनपुंसक-ग्रहण इसलिये है कि ‘राजसूयवाजपेये’ यहां एकवद्भाव न हो ॥ ४ ॥

अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् ॥ ५ ॥

१. सा०—पृ० ४६ ॥

चा० श०—“अध्वर्युक्रतुत्तामनपुंसकानाम् ॥”

(२।२।५१)

२. अथर्ववेदे (११।६।७.) तु—

“राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः ।

अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवर्हिर्मदन्तिमः ॥”

३. न्यासे—“एतौ राजसूय-वाजपेय-शब्दौ पुंलिङ्गावपि स्तः । तत्र यदा नपुंसकलिङ्गौ प्रयुज्येते, तत्रेदं प्रत्युदाहरणम् ।”

४. सा०—पृ० ४६ ॥

चा० श०—“सन्निकृष्टपाठानाम् ॥” (२।

२।५२)

अध्ययनतः । [अ० ।] अविप्रकृष्टाख्यानाम् । ६।३। अध्ययनतः—अध्य-
यनेनेति तृतीयार्थे तसिः । विप्रकृष्टाः = दूरीभूताः । न विप्रकृष्टाः = अविप्रकृष्टाः ।
समीपवर्तिन इत्यर्थः । अध्ययन[नि]मित्तेन सह समीपाख्यानां द्वन्द्व एकवद्
भवति । उदाहरणप्रत्युदाहरणम् । अर्थोदाहरणम् । अष्टाध्यायीमहाभाष्यम् ।
व्याकरणनिरुक्तम् । ऋग्वेदयजुर्वेदम् । उदाहरणपठनपश्चात् प्रत्युदाहरणान्यध्ये-
यानीति पठनक्रमे समीपवर्तिनां द्वन्द्व एकवद् भवति । व्याकरणमधीत्य निरुक्तम-
ध्येयमिति ॥

‘अध्ययनतः’ इति किम् । पितापुत्रौ । अत्र समीपवाचिनोर्द्वन्द्व एकवच्च
भवति ॥ ५ ॥

[‘अध्ययनतः’] अध्ययन का निमित्तवाची जो प्रातिपदिक है, उस के [‘अविप्रकृष्टा-
ख्यानाम्’] समीपवाचियों का जो द्वन्द्व है, वह एकवचन हो । व्याकरणनिरुक्तम् । व्या-
करण के पीछे निरुक्त पढ़ना चाहिये । यहां व्याकरण पढ़ने के समीप निरुक्त का पढ़ना है ।
इससे इन का द्वन्द्व एकवत् हो गया ॥

‘अध्ययनतः’ ग्रहण इसलिये है कि ‘पितापुत्रौ’ यहां समीपवाचियों का द्वन्द्व एकवत्
प्राप्त है, सो न हो ॥ ५ ॥

जातिरप्राणिनाम् ॥ ६ ॥

जातिः । १ । १ । अप्राणिनाम् । ६ । ३ । अप्राणिवाचिनां जातिशब्दानां
द्वन्द्व एकवद् भवति । खट्वापीठम् । घटपटम् ॥

‘जातिः’ इति किम् । नन्दकपाञ्चजन्यौ ॥

‘अप्राणिनाम्’ इति किम् । ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः । अत्रोभयत्रैकवद्भावो
न भवति ॥ ६ ॥

[‘अप्राणिनाम्’] प्राणिरहित [‘जातिः’] जातिवाची शब्दों का जो द्वन्द्व समास है,
वह एकवत् हो । खट्वापीठम् । यहां दो शब्दों का द्विवचन प्राप्त था, सो एकवचन हो गया ॥

जाति-ग्रहण इसलिये है कि ‘नन्दकपाञ्चजन्यौ’ यहां एकवत् न हो ॥

और अप्राणि-ग्रहण इसलिये है कि ‘ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः’ यहां भी एकवद्भावो
न हो ॥ ६ ॥

विशिष्टलिङ्गो नदी देशोऽग्रामाः ॥ ७ ॥

विशिष्टलिङ्गः । १ । १ । नदी । १ । १ । देशः । १ । १ । अग्रामाः ।

१. सा०—पृ० ४६ ॥

[२।५३]

२. सा०—पृ० ४६ ॥ [नाम् ॥ ” (२।२।५४)

चा० श०—“अप्राणिजातीनाम् ॥” (३।

चा० श०—“नदीदेशनगराणां भिन्नलिङ्गा-

१।३। विशिष्टलिङ्गानां = भिन्नलिङ्गानां नदीवाचिनां देशावयववाचिनां शब्दानां च द्वन्द्व एकवद् भवति, अग्रामाः = ग्रामविशेषवाचिशब्दान् वर्जयित्वा । भिद्यं च इरावती च = मिथेरावति । उद्धयेरावति । गङ्गा च शोणं च = गङ्गाशोणम् । देशवाचिनाम्—पञ्चालजङ्गलम् । पञ्चालकुरुक्षेत्रम् ॥

‘विशिष्टलिङ्गः’ इति किम् । गङ्गायमुने ॥

‘नदी, देशः’ इति किम् । मातापितरौ ॥

‘अग्रामाः’ इति किम् । शाकलं च शालूकिनी च = शाकलशालूकिन्यौ । सर्वत्रात्रैकवद्भावो न भवति ॥ वार्त्तिकानि—

ग्रामप्रतिषेधे नगरप्रतिषेधः ॥ १ ॥

इह मा भूत्—मथुरा च पाटलिपुत्रं च = मथुरापाटलिपुत्रम् ॥

सूत्रेऽस्मिन् देश-शब्देन देशावयवग्रहण[द्] ग्रामनगराणां द्वन्द्वस्यैकवद्भावः प्राप्तः । तत्र ‘अग्रामाः’ इति प्रतिषेधे नगरस्यापि प्रतिषेधः प्राप्तः । तस्य प्रतिषेधो वार्त्तिकेन क्रियते । ततः प्रतिप्रसवेन नगराणामेकवद्भावो भवत्येव । कुतः । ‘अमर्त्यो ग्राम्यकुक्कुटः’ इत्यादि ग्रामे यत् कार्यं प्रतिषिध्यते, नगरेऽपि तन्न क्रियते । अतो ज्ञायते ग्राम-शब्देन नगरस्यापि ग्रहणं भवति ॥ १ ॥

उभयतश्च ग्रामाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥ [२ ॥]

शौर्यं च केतवता च = शौर्यकेतवते । जाम्बवं च शालूकिनी च = जाम्बवशालूकिन्यौ ॥

१. महामारतेऽन्यत्र पुराणेषु बृहत्संहितादिषु च

“कुरुजाङ्गलम्” इति ॥

“तस्य नाम्नाऽभिविख्यातं पृथिव्यां कुरुजाङ्गलम् ।

कुरुक्षेत्रं स तपसा पुण्यं चक्रे महातपाः ॥”

[तस्य=कुरोः] (आदिपर्वणि श्लो० ३७३६)

सम्प्रत्यपि बीकानेरराज्याधिपतिः “जंगलधरपत-
शाह” इत्युपाधिं विधत्ते ॥

२. महामारते तीर्थयात्रापर्वणि (वनपर्वणि श्लो०

५०८३, ५०८४)—

“ततः शालूकिर्नृपः गत्वा तीर्थसेवी नराधिप ॥

दशरश्मिमे स्नात्वा च तदेव फलमाप्नुयात् ॥”

“शालूक” इति च सम्प्रति “सियालकोट” इति

नाम्ना प्रसिद्धम् ॥

३. पाठान्तरम्—“इह मा भूत्—मथुरापाटलि-
पुत्रमिति ॥”

४. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

५. नागेशः—“यो ग्रामाणां प्रतिषेधः, उभयतः
ग्रामसर्वावयवकस्य ग्रामान्यतरावयवकस्य वेत्यर्थः ।”

६. चान्द्रवृत्तौ—“इह कथम्—शौर्यं च नगरं के-
तवता च ग्रामः, शौर्यकेतवतम् । नगराभयो हि
विधिरस्ति, ग्रामाभ्यः प्रतिषेधो नास्ति ।”

७. काशिकायाम्—“सौर्यं च नगरं, केतवतं च
ग्रामः, सौर्यकेतवते ।”

८. पाठान्तरम्—शालू ॥

अत्र शौर्य-जाम्बवे नगरे, केतवता-शालूकिन्यौ ग्रामौ । ग्रामनगरयोरुभयोरपि
द्वन्द्व एकवन्न भवतीति वार्तिकप्रयोजनम् ॥ [२ ॥] ७ ॥

['विशिष्टलिङ्गः'] भिन्न २ लिंग वाले ['नदी'] नदीवाची शब्द और ['देशः']
देशों के अवयववाची शब्द, इन का जो द्वन्द्व समास है, वह एकवत् हो, ['ग्रामाः']
ग्रामवाची शब्दों को छोड़के । भिद्येरावति । गङ्गाशोणम् । यहां नदीवाची शब्दों के द्वन्द्व
समास में एकवचन हुआ है । देश के अवयव—कुरुजाङ्गलम् । पञ्चालकुरुक्षेत्रम् । और
यहां देशवाची शब्दों के द्वन्द्व समास में एकवचन हुआ है ॥

'ग्रामप्रतिषेधे नगरप्रतिषेधः ॥' ग्राम में जिस कार्य का निषेध है, वह कार्य नगर में
भी नहीं किया जाता । इसीसे ग्राम शब्द से नगर का भी ग्रहण होता है । इसलिये यह
वार्तिक है कि सूत्र में ग्राम का जो निषेध किया है, वहां नगर का निषेध न हो । मथुरा-
पाटलिपुत्रम् । यहां नगरवाची शब्दों के द्वन्द्व में एकवच्चाव हो गया ॥ १ ॥

'उभयतश्च ग्रामाणि प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥' ग्राम और नगरवाची शब्द का परस्पर जो
द्वन्द्व समास हो, वहां एकवच्चाव का निषेध हो जावे । शौर्य च केतवता च = शौर्यकेतवते ।
यहां शौर्य किसी नगर का नाम और केतवता किसी ग्राम का नाम है । सो नगर की विधि
होने से यहां भी एकवच्चाव प्राप्त है, सो इस वार्तिक से नहीं हुआ ॥ [२ ॥] ७ ॥

क्षुद्रजन्तवः ॥ ८ ॥

सूक्ष्मात् सूक्ष्मान् जीवानारभ्य नकुलपर्यन्ताः क्षुद्रजन्तवः । क्षुद्राश्च ते जन्तवः =
क्षुद्रजन्तवः । क्षुद्रजन्तूनां द्वन्द्व एकवद् भवति । यूकाश्च लिङ्गाश्च = यूकालिङ्गम् ।
कीटाश्च पिपीलिकाश्च = कीटपिपीलिकम् । दंशाश्च मशकाश्च = दंशमशकम् ।
अत्र सर्वत्र 'बहुषु बहुवचनम्' इति बहुवचनं प्राप्तम् । एकवचनं विधीयते ॥

भा०—'क्षुद्रजन्तवः' इत्युच्यते । के^१ क्षुद्रजन्तवः । क्षोत्तव्या
जन्तवः = क्षुद्रजन्तवः^२ । यद्येवं 'यूकालिङ्गं, कीटपिपीलिकं,
दंशमशकम्' इति^३ न सिध्यति । एवं तर्ह्यनस्थिकाः क्षुद्रज-
न्तवः । अथ वा येषां स्वं शोणितं नास्ति, ते क्षुद्रजन्तवः ।
अथ वा येषामा सहस्रादब्जलिर्न पूर्यते, ते क्षुद्रजन्तवः ।
अथ वा येषां गोचर्ममात्रं राशिं हत्वा न पतति^४, ते क्षुद्रज-
न्तवः । अथ वा नकुलपर्यन्ताः क्षुद्रजन्तवः ॥^५

१. सा०—पृ० ४७ ॥

४. पाठान्तरम्—क्षोत्तव्या जन्तवः ॥

चा० श०—'क्षुद्रजन्तूनाम् ॥' (२।२।६०)

५. पाठान्तरम्—'कीटपिपीलिकम्' इति ॥

२. १।४।२१ ॥

६. पाठान्तरम्—न पतितो भवति ॥ [इति ॥

३. पाठान्तरम्—के पुनः ॥

७. कोशेऽत्र—'[अ० २।पा० ४५], आ० १[व्या०]' ॥

‘क्षुदिर सम्पेपणे’ ।^१ चोत्तव्याः^२ = सम्पेष्टव्याः = हिंसका जीवा हिंसनीयाः
क्षुद्रजन्तव इति प्रथमं लक्षणम् । तत्र दोषापत्तौ सत्यामन्यानि लक्षणान्युक्तानि,
तानि स्पष्टान्येव सन्ति ॥ ८ ॥

• सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों से लेके नकुल पर्यन्त क्षुद्र जन्तु कहाते हैं । [‘क्षुद्रजन्तवः’] क्षुद्र
जन्तुओं का जो द्वन्द्व समास है, वह एकवद् हो । यूकालिङ्गम् । दंशमशकम् । यहां
बहुतों में बहुवचन प्राप्त है, इसलिये [इस सूत्र से] एकवचन किया है ॥

‘क्षुद्रजन्तवः’—हिंसक जीव मारने योग्य होते हैं । उन को क्षुद्र जन्तु समझने में यह
दोष है कि ‘कीटपतङ्गम्’ यहां एकवत् नहीं पावे । इसलिये जिन के शरीर में हड्डी न हो, वे
क्षुद्र जन्तु समझने चाहियें । अथ वा जिन के अपना रुधिर नहीं, मनुष्यादि का रुधिर पी कर
जीते हैं, वे क्षुद्र जन्तु । अथ वा जिन हजार पर्यन्त जीवों से भी एक अणुजिन भरे, वे क्षुद्र
जन्तु । अथ वा एक पशु के चर्म भर जिन के मारने से भी पतित न हो, वे क्षुद्र जन्तु ।
अथ वा नकुल पर्यन्त जीवों को क्षुद्र जन्तु कहते हैं । इतने लक्षण क्षुद्र जन्तुओं के महाभाष्यकार
ने लिखे हैं । [इन में से अन्तिम लक्षण ही व्यापी होने से मन्तव्य है ॥] ८ ॥

येषां च विरोधः शाश्वतिकः ॥ ९ ॥

येषाम् । ६ । ३ । च । [अ० ।] विरोधः । १ । १ । शाश्वतिकः । १ ।
१ । येषां जीवानां शाश्वतिकः = सनातनो विरोधः, तेषां द्वन्द्व एकवद् भवति ।
अहिश्च नकुलश्च = अहिनकुलम् । मार्जारश्च मूषकश्च = मार्जारमूषकम् ॥

‘शाश्वतिकः’ इति किम् । कुरुपाण्डवा युयुधिरे । अत्रैकवन्न भवति ॥

अस्मिन् सूत्रे चकार एककारार्थः । शाश्वतिकविरोधे सति भवत्येवैकवद्भावः ।
तेन ‘अश्वमहिषं, काकोलूकम्’ [इति] अत्र वक्ष्यमाणसूत्रेण विभाषैकवद्भावः
प्राप्तः । चकारस्यैवकारार्थत्वाच्चित्तमेव भवति ॥ ९ ॥

[‘येषां’] जिन जीवों का [‘विरोधः शाश्वतिकः’] सनातन विरोध है, उन का द्वन्द्व
समास एकवत् हो । अहिनकुलम् । यहां अहि-और नकुल-शब्द का एकवद्भाव हुआ है ॥

शाश्वतिक-ग्रहण इसलिये है कि ‘कुरुपाण्डवा युयुधिरे’ यहां एकवत् न हो ॥

इस सूत्र में चकार निश्चयार्थ है । जहां सनातन विरोध हो, वहां एकवद्भाव हो ही जावे ।
अश्वमहिषम् । यहां आगे के सूत्र से पशुवाची शब्दों के द्वन्द्व में विकल्प करके एकवत्
प्राप्त है, सो चकार के होने से नित्य होता है ॥ ९ ॥

१. धा०—रूपा० ६ ॥

ये तु त्रियन्ते ते पापानिभित्तत्वादक्षोदनार्हाः ॥”

“स्फायिताम्बिवम्बिशकिन्धिपिच्छुदिसृपि० शुभि-

३. सा०—पृ० ४७ ॥

भ्यो रक् ॥” (उष्णा० २ । १३) इति रक् ॥

चा० श०—“नित्यं वैरिणाम् ॥” (२।२।५५)

२. कैयटस्वाह—“‘चोत्तव्याः’ इत्यर्थां कृत्यः ।

४. “विभाषा ब्रह्मसृष्ट्यापान्यव्यञ्जनपशुराकुल्य-

ये क्षुद्रमाना अपि न त्रियन्ते जलौकःप्रभृतयः ।

श्ववडवपूर्वोपराधोत्तराणाम् ॥” (३।४।१२)

शूद्राणामनिरवसितानाम् ॥ १० ॥

शूद्राणाम् । ६ । ३ । अनिरवसितानाम्^१ । ६ । ३ ।

भा०—यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति, तेऽनिरवसिताः ।

यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेणापि न शुध्यति, ते निरवसिताः ॥^३

यैः शूद्रैः = आर्यसेवकैर्भुक्ते सति पात्रशुद्धिः संस्कारेण^२ भवति तेऽनिरवसिताः । अनिरवसितानां शूद्रवाचिशब्दानां द्वन्द्व एकवद् भवति । तच्चायस्कारम् । रजकर्तन्तुवायम् । रजककुलालम् । अत्र सर्वत्र द्विवचनं प्राप्तम्, एकवचनमेव भवति ॥

‘अनिरवसितानाम्’ इति किम् । चण्डालमृतपाः । चण्डालाश्च मृतपाश्चेति विग्रहः । अत्र चण्डालादिभुक्तं पात्रं संस्कारेणापि न शुध्यति, अतस्ते निरवसिताः [=वहिष्कृताः^५ ।] तेषां द्वन्द्वोऽप्येकवन्न भवति ॥ १० ॥

जिन शूद्रों का भोजन किया हुआ पात्र संस्कार करने से [अर्थात् मांजने से] शुद्ध हो सकता है, वे अनिरवसित शूद्र कहाते हैं । और जिन का पात्र संस्कार से [अर्थात् मांजने से] भी शुद्ध न हो, वे निरवसित कहाते हैं । [‘अनिरवसितानाम्’] अनिरवसित [‘शूद्राणाम्’] शूद्रवाची शब्दों का जो द्वन्द्व समास है, वह एकवचन हो । रजकर्तन्तुवायम् । रजक कहते हैं धोबी को, और तन्तुवाय कोरी [=जुलाहा] कहाता है । इन का द्वन्द्व एकवत् हो गया ॥

अनिरवसित-ग्रहण इसलिये है कि ‘अन्त्यजचण्डालाः’ अन्त्यज और चण्डाल का पात्र संस्कार से [अर्थात् मांजने से] भी शुद्ध नहीं हो सकता । इससे यहाँ एकवत् नहीं हुआ ॥ १० ॥

१. सा०—पृ० ४७ ॥

चा० श०—“कारुणाम् ॥” (२।२।५६)

२. अत्र महामाष्ये—

“ ‘अनिरवसितानाम्’ इत्युच्यते । कुतोऽनिरवसितानाम् । आर्यावर्तादनिरवसितानाम् । कः पुनरार्यावर्तः । प्रागादृशात् प्रत्यक्कालकचनाद् दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम् । यद्येवं किञ्चिन्धगन्धिकं शक्यवनं शौर्यक्रौञ्चमिति न सिध्यति ॥

“एवं तर्ह्यार्यानिवासाननिरवसितानाम् । कः पुनरार्यानिवासः । आमो घोषो नगरं संवाह इति । एवमपि य एते महान्तः संस्त्यायास्तेष्वभ्यन्तरा-श्चण्डाला मृतपाश्च वसन्ति । तत्र चण्डालमृतपा

इति न सिध्यति ॥

“एवं तर्हि याज्ञात् कर्मणोऽनिरवसितानाम् ।

एवमपि ‘तच्चायस्कारं, रजकर्तन्तुवायम्’ इति न सिध्यति ॥

“एवं तर्हि पात्रादनिरवसितानाम् । यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति० ॥”

३. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

४. दृश्यतां भगवद्भयानन्दकृतोयादिवृत्तौ—२।१६॥

५. “भस्मना शुध्यते कांस्यम्” इत्यादि स्मृतिवि-

हितेन संस्कारेण ॥ (दृश्यन्तां मनुस्मृतौ पञ्चमा-

ध्याये श्लोकाः ११०—११७, याज्ञवल्क्यस्मृतौ

चाचाराध्याये द्रव्यशुद्धिप्रकरणम् ८) [त्यर्थः ।]

६. अत्र न्यासकारः—“न लभन्ते तत्र भोक्तुमि-

गवाश्वप्रभृतीनि च ॥ ११ ॥

गवाश्वप्रभृतीनि । १ । ३ । च । [अ० ।] एकवचनाधिकारे कृतैकव-
द्भावसाधूनि गवाश्वप्रभृतीनि प्रातिपदिकानि सिद्धानि भवन्ति । गवाश्वम् । गवा-
विकम् । अत्र गो-शब्दस्य अश्व-शब्देन अवि-शब्देन च सह समासः । पृषो-
दरादित्वादन्यत्कार्यम् ॥

भा०—गवाश्वप्रभृतिषु यथोच्चारितं द्वन्द्ववृत्तं द्रष्टव्यम् ॥^२

अस्यैतत् प्रयोजनम्—गणपाठे यथा पाणिनिनोच्चारितं, तथैव द्रष्टव्यम् ।
यदि विग्रहेण सिद्धिः कर्तव्या, तदा वक्ष्यमाणसूत्रेण^३ 'गोऽश्वे, गोऽश्वाः' इति
द्वौ प्रयोगौ भविष्यतः, किन्तु निपातनकार्यं गणपाठितेष्वेव भवति ॥

अथ गणपाठः—[१] गवाश्वम् [२] गवाविकम् [३] गवैडकम् [४]
अजाविकम् [५] अजैडकम् [६] कुञ्जवामनम् [७] कुञ्जकिरातम् [८]
कुञ्जकैरातम् [९] पुत्रपौत्रम् [१०] स्त्रीकुमारम् [११] दासीमाणवकम् [१२]
शाटीपिच्छकम् [१३] शाटीपट्टिकम् [१४] उष्ट्रखरम् [१५] उष्ट्रशशम् [१६]
मूत्रशकृत् [१७] मूत्रपुरीषम् [१८] यकृन्मेदः^{१०} [१९] मांसशोणितम् [२०]
दर्भशरम्^{११} [२१] दर्भपूतिकम्^{१२} [२२] अर्जुनशरीषम्^{१३} [२३] अर्जुन-

१. सा०—पृ० ४७ ॥

चा० श०—“गवाश्वादीनाम् ॥” (२।२।५७)

२. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

३. २ । ४ । १२ ॥

४. “गवाश्वम्” इत्येवमादीनाम् अजैडकपर्यन्तानां
पशुद्वन्द्वविभाषायां प्राप्तायां वचनम् । एवं “उष्ट्र-
खरम्, उष्ट्रशशम्” इति ॥

५. चान्द्रवृत्ति-काशिका-शब्दकौस्तुभेषु नैव शब्द
उपलभ्यते ॥

६. पाठान्तरम्—०कैरातम् ॥

रामचन्द्र-बोटलिकौ नैतं पठतः । श्रीबोटलिकस्तु
“कुञ्जकैरातम्” इत्येतं “कुञ्जकिरातम्” इत्यस्य
पाठान्तरं मन्यते ॥ [सर्वत्र “श्वचयडालम्” इति ॥

७. अतः परं चान्द्रवृत्ति-काशिका-प्र० कौ० टीकादिषु

८. चान्द्रवृत्तौ—शाटीपुच्छकम् ॥

प्र० कौ० टीकायाम्—शाटीप्रच्छिकम् ॥

बोटलिकः “शाटीपटीरं, शाटीप्रच्छदम्” इति द्वौ
शब्दौ पठति, गणान्ते च “K. ausserdem
शाटीपिच्छकम्” इति ॥

शब्दकौस्तुभे “उष्ट्रखरं, शाटीप्रच्छदम्” इति ॥
न्यासे—“शाटीपिच्छकमिति ‘जातिरप्राणिनाम्’
[२।४।६] इति सिद्धेऽवहुप्रकृत्यर्थः पाठः ।”
एवमेव मूत्रशकृदादयो मांसशोणितपर्यन्ताः ॥

९. चान्द्रवृत्ति-काशिका-प्र० कौ० टीका-शब्दकौस्तु-
भेषु नोपलभ्यते ॥

१०. चान्द्रवृत्तौ—यकृन्मेदम् ॥

प्र० कौ० टीकायाम्—शकृन्मेदम् ॥

११. शब्दकौस्तुभे चास्ति ॥

न्यासे—“दर्भशरप्रभृतीनां तृणोलपपर्यन्तानां तु-
यद्वन्द्वविभाषायां प्राप्तायां वचनम् ।”

१२. चान्द्रवृत्तौ—दर्भपूतिकम् ॥ [उपलभ्यते ॥

१३. चान्द्रवृत्ति-प्र० कौ० टीका-शब्दकौस्तुभेषु नो-

पुरुषम् [२४] तृणोलपम् [२५] दासीदासम् [२६] कुटीकुटम् [२७]
भागवतीभागवतम् ॥ इति गवाश्वप्रभृतिगणः ॥ ११ ॥

इस एकवचन के अधिकार में एकवद्भाव किये हुए [‘गवाश्वप्रभृतीनि’] गवाश्वप्रभृति प्रातिपदिक निपातन सिद्ध समझने चाहियें। गवाश्वम्। यहां गो-शब्द का अश्व-शब्द के साथ समास होके एकवद्भाव और आकारादेश निपातन से हुआ है। इस गवाश्वप्रभृतिगण में जिस प्रकार के शब्द पाणिनिजी महाराज ने पढ़े हैं, वैसे ही समझने चाहियें। अर्थात् जो समास का विग्रह करके सिद्धि करना हो, तो आगे के सूत्र से ‘गोऽश्वं, गोऽश्वाः’ ये दो प्रयोग बनेंगे, किन्तु गण का सा प्रयोग नहीं बनेगा ॥

गवाश्वप्रभृतिगण पूर्व संस्कृत में क्रम से लिख दिया है ॥ ११ ॥

विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्य- श्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम् ॥ १२ ॥

प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम्। विभाषा। [अ०।] वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन-पशु-
शकुनि-अश्ववडव-पूर्वापर-अधरोत्तराणाम्। ६। ३। ‘वृक्ष, मृग, तृण, धान्य,
व्यञ्जन, पशु, शकुनि, अश्ववडव, पूर्वापर, अधरोत्तर’ इत्येतेषां द्वन्द्वो विभा-
षैकवद् भवति। अस्मिन् सूत्रे वृक्षादिजातिशब्देषु तद्विशेषवाचिनां शब्दानां
ग्रहणं भवति। तदुक्तं प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे ‘स्वं रूपम् ॥’ इति सूत्रे। वृक्ष-
शब्दे प्राप्ताविभाषा। ‘जातिरप्राणिनाम् ॥’ इति नित्यं एकवद्भावे प्राप्ते विकल्प
आरभ्यते। प्लक्षाश्च न्यग्रोधश्च = प्लक्षन्यग्रोधम्, = सत्तन्यग्रोधाः। मृग-शब्दे-
ऽप्राप्ताविभाषा। रुरुवश्च पृषताश्च = रुरुपृषतं, = रुरुपृषताः। तृण-शब्दे प्राप्ता-
विभाषा। ‘जातिरप्राणिनाम् ॥’ इति नित्ये प्राप्ते विकल्पारम्भः। कुशाकाशां,
कुशाकाशाः। शराशिरीषं, शराशिरीषाः। धान्य-शब्दे पूर्ववत् प्राप्ताविभाषा। व्रीहि-
यवं, व्रीहियवाः। माषतिलं, माषतिलाः। व्यञ्जन-शब्देऽपि पूर्ववत् प्राप्ताविभाषा।
‘दधितक्रं, दधितक्रे। दधिघृतं, दधिघृते। पश्यादिषु सर्वेष्वप्राप्ताविभाषा। गोमहिषं,
गोमहिषाः। अजावि, अजावयः। शकुनि—हंसचक्रवाकं, हंसचक्रवाकाः। ॥

१. काशिकायां नास्ति ॥

२. बोटलिङ्गः—“तृणोलपम् (तृणोपलम्) ॥”

३. शब्दकौस्तुभेऽतः परं पुनरपि—मांसशोथितम् ॥

४. चान्द्रवृत्तौ—भगवतीभागवतम् ॥

५. सा०—पृ० ४८ ॥

चा० श०—“वा. वृक्षतृणधान्यमृगराकुनिविशे-
षाणाम् ॥ व्यञ्जनानाम् ॥ अश्ववडवौ ॥” (२।

२। ६२-६४)

६. १। १। ६७ ॥ (वार्त्तिकं १)

७. २। ४। ६ ॥

[अश्ववडव—] अश्ववडवं, अश्ववडवौ । [पूर्वापर—] पूर्वापरं, पूर्वापरे ।
[अधरोत्तर—] अधरोत्तरं, अधरोत्तरे । अत्र व्यञ्जन-अश्ववडव-पूर्वापर-अधरोत्तर-
शब्दान् विहायान्यत्र बहुवचनं प्राप्तं, तत्र विभाषैकवचनं विधीयते । व्यञ्जनादिषु
तु द्विवचनं प्राप्तं, तत्र पक्षे द्विवचनमेव भवति ॥

वा०— बहुप्रकृतिः फलसेनावनस्पतिमृगशकुनिक्षुद्रजन्तुधान्यतृणा-
नाम् ॥^३ १ ॥

फलादिवाचिनां शब्दानां बहुवचनानां द्वन्द्वसमासे कृत एकवद्भावो भवति ।
पक्षे च बहुवचनमेव तिष्ठति । फल—वदरामलकं, वदरामलकानि । सेना-शब्देन
सेनाङ्गानां द्वन्द्वः—हस्त्यश्वं, हस्त्याश्वाः । वनस्पति-शब्देन वृक्षाणामां ग्रहणं,
तत्रोदाहृतम् । मृग-शकुनि-शब्दयोः सूत्र उदाहृतम् । क्षुद्रजन्तुषु प्राप्तविभाषा ।
यूकालिप्तं, यूकालिप्ताः । धान्य-तृणयोः सूत्र उदाहृतम् ॥

वार्तिके बहुप्रकृति-ग्रहणं किमर्थम् । वदरामलके तिष्ठतः । अत्रैकवच-
नस्यात् ॥ १२ ॥

इस सूत्र में प्राप्त, अप्राप्त उभय विभाषा है । सो आगे अलग २ दिखाया जायगा । वृक्ष
आदि जातिवाची शब्दों में उन के विशेषवाचियों का ग्रहण होता है । यह बात प्रथमाध्याय के
प्रथम पाद में^४ भी लिख दी है । ['वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन-पशु-शकुनि-अश्ववडव-
पूर्वापर-अधरोत्तराणां'] वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यञ्जन, पशु, शकुनि, अश्ववडव, पूर्वापर,
अधरोत्तर, इन सब का जो द्वन्द्व समास है, वह विकल्प करके एकवद्भाव को प्राप्त हो जावे ।
वृक्ष-शब्द में प्राप्तविभाषा है, क्योंकि अप्राप्ति जातिवाची के होने से एकवद्भाव पूर्व सूत्र से
नित्य प्राप्त है । वृक्ष—सक्षान्यग्रोधम् । सक्षान्यग्रोधाः । यहां वृक्षवाची वृक्ष- और न्यग्रोध-
शब्द का । मृग-शब्द में अप्राप्तविभाषा अर्थात् किसी सूत्र से एकवद्भाव नहीं पाता । मृग—
रुरुपृषतम् । रुरुपृषताः । यहां मृगवाची रुरु- और पृषत्-शब्द का । तृण-, धान्य- और
व्यञ्जन-शब्द में अप्राप्ति जातिवाची के होने से एकवद्भाव नित्य पाता है । तृण—कुशकाशम् ।
कुशकाशाः । यहां तृणवाची कुश- और काश-शब्द का । धान्य—व्रीहियवम् । व्रीहियवाः ।
यहां धान्यवाची व्रीहि- और यव-शब्द का । व्यञ्जन—दधिघृतम् । दधिघृते । यहां व्य-
ञ्जमवाची दधि- और घृत-शब्द का । पशु आदि सब शब्दों में अप्राप्तविभाषा है अर्थात् एक-
वद्भाव किसी सूत्र से प्राप्त नहीं, तब विकल्प का आरम्भ किया है । पशु—गोमहिषम् ।
गोमहिषाः । यहां पशुवाची गो- और महिष-शब्द का । शकुनि—हंसचक्रवाकम् । हंसच-

१. पाठान्तरम्—० शकुन्त ॥

४. १।१।६७ ॥ (वार्तिक १)

२. वा० श०—“फलानाम् ॥” (२।२।६१)

५. २।४।६ ॥

३. अ० १।पा० ४।आ० १ ॥

कवाकाः । यहाँ पक्षीवाची हंस- और चक्रवाक-शब्द का । अश्ववडव—अश्ववडवम् । अश्ववडवौ । यहाँ अश्व- और वडव-शब्द का । पूर्वापर—पूर्वापरम् । पूर्वापरे । यहाँ पूर्व- और अपर-शब्द का । तथा अधरोत्तर—अधरोत्तरम् । अधरोत्तरे । यहाँ अधर- और उत्तर-शब्द का द्वन्द्व एकवच्चाव को प्राप्त हुआ है ॥

‘बहुप्रकृतिः फलसेनावनस्पतिमृगशकुनिक्षुद्रजन्तुधान्यतृणानाम् ॥’ इस वार्तिक का यह प्रयोजन है कि फलवाची, सेना के अवयव, वनस्पति [अर्थात्] वृक्षवाची, मृग, शकुनि क्षुद्रजन्तु, धान्य और तृणवाची शब्दों के बहुवचन से द्वन्द्व समास होके विकल्प करके एकवच्चाव हो । और पक्ष में बहुवचन ही बना रहे । फल और सेनाङ्ग में प्रासविभाषा है । फल—बदरामलकम् । बदरामलकानि । यहाँ फलवाची बदर- और आमलक-शब्द का । सेना—हस्त्यश्वम् । हस्त्यश्वाः । यहाँ सेना के अवयववाची हस्ती- और अश्व-शब्द का । वनस्पति, मृग, शकुनि, धान्य और तृण इन शब्दों के उदाहरण वार्तिक के अनुकूल सूत्र में द्या गये । क्षुद्र जन्तुओं में प्रासविभाषा है । यूकालिङ्गम् । यूकालिङ्गाः । और यहाँ यूकालिङ्गा-शब्द का एकवच्चाव हुआ है ॥

इस वार्तिक में बहुप्रकृति-ग्रहण इसलिये है कि ‘बदरामलके तिष्ठतः’ यहाँ एकवद् व हो ॥ १२ ॥

विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि ॥ १३ ॥

विभाषा-ग्रहणमनुवर्त्तते । विप्रतिषिद्धम् । १ । १ । [च । अ० ।] अ[न]-धिकरणवाचि । १ । १ । विप्रतिषिद्धं = परस्परविरुद्धम् । मूर्त्तस्य पदार्थस्याधिकरणं भवत्येव^१ । [अनधिकरणवाचि] अमूर्त्तवाचीत्यर्थः । अद्रव्यवाचिनां परस्परविरुद्धानां शब्दानां द्वन्द्वो विकल्पेनैकवद् भवति । शीतं चोष्णं च = [शीतोष्णं, =] शीतोष्णे । सुखदुःखं, सुखदुःखे । जीवितमरणं, जीवितमरणे । अत्रैकस्याभावेऽपरस्य प्रवृत्तिर्भवति । इदमेवानयोर्विप्रतिषेधः ॥

‘विप्रतिषिद्धं’ इति किम् । कामक्रोधौ ॥

‘अनधिकरणवाचि’ इति किम् । शीतोष्णे उदके । अत्रोभयत्रैकवद्भावो न भवति ॥ १३ ॥

परस्पर जो विरुद्ध हों, उन को विप्रतिषिद्ध कहते हैं । मूर्त्तिमान् पदार्थों का अधिकरण होता है और जिन पदार्थों की आकृति न हो, वे अनधिकरणवाची होते हैं । [‘अनधिकरणवाचि’] अनधिकरणवाची [‘विप्रतिषिद्धं’] परस्पर विरुद्ध जो शब्द हैं, उन का द्वन्द्व,

१. सा०—पृ० ४८ ॥

[२ । ६५)

चा० श०—‘विरोधिनामद्रव्याणाम् ॥’ (२ ।

२. व्यासकारः—‘अधिकरण-शब्दोऽत्र द्रव्ये कर्त्तते

नाधारे । न हि ‘विप्रतिषिद्धवाचिनां’ शब्दानामाधारे वृत्तिरस्ति । विभक्त्यर्थत्वादाधारशक्तौः ।”

समास विकल्प करके एकवच्चाव को प्राप्त हो। शीतोष्णम्। शीतोष्णे। यहां शीत और उष्ण का परस्पर विरोध है, क्योंकि जब शीत होता है तब उष्ण नहीं, और उष्ण समय में शीत नहीं। और इन का अधिकरण भी कोई नहीं ॥

विप्रतिषिद्ध-ग्रहण इसलिये है कि 'कामक्रोधौ' यहां एकवच् न हो ॥

और अनधिकरणवाची का ग्रहण इसलिये है कि 'शीतोष्णे जले' यहां भी जल के वाची होने से एकवच्चाव नहीं हुआ ॥ १३ ॥

न दधिपयआदीनि ॥ १४ ॥

दधिपयआदित्रयाणां शब्दानां व्यञ्जनवाचित्वात् पूर्वसूत्रेण विभाषै[क]-
वच्चावः प्राप्तोऽनेन प्रतिषिध्यते। एवमन्येष्वपि गणशब्देषु येन केनचित् प्राप्तं
प्रतिषिध्यते। न। [अ०।] दधिपयआदीनि। १।१३। दधिपयआदीनि
समुदायपठितानि प्रातिपदिकानि नैकवच् भवन्ति। एकवच्भवनिषिद्धान्येव गणो
पठ्यन्ते ॥

तद्यथा—[१] दधिपयसी [२] सर्पिर्मधुनी [३] मधुसर्पिणी [४]
ब्रह्मप्रजापती [५] शिववैश्रवणौ [६] स्कन्दविशाखौ [७] परित्राट्कौशिकौ
[८] प्रवर्गोपसदौ [९] शुक्लकृष्णौ [१०] इध्मावर्हिणी [११] दीक्षातपसी
[१२] अक्षातपसी [१३] मेधातपसी [१४] अध्ययनतपसी [१५]
उलूखलमुसले [१६] आद्यवसाने [१७] अक्षामेधे [१८] ऋक्सामे [१९]
वाङ्मनसे ॥ इति^१ दधिपयआदिगणः ॥ १४ ॥

१. सा०—पृ० ४८ ॥

चा०श०—“न दधिपयआदीनाम् ॥” (२।२।६६)

२. न्यासकारः—“‘ब्रह्मप्रजापती’ इत्यादीनां प-
ञ्चानां समाहारैकत्वात् प्राप्तिः।”

३. गणरत्ने चान्द्रवृत्तौ च—परित्राजकौशिकौ ॥
प्र०कौ०टीकायाम्—परित्राजकौशिकौ ॥

४. चान्द्रवृत्तौ “प्रवर्गोपनिषदौ। याज्यानुवाक्ये”
इति द्वौ शब्दौ ॥

५. चान्द्रवृत्ति-शब्दकौस्तुभयोः—शुक्लकृष्णौ ॥
प्र०कौ०टीकायाम्—“शुक्लकृष्णौ। प्रवर्गो-
पसदौ। याज्यानुवाक्ये।” इति क्रमपाठयोर्मेंदः ॥

न्यासे—“‘शुक्लकृष्णौ’ इति ‘विप्रतिषिद्धम् ॥’
[२।४।१३] इत्यादिना।”

६. न्यासे—“‘इध्मावर्हिणी’ इत्यादीनां समाहा-
रैकत्वात् प्राप्तिः।”

७. चान्द्रवृत्तौ नास्ति ॥

८. प्र०कौ०टीकायां नास्ति ॥

९. चान्द्रवृत्तौ—उलूखलमुसले ॥

१०. काशिकायाम्—आद्यवसाने ॥

११. यजुर्वेदे—“ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामा-
रेभ ते मा पातमास्य यज्ञस्योद्वचः। शर्मोसि शर्म
मे यच्छ नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ॥”
(४।६)

१२. प्र०कौ०टीकायाम्—“अन्येऽपि प्रयोगवशा-
ज्ज्याः।”

गणरत्नमहोदधौ (२।१२४, १२६-१२८)

दधिपयआदि तीन शब्दों में व्यंजनवाची के होने से पूर्व सूत्र से विकल्प करके एकवन्नाव प्राप्त है। इसी प्रकार अन्य गण शब्दों में भी किन्हीं २ सूत्रों से एकवन्नाव प्राप्त हैं। सो इस सूत्र से निषेध किया है। [‘दधिपयआदीनि’] दधिपयआदि जो प्रातिपदिक हैं, उन में एकवन्नाव [‘न’] न हो। दधिपयसी। यहां एकवत् नहीं हुआ ॥

दधिपयआदि शब्द एकवन्नाव के निषेध किये हुए गण में पड़े हैं, वे पूर्व संस्कृत में कम से लिख दिये हैं ॥ १४ ॥

अधिकरणैतावत्त्वे च’ ॥ १५ ॥

‘न’ इत्यनुवर्तते। अधिकरणैतावत्त्वे। ७।१।च। [अ०।] अधिकरणे आधेयस्य एतावत्त्वं (= इयत्ता = तोलनं = परिमाणं) = अधिकरणैतावत्त्वं^१, तस्मिन्। अधिकरणैतावत्त्वे यो द्वन्द्वः, स एकवन्न भवति। हस्तौ च पादौ च चत्वारो हस्तपादाः। घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि पञ्चेन्द्रियाणि। अत्र प्राण्यङ्गत्वान्नित्यं प्राप्तं प्रतिषिध्यते ॥ १५ ॥

[‘अधिकरणैतावत्त्वे’] अधिकरण में जहां आधेय का परिमाण करना हो, वहां जो द्वन्द्व समास है वह एकवन्नाव को न प्राप्त हो। चत्वारो हस्तपादाः। हस्त, पाद प्राणि के अवयव होने से एकवन्नाव प्राप्त होता था, उस का निषेध किया है ॥ १५ ॥

विभाषा समीपे’ ॥ १६ ॥

‘अधिकरणैतावत्त्वे’ इत्यनुवर्तते। विभाषा। [अ०।] समीपे। ७।१। अधिकरणैतावत्त्वस्य समीपेऽर्थे यो द्वन्द्वः, स विकल्पेनैकवद् भवति। उपदशं दन्तोष्ठम्, उपदशा दन्तोष्ठाः^३। [उपदशं] जानुजङ्घं, [उपदशाः] जानुजङ्घाः। अत्र पूर्वसूत्रेण नित्ये प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्प्यते। अत एवाप्राप्तविभाषेयम् ॥ १६ ॥

[इत्येकवन्नावप्रकरणम्]

“रामलक्ष्मणौ” इत्यादयः शब्दा अधिका

१. सा०—पृ० ४८ ॥

वृश्यन्ते। तद्यथा—

२. अन्ये तु “अधिकरणं द्वयं, तस्य एतावत्त्वम्” इत्याहुः ॥

“सूर्याचन्द्रमसौ सोमरुद्रौ नारदपर्वती।

शुक्रकृष्णौ पितापुत्रौ ज्यौ भीमार्जुनौ तथा ॥

मित्रावरुणौ मातापितरावथ कम्बलाश्वतरौ।

नरनारायणशिवैश्रवणाः

अग्नीषोमाविष्मावर्हिर्गान्ध्यानुवाक्याद्याः ॥

आद्य-शब्दः प्रकारे। तेन येषां लोक इतरे-

तरयोग एव द्वन्द्वो वृश्यते, तेषामिह ग्रहणं भवति।

कम्ब चन्द्रमसि ॥”

काशिकायाम्—“अधिकरणं वृत्तिपदार्थः, स हि समासस्यार्थस्थाधारः, तस्यैतावत्त्वे = परिमाणे।”

३. महाभाष्ये—“एवं तर्ह्यव्ययस्य सङ्ख्याव्ययीभावोऽप्यारभ्यते, बहुव्रीहिरपि। तद्यदा तावदेकवचनं तदाव्ययीभावोऽनुप्रयुज्यत एकार्थस्यैकार्थ इति। यदा बहुवचनं, तदा बहुव्रीहिरनुप्रयुज्यते बहुर्थस्य बहुर्थ इति ॥”

इस सूत्र में अप्रासविभाषा है, क्योंकि पूर्व सूत्र से नित्य निषेध प्राप्त है। अधिकरण के पतावश के ['समीपे'] समीप अर्थ में ['विभाषा'] विकल्प करके एकवत् हो। उपदशं दन्तोष्ठम् । उपदशा दन्तोष्ठाः । यहां दन्त- और ओष्ठ-शब्द का विकल्प करके एकवद्भाव होता है ॥ १६ ॥

[यह एकवद्भाव का प्रकरण समाप्त हुआ]

[अथ लिङ्गानुशासनप्रकरणम्]

स नपुंसकम् ॥ १७ ॥

'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' ॥' इति सूत्रेण परवल्लिङ्गत्वं प्राप्तं, तस्यायमपवादो योगः । सः । १ । १ । नपुंसकम् । [१ । १ ।] अस्मिन्नेकवचनप्रकरणे यस्य द्विगोर्द्वन्द्वस्य चैकवद्भावो विहितः, स नपुंसकलिङ्गो भवति । पञ्चपात्रम् । पाणिपादम् इत्याद्युदाहरणेषु यथाऽनेन विधीयते तथैवोदाहृतम् ॥ १७ ॥

द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में पर शब्द का लिंग प्राप्त होता है। उस को अपवाद यह सूत्र है। इस प्रकरण में जिस द्विगु और द्वन्द्व समास को एकवत् कहा है, ['सः'] वह ['नपुंसकं'] नपुंसकलिङ्ग हो। पञ्चपात्रम् । पाणिपादम् इत्यादि उदाहरणों में नपुंसकलिङ्ग के उदाहरण दे चुके हैं ॥ १७ ॥

अव्ययीभावश्च ॥ १८ ॥

'नपुंसकम्' इत्यनुवर्तते । अव्ययीभावः समासो नपुंसकलिङ्गो भवति । उपकुम्भम् । उपगु । अतिरि । अधिकुमारि । 'पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः' इत्युक्तम् । तत्र पूर्वपदार्थप्रधानस्य लिङ्गत्वं न निश्चितं भवति, अत इदमुच्यते । उपगवादिशब्देषु नपुंसकत्वाद्भस्वत्वम् ॥ १८ ॥

['अव्ययीभावः'] अव्ययीभाव समास जो है, वह नपुंसकलिङ्ग हो। उपगु । अधिकुमारि इत्यादि शब्दों में नपुंसकलिङ्ग के होने से भस्व होता है^४ । अव्ययीभाव समास पूर्वपदार्थप्रधान होता है, इससे अव्ययीभाव में कोई लिंग नहीं प्राप्त है। इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया गया है ॥ १८ ॥

तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः ॥ १९ ॥

१. सा०—पृ० ४६ ॥

चा० श०—“समाहारे नपुंसकम् ॥”

(२ । २ । ४६)

२. २ । ४ । २६ ॥

३. चा० श०—“तन्नपुंसकम् ॥” (२ । २ । १५)

४. महाभाष्ये—अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

“अव्ययं विभक्ति० ॥” (२ । १ । ६) इति सूत्रे ॥

५. “उपकुम्भम्, उपगु, अतिरि, अधिकुमारि” इत्यादौ पूर्वपदस्यालिङ्गत्वात् ॥

६. “ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य ॥” (१ । २ । ४७)

‘नपुंसकम्’ इत्यनुवर्तते । तत्पुरुषः । १ । १ । अनङ्कर्मधारयः । १ ।
 १ । नञ्समासं कर्मधारयसमासं च विहायान्यस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति ।
 अतोऽप्रेऽस्य सूत्रस्याधिकारो गमिष्यति । असुराणां सेना = असुरसेनम् । अत्रा-
 नङ्कर्मधारयस्य तत्पुरुषस्य नपुंसकत्वं भवति ॥

‘अनञ्’ इति किम् । असेना ॥

‘अकर्मधारयः’ इति किम् । परमसेना । अत्रोभयत्रै[वैक]वचननपुंसके
 न भवतः ॥ १६ ॥

यह अधिकार सूत्र है । यहाँ से आगे [‘तत्पुरुषः’] तत्पुरुष समास को एकवचन
 और नपुंसकलिङ्ग कहेंगे [‘अनङ्कर्मधारयः’] नञ् और कर्मधारय समास को छोड़के ।
 असुरसेनम् । यहाँ एकवचन और नपुंसकलिङ्ग हुआ है ॥

‘अनञ्’ ग्रहण इसलिये है कि ‘असेना’ यहाँ नपुंसक न हो ॥

और कर्मधारय का निषेध इसलिये है कि ‘परमसेना’ यहाँ भी नपुंसकलिङ्ग न हो ॥ १६ ॥

सञ्ज्ञायां कन्थोशीनरेषु ॥ २० ॥

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्तते । सञ्ज्ञायाम् । ७ । १ । कन्था । १ । १ । उशी-
 नरेषु । ७ । ३ । सञ्ज्ञायां विषयेऽनङ्कर्मधारयः कन्थान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो
 भवति, उशीनरेषु = उशीनरदेशप्रयोगे सति । सौशमिकन्थम् । चिहणकन्थम् ।
 अत्र परवल्लिङ्गत्वात् कन्थालिङ्गं प्राप्तं, नपुंसकं विधीयते । उशीनरदेशे ‘सौशमिक-
 न्थं, चिहणकन्थम्’ इति कयोश्चित् सञ्ज्ञे स्तः ॥

‘सञ्ज्ञायाम्’ इति किम् । वीरणकन्था ॥

१. न्यासे—“अथ ‘अनङ्कर्मधारयः’ इति कोऽयं
 निर्देशः । यदि अत्र नङ्कर्मधारययोर्द्वन्द्वस्तदा स-
 माहारे वा स्यादितरेतरयोगे वा । तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे
 नपुंसकत्वं प्रसज्येत । इतरत्र तु द्विवचनम् ।
 निर्देशस्य सौत्रत्वादुभयथाप्यदोषः । तथा हि ‘अ-
 नन्दो वत् सञ्ज्ञाणि भवन्ति’ इति । अन्वसि च लि-
 ङ्गवचनव्यत्ययं तृतीयेऽध्यये वक्ष्यति ॥”

२. चा० श०—“नास्ति षष्ठ्याः कन्थोशीनरेषु ॥”
 (२ । २ । ६७)

३. पेत्रेयब्राह्मणे—“तस्मादस्यां ध्रुवायां मध्य-
 मायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरुपञ्चालानां

राजानः सवशोऽशीनराणां राज्याय वै तेऽभिषि-

च्यन्ते । राजेत्येनानभिषिक्तानाचक्षते ।” (८ ।
 १४)

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि—“अथ ह वै गा-
 र्ग्यो बालाकिरनूचानः संस्पष्ट आस । सोऽवसधु-
 शीनरेषु सवसम् मत्स्येषु कुरुपञ्चालेषु काशिविदे-
 हेष्विति ।” (४ । १)

४. उशीनराणां ग्रामयोः सञ्ज्ञे ॥

शब्दकौस्तुभे तु—“कन्थान्तस्तत्पुरुषः स्त्रीव
 स्यात् सा चेदुशीनरदेशोत्पन्नायाः कन्थायाः सञ्ज्ञा ।
 सुशमस्यापत्न्यानि सौशमयः, तेषां कन्था = सौश-
 मिकन्थम् ॥”

‘उशीनरेषु’ इति किम् । दाक्षिकन्था’ । अत्र नपुंसकं न भवति ॥ २० ॥

[‘उशीनरेषु’] उशीनर देश में [‘सञ्ज्ञायाम्’] सञ्ज्ञावाची जो नञ् और कर्म-धारय को छोड़के [‘कन्था’] कन्थान्त तत्पुरुष है, वह नपुंसकलिङ्ग हो । सौशमिकन्थम् । चिह्णकन्थम् । यहां तत्पुरुष समास में परवत् लिङ्ग होने से कन्था-शब्द का स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था, इसलिये नपुंसक विधान किया है ॥

सञ्ज्ञा-ग्रहण इसलिये है कि ‘वीरणकन्था’ यहां न हो ॥

और उशीनर-ग्रहण इसलिये है कि ‘दाक्षिकन्था’ यहां भी नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ ॥ २० ॥

उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् ॥ २१ ॥

उपज्ञा-उपक्रमम् । १ । १ । तदाद्याचिख्यासायाम् । ७ । १ । उपज्ञायतेऽसौ उपज्ञा । उपक्रम्यतेऽसौ उपक्रमः । उपज्ञा चोपक्रमश्च = उपज्ञोपक्रमम् । समा[हा] रत्वादेकवचनम् । आख्यातुमिच्छा = आचिख्यासा । तयोः = उपज्ञोपक्रमयोरपि = तदादिः । तदादेराचिख्यासा = तदाद्याचिख्यासा, तस्यामनञ्कर्मधारय उपज्ञान्त उपक्रमान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति । यद्युपज्ञेयोपक्रम्ययोर्य आदिकर्तारस्तेषां मानेच्छा भवति । पाणिनेरुपज्ञा = पाणिन्युपज्ञं व्याकरणम् । पतञ्जल्युपक्रमं महाभाष्यम् । अस्मिन् कल्पे पाणिनिरेव व्याकरणस्यादिकर्ता, व्याकरणमहाभाष्य-कर्ता च पतञ्जलिः ॥

‘उपज्ञोपक्रमम्’ इति किम् । व्यासश्लोकाः । व्यासात् पूर्वमपि श्लोकरचना जाता^३ ॥

‘तदाद्याचिख्यासायाम्’ इति किम् । देवदत्तस्योपक्रमः पाकः । अत्रोभयत्र नपुंसकं न भवति ॥ २१ ॥

अनञ्कर्मधारय जो [‘उपज्ञोपक्रमं’] उपज्ञान्त और उपक्रमान्त तत्पुरुष है, वह नपुंसकलिङ्ग हो, [‘तदाद्याचिख्यासायाम्’] उपज्ञेय और उपक्रम्य के करने वाले हैं, वे आदि = प्रथम कर्ता हैं, तो । पाणिन्युपज्ञं व्याकरणम् । पतञ्जल्युपक्रमं महाभाष्यम् ।

१. न्यासे—“अस्तीयं ग्रामस्य सञ्ज्ञा । न तूशी-नरेषु । किं तर्हि । ततोऽन्यत्रेति ।” [(२।२।६८)]

२. वा० श०—“उपज्ञोपक्रमं तदादित्वे ॥”

३. तद्यथेतरेय-शतपथ-गोपथादिब्राह्मणेषु (ये० ब्रा० ८ । २३ ॥ श० ब्रा० १० । ५ । २ । ४ ॥ गो० ब्रा० ७० २ । ५) —

‘तदप्येते श्लोका अभिगीताः—

हिरण्येन परीवृतान् कृष्णान् शुक्लदत्तो मृगान् ।

४३

मष्णारे भरतोऽददाच्छतं वद्भानि सप्त च ॥ ...

[मृगान् = गजान् । मष्णारनामके देशे]

‘तदेव श्लोको भवति—

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् ।

मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति ॥

‘तदपि श्लोकाः—

अत्विजां च विनाशाय राज्ञो जनपदस्य च ।

संवत्सरविरिष्टं तद् यत्र यज्ञो विरिष्यते ॥ ...”

यहां इस कल्प में व्याकरण के आदि कर्ता पाणिनि हैं। इससे उपज्ञान्त को नपुंसकलिङ्ग होता है ॥

उपज्ञा- और उपक्रम-ग्रहण इसलिये है कि 'व्यासश्लोकाः' व्यास से पूर्व भी श्लोक रचे गये ॥

तदाद्याचिष्यासा-ग्रहण इसलिये है [कि] 'देवदत्तोपक्रमः पाकः' यहां दोनों जगह नपुंसक न हो ॥ २१ ॥

छाया बाहुल्ये ॥ २२ ॥

छाया । १ । १ । बाहुल्ये । ७ । १ । छायान्तस्य तत्पुरुषस्याग्रे^१ विभाषा नपुंसकत्वं वक्ष्यते, तदर्थमिदमारभ्यते । अनञ्कर्मधारयश्छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति [बाहुल्ये गम्यमाने ।] मुञ्जच्छायम् । इक्षुच्छायम्^२ । अत्रापि परवल्लिङ्गता प्राप्ता, नपुंसकत्वं विधीयते ॥

'बाहुल्ये' इति किम् । कुड्यच्छाया । अत्र नपुंसकं न भवति ॥ २२ ॥

छायान्त तत्पुरुष को आगे^३ सूत्र में विकल्प कहा है, नित्य नपुंसक होने के लिये यह सूत्र है । नञ् और कर्मधारय समास को छोड़के ['छाया'] छायान्त जो तत्पुरुष है, वह नपुंसकलिङ्ग हो ['बाहुल्ये'] बाहुल्य अर्थ में । इक्षुच्छायम् । यहां परवल्लिङ्ग प्राप्त है, सो नपुंसक विधान किया है ॥

बाहुल्य अर्थ इसलिये है कि 'कुड्यच्छाया' यहां नपुंसकलिङ्ग न हो ॥ २२ ॥

सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा ॥ २३ ॥

सभा । १ । १ । राजाऽमनुष्यपूर्वा । १ । १ । अनञ्कर्मधारयो राजपूर्वोऽमनुष्यपूर्वः सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति । राज-शब्दः पर्यायवचनानामिष्यते । इनसभम् । ईश्वरसभम् । राजपूर्वस्य तत्पुरुषस्यापि नपुंसकं न भवति । राजसभा । राज-शब्दस्य विशेषवाचिनामपि नपुंसकं न भवति । पुष्यमित्रसभा । चन्द्रगुप्तसभा । एतत् सर्वं प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे 'स्वं रूपं^४ ॥' इति सूत्रे प्रतिपादितम् । अमनुष्यपूर्वा^५—राक्षससभम् । पिशाचसभम् । दैत्यसभम् ॥

'राजाऽमनुष्यपूर्वा' इति किमर्थम् । धर्मसभा । विद्यासभा । आर्यसभा । अत्र सर्वत्र नपुंसकत्वं प्राप्तं, तन्न भवति ॥ २३ ॥

१. चा० श०—“बाहुल्ये ॥” (२।२।७४) व्याप्त ॥” (२।२।६६, ७०)

२. २।४।२५ ॥ [सम्भवति ॥ ५. १।१।६७ ॥ (वास्तिकं ३)

३. मुञ्जादीनां बहुत्वमिति । न हि तेन विना छाया ६. जयादित्यः—“अमनुष्य-शब्दो रुढिरूपेण रक्ष-

४. चा० श०—“ईश्वरार्थोदराणाः सभा ॥ अमनु- पिशाचादिष्वेव वर्तते ।”

नञ् और कर्मधारय समास को छोड़के ['राजाऽमनुष्यपूर्वा'] राज और अमनुष्य पूर्व ['सभा'] सभान्त जो तत्पुरुष है, वह नपुंसकलिंग हो । इनसभम् । ईश्वरसभम् । राजन्-शब्द के पर्यायवाची शब्दों से नपुंसकलिङ्ग होता है और 'राजसभा' यहां मुख्य राजन्-शब्द पूर्व से नहीं हुआ । तथा 'पुण्यमित्रसभा । चन्द्रगुप्तसभा' यहां राजविशेषवाची किन्हीं राजाओं के नाम पूर्व से भी नपुंसक नहीं हुआ । इस का हेतुवार्तिक प्रथमाध्याय के प्रथम पाद में लिख चुके हैं । अमनुष्यपूर्व—राक्षससभम् । पिशाचसभम् । यहां अमनुष्यपूर्व सभान्त को नपुंसक हुआ है ॥

'राजाऽमनुष्यपूर्वा' ग्रहण इसलिये है कि 'धर्मसभा । [आर्यसभा]' यहां नपुंसकलिङ्ग न हो ॥ २३ ॥

अशाला च^१ ॥ २४ ॥

'सभा' इत्यनुवर्तते । अशाला । १ । १ । च । [अ० ।] अशाला च या सभा, तदन्तोऽनञ्कर्मधारयस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति । दासीसभम् । वृषलीसभम् । पशुसभम् । शकुनिसभम् । यवसभम् । गोधूमसभम् । वृक्षसभम् । समुदायवाच्यत्र सभा-शब्दोऽस्ति । एवं च कृत्वा शालार्थस्य सभा-शब्दस्य निषेधः सिद्धो भवति । सभा-शब्दस्य समुदायवाचित्वादेव स्थावरपूर्वस्य सभान्तस्यापि नपुंसकं भवति ॥ २४ ॥

['अशाला'] शाला अर्थ से भिन्न अर्थ वाला जो सभा-शब्द, तदन्त अनञ् कर्मधारय तत्पुरुष नपुंसकलिंग हो । दासीसभम् । पशुसभम् । वृक्षसभम् । यहां समुदायवाची सभा-शब्द का ग्रहण है, इससे जड़ पदार्थ पूर्वक सभान्त को भी नपुंसकलिङ्ग हो जाता है । क्योंकि जो समुदायवाची का ग्रहण न होता, शालार्थ सभा-शब्द का प्रतिषेध नहीं बन सकता ॥

'अशाला' ग्रहण इसलिये है कि 'अनाथसभा' यहां नपुंसक न हो ॥ २४ ॥

विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्^३ ॥ २५ ॥

विभाषा । [अ० ।] सेना-सुरा-छाया-शाला-निशानाम् । ६ । ३ । अप्राप्त-विभाषेयम् । सेनादीनां नपुंसकं केनापि न प्राप्तं, विकल्प उच्यते । 'सेना, सुरा, छाया, शाला, निशा' इत्येतदन्तोऽनञ्कर्मधारयस्तत्पुरुषो [विभाषा] नपुंसकलिङ्गो भवति । असुरसेनम् । दैत्यसेनम् । असुरसेना । दैत्यसेना । गुडसुरं, गुडसुरा । यवसुरं, यवसुरा । आम्रच्छायं, आम्रच्छाया । गोशालं, गोशाला ।

१. १ । १ । ६७ ॥ (वार्तिक ३)

२. चा० श०—“अशाला ॥” (२ । २ । ७१)

३. चा० श०—“सेनासुराशालानिशा का ॥
छाया ॥” (२ । २ । ७२, ७३)

खरशालं, खरशाला । श्वनिशं, श्वनिशा^१ । अत्र सर्वत्र परवल्लिङ्गता प्राप्ता, नपुंसकं विकल्पेन भवति ॥ २५ ॥

इस सूत्र में अप्रासंविभाषा है, क्योंकि सेनादि शब्दों को नपुंसकलिङ्ग किसी सूत्र से प्राप्त नहीं और नपुंसकलिङ्ग का विकल्प करते हैं । [‘सेना-सुरा-छाया-शाला-निशानाम्’] सेना, सुरा, छाया, शाला, निशा, ये शब्द जिस के अन्त में हों, ऐसा जो नञ् और कर्मधारय को छोड़के तत्पुरुष समास, वह नपुंसकलिङ्ग हो [‘विभाषा’ विकल्प करके] । दैत्यसेनम् । दैत्यसेना । यहां दैत्य-शब्द का सेना-शब्द के साथ तत्पुरुष । यवसुरम् । यवसुरा । यहां सुरा-शब्द के साथ यव का । आम्रच्छायम् । आम्रच्छाया । यहां छाया-शब्द के साथ आम्र-शब्द का । गोशालम् । गोशाला । यहां शाला-शब्द के साथ गो-शब्द का । और ‘श्वनिशम् । श्वनिशा’ यहां निशा-शब्द के साथ श्व-शब्द का तत्पुरुष नपुंसक विकल्प करके होता है ॥ २५ ॥

परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः^२ ॥ २६ ॥

परवत्-लिङ्गं = परवल्लिङ्गम् । १।१ । द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः । ७।२ । द्वन्द्व-समासे^३ तत्पुरुषसमासे च परस्य यल्लिङ्गं तद् भवति । द्वन्द्वसमासस्योभयपदार्थ-प्रधानत्वात् कदाचिन् पूर्वपदस्य यल्लिङ्गं, कदाचित् परस्य च यल्लिङ्गं, तत् समास-स्यापि स्यात्^४ । तत्पुरुषे तूत्तरपदार्थप्रधानत्वात् सिद्धमेव परवल्लिङ्गम् । [पूर्वपदार्थ-प्रधाने] तत्पुरुष एकदेशिसमासार्थं परवल्लिङ्गारम्भः । द्वन्द्वे—गुणश्च वृद्धिश्च = गुणवृद्धी । वृद्धिशब्दस्य स्त्रीत्वं, तदेव समासस्यापि भवति । वृद्धिगुणौ । गुण-शब्दस्य पुंस्त्वं, तदेव समासस्यापि यथा स्यात् । तत्पुरुषे—पिप्पल्या अर्द्ध = अर्द्ध-पिप्पली । अर्द्धकोशातकी । अत्रापि परस्य स्त्रीत्वं, तदेव समासस्यापि भवति, अर्द्ध-शब्दस्य लिङ्गं न भवति ॥

वा०—द्विगुप्राप्तौपञ्चालपूर्वगतिसमासेषु प्रातिषेधो वक्तव्यः ॥^५ १॥

१. न्यासे—“यस्यां [कस्याञ्चित्] निशायां श्वानो मत्स विहरन्ति [स्वरन्तीति पाठान्तरम् । मषन्ती-त्यर्थः ।]”

हरदत्तस्तु—“यस्यां निशायां श्वान उपवस-न्ति, सा श्वनिशमिष्युच्यते । सा पुनः कृष्णचतुर्द-शी । तस्यां हि श्वान उपवसन्तीति प्रसिद्धिः ।”

शबरभाष्ये च “ शुनश्चतुर्दश्यामुपवसतः पश्यामः” इति ॥

२. सा०—पृ० ५२ ॥

३. इतरेतरयोगद्वन्द्वस्येदं ग्रहणम् ॥

४. न्यासकारः—“इहायं द्वन्द्वः सर्वपदार्थप्रधानः । स यदा भिन्नलिङ्गावयवो भवति, तदा पूर्वोत्तरयोः पदयोर्भिन्नलिङ्गयोरनुग्राहकमेकं लिङ्गं नास्ति, येन समुदायो व्यपदिश्यते । उभाभ्यां च युगपदसम्भ-वादशक्यो व्यपदेशः कर्तुम् । अतः पर्यायः स्या-दिति द्वन्द्वे नियमार्थं वचनम् ॥” [प्राप्ता० ।]”

५. महामाष्ये—“परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोरिति चेत्

६. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः = पञ्चकपालः । प्राप्तो जीविकां = प्राप्त-
जीविकः । आपन्नो जीविकां = आपन्नजीविकः । अलं जीविकायै = अलंजीविकः ।
गतिसमासे—निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः = निष्कौशाम्बिः । एषु शब्देषु सूत्रेण परव-
ल्लिङ्गता प्राप्ताऽनेन वार्त्तिकेन प्रतिषिध्यते ॥ २६ ॥

['द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः'] द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में ['परवल्लिङ्गं'] पर शब्द का जो
लिंग हो, वह समास का भी हो । गुणवृद्धी । वृद्धिगुणौ । यहां द्वन्द्व समास में जब वृद्धि-
शब्द का पर प्रयोग होता है, तब वृद्धि-शब्द के स्त्रीलिंग होने से स्त्रीलिंग और गुण-शब्द जब
पर होता है, तब उस के पुँल्लिंग होने से पुँल्लिंग हो जाता है । अर्द्धपिप्पली । यहां तत्पुरुष
समास में पर-प्रयुक्त स्त्रीलिङ्ग पिप्पली-शब्द का लिङ्ग समास का भी हो गया । द्वन्द्व समास के
उभय[पदार्थ]प्रधान होने से कभी पूर्व का और कभी पर का लिङ्ग प्राप्त है, इसलिये परव-
ल्लिङ्ग कहा । और तत्पुरुष समास में उत्तरपद प्रधान होने से परवल्लिङ्ग हो ही जाता, फिर त-
त्पुरुष का ग्रहण इसलिये है कि एकदेशी जो षष्ठी तत्पुरुष समास का अपवाद समास है, वहां
भी परवल्लिङ्ग हो जावे ॥

'द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥' द्विगु समास, प्राप्तपूर्व,
आपन्नपूर्व, अलंपूर्व और गति समास में परवल्लिङ्ग न हो । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरो-
डाशः = पञ्चकपालः । यहां द्विगु समास में कपाल-शब्द का लिङ्ग नहीं हुआ । प्राप्तपूर्व—
प्राप्तजीविकः । यहां जीविका-शब्द का । आपन्नजीविकः । यहां भी जीविका-शब्द का ।
अलंजीविकः । यहां अलंपूर्व जीविका-शब्द का । और गतिसमास—निष्कौशाम्बिः । यहां
कौशाम्बी-शब्द का लिङ्ग नहीं हुआ । सूत्र से यहां सर्वत्र परवल्लिङ्ग प्राप्त था । उस का इस
वार्त्तिक से निषेध किया है ॥ २६ ॥

पूर्ववदश्ववडवौ ॥ २७ ॥

पूर्ववत् । [अ० ।] अश्ववडवौ । १ । २ । 'विभाषा वृत्तमृग० २ ॥'
इति सूत्रेऽश्व-वडव-शब्दयोरेकवचनं विकल्पेनोक्तम् । तत्रासत्येकवद्भावेऽस्य प्रवृत्तिः ।
पूर्वसूत्रेण द्वन्द्वसमासे परवल्लिङ्गं प्राप्तं, तस्यायमपवादः । अश्व-वडव-शब्दयोः
पूर्ववल्लिङ्गं भवति । अश्वश्च वडवा च = अश्ववडवौ । परवल्लिङ्गेन स्त्रीत्वं प्राप्तं,
पुंस्त्वमेव भवति । द्विवचनस्यात्र नियमो नास्ति । अश्वाश्च वडवाश्च = अश्व-
वडवाः । अश्ववडवान् । अश्ववडवैरित्याद्यपि सिद्धं भवति ॥ २७ ॥

'विभाषा वृत्त० २ ॥' इस सूत्र से अश्ववडव-शब्द को एकवत् विकल्प करके कह चुके
हैं । सो जिस पक्ष में एकवत् नहीं होता, वहां इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है । पूर्व सूत्र से पर-
वल्लिङ्ग प्राप्त था । उस का यह सूत्र अपवाद है । ['अश्ववडवौ'] अश्व- और वडवा-शब्द

१. चा० श०—“अश्ववडवौ ॥” (२।२।६४) २. २।४।१२ ॥

के द्वन्द्व समास में [‘पूर्ववद्’] पूर्व पद का जो लिङ्ग है, वह समास का भी हो। अश्वश्च वडवा च = अश्ववडवौ। यहां अश्व-शब्द का लिङ्ग होता है। इस सूत्र में द्विवचन का कुछ नियम नहीं, किन्तु ‘अश्ववडवान्। अश्ववडवैः’ इत्यादि बहुवचन में भी पूर्व पद का ही लिङ्ग-होता है ॥ २७ ॥

हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि ॥ २८ ॥

‘पूर्ववद्’ इत्यनुवर्त्तते। परवल्लिङ्गस्यैवापवादः। हेमन्तशिशिरौ। १। २। अहोरात्रे। १। २। च। [अ०।] छन्दसि। ७। १। हेमन्त-शिशिर-शब्दयोरहोरात्र-शब्दयोश्च द्वन्द्वे पूर्वपदस्य यल्लिङ्गं, तत् समासस्यापि भवति छन्दसि = वेदविषये। हेमन्तश्च शिशिरं च = हेमन्तशिशिरौ। अहश्च रात्रिश्च = अहोरात्रे^१। अहानि च रात्रयश्च = अहोरात्राणि^२। हेमन्त-शब्दः पुंलिङ्गः, तत्र समासस्यापि पुंस्त्वमेव। अह-शब्दो नपुंसकलिङ्गः, तदेव समासस्य लिङ्गं भवति ॥

‘छन्दसि’ इति किम्। हेमन्तशिशिरे सुखदे। अहोरात्रौ दुःखदौ। अत्र लौकिकप्रयोगे परवल्लिङ्गमेव भवति ॥ २८ ॥

[‘हेमन्तशिशिरौ’] हेमन्त-शिशिर-शब्द [‘अहोरात्रे च’] और अहन्- तथा रात्र-शब्द इन दो २ के द्वन्द्व समास में [‘छन्दसि’] वेदविषय में पूर्ववत् लिङ्ग-हो। हेमन्तशिशिरौ^१। अहोरात्रे^२। अहोरात्राणि^३। यहां हेमन्त-शब्द पुंलिङ्ग और अहन्-शब्द नपुंसक है, यही [समास का भी] लिङ्ग होता है। यहां भी परवल्लिङ्ग प्राप्त था। उसी का अपवाद यह सूत्र है ॥

‘छन्दसि’ ग्रहण इसलिये है कि ‘हेमन्तशिशिरे। अहोरात्रौ’ यहां लौकिक प्रयोगों में पूर्ववत् नहीं हुआ ॥ २८ ॥

१. यजुर्वेदे (१०।१४) — “हेमन्तशिशिरावृत्तं वचो द्रविष्यम् ॥”

२. यजुर्वेदे — “व्रतं च मऽश्वतवश्च मे तपश्च मे संवत्सरश्च मेऽहोरात्रेऽऊर्ध्वं णीवे बृहद्रथन्तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥” (१८।२३)

अथर्ववेदे च (१०।७।६) —

“क प्रेप्सन्ती युवती विरूपे

अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।

यत्र प्रेप्सन्तीरसियन्त्यापः

स्कन्धं तं ब्रूहि कतमः खिदेव सः ॥”

३. अथर्ववेदे (१०।१६०।२) —

समुद्रादर्थ्यवादपि संवत्सरो अजायत।

अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥”

यजुरथर्ववेदयोस्तु “अहोरात्राः” इत्यपि द्विष-पलभ्यते—

“उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्धमा-सास्ते कल्पन्तां ॥” (वा० २७।४५)

“यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः

संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः।

अहोरात्रा ये परियन्तो नापु-

स्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥”

(अ० ४।३५।४)

रात्राह्वाहाः पुंसि ॥ २९ ॥

रात्राह्वाहाः । १ । ३ । पुंसि । ७ । १ । रात्राह्वाहानां समासान्तानां ग्रहणम् । परवल्लिङ्गत्वं प्राप्तं, तस्यापवादोऽयं योगः । 'रात्र, अह, अह' इत्येतेषां पुंस्त्वं भवति । द्विरात्रः । त्रिरात्रः । पूर्वाह्नः । अपराह्नः । मध्याह्नः । द्वयहः । त्रयहः । रात्रि-शब्दे परवल्लिङ्गतया स्त्रीत्वं प्राप्तमन्यत्र. नपुंसकत्वं च, पुंस्त्वं विधीयते ॥

वा०—अनुवाकादयः पुंसि ॥^१

अनुवाकादयः शब्दाः पुंलिङ्गा भवन्तीत्यर्थः । अनुवाकः । शंयुवाक^३ इत्यादि^४ ॥ २९ ॥

यह सूत्र भी परवल्लिङ्ग का अपवाद है । ['रात्र-अह-अहः'] रात्र, अह, अह, समासान्त इन शब्दों को ['पुंसि'] पुंलिङ्ग हो । द्विरात्रः । पूर्वाह्नः । द्वयहः । यहां रात्र-शब्द को स्त्रीलिङ्ग [तथा] और शब्दों को नपुंसकलिङ्ग प्राप्त था, सो पुंलिङ्ग किया है ॥

'अनुवाकादयः पुंसि ॥' इस वार्तिक का यह प्रयोजन है कि 'अनुवाकः । शंयुवाकः' अनुवाक आदि शब्द भी पुंलिङ्ग में समझने चाहियें । वे कहीं लिखे नहीं, किन्तु आकृतिगण जानना ॥ २९ ॥

अपथं नपुंसकम् ॥ ३० ॥

'तत्पुरुषः' इत्यनुवर्त्तते । अपथम् । १ । १ । नपुंसकम् । १ । १ । अपथ-शब्दः कृतनञ्समासो नपुंसकलिङ्गो भवति । अपथमिदम् । अपथानि गाहते मूढः । अपथ-शब्दस्तत्पुरुषसमास एव नपुंसकलिङ्गो भवति । न विद्यते पन्था यस्मिन् देशे [सो] ऽपथो देशः । अपथा पुरी । अत्र नपुंसकं न भवति ॥

अथ वार्तिकानि—

पुण्यसुदिनाभ्यामहो नपुंसकत्वं वक्तव्यम्^५ ॥^२ १ ॥

'रात्राह्वाहाः पुंसि ॥' इति पुंस्त्वमुक्तं, तस्यायमपवादः । पुण्याहम् । सुदिनाहम् ॥ १ ॥

१. वा० रा०—'रात्राह्वाहाः पुंसि ॥ अहोऽसु-दिनपुण्यात् ॥' (२ । २ । ८१, ८२)

ऋग्वेदे (१० । ८८ । ७)—

२. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

'तस्मिन्नशौ सूक्तवाकेन देवा

हविर्विश्व आजुहवुस्तनूपाः ॥'

३. ब्राह्मणश्रौतसूत्रेषु 'शंयोवाकः' इत्यपि । ('तच्छ-म्योरा वृषीमहे' इत्यादिः)

५. वा० रा०—'पथोऽसङ्गयात् ॥' (२ । २ । ७५)

४. इत्यादिना 'सूक्तवाकः' इति ॥

६. जयादित्यः—'०महः स्त्रीवतेभ्यते ॥' (२ । ४ । १८)

७. २ । ४ । २६ ॥

पथः सङ्ख्याव्ययादेरिति वक्तव्यम्^१ ॥^२ २ ॥

सङ्ख्यादेरव्ययादेश्च पथि-शब्दस्य नपुंसकत्वं भवति । द्विपथम् । त्रिपथम् ।
अव्ययादेः—उत्पथम् । विपथम् ॥ २ ॥

द्विगुश्च ॥^३ ३ ॥

‘द्विगुरेकवचनम्^३ ॥’ इति सूत्रेणैकवचनं प्रतिपादितम् । ‘स नपुंसकम्^४ ॥’
इत्यत्र सः-शब्देन द्वन्द्व एव परामृश्यतेऽतो द्विगोर्नपुंसकत्वमुक्तम् । पञ्चगवम् ।
दशगवम् ॥ ३ ॥

अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यत इति वक्तव्यम्^५ ॥^६ ४ ॥

पञ्चपूली । दशपूली । अत्र ‘स्त्रियाम्’ इति वचनान् ङीव् भवति ॥ ४ ॥

वाऽऽबन्तः^६ ॥^७ ५ ॥

आबन्तो द्विगुर्विकल्पेन स्त्रीलिङ्गो भवति । पञ्चखट्वी, पञ्चखट्वम् ॥ ५ ॥

अनो नलोपश्च^७ ॥^८ ६ ॥

अबन्तस्य द्विगोर्नित्यं नकारलोपो विकल्पेन स्त्रीत्वं च भवति । पञ्चतक्षी,
पञ्चतक्षम् ॥ ६ ॥

पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः^८ ॥^९ ७ ॥

‘अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियाम्’ इति नित्यं स्त्रीत्वं प्राप्तं प्रतिषिध्यते ।
पञ्चपात्रम् । द्विपात्रम् । अत्र ङीव् न भवति ॥ [७] ॥ ३० ॥

[‘अपथं’] तत्पुरुष नञ् समास किया हुआ पथिन्-शब्द [‘नपुंसकम्’] नपुंसकलिङ्ग में
समरूपता चाहिये । अपथम् । अपथानि । यहां तत्पुरुष में नपुंसक हुआ है ॥

तत्पुरुष-ग्रहण इसलिये है कि ‘अपथो देशः’ । अपथा नगरी’ यहां बहुव्रीहि समास
में नपुंसकलिङ्ग न हो ॥

अब आगे वार्तिकों का अर्थ किया जाता है—

१. जयादित्यः—“०सङ्ख्याव्ययादेः स्त्रीवत्तेष्यते ॥

क्रिष्णविशेषणानां च क्लीबत्तेष्यते ॥” (२।४।१८)

चा० श०—“सङ्ख्यादिः समाहारे ॥”

(२।२।७६)

२. अ० २। पा० ४। आ० १ ॥

३. २।४।१ ॥

४. २।४।१७ ॥

५. चा० श०—“अः स्त्री ॥” (२।२।७७)

६. जयादित्यः—“वाऽऽबन्तः स्त्रियामिष्टः ॥”

(२।४।१७)

चा० श०—“वाप् ॥” (२।२।७८)

७. जयादित्यः—“०नलोपश्च वा च द्विगुः स्त्रि-
याम् ॥” (२।४।१७)

चा० श०—“अनो लोपः ॥” (२।२।७६)

८. चा० श०—“न पात्रादयः ॥” (२।२।८०)

‘पुण्यसुदिनाभ्यामहो नपुंसकत्वं वक्तव्यम् ॥’ पुण्य- और सुदिन-शब्द से पर जो अहन्-शब्द, उस को नपुंसक हो । पुण्याहम् । सुदिनाहम् । यहां ‘रात्राह्ना०’ ॥’ इस सूत्र से पुल्लिङ्ग प्राप्त है, उस का अपवाद नपुंसक विधान किया है ॥ १ ॥

‘पथः सङ्ख्याव्ययादेरिति वक्तव्यम् ॥’ सङ्ख्या और अव्यय शब्द [पूर्व पथिन्-शब्द] को नपुंसकलिङ्ग हो । द्विपथम् । त्रिपथम् । यहां सङ्ख्यापूर्व । उत्पथम् । और यहां अव्ययपूर्वक पथिन् को नपुंसक हुआ है ॥ २ ॥

‘द्विगुश्च ॥’ द्विगु जो समास है, वह नपुंसक हो । इस पाद के आदि में द्विगु समास को एकवचन कहा है । उस को नपुंसक नहीं प्राप्त है । इसलिये द्विगु समास को नपुंसकलिङ्ग कहा है । पञ्चगवम् । दशगवम् । यहां द्विगु को नपुंसक हुआ है ॥ ३ ॥

‘अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यत इति वक्तव्यम् ॥’ अकारान्तोत्तरपद जो द्विगु समास है, उस को स्त्रीलिङ्ग में समझना । पञ्चपूली । दशपूली । यहां पूर्व वार्तिक से नपुंसकलिङ्ग प्राप्त था । उस का अपवाद स्त्रीलिङ्ग हो गया ॥ ४ ॥

‘वाऽऽवन्तः ॥’ टाप् आदि प्रत्ययान्त का जो द्विगु है, वह विकल्प करके स्त्रीलिङ्ग में समझना । पञ्चखट्वी । पञ्चखट्वम् । यहां जिस पद में स्त्रीलिङ्ग नहीं होता, वहां पूर्व वार्तिक से नपुंसक होता है ॥ ५ ॥

‘अनो नलोपश्च ॥’ अन्नन्त जो द्विगु समास है, वह विकल्प करके स्त्रीलिङ्ग और अन्नन्त शब्द के नकार का लोप नित्य हो जाता है । पञ्चतक्षी । पञ्चतक्षम् । यहां भी पद में नपुंसकलिङ्ग होता है ॥ ६ ॥

‘पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥’ पात्रादि शब्दों को स्त्रीलिङ्ग न हो । पञ्चपात्रम् । दशपात्रम् । यहां अकारान्त द्विगु को स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था, उस का निषेध होने से नपुंसकलिङ्ग होता है ॥ ७ ॥ ३७ ॥

अर्द्धर्चाः पुंसि च ॥ ३१ ॥

‘नपुंसकम्’ इति वर्तते । अर्द्धर्चाः । १ । ३ । पुंसि । ७ । १ । च । [अ० ।] ‘अर्द्धर्चाः’ इति बहुवचननिर्देशाद् ‘अर्द्धर्चादयः’ इति विज्ञायते । अर्द्धर्चादयः शब्दाः पुंसि नपुंसके च भवन्ति । अर्द्धर्चः, अर्द्धर्चम् । गोमयः, गोमयम् । इत्यादिगणपठिता अर्द्धर्चादिशब्दा यथेष्टं लिङ्गद्वया भवन्ति ॥

अथार्द्धर्चादिगणः—[१] अर्द्धर्चः [२] गोमय [३] कषाय [४] कार्षा-

१. २ । ४ । २६ ॥

२. २ । ४ । १ ॥

३. चा० श०—“नपुंसके चार्द्धर्चादयः ॥”

(२ । २ । ८३)

४. जयादित्यः—“शब्दरूपाश्रया चैवं द्विलिङ्गता

४४

कचिदर्थभेदेनापि व्यवतिष्ठते ।”

५. “अर्द्धर्चासौ ऋक् च ।”

असिन् गणोऽनिर्दिष्टोऽवरणस्थलाः शब्दार्था

अरुणदत्ताभिप्रायेण दर्शिता गणरत्नमहोदधेश्च

(२ । ६३-७७) उद्धृता मन्तव्याः ॥

पण [५] कुतप^१ [६] कुशाप^२ [७] कपाट [८] शङ्ख^३ [९] चक्र [१०] गूथ^४
 [११] यूथ [१२] ध्वज [१३] कबन्ध [१४] पद्म [१५] गृह^५ [१६] सरक^६
 [१७] कंस^७ [१८] दिवस [१९] यूष^८ [२०] अन्धकार [२१] दण्ड [२२]
 दण्डक^९ [२३] कमण्डलु^{१०} [२४] मण्ड [२५] भूत [२६] द्वीप [२७] द्यूत^{११}
 [२८] धर्म^{१२} [२९] कर्मन्^{१३} [३०] मोदक [३१] शतमान^{१४} [३२] यान
 [३३] नख [३४] नखर^{१५} [३५] चरण^{१६} [३६] पुच्छ [३७] दाडिम [३८]
 हिम [३९] रजत^{१७} [४०] सक्तु [४१] पिधान [४२] सार^{१८} [४३] पात्र
 [४४] घृत [४५] सैन्धव^{१९} [४६] औषध [४७] आढक [४८] चषक [४९]
 द्रोण [५०] खलीन^{२०} [५१] पात्रीव^{२१} [५२] यष्टिक^{२२} [५३] वार^{२३} [५४] बाण^{२४}
 [५५] प्रोथ^{२५} [५६] कपित्थ [५७] शुल्क [५८] शाल [५९] शील [६०]
 शुल्ब^{२६} [६१] शीघु^{२७} [६२] कवच [६३] रेणु [६४] ऋण [६५] कपट [६६]

१. “कुं तपति स्रष्टोऽत्रेति कुतपः = आढकालः । यद्वा
 छागरोममयो वस्त्रविशेषः ।”

२. बोटलिङ्कः—कुणप ॥ [एव ।”

३. “शङ्खं = कम्बुः । निधिललाटास्थिवचनस्तु पुँलिङ्क
 ४. = विष्ठा ॥ [कश्चित् ।”

५. “गृहो वासः । गृहाः पुंसि च भून्त्येवेति
 ६. = मयम् ॥ [तु पुँलिङ्कः ।”

७. “कंसं परिमाणभेदः । लोहभेदो वा । नृवाची
 ८. = मुद्रनिर्यासः ॥

९. छन्दोविशेषः, अरण्यविशेषो वा ॥

१०. अंतः परं जयादित्य-बोटलिङ्को—चक्र ॥

११. गाठान्तरम्—धर्मन् ॥

“धर्मोऽष्टद्वयार्थवाची । [‘चोदनालक्षणोऽर्थो
 धर्मः ॥’ इति मीमांसादर्शने] तत्साधनवाची तु
 नपुंसकलिङ्गः । ‘तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्’
 [ऋ० १ । १६४ । ४३] ॥”

१२. शब्दकौस्तुभे—“अयं कर्मो । कार्यमिस्थर्थः ।
 ‘कर्म व्याप्ये क्रियायाञ्च पुन्नपुंसकयोर्मतम्’ इति
 रुद्रः ॥”

१३. “शतं मानानामस्य । शतमानो भूभागवि-
 शेषः । यद्वा शतमानं रूप्यपलम् ।”

१४. = नखः ॥

१५. पादो वेदशाखाध्यायिनश्च ॥

१६. “रजतः = रूप्यं श्वेतं च ।”

१७. “सारं न्यायादनपेतम् । उक्तर्षेवाचकस्तु त्रिलि-
 ङ्गः । यत्तु जयादित्येनोक्तम्—‘उक्तर्षे सार-शब्दः
 पुँलिङ्गः एव’ इति, तन्न समीचीनम् ।

“‘सज्जा सुतवती सारा दर्पिकात्रतगार्धिनः ।’

“तथा ‘जये धरित्र्याः पुरमेव सारम्’ इत्यादि-
 बहुतिरलक्ष्यविरोधात् ॥”

१८. “सैन्धवो लवणोत्तमम् । यौगिकस्तु त्रिलिङ्गः ।”

१९. “खलीनं=कविकम् । ‘खलिन’ इति शाकटायनः ।”

२०. “पात्रीवं=यज्ञोपकरणम् ।” [त्रीहिभेदः ।”

२१. जयादित्य-बोटलिङ्को—यष्टिक ॥ “यष्टिकं =

२२. बोटलिङ्कः—वारवाण ॥ “वारवाणं=कन्चुकः ।”

२३. = अश्वदादीनां नासा ॥

२४. बोटलिङ्कः—“शुल्क (शुल्ब and शुक्ल K.)”

भगवद्भयानन्द उणादिवृत्तौ (४ । ६५)—

“शोचतीति शुल्बम् । ताम्रं वा ।”

२५. जयादित्य-बोटलिङ्को—शीघु ॥

भगवद्भयानन्दः (उणा० ४ । ३८)—“शेते
 येन तत् शीघु । मयं वा ।”

सीकर' [६७] मुसल [६८] सुवर्ण' [६९] वर्ण' [७०] पूर्व [७१] चमस [७२] क्षीर [७३] कर्ष' [७४] आकाश [७५] अष्टापद' [७६] मङ्गल [७७] निधन [७८] निर्यास [७९] जृम्भ [८०] वृत्त [८१] पुस्त' [८२] बुस्त' [८३] क्षेडित [८४] शृङ्ग [८५] शृङ्खल' [८६] मधु [८७] मूल [८८] मूलक [८९] शराव' [९०] नाल' [९१] वप्र' [९२] विमान [९३] मुख [९४] प्रमीव' [९५] शूल [९६] वज्र' [९७] कटक [९८] कण्टक [९९] कर्पट' [१००] शिखर [१०१] कल्क' [१०२] वल्क [१०३] नाट' [१०४] मस्तक [१०५] वलय [१०६] कुसुम [१०७] तृण [१०८] पङ्क [१०९] कुण्डल [११०] किरीट [१११] अर्बुद' [११२] अंकुश [११३] तिमिर [११४] आश्रम [११५] भूषण [११६] इल्कस' [११७] मुकुल [११८] वसन्त [११९] तडाग [१२०] पिटक [१२१] विटङ्क' [१२२] विडङ्क' [१२३] पिर्याक'

१. बोटलिङ्कः—शीकर ॥ [शाकटायनः ।]

२. “दुर्गस्तु स्त्रीनरलिङ्ग इत्याह । ‘सवर्ण’ इति

३. काशिकायाम्—“यूप । चमस । वर्ण ।”

भगवद्भयानन्दः (उपा० ३ । २७)—“यैति भिन्नयतीति यूपः । यज्ञशालास्तम्भो वा ।”

“वर्ण = अक्षरम् । शुक्रादिद्विजादिश्रुतिवाची तु पुंलिङ्गः ।”

४. “कर्षः = पलचतुर्थभागः ।”

५. “अष्टापद = शारीफलम् । अष्टापदः = सुवर्णम् ।”

६. = पुस्तकम् ॥

शब्दकल्पद्रुमे—“लेप्यादि शिल्पकर्म । आदिना काष्ठपुच्छलिकाखनित्रखननादि कर्म गृह्यते । इति सुमूलादयः ॥

“मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा ।

लोहरेणैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते ॥” — इत्यमरटीकायां भरतः ॥”

७. “बुस्तं = मांसशङ्कुली ॥” [शब्दौ पठति ॥

८. बोटलिङ्कः—“निगड । खल ।” इति द्वौ

९. बोटलिङ्कः “शराव” इत्यतः पूर्व—“स्थूल” इत्यपि ॥

१०. जयादित्यः—शाल ॥

११. भगवद्भयानन्दः (उपा० २ । २७)—

“वपति बीजं क्षिनत्ति वा, स वप्रः । पिता, केदारः, प्राकारः, रोधो वा ।”

१२. “प्रमीव = वातायनं, वास्तुनिमित्तधारणं च ।”

१३. भगवद्भयानन्दः (उपा० २ । २८)—

“वज्रति प्राप्नोति प्राप्यते वा, स वज्रः । हीरकं, शस्त्रं वा ।”

१४. भगवद्भयानन्दः (उपा० ४ । ८२)—

“कर्पतीति कर्पटः । क्षिन्नं पुराणं वस्त्रं वा ।”

“कर्पटः । नद्यद्रिवेष्टितं खेटं कर्पटं शैलवेष्टितम् ।”

दुर्गस्तु कर्पटम् अल्पोपकरणस्थानमित्याह ।”

१५. = औपधानां निर्यासः, दम्भः, किल्विषं वा ॥

१६. “आनट” इति शाकटायनः ।”

१७. बोटलिङ्कः “अर्बुद” इत्यतः पूर्व—“कुमुद” इत्यपि ॥

शब्दकौस्तुभे—“पर्वते तु पुंलिङ्गः ।”

१८. बोटलिङ्कः—“इन्वास (इल्कस उपपद इल्कस

इ.)” शब्दकौस्तुभे—“इल्कसश्चिकसं गोधूमादिचूर्णम् । अमरस्तु चिकसमर्षचादौ पपाठ ।”

१९. = कपोतपाली ॥

२०. = ओषधिविशेषः ॥

२१. भगवद्भयानन्दः (उपा० ४ । १५)—“यं पिनाडि...स पिर्याकः । तिलकल्को वा ।”

[१२४] माष [१२५] कोश [१२६] फलक [१२७] दिन [१२८] दैवत
 [१२९] पिनाक^१ [१३०] समर [१३१] स्थाणु^२ [१३२] अनीक [१३३]
 उपवास [१३४] शाक [१३५] कर्पास [१३६] विशाल [१३७] चषाल^३ [१३८]
 खण्ड [१३९] दर [१४०] बल [१४१] मक^४ [१४२] विटप [१४३] रण^५
 [१४४] मल [१४५] मृणाल [१४६] हस्त [१४७] आर्द्र^६ [१४८] सूत्र
 [१४९] मूत्र [१५०] ताण्डव [१५१] गाण्डीव^७ [१५२] मण्डप [१५३]
 पटह [१५४] सौध [१५५] योध [१५६] पार्श्व [१५७] शरीर [१५८]
 देह [१५९] फल [१६०] छल [१६१] पुर [१६२] राष्ट्र [१६३] विश्व
 [१६४] अम्बर^८ [१६५] बिम्ब [१६६] कुट्टिम [१६७] कुक्कुट [१६८]
 मण्डल [१६९] कुडप^९ [१७०] ककुद [१७१] खण्डल^{१०} [१७२] तोमर [१७३]
 तोरण [१७४] मञ्चक [१७५] पञ्चक^{११} [१७६] पुङ्ख [१७७] मध्य^{१२} [१७८]
 बाल [१७९] छाल^{१३} [१८०] बल्मीक^{१४} [१८१] वर्ष [१८२] वस्त्र [१८३]
 वसु^{१५} [१८४] उद्यान^{१६} [१८५] उद्योग [१८६] स्नेह [१८७] स्तेन [१८८]
 स्तन [१८९] स्वर [१९०] सङ्गम [१९१] निष्क [१९२] जेम [१९३] शूक^{१७}

१. भगवद्भयानन्दः (उणा० ४।१५) — “पाति
 रक्षयतीति पिनाकः । विश्वं धातुर्वा ।”

२. = कीलकः ॥

३. काठकसंहिताकोशेषु (२६।४) “चषाल”
 इत्यपि ॥

= दारुमयं यूपकङ्कणं (उणा० ४।१०७), न
 तु यथा गण्यत्तत्त उपपादितं “यज्ञपात्रम्” इति ॥
 मै० (१।६।३) — “यावदैवराहस्य चषालं
 तावतीत्यमग्र आसीत् ।” वराहस्य-मुखमित्यर्थः ॥

४. वस्यन् माण्डव्यामुत्पादितः पुत्रः ॥

५. जयादित्य-बोटलिकू — “दर । विटप । रण ।
 बल । मक (काशिकायाम्—मल) ।”

६. बोटलिकू: “आर्द्र” इत्यतः परं — “हल”
 इत्यपि ॥ आर्द्रः = शृङ्गवेरम् ॥ [मध्योऽपि ॥

७. गण्यत्ते (२।७५) “गाण्डीव” इति ह्रस्व-

८. बोटलिकू: — बिम्ब । अम्बर ॥

९. पाठान्तरम् — कुडव ॥

शब्दकल्पद्रुमे — “परिमाणविशेषः । स तु
 प्रस्थचतुर्थार्श इति लीलावती । वैद्यकमते विप्रस-
 तपरिमाणम् ।

“प्रसूतिभ्यामञ्जलिः स्यात् कुडवोऽर्द्धशरावकः ।
 अष्टमानं च स ज्ञेयः ॥” इति शार्ङ्गधरस्य पूर्वखण्डे
 १ अ० ।”

१०. कोशे — खण्डल ॥ “खण्डलं = खण्डम् ॥”

११. = विस्तारः ॥

१२. = उदरम् ॥

१३. कोशे — बाल ॥

१४. पाठान्तरम् — बाल्मीक ॥

१५. भगवद्भयानन्दः (उणा० १।१०) — “वस्त
 आच्छादयति दुःखं येन, तद्वसु । धनं वा । वस-
 न्ति प्राणिनो येषु, ते वसवोऽन्यादयोऽष्टौ ।”

१६. जयादित्य-बोटलिकू “उद्यान” इत्यतः पूर्व —
 “देह” इति ॥ [कोऽपि ।”

१७. “शूकं धान्यादेः सूची । वृश्चिकादेः कण्ड-

[१६४] चत्र [१६५] छत्र [१६६] पवित्र [१६७] यौवन [१६८] कलह
 [१६९] पालक [२००] पानक [२०१] मूषिक [२०२] वल्कल [२०३]
 कुञ्ज [२०४] विहार [२०५] लोहित [२०६] विषाण [२०७] भवने [२०८]
 अरण्य [२०९] पुलिन [२१०] दृढ [२११] आसन्न [२१२] ऐरावत [२१३]
 शूर्प [२१४] तीर्थ [२१५] लोमश [२१६] तमाल [२१७] लोह [२१८]
 शपथ [२१९] प्रतिसर [२२०] दारु [२२१] धनुस् [२२२] मान [२२३]
 वर्चस्क [२२४] कूर्च [२२५] तर्क [२२६] वितर्क [२२७] मव [२२८] सहस्र
 [२२९] ओदन [२३०] प्रवाल [२३१] शकट [२३२] अपराद्ध [२३३] नीड
 [२३४] शकल [२३५] कुणप [२३६] मुण्ड [२३७] पूत [२३८] मरु [२३९]
 लोमन [२४०] लिङ्ग [२४१] सीर [२४२] क्षत्र [२४३] कडार [२४४]
 पूर्ण [२४५] पणव [२४६] पुस्तक [२४७] पल्लव [२४८] निगड
 [२४९] खल [२५०] स्थूल [२५१] शार [२५२] प्रवर [२५३] पुराण

१. पाठान्तरम्—मालक ॥ “मालकः=ग्रामान्त-
 रालाटवी ।”

२. बोटलिको “मूषिक” इत्यतः परं—“मण्डल”
 इत्यपि ॥

३. = सैकतम् ॥

४. भगवद्भयानन्दः (उणा० २।७)—“तरन्ति
 येन यत्र वा तद तीर्थम् । गुरुर्यज्ञः पुरुषार्थो मन्त्री
 जलाशयो वा ।”

५. कोशोऽतः परं पुनरपि “दण्डक । दण्डक ।”
 इति द्विलिखितम् । जयादित्य-बोटलिकौ दण्डक-
 शब्दमत्रैव पठतो न पूर्वत्र ॥

६. प्रतिसरः = माल्यं, कङ्कणं, अणशुद्धिः । प्रति-
 सरं = मण्डलम् ॥

७. “वर्चस्कं = शकट । कूर्चः=दीर्घश्मश्रु ॥”

८. बोटलिकः “तंक, वितंक” इत्येतयोः स्थाने—
 “तण्डक” इति ॥

९. बोटलिकः—मठ ॥ मवः = बन्धनम् ॥

१०. केषुचिद् काशिकाकोशेष्वत्र गणः समाप्तः ॥

बोटलिकोऽतः परं—“तण्डल । K. ausserdem

तंक, वितंक, विश्व, छत्र ...”

अस्माकं कोशोऽपि कुणपप्रभृतयः तण्डकान्ताः
 शब्दाः पृष्ठप्रान्ते लिखिताः । कश्चिदपरं गणपाठकोशं
 दृष्ट्वा पश्चाद्विखिता इति प्रतीयते ॥

११. = शवः, शृङ्गेदो वा ॥

१२. काशिकायां कोशे चातः परं “कंस” इति ।
 अस्माभिस्तु पुनरुक्तिः स्यादिति नात्र लिखितः ॥

१३. काशिकायामतः परं—अण्य ॥

१४. , , —वर्य ॥

१५. काशिकायां कोशे चातः परं—विराल ॥

१६. काशिकायामतः पूर्व—बुस्त ॥

वात्स्यायनसूत्रे (१।४)—“नागदन्तावसत्ता-
 वीणा । चित्रफलकम् । वर्तिकासमुद्रकः । यः कश्चिद्
 पुस्तकः ।”

१७. = वायुः, कर्तुरवर्यः । कुरो स्त्री इति केचित् ॥

काशिकायामतः परं—नाल ॥

१८. , , —कटक । कण्टक । झाल ।

कुमुद ॥

१९. कोशोऽतः पूर्व—झाल ॥

[२५४] जाल [२५५] स्कन्ध [२५६] ललाट [२५७] कुङ्कुम [२५८] कुशल^१
[२५९] हल^२ [२६०] तण्डक^३ [२६१] तण्डुक^४ ॥ इत्यर्द्धर्चादिः ॥ ३१ ॥

[इति लिङ्गानुशासनप्रकरणम्]

अर्द्धर्चादि-शब्द में बहुवचन निर्देश करने से अर्द्धर्चादिगण समझा जाता है ।
['अर्द्धर्चाः'] अर्द्धर्चादि शब्द ['पुंसि'] पुंलिङ्ग और ['च'] चकार से नपुंसकलिङ्ग
हैं । अर्द्धर्चः । अर्द्धर्चम् । गोमयः । गोमयम् इत्यादि गण में पदे हुए शब्दों में
यथोक्त दोनों लिङ्ग होते हैं ॥

अर्द्धर्चादिगण बहुत है, वह सब क्रम से पूर्व संस्कृत भाष्य में लिख दिया है ॥ ३१ ॥

[यह लिङ्गानुशासन का प्रकरण समाप्त हुआ]

[अथान्वादेशप्रकरणम्]

इदमोऽन्वादेशोऽनुदात्तस्तृतीयादौ ॥ ३२ ॥

इदमः । ६ । १ । अन्वादेशो । ७ । १ । अश् । १ । १ । अनुदात्तः । १ । १ । तृती-
यादौ । ७ । १ । आदिश्यते = उच्यतेऽसावादेशः । अनु = पश्चाद् आदेशोऽन्वादेशः,
तस्मिन् । 'अश्' इति शित्करणं सर्वादेशार्थम् । इदं-शब्दस्यान्तोदात्तत्वात्
सर्वादेशोऽनुदात्तो न प्राप्तस्तदर्थमनुदात्तवचनम् । अन्वादेशो वर्तमानस्येदं-शब्दस्य

१. काशिकायामतः परं—“विडङ्ग । पिण्याक ।
आर्द्र ॥”

२. काशिकायामतः परम्—“कटक । योष । विन्व ।
कुङ्कुट । कुडप । खण्डल । पञ्चक । वसु । उ-
षम । स्तन । सेन । चत्र । कलह । पालक ।
हल । कर्चस्क । कूर्च ।” यतेषु हलादयो द्विरुक्ताः ॥

३. कोशोऽतः पूर्व—खण्डल । पालक ॥

—“तण्डकं = छन्दोगयोग्यो ब्राह्मणो ग्रन्थविशे-
षः । परिष्करो दण्डको वा ।”

४. काशिकायां ६, ७०, १०२, १४१, १४६
इत्येते शब्दा नोपलभ्यन्ते । २२, ५८, ६४, ८२,
६०, ६७, ६८, १२२, १२३, १३६, १४०,
१४७, १५८, १६५, १६७, १६६, १७१,
१७५, १७६, १८३, १८७, १८८, १६४,
१६८, १६९, ३२३, ३२४ इत्येते च शब्दाः

स्थानअष्टाः सन्तो यथास्थानं टिप्पणेषु निर्दिष्टाः ॥

बोटलिङ्गीये च गणपाठे १०२, १४४, १४६,

१६३, १६५, २०० इत्येते शब्दा न सन्ति ।

स्थानअष्टाश्च शब्दाः ६, २२, १५८, १६८
इत्येते ॥

५. ना०—सू० १८७ ॥

चा० श०—“यतस्य चान्वादेशो द्वितीयायां
चैनः ॥” (५ । ४ । ७६)

६. महामाष्ये—“अन्वादेशो समानाधिकरणग्रहणं
कर्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । इह मा भूत्—देवदत्तं
भोजयेमं च यश्च दत्तं भोजयेति । अन्वादेशश्च कथि-
तानुकथनमात्रं द्रष्टव्यम् । तद् द्वेष्यं विजानीया-
दिदमा कथितमिदमैव यदानुकथ्यते इति । तदा-
चार्यः सुहृद्भूत्वान्वाचष्टे—अन्वादेशश्च कथित-
नुकथनमात्रं द्रष्टव्यमिति ॥”

तृतीयादौ विभक्तौ परतोऽनुदात्तोऽश्-आदेशो भवति । आभ्यां छात्राभ्यां रात्रिर-
धीता, अथो आभ्यामहरप्यधीतम् । अस्मै छात्राय कम्बलं देहि, अथो अस्मै
शाटकमपि देहि । इदं-शब्दस्य टा-विभक्तावोसि 'चैन-आदेशो' विधीयते । तृती-
यादिषु हलादिविभक्तिषु इद्रूपस्य लोपत्वाद्विष्टसिद्धिर्भविष्यति । शिष्टास्वजादिषु तृती-
यादिष्वन्-आदेशो^३ विधीयते । एवं सर्वत्रेष्टसिद्धिर्भविष्यति । पुनरश्-आदेशस्यै-
तत् प्रयोजनं—साकच्चस्येदं-शब्दस्येद्रूपलोपः प्रतिषिध्यते, तत्र साकच्चस्याश्-
आदेशो यथा स्यात् । इमकाभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता, अथो आभ्यामहर-
प्यधीतम् । अत्र 'इमकाभ्यां' इति प्राप्ते 'आभ्यां' इत्येव भवति । 'अस्मै'
इत्यादिषु त्वन्-आदेशो नैव सिद्धं भविष्यति ॥ ३२ ॥

अन्वादेश उस को कहते हैं कि कहे हुए वाक्य के पीछे उस से कुछ विशेष कहा जावे ।
तृतीयादि हलादि विभक्तियों के पर [अर्थात् परे होते हुए^१] इदं-शब्द के इदं-भाग का लोप
कहा है^२ । और अजादि तृतीयादि विभक्तियों में एन^३- और अन्-आदेश^३ होते हैं । उस से इष्ट
प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं । फिर इस सूत्र में अश्-आदेश इसलिये किया है कि अकच्-प्रत्ययान्त इदं-
शब्द को अन्-आदेश का निषेध है, सो अकच्-प्रत्ययान्त को भी अश्-आदेश हो जावे । ['अन्वा-
देशे'] अन्वादेश में वर्तमान जो ['इदमः'] इदं-शब्द, उस को ['अशनुदात्तः'] अनुदात्त अश्-
आदेश हो ['तृतीयादौ'] तृतीयादि विभक्ति परे हो, तो । इमकाभ्यां छात्राभ्यां रात्रि-
रधीता, अथो आभ्यामहरप्यधीतम् । यहां दूसरे प्रयोग में अकच् सहित इदं-शब्द को
अश्-आदेश हुआ है । इदं-शब्द अन्तोदात्त है । उस को अनुदात्त आदेश नहीं प्राप्त है, इसलिये
अनुदात्त किया है ॥ ३२ ॥

एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ ॥ ३३ ॥

'अन्वादेशोऽशनुदात्तः' इत्यनुवर्तते । एतदः । ६ । १ । त्र-तसोः । ७ । २ ।
त्र-तसौ । १ । २ । च । [अ० ।] अनुदात्तौ । १ । २ । अन्वादेशो वर्तमानस्यैतद्-
शब्दस्य त्र-तसोः प्रत्ययोः परतोऽनुदात्तोऽश्-आदेशो भवति । त्र-तसौ प्रत्ययौ
चानुदात्तौ भवतः । एतस्यां वाटिकायां सुखं वसामः, अथो अत्र युक्ता अधीमहे ।
एतस्मादध्यापकाच्छन्दोऽधीष्व, अथो अतो व्याकरणमप्यधीष्व । उत्तरप्रयोगयो-
रेतद्-शब्दस्याश्-आदेशो भवति । द्वयोरनुदात्तत्वात् सर्व पदमनुदात्तम् ॥ ३३ ॥
अन्वादेश में वर्तमान ['एतदः'] एतद्-शब्द को ['त्र-तसोः'] त्र- और तसि-

१. २।४।३४॥

२. ७।२।११३॥

३. ७।२।११३॥

४. अगले और पिछले सूत्रों की भाषा में भी
पर-शब्द का यही अर्थ समझना ॥

प्रत्यय के पर अनुदात्त अश्-आदेश हो, ['च'] और ['त्र-तसौ'] ब्रह्, तसिब भी ['अनुदात्तौ'] अनुदात्त ही हों। एतस्यां नगर्यां सुखं वसामः, अथो अत्र युक्ता अत्रीमहे। यहां अत्र-शब्द में एतद्-शब्द को अश्। एतस्मादध्यापकाच्छन्दोऽधीष्व, अथो अतो व्याकरणमप्यधीष्व। और यहां अतः-शब्द में एतद्-शब्द को अश्-आदेश हुआ है। 'अत्र, अतः' ये दोनों पद सब अनुदात्त होते हैं ॥ ३३ ॥

द्वितीयाटौस्वेनः ॥ ३४ ॥

'इदमः, एतदः' इति द्वयमप्यनुवर्तते। 'अन्वादेशोऽनुदात्तः' इति च। द्वितीया-टा-ओस्सु। ७।३।एनः।१।१।अन्वादेशो वर्तमानयोरिदम्-एतद्-शब्दयोः 'द्वितीया, टा, ओस्' इत्येतासु विभक्तिषु परतोऽनुदात्त एन-आदेशो भवति। [इदमः—] इमं शिष्यं छन्दोऽध्यापय, अथो एनं न्यायमप्यध्यापय। अनेन शिष्येण सुष्ठुधीतं, अथो एनेन कण्ठस्थं कृतम्। अनयोश्छात्रयोः शोभना प्रकृतिः, अथो एनयोर्मृदुर्वाणी। एतदः—एतं छात्रमनय, अथो एनं भोजय। एतेन छात्रेण सुष्ठुच्चारितं, अथो एनेन स्वरतोऽधीतम्। एतयोश्छात्रयोः शोभनमुच्चारणं, अथो एनयोश्शोभनं शीलम्। अत्र सर्वत्रोत्तरप्रयोगेन-आदेशो भवति ॥

वा०— एनदिति नपुंसकैकवचने ॥^२

* द्वितीयाविभक्तौ नपुंसक एकवचने 'एनद्' इत्यादेशो भवति। इदं कुण्डमानय, प्रक्षालयैनत्, परिवर्तयैनत्। अत्रान्वादेश इदं-शब्दस्यैनद्-आदेशः ॥ ३४ ॥

अन्वादेश में वर्तमान जो इदं-और एतद्-शब्द, इन को ['द्वितीया-टा-ओस्सु'] द्वितीया, टा, ओस्, इन विभक्तियों के पर ['एनः'] अनुदात्त एन-आदेश हो जावे। इमं शिष्यं छन्दोऽध्यापय, अथो एनं न्यायमप्यध्यापय। यहां इदं-शब्द को द्वितीया विभक्ति में एन। अनेन शिष्येण सुष्ठुधीतं, अथो एनेन कण्ठस्थं कृतम्। यहां इदं-शब्द को टा-विभक्ति में एन। अनयोश्छात्रयोः शोभना वृत्तिः, अथो एनयोर्मृदुर्वाणी। और यहां इदं-शब्द को ओस्-विभक्ति के परे एन-आदेश हुआ है। एतद्—एतं छात्रमानय, अथो एनं पृच्छ। यहां एतद्-शब्द को द्वितीया विभक्ति में। एतेन छात्रेण सुष्ठुच्चारितं, अथो एनेन कण्ठस्थं कृतम्। यहां एतद्-शब्द को टा-विभक्ति के पर एन। एतयोश्छात्रयोः शोभनमुच्चारणं, अथो एनयोः शोभनं शीलम्। और यहां एतद्-शब्द को ओस्-विभक्ति के परे अन्वादेश में एन-आदेश हुआ है ॥

१. ना०—सू० १८० ॥

२. कैशेऽत्र—“॥ १ ॥”

वा० रा०—“एतस्य चान्वादेशो द्वितीयायां चैतः ॥” (५।४।७६)

अ० २।पा० ४।आ० १ ॥

‘एनदिति नपुंसकैकवचने ॥’ द्वितीया विभक्ति के एकवचन और नपुंसकलिङ्ग में एनत्-आदेश हो। इदं कुण्डमानय, प्रक्षालयैनत्, परिवर्त्तयैनत्। यहां इस वार्त्तिक से एनत्-आदेश किया है, क्योंकि सूत्र से तकारान्त आदेश नहीं प्राप्त था ॥ ३४ ॥

[अर्द्धधातुकाधिकारप्रकरणम्]

आर्द्धधातुके ॥ ३५ ॥

आर्द्धधातुके । ७ । १ । अधिकारसूत्रमिदम् । अतोऽग्रे ‘एयक्षत्रियार्ष०’ ॥^२ इत्यतः सूत्रात् पूर्वं यत् किञ्चित् कार्यं भविष्यति, आर्द्धधातुके तद्वेदितव्यम् । ‘आर्द्धधातुके’ इति विषयसप्तमी विज्ञेया । आर्द्धधातुकविषयमात्रे [अर्थेऽत्र] सप्तमी विभक्तिर्भवति ॥ ३५ ॥

यह अधिकार सूत्र है। ‘एयक्षत्रियार्ष०’ ॥ इस सूत्र से पूर्व २ जो कुछ कार्य विधान करें, वह [‘आर्द्धधातुके’] आर्द्धधातुक में हो। आर्द्धधातुक-शब्द में विषय सप्तमी अर्थात् आर्द्धधातुक पर न [भी] हो और उस का विषय हो, तो भी वे कार्य हो जावें ॥ ३५ ॥

अदो जग्धिर्ल्यसि किति ॥ ३६ ॥

‘आर्द्धधातुके’ इत्यनुवर्त्तते । अदः । ६ । १ । जग्धिः । १ । १ । ल्यसि । ७ । १ । किति । ७ । १ । अर्द्धधातोर्ल्यपि तकारादौ किदार्द्धधातुकप्रत्यये च परतो जग्धिर्-आदेशो भवति । ल्यपि—प्रजग्ध्य । विजग्ध्य । ति किति—जग्धः । जग्धवान् । अन्न-शब्दस्थौणादिकत्वाज्जग्धिर्न भवति । क्त्वा-प्रत्ययस्य स्थाने ल्यव्-आदेशो भवति । क्त्वा च तादिरेव । क्त्वास्थाने ल्यव्-आदेशो प्राप्ते, क्त्वायां परतो जग्धि-आदेशो प्राप्ते, परत्वाल्ल्यप् स्यादन्तरङ्गत्वाज्जग्धिः । पुनर्ल्यव्-ग्रहणं किमर्थम् ।

भा०—एवं तर्हि सिद्धे सति यल्ल्यव्-ग्रहणं न्येति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यव् वाधत इति ॥

एवं ल्यव्-ग्रहणस्य व्यर्थत्वे सतीयं परिभाषा निस्सृता । स्वांशे चरितार्थत्वमन्यत्र [च] फलमिति परिभाषायाः प्रयोजनम् । अग्रे कारिकाभ्यां फलं दर्शयति—

१. आ०—स० ३०७ ॥ [(५।४।७८)]

चा० श०—“लिङाशीलिङित्तिश्चि ॥”

२. २।४।५८ ॥

३. आ०—स० १२१६ ॥ [(५।४।८५, ८६)]

चा० श०—“ति कित्यदो जग्धः ॥ ल्यपि ॥”

४. “जग्धिः” इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ॥

५. उणा०—३।१० ॥

६. पा०—स० ४८ ॥

७. पा०—स० ५४ ॥

८. अ० २।पा० ४।आ० १ ॥

का०—जग्धिविधिर्यपि यत्तदकस्मात्
सिद्धमदस्ति कितीति विधानात् ।

हिप्रभृतींस्तु सदा बहिरङ्गो
ल्यब्भरतीति कृतं तदु विद्धि ॥ १ ॥

जग्धौ सिद्धेऽन्तरङ्गत्वात् ति कितीति ल्यबुच्यते ।

ज्ञापयत्यन्तरङ्गाणां ल्यपा भवति बाधनम् ॥ २ ॥^२

ल्यपि परतो जग्धिविधिः = जग्धेर्यद् विधानं, तद् 'अदस्ति किति' इति विधानादन्तरङ्गत्वात् सिद्धं, पुनर्ल्यब्-ग्रहणमकस्मात् कृतं । तस्यैतत् प्रयोजनं — हिप्रभृतीन् क्त्वाश्रयान् विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् हरति = बाधत इति । 'तत्' पूर्वोक्तपरिभाषाकृतं फलं 'उ' इति निश्चयेन हे वैयाकरण त्वं विद्धि । अर्थात् क्त्वाश्रयं कार्यं 'प्रधाय । प्रस्थाय' [इति] अत्र हित्वमित्त्वं^३ च प्राप्तं, बहिरङ्गत्वाल्ल्यपि कृते तन्न भवति ॥ १ ॥

जग्ध्यादेशोऽन्तरङ्गत्वात् ति किति परतः सिद्धे ल्यबुच्यत आचार्येण, स ज्ञापयति—अन्तरङ्गान् विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् बाधत इति ॥ [२ ॥]

'ति किति' इति किम् । अद्यते । अत्तव्यम् । अत्र जग्धिर्न भवति ॥ ३६ ॥

['ल्यप्ति किति'] ल्यप् और तकारादि कित् आर्द्धधातुक प्रत्यय के परे ['अदः'] अद् धातु को ['जग्धिः'] जग्धि-आदेश हो । प्रजग्ध्य । विजग्ध्य । यहां ल्यप् के परे [होने से] और 'जग्धः' । जग्धवान्' यहां क्त-क्तवतु-प्रत्यय के परे [होने से] जग्धि-आदेश हुआ है । अन्न-शब्द उणादि^४ से सिद्ध होता है । वहां बहुत करके कार्य होते हैं, इससे जग्धि-आदेश नहीं हुआ ॥

'ति-किति' ग्रहण इसलिये है कि 'अद्यते, अत्तव्यम्' यहां जग्धि-आदेश न हो ॥

क्त्वा-प्रत्यय के स्थान में ल्यब्-आदेश होता है । सो क्त्वा के स्थान में ल्यप् और तादि कित् क्त्वा के परे अद् धातु को जग्धि-आदेश, इन दोनों में अन्तरङ्ग होने से जग्धि-आदेश हो । फिर ल्यब्-ग्रहण किसलिये है । इस सूत्र में ल्यब्-ग्रहण के व्यर्थ होने से अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् बाधते ॥' यह परिभाषा निकली है । ज्ञापक से परिभाषा निकलती है, वह व्यर्थ को सार्थ और अन्यत्र फल देती है । अन्तरङ्ग विधियों का बाधक होके ल्यब्-आदेश हो जाता है । परिभाषा का फल 'जग्धि० ॥' इस कारिका से दिखाया है । तादि कित् के परे जग्धि-आदेश सिद्ध ही है, फिर अकस्मात् आचार्य ने ल्यब्-ग्रहण किया है । उस से 'प्रधाय । प्रस्थाय' इत्यादि उदाहरणों [में] अन्तरङ्ग क्त्वा के परे हि- और हित्-आदेश^३ अन्तरङ्ग को बाधके बहिरङ्ग ल्यप् हो जाता है ॥ १ ॥

१. अत्र कैयटः—“अयमेवाथो व्याघ्रभूतिनाप्युक्त
इत्याह—जग्धिविधिरिति ।”

३. “दधातेहिः ॥ अतिस्थितिमास्थामिति किति ॥”

(७।४।४२ ॥ ७।४।४०)

२. अ० २।पा० ४।आ० १ ॥

४. उणा०—३।१० ॥

‘जगधौ० ॥’ इस दूसरी कारिका का भी यही प्रयोजन है जो परिभाषा से निकलता है ॥ २ ॥ ३६ ॥

‘लुङ्सनोर्घस्तु’ ॥ ३७ ॥

‘अद्’ इत्यनुवर्तते । लुङ्-सनोः । ७ । २ । घस्तु । १ । १ । लुङि सनि च परतोऽद्-धातोर्घस्तु-आदेशो भवति । लृ-करणमङ्-प्रत्ययार्थम् । ‘पुषादिद्युता-द्युदितः परस्मैपदेषु’ ॥ इति क्लेः स्थानेऽङ्-आदेशो यथा स्यात् । लुङि — अघसत् । अघसताम् । अघसन् । सनि — जिघत्सति । जिघत्सतः । जिघत्सन्ति ॥

वा० — घस्तुभावेऽच्युपसङ्ख्यानम् ॥^३ १ ॥

लुङ्-सनोर्घ-धातोर्घस्तु-आदेशः सूत्रेण यदुच्यते, तत्राचि प्रत्ययेऽपि स्यात् । प्राप्तीति प्रघसः । कर्त्रर्घ्यत्राच्-प्रत्ययैः ॥ ३७ ॥

[‘लुङ्-सनोः’] लुङ् लकार में और सन्-प्रत्यय के पर अद् धातु को [‘घस्तु’] घस्तु-आदेश हो । लृ-ग्रहण इसलिये है कि लुङ् लकार में च्लि-प्रत्यय के स्थान में अङ्-आदेश हो जावे । लुङ् — अघसत् । यहां लुङ् के पर [होने से] और ‘जिघत्सति’ यहां सन् प्रत्यय के पर [होने से] घस्तु-आदेश हो जाता है । लृ की सर्वत्र इत्-संज्ञा होके लोप हो जाता है ॥

‘अस्तुभावेऽच्युपसङ्ख्यानम् ॥’ अच्-प्रत्यय के पर [रहते हुए] भी अद् धातु को घस्तु-आदेश हो जावे । प्राप्तीति प्रघसः । यहां कर्ता में अच्-प्रत्यय के पर [होने से]^४ घस्तु-आदेश होता है ॥ ३७ ॥

‘घञपोश्च’ ॥ ३८ ॥

‘अद्’ इत्यनुवर्तते । ‘घस्तु’ इति च । घञ्-अपोः । ७ । २ । च । [अ० ।] घञि प्रत्यये अप्-प्रत्यये चाद्-धातोर्घस्तु-आदेशो भवति । घञि — घासः । अपि — प्रघसः । विघसः । ‘उपसर्गेऽद्’ ॥ इति सूत्रेणाप्-प्रत्ययः । योग-विभागकरणमुत्तरार्थम्^५ । अन्यथा ‘लुङ्सन्-घञ्-अप्सु’ इति ब्रूयात् ॥ ३८ ॥

[‘घञ्-अपोः’] घञ् और अप्-प्रत्यय के पर अद् धातु को घस्तु-आदेश हो । घासः ।

१. आ० — सू० ३०२ ॥

चा० श० — “लुङ्सनज्वजप्सु घस्तुः ॥” (५।४।८७)

२. ३।१।५५ ॥

३. अ० २।पा० ४।आ० १ ॥

४. ३।१।१३४ ॥

५. आ० — सू० १३६५ ॥

चा० श० — “लुङ्सनज्वजप्सु घस्तुः ॥” (५।४।८७)

६. ३।३।५६ ॥

७. जिनेन्द्रबुद्धिस्तु — “योगविभागो वैचित्र्यार्थः ।”

८. “पूर्वसूत्रे” इति शेषः ॥

यहां घञ् के पर [होने से] और 'प्रघसः' यहां अप्-प्रत्यय के पर [होने से] अद धातु को घस्त्व-आदेश हुआ है । 'उपसर्गोऽदः' ॥' इस सूत्र से यहां अप्-प्रत्यय होता है ॥

यह सूत्र पृथक् इसलिये किया है कि आगे के सूत्र में इसी का कार्य हो, नहीं तो पूर्व सूत्र में मिला देते ॥ ३८ ॥

बहुलं छन्दसि ॥ ३९ ॥

'घञपोः' इत्यनुवर्त्तते । बहुलम् । १ । १ । छन्दसि । ७ । १ । छन्द-
सि = वैदिकप्रयोगेषु घञपोः परयोरद-धातोर्घस्त्व-आदेशो बहुलं भवति । अश्वा-
येव तिष्ठते घासमग्ने^१ । अत्र घास-शब्दो घञ्-प्रत्ययान्तः । आदः^२ । अपि—
प्रघसः । प्रादः । बहुल-ग्रहणादन्यत्रापि भवति । घस्तां नूनम्^३ । सग्धिश्च मे^४ ।

'सग्धिः' इति घस्-धातोः क्तिन्-प्रत्ययान्तः प्रयोगः ॥ ३९ ॥

['छन्दसि'] वैदिक प्रयोगों में घञ् और अप्-प्रत्यय के पर अद धातु को ['बहुलम्'] बहुल करके घस्त्व-आदेश हो । अश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने^१ । यहां घञन्त घास-शब्द में घस्त्व-आदेश है । आदः^२ । यहां नहीं हुआ । प्रघसः । प्रादः । यहां अप्-प्रत्यय के पर दो प्रयोग हुए । और सूत्र [में] बहुल-ग्रहण से अन्यत्र भी घस्त्व हो जाता है । सग्धिश्च मे^४ । यहां क्तिन्-प्रत्यय के पर अद धातु को घस्त्व-आदेश होता है और [कहीं] नहीं भी होता । यह बहुल का अर्थ ही है ॥ ३९ ॥

लिट्यन्यतरस्याम् ॥ ४० ॥

'अदो घस्त्व' इत्यनुवर्त्तते । लिटि । ७ । १ । अन्यतरस्याम् । [अ०।] लिटि
लकारे परतोऽद-धातोर्घस्त्व-आदेशो विकल्पेन भवति । जघास । जक्षतुः । जजुः ।
आद । आदतुः । आदुः ॥ ४० ॥

['लिटि'] लिट् लकार के पर अद धातु को घस्त्व-आदेश ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके हो । जघास । यहां घस्त्व-आदेश हुआ । और 'आद' यहां अद धातु को घस्त्व-आदेश न हुआ ॥ ४० ॥

१. ३।३।५६ ॥

२. अ०—१६।५५।६ ॥

३. 'अष्टा महो दिव आदो हरी इह

धुआसाहमभि योधान उत्सम् ।' (अ० १।१२१।८)

अत्र भगवद्भयानन्दः—“ 'आदः' अत्ता ।

अत्र 'कृतो बहुलम्' इति कर्त्तरि घञ् । 'बहुलं

छन्दसि ॥' [२।४।३६] इति घस्त्व-आदेशो न ॥”

अपि च वा०—१२।१०५ ॥

४. वा०—२१।४३ ॥

जिनेन्द्रबुद्धिः—“ घस्तामिति लङ् । 'बहुलं

छन्दस्यमाङ्योगेऽपि ॥' [६।४।७५] इत्य-

डागमाभावः । अथ वा लुङ्युदाहरणमेतत् । 'मन्त्रे

घसहर० ॥' [२।४।८०] इत्यादिना

च्लेर्लुक् ।”

५. वा०—१८।६ ॥

तै०—४।७।४।१ ॥

मै०—२।११।४ ॥ “सग्धितिः” इत्यपि ॥

का०—१८।६ ॥

६. आ०—सू० २६६ ॥

चा० श०—“वेभोलिटि वखा ॥” (५।४।८८)

वेञो वयिः' ॥ ४१ ॥

‘लिट्यन्यतरस्याम्’ इति सर्वमनुवर्त्तते । वेञः । ६ । १ । वयिः । १ । १ । वेञ्-धातोर्लिटि लकारे विकल्पेन वयिर्देशो भवति । वेञ्-धातोर्लिटि षड् रूपाणि भवन्ति । वय्यादेशे कृते चत्वारि, पक्षे च द्वे । उवाय । ऊयतुः । ऊयुः । ऊये । ऊयाते । ऊयिरे । ‘ग्रहिज्यावयि०’ ॥’ इति सम्प्रसारणम् । परत्वाद् यकारस्य सम्प्रसारणे प्राप्ते ‘लिटि वयो यः’ ॥’ इति प्रतिषिध्यते । तत्र यकारस्य सम्प्रसारणे प्रतिषिद्धे ‘वश्चास्यान्यतरस्यां किति’ ॥’ इति यकारस्य वकारादेशो भवति । तत्र ‘उवाय । ऊवतुः । ऊवुः । ऊवे । ऊवाते । ऊविरे’ इति रूपाणि भवन्ति । यत्र वय्यादेशो न भवति, तत्र ‘ववौ । ववतुः । ववुः । ववे । ववाते । वविरे’ इति रूपद्वयम् । एवं षड् रूपाणि सिध्यन्ति ॥ ४१ ॥

पूर्व सूत्र सब की अनुवृत्ति आती है । लिट् लकार में [‘वेञः’] वेञ् धातु को विकल्प करके [‘वयिः’] वयि-आदेश हो जावे । जिस पक्ष में वयि-आदेश होता है, वहां वेञ् धातु के चार प्रयोग और जहां नहीं होता, वहां दो, इस प्रकार लिट् लकार में वेञ् धातु के छः प्रयोग बनते हैं । ऊयतुः । ऊयाते । यहां वयि-आदेश के वकार को सम्प्रसारण हो गया है । परत्व से यकार को पाता था, उस के निषेध होने से यकार को वकार विकल्प करके हो जाता है । ऊवतुः । ऊवे । यहां वयि-आदेश के यकार को वकार हो गया है । और जिस पक्ष में वयि-आदेश नहीं होता, वहां ‘ववौ । ववे’ ये दो प्रयोग होते हैं । इस प्रकार छः होते हैं ॥ ४१ ॥

हनो वध लिङि ॥ ४२ ॥

‘आर्द्धधातुके’ इति वर्त्तते । हनः । ६ । १ । वध । १ । १ । लिङि । ७ । १ । वध-शब्दे ‘सुपां सुलुक्’ ॥’ इति सोर्लुक् । हन्-धातोर्आर्द्धधातुके लिङि वध-आदेशो भवति । वध्यात् । वध्यास्ताम् । वध्यासुः । अत्र ‘वध’ इत्यदन्त आदेशो भवति । तस्य ‘अतो लोपः’ ॥’ इति लोपश्च ॥ ४२ ॥

वध-शब्द में ‘सुपां सुलुक्’ ॥’ इस सूत्र से विभक्ति का लोप हो गया है । [‘हनः’]

१. आ०—सू० २८५ ॥

चा० श०—“वेञो लिटि वय्या ॥” (५।४।८८)

२. “वयिः” इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ॥

३. ६ । १ । १६ ॥

४. ६ । १ । ३८ ॥

५. ६ । १ । ३६ ॥

६. आ०—सू० ३०८ ॥

चा० श०—“हनो वध लिङि ॥” (५।४।८६)

७. ७ । १ । ३६ ॥

८. जिनेन्द्रबुद्धिः—“कृत पतत् । शैलीयमाचार्यस्य यत्रेह प्रकरणे व्यञ्जनान्त आदेशस्तत्रोच्चारणार्थ-मिकारं करोति । यथा जन्धिरित्यादौ । तस्मादिकारान्ताकरणादकारान्तोऽयमादेश इति विज्ञायते ।”

६. ६ । ४ । ४८ ॥

हन धातु को आर्द्धधातुक ['लुङि'] लुङ् लकार के परे ['वध'] वध-आदेश हो । वध्यात् । यहाँ वध-आदेश अकारान्त हुआ है । उस [कें अकार] का आर्द्धधातुक में लोप हो जाता है ॥ ४२ ॥

लुङि च' ॥ ४३ ॥

योगविभाग उत्तरार्थः । 'हनो वध' इत्यनुवर्तते । लुङि । ७ । १ । च । [अ० । १] हन्-धातोः 'वध' इत्ययमादेशो भवति लुङि लकारे परतः । न्यवधी-दरीश्च । अवधीत् । अवधिष्ठाम् । अवधिषुः । अत्रापि 'अतो लोपः' ॥' इत्य-कारस्य लोपो भवति ॥ ४३ ॥

इस सूत्र के अलग करने का प्रयोजन यह है कि आगे के सूत्र में इसी की अनुवृत्ति जावे, अन्यथा पूर्व सूत्र में मिला देते । हन धातु को ['लुङि'] लुङ् लकार के पर वध-आदेश हो जावे । अवधीत् । यही भी अकारान्त वध के अकार का लोप हो गया ॥ ४३ ॥

आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' ॥ ४४ ॥

'लुङि' इत्यनुवर्तते । आत्मनेपदेषु । ७ । ३ । अन्यतरस्याम् । [अ० ।] लुङ्-लकारे आत्मनेपदेषु प्रत्ययेषु परतो हन्-धातोर्वध-आदेशो विकल्पेन भवति । आवधिष्ठ । आवधिषाताम् । आवधिषत । अत्र 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' ॥' इति स्थानिवद्भावाद् 'आङो यमहनः' ॥' इत्यात्मनेपदं भवति । [वध-आदेशः] न च भवति—आहत । आहसाताम् । आहसत । अत्र 'हनः सिच्' ॥' इति सिचः कित्वादनुनासिकलोपः ॥ ४४ ॥

लुङ् लकार में ['आत्मनेपदेषु'] आत्मनेपद-संज्ञक प्रत्ययों के पर हन धातु को वध-आदेश ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके हो । आवधिष्ठ । यहाँ वध-आदेश होने के पीछे उस को स्थानिवत् मानके आत्मनेपद होता है । आहत । यहाँ वध-आदेश नहीं हुआ । यहाँ हन धातु से सिच् के कित् होने से हन धातु के नकार का लोप हो जाता है ॥ ४४ ॥

इणो गा लुङि' ॥ ४५ ॥

इणः । ६ । १ । गा । १ । १ । लुङि । ७ । १ । इण्-धातोर्लुङ्लकारे

१. आ०—सू० ३०६ ॥

चा० श०—“लुङि ॥” (५ । ४ । ६०)

२. ६ । ४ । ४८ ॥

३. आ०—सू० ३५५ ॥

चा० श०—“लुङि वा ॥” (५ । ४ । ६१)

४. १ । १ । ५५ ॥

५. १ । ३ । २८ ॥

६. १ । २ । १४ ॥

७. आ०—सू० ३४२ ॥

चा० श०—“प्लेर्माः ॥” (५ । ४ । ६३)

‘गा’ इत्यादेशो भवति । अगात् । अगाताम् । अगुः । अत्र ‘लुङ्’ इत्यनुवर्तमाने पुनर्लुङ्-ग्रहणं ‘अन्यतरस्यां’ इति निवृत्त्यर्थम् ॥

वा०—इण्वदिक इति वक्तव्यम् ॥

इहापि यथा स्यात्—अध्यगात् । अध्यगाताम् । अध्यगुः ॥^२

‘इक् [नित्यमधिपूर्वः] स्मरणे^३’ इत्यस्य धातोरिण्वत् कार्यं भवति । अर्थादिक-धातोरपि लुङि ‘गा’ इत्यादेशो भवति । तच्चाद्धधातुकाधिकारे विधीयते । अदादिगणे ‘इक् स्मरणे’-धातोर्व्याख्याने भट्टोजिदीक्षितेन ‘इक् स्मरणे—अध्येति । अधीतः । इण्वदिकः—अधियन्ति । केचित्तु “ससीतयो राघवयोरधीयन्” इत्याद्धधातुक इच्छन्ति^४’ इत्येतत् सर्वं कौमुद्यां प्रतिपादितम् । तदसत् । कुतः । आद्धधातुकाधिकारे ‘इणो गा लुङि ॥’ [इति सूत्रे] ‘इण्वदिक इति वक्तव्यम्’ इत्यस्य महाभाष्ये प्रतिपादितत्वात् । भट्टोजिदीक्षितेन तु ‘अधियन्ति’ इतीक्-धातोः प्रयोगे सार्वधातुके ‘इणो यण् ॥’ इतीण्-धातोः कार्यं कृतं महाभाष्यादतिविरुद्धम् । न जाने महाभाष्यं तेन दृष्टं न वा ॥ ४५ ॥

[‘इणः’] इण् धातु को [‘लुङि’] लुङ् लकार में [‘गा’] गा-आदेश हो । अगात् । अगाताम् । अगुः । लुङ् लकार में इण् धातु का प्रयोग नहीं होता ॥

‘लुङ् की अनुवृत्ति पूर्व से आ जाती, फिर लुङ्-ग्रहण इसलिये है कि पूर्व सूत्र से विकल्प नहीं आवे ॥

‘इण्वदिक इति वक्तव्यम् ॥’ ‘इक् स्मरणे^३’ इस धातु को भी इण्वत् अर्थात् लुङ् लकार में इण् धातु को गा-आदेश होता है, सो इक् धातु को भी हो । अध्यगात् । यहां इस वार्तिक से इक् धातु को गा-आदेश होता है । इस वार्तिक को भट्टोजिदीक्षित ने कौमुदी में अदादिगण के ‘इक् स्मरणे^३’ धातु के व्याख्यान में लिखके इक् धातु का ‘अधियन्ति’ यह प्रयोग सिद्ध किया है । इण् धातु को जो यण्-आदेश होता है^५, वह इक् धातु को सार्वधातुक में कर दिया । देखो कैसी छोकरेपन की भट्टोजिदीक्षित

१. “परस्मैपदेषु यथा स्यात्, नित्यं चात्मनेपदेषु” इत्येतदर्थं च पुनर्लुङ्-ग्रहणम् ॥

२. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

३. वा०—अदा० ३८ ॥

४. मुद्रितायां सिद्धान्तकौमुद्यान्तु—“इक् स्मरणे । अयमप्यधिपूर्वः । अधीगर्थदेशाम् ॥” [२।३।५२] इति लिङ्गात् । अन्यथा हि ‘इगर्थ०’ इत्येव ब्रूयात् । इण्वदिक इति वक्तव्यम् । अधियन्ति । अध्यगात् । केचित्तु आर्धधातुकाधिकारोक्तस्यै-

वातिदेशमाहुः । तन्मते-यण् न । तथा च मट्टिः—“ससीतयो राघवयोरधीयन्” इति ५

अत्र च बालमनोरमा—“इण्वदिक इति ।

षष्ठ्यन्ताद्धतिः । इणो यत् कार्यं ‘इणो यण् ॥’

[६।४।८१] इत्यादि, तदिको भवतीत्यर्थः ।

‘अध्येति, अधीतः’ इति सिद्धवत्कृत्याह अधि-

यन्तीति । अन्तादेशो इयङ्पवादः ‘इणो यण् ॥’

[६।४।८१] इति यण् इति भावः । ...”

५. ६।४।८१ ॥

की बुद्धि है कि महाभाष्य को भी नहीं देखा। महाभाष्यकार ने आर्द्धधातुकाधिकार में इस वार्तिक को पड़ा है। सो ये सार्वधातुक में भी लगाते हैं। ऐसे २ लो[ग] नवीन व्याकरण के पुस्तक बनावें, क्या कहना है ॥ ४५ ॥

णौ गमिरबोधने' ॥ ४६ ॥

‘इणः’ इत्यनुवर्तते । णौ । ७ । १ । गमिः । १ । १ । अबोधने । ७ ।

१ । अबोधना[र्थस्य = अ]ज्ञानार्थस्येण-धातोर्णौ परतो गमिरादेशो भवति । गमयति । गमयतः । गमयन्ति ॥

‘णौ’ इति किम् । एति । इतः ॥

‘अबोधने’ इति किम् । प्रत्याययति । अत्रोभयत्र गमिरादेशो [न] भवति ॥

‘इणवदिकः’ इत्यनुवर्तते । तेन ‘अधिगमयति । अधिगमयतः । अधिगमयन्ति’ [इति] अत्रापि गमिरादेशः सिद्धो भवति ॥ ४६ ॥

[‘अबोधने’] अज्ञानार्थ इण धातु को [‘णौ’] णिच् के पर [‘गमिः’] गमि-आदेश हो । गमयति । यहां गमि-आदेश होने से इण धातु का प्रयोग नहीं होता ॥

‘णौ’ ग्रहण इसलिये है कि ‘एति’ यहां न हो ॥

और अबोधन-ग्रहण इसलिये है कि ‘प्रत्याययति’ यहां भी इण धातु को गमि-आदेश न हो ॥

‘इक् धातु को इणवत् कार्य हो’ इस वार्तिक की अनुवृत्ति यहां भी आती है । उस से ‘अधिगमयति’ यहां इक् धातु को भी गमि-आदेश होता है ॥ ४६ ॥

सनि च' ॥ ४७ ॥

‘गमिरबोधने’ इत्यनुवर्तते । योगविभाग उत्तरार्थः । ‘इङश्च’ ॥’ इति सूत्रे ‘सनि’ इत्येतस्यैवानुवृत्तिः [यथा] स्यात् । अबोधनार्थस्येण-धातोः सनि परतो गमिरादेशो भवति । जिगमिषति । जिगमिषतः । जिगमिषन्ति ॥

‘अबोधने’ इति किम् । शब्दान् प्रतीषिषति । अत्र गमिरादेशो न स्यात् ॥

‘इणवदिकः’ इत्यत्राप्यनुवर्तते । तेन ‘अधिजिगमिषति’ [इति] अत्रापि सिद्ध भवति ॥ ४७ ॥

यह सूत्र अलग इसलिये किया है कि आगे के सूत्र में सन् की ही अनुवृत्ति जावे । अज्ञानार्थ इण धातु को [‘सनि’] सन् के पर गमि-आदेश हो । जिगमिषति । यहां गमि-आदेश हुआ है ॥

१. आ०—स० ५०१ ॥

च० श०—“सनि ॥” (५।४।६४)

चा० श०—“णौ गमबोधे ॥” (५।४।६३) ३. २।४।४८ ॥

२. आ०—स० ५११ ॥

अबोधन-ग्रहण इसलिये है, कि 'शब्दान् प्रतीषिषति' यहां सन् के पर गमि-आदेश न हो ॥

'इएवदिकः ॥' इस वार्तिक की अनुवृत्ति यहां भी आती है। उस से 'अधिजिगमिषति' यहां इक् धातु को भी गमि-आदेश होके यह प्रयोग सिद्ध होता है ॥ ४७ ॥

इङश्च' ॥ ४८ ॥

'सनि' इत्यनुवर्त्तते । इङः । ६ । १ । च । [अ० ।] इङ्-धातोः सनि परतो गमिरादेशो भवति । अधिजिगांसते । अधिजिगांसेते । अधिजिगांसन्ते । अत्र 'अज्झनगमां सनि' ॥' इति दीर्घः ॥ ४८ ॥

['इङः'] इङ् धातु को सन् के पर गमि-आदेश हो । अधिजिगांसते । यहां सन् के पर गम धातु को षष्ठाध्याय के सूत्र^१ [से] दीर्घ होता है ॥ ४८ ॥

गाङ् लिटि' ॥ ४९ ॥

'इङः' इत्यनुवर्त्तते । गाङ् । १ । १ । लिटि । ७ । १ । लिट्लकारे परत इङ्-धातोर्गाङ्-आदेशो भवति । अधिजगे । अधिजगाते । अधिजगिरे । गाङ्-आदेशोऽनुबन्धकरणं विशेषणार्थम् । 'गाङ्कुटादिभ्यः०' ॥' इति निरनुबन्धक-ग्रहण इणादेशस्यापि ग्रहणं स्यात् ॥ ४९ ॥

['लिटि'] लिट् लकार के पर इङ् धातु को ['गाङ्'] गाङ्-आदेश हो । अधिजगे । यहां लिट् के कित् होने से गाङ्-आदेश के आकार का लोप हुआ है^२ ॥

गाङ्-आदेश में ङकार अनुबन्ध इसलिये है कि 'गाङ्कुटादिभ्यः०' ॥' इस सूत्र में इङ् धातु को जो गा-आदेश होता है^३, उस का ग्रहण न हो ॥ ४९ ॥

विभाषा लुङ्लुङोः' ॥ ५० ॥

'इङो गाङ्' इत्यनुवर्त्तते । विभाषा [अ० ।] लुङ्-लुङोः । ७ । २ । लुङ्-लुङोः परयोरिङ्-धातोर्गाङ्-आदेशो विकल्पेन भवति । यत्र गाङ्-आदेशो भवति, तत्र 'गाङ्कुटादिभ्यः०' ॥' इति क्त्वादीत्वं भवति । लुङ्—अध्यगीष्ट । अध्य-गीषाताम् । अध्यगीषत । अत्र गाङ्-आदेशस्य 'घुमास्थागा०' ॥' इतीत्वं

१. आ०—स० ५१२ ॥

चा० श०—'इङः ॥' (५।४।६५)

२. ६।४।२६ ॥

३. आ०—स० ३४३ ॥

चा० श०—'गाङ् लिटि ॥' (५।४।६६)

४. १।२।१ ॥

५. "आतो लोप इति च ॥" (६।४।६४)

६. २।४।४५ ॥

७. आ०—स० ३४४ ॥

चा० श०—'वा लुङ्लुङोः ॥' (५।४।६७)

८. ६।४।६६ ॥

भवति । निषेधपक्षे—अध्यैष्ट । अध्यैषाताम् । अध्यैषत् । लुङि—अध्यगीष्यत ।
अध्यगीष्येताम् । अध्यगीष्यन्त । अत्रापि पूर्ववदीत्वम् । निषेधपक्षे—अध्यै-
ष्यत । इत्यादि ॥ ५० ॥

['लुङ्-लुङोः'] लुङ् और लृङ् लकार के पर इङ् धातु को ['विभाषा'] विकल्प-
करके गाङ्-आदेश हो । जिस पक्ष में गाङ्-आदेश होता है, वहां डित् होने से गाङ् के आकार
को ईकार हो-जाता है । लुङ्—अध्यगीष्ट । यहां गाङ् के आकार को ईकार हो गया ।
अध्यैष्ट । विकल्प होने से यहां गाङ् नहीं हुआ । लृङि—अध्यगीष्यत । यहां भी पूर्व के
तुल्य ईकारादेश हुआ है । अध्यैष्यत । और यहां गाङ्-आदेश पक्ष में नहीं हुआ ॥ ५० ॥

णौ च संश्चङोः^३ ॥ ५१ ॥

'इङो गाङ् विभाषा' इत्यनुवर्तते । णौ । ७ । १ । च । [अ० ।]
संश्चङोः । ७ । २ । सन् च चङ् च, तयोः । संश्चङोः परयोर्यो णिच्, तस्मिन्
परत इङ्-धातोर्विकल्पेन गाङ्-आदेशो भवति । अधिजिगापयिषति । अत्रेङ्-
धातोर्णिच्, तदन्तात् सन्, तत्रेङो गाङ्-आदेशः । यस्मिन् पक्षे गाङ् न भवति
—अध्यापिपयिषति । चङ्परे णौ—अध्यजीगपत् । अत्रेङ्-धातोर्णिच्, तद-
न्ताच्छ्लेः स्थाने चङ्^४ । तत्र गाङ्-आदेशो कृतेऽभ्यासस्य सन्वदादीनि कार्याणि ।
यत्र गाङ् न भवति, 'अध्यापिपत्' इत्येवं प्रयोगः सिद्धो भवति ॥ ५१ ॥

['संश्चङोः'] सन् और चङ् हैं पर जिस से ऐसा ['णौ'] णि परे हो, तो इङ् धातु
को विकल्प करके गाङ्-आदेश हो । सन्पर णि—अधिजिगापयिषति । यहां इङ् धातु से
णिच् और णिजन्त से सन् परे गाङ्-आदेश होके यह प्रयोग बनता है । विकल्प के होने से
'अध्यापिपयिषति' यहां गाङ्-आदेश नहीं हुआ । चङ्पर णि—अध्यजीगपत् । यहां
णिजन्त इङ् धातु से चङ् के पर गाङ्-आदेश हुआ है । और 'अध्यापिपत्' यहां णिजन्त से
चङ् के पर गाङ् नहीं हुआ ॥ ५१ ॥

अस्तेर्भूः^५ ॥ ५२ ॥

'आर्द्धधातुके' इत्यनुवर्तते । अस्तेः । ६ । १ । भूः । १ । १ । आर्द्ध-
धातुकविषयेऽस-धातोः 'भू' इत्यादेशो वेद्यः । बभूव । भविता । भवितुम् ।
भवितव्यम् । 'एधामास' अत्र भूरादेशः कस्मान्न भवति । 'कृन् चानुप्रयुज्यते
लिटि' ॥' इति सूत्रे प्रत्याहारग्रहणेनास्तेरपि ग्रहणात् ॥ ५२ ॥

१. ६।४।६६॥

३. ३।१।४८॥

२. आ०—सू० ४६५॥

४. आ०—सू० ३५३॥

चा० रा०—'यो संश्चङोः ॥' (५।४।६८) ५. ३।१।४०॥

। आर्द्धधातुक विषय में ['आस्तेः'] अस् धातु को ['भूः'] भू-आदेश हो । बभूव । भविता इत्यादि प्रयोगों में अस् का भू होता है । अर्थात् अस् का प्रयोग नहीं होता । एधामास । यहां भू-आदेश इसलिये नहीं होता कि कृन्-प्रत्याहार के अनुप्रयोग में अस् का भी अनुप्रयोग होता है ॥ ५२ ॥

ब्रुवो वचिः ॥ ५३ ॥

ब्रुवः । ६ । १ । वचिः । १ । १ । आर्द्धधातुकविषये ब्रू-धातोर्वचिरोदेशो भवति । वक्ता । वक्तुम् । वक्तव्यम् । उवाच । ऊचे । स्थानिवद्भावेनात्रात्मनेपदं भवति ॥ ५३ ॥

आर्द्धधातुकविषय में ['ब्रुवः'] ब्रू धातु को ['वचिः'] वचि-आदेश हो । वक्ता । वक्तुम् इत्यादि आर्द्धधातुक में ब्रू का प्रयोग नहीं होता । ऊचे । यहां ब्रू का स्थानिवत् होके आत्मनेपद होता है ॥ ५३ ॥

चक्षिङः ख्याञ् ॥ ५४ ॥

चक्षिङः । ६ । १ । ख्याञ् । १ । १ । आर्द्धधातुकविषये चक्षिङ्-धातोः ख्याञ्-आदेशो भवति । आख्याता । आख्यातुम् । आख्यातव्यम् । अत्रार्द्धधातुके चक्षिङ्-धातोः प्रयोगो न भवति । अयं चक्षिङ्-धातोरादेशः कशादिः ख्यादिश्च भवति ॥

वा०—असिद्धे शस्य यवचनं विभाषा ॥ १ ॥

असिद्धप्रकरणे ख्याञ्-आदेशः कर्त्तव्यः । तत्रैव शकारस्य विकल्पेन यकारः कर्त्तव्यः । यकारपक्षे ख्याञ्-आदेशो भविष्यति । शकारपक्षे खकारस्य चत्वेन कशाञ्-आदेशो भविष्यति । ख्याता । कशाता । 'असिद्धे' इति 'अख्यास्त । अख्यासीत्' अत्र 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' ॥' इत्यासिद्धत्वादङ् न भवति ॥ १ ॥

वर्जने प्रतिषेधः ॥ २ ॥

अवसञ्चक्ष्याः । परिसञ्चक्ष्याः । वर्जनीया इत्यर्थः ॥ २ ॥

असनयोश्च ॥ ३ ॥

१. आ०—सू० ३३४ ॥

२. "वचिः" इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ॥

३. आ०—सू० ३१२ ॥

४. महामाष्ये "अथ वा खशादिर्भविष्यति । केने-

दानीं कशादिर्भविष्यति । चत्वेन [८।४।५५] ।

अथ खयादिः कथम् ।" इत्युपन्यस्य "असिद्धे

शस्य यवचनं विभाषा" इत्युक्तम् ॥

जयादित्यः "खशादिरेष्ययमादेश इष्यते ॥" इति नवीनं वार्तिकं पठति ॥

५. आ० २ । पा० ४ । आ० २ ॥

६. ८ । ४ । ५५ ॥

७. ३ । १ । ५२ ॥

असुन्-प्रत्ययेऽन-प्रत्यये च परतश्चक्षिङ्-धातोः ख्यान्-कशाब्-आदेशौ न भवतः । नृचक्षो रक्षः । विचक्षणः पण्डितः ॥ ३ ॥

‘बहुलं तर्हि ॥ ४ ॥

किमिदं तर्णीति । सञ्ज्ञाछन्दसोर्ग्रहणम् ॥^३

सञ्ज्ञायां छन्दसि = वेदे च ‘अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति’ ॥’ इत्यारभ्य सर्वस्याद्ध-धातुकप्रकरणस्य कार्याणि बहुलं भवन्ति । तद्यथा—अन्नम् । अत्र क्त-प्रत्ययेऽद-धातोर्जग्धिरादेशो न भवति । वधकम् । अत्र एवुल्-प्रत्ययेऽप्राप्तो हन-धातोर्वध-आदेशो भवति । गात्रं पश्य । ‘सर्वधातुभ्यः ष्टन्’ ॥’ इत्यौणादिके घृनि प्रत्यय इण्-धातोः ‘गा’ इत्यदेशो भवति^४ । विचक्षणः । अत्र चक्षिङ्-धातोः ख्यान्-कशाब् न भवतः । अजिरे तिष्ठति । अत्र ‘अजेर्व्यघञपोः’ ॥’ इत्यज-धातोर्वी न भवति ॥ [४ ॥] ५४ ॥

आद्धधातुकविषयमें [‘चक्षिङ्’] चक्षिङ् धातु को [‘ख्याञ्’] ख्यान्-आदेश हो। आख्याता इत्यादि आद्धधातुक प्रयोगों में चक्षिङ् धातु का प्रयोग नहीं होता, किन्तु आदेश का ही होता है। यह चक्षिङ् धातु के स्थान में जो आदेश होता है, वह ख्यादि और कशादि दो प्रकार का होता है। इस के लिये आगे वार्तिक लिखते हैं—

‘असिद्धे शस्य यवचनं विभाषा ॥’ असिद्ध अर्थात् अष्टमाध्याय के अन्त के तीन पाद में चक्षिङ् धातु को ख्यान्-आदेश करके शकार को विकल्प करके यकार आदेश करना चाहिये। सो जिस पद में शकार को यकार होगा, वहां ख्यान्-आदेश का ‘ख्याता’ ऐसा प्रयोग बनेगा। और जिस पद में शकार रहेगा, वहां खकार को ककार होके ‘कशाता’ इस प्रकार का प्रयोग बनेगा। इस वार्तिक में असिद्ध-ग्रहण इसलिये है कि ‘अख्यासीत् । अख्यास्त’ यहां च्लि के स्थान में तृतीयाध्याय के सूत्र से अङ्-आदेश पाता है, सो न हो ॥ १ ॥

१. छान्दसोऽयं प्रयोगः । भाषायां तु रक्षोविशेषण-

३. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

‘खेन नपुंसकत्वेन दीर्घानुपपत्तेः’ नृचक्षोरक्षः’ इति ॥

४. २ । ४ । ३६ ॥

अथर्ववेदे (८ । ३ । १०)—

५. उणा०— ४ । १५६ ॥

“नृचक्षो रक्षः परि पश्य विदुः

६. “नमेरा च ॥” (उणा० ४ । १६६)

तस्य त्रीणि प्रति शृणीष्यन् ॥”

७. २ । ४ । ५६ ॥

२. जयादित्यस्तु “बहुलं सञ्ज्ञाछन्दसोरिति वक्तव्यम् ॥” इति पठति ॥

अयमौष्णादिकः किरच्-प्रत्ययान्तो निपातितः ॥

(उणा० १ । ५३) अजिरं = अङ्गनम् ॥

‘वर्जने प्रतिषेधः ॥’ वर्जनं अर्थे में वर्तमान जो चक्षिङ् धातु, उस को ख्यान्-कशान्-आदेश न हों। अवसञ्चयः। ‘वर्जन करने चाहिये’ यहां ख्यान् कशान् नहीं हुए ॥ २ ॥

‘असनयोश्च ॥’ असुन्-और अन-प्रत्यय के पर चक्षिङ् धातु को ख्यान्-कशान्-आदेश न हों। नृचक्षरक्षः। यहां असुन् के पर, और ‘विचक्षणाः’ यहां अन-प्रत्यय के पर उक्त आदेश नहीं हुए ॥ ३ ॥

‘बहुलं तणि ॥’ संज्ञा और छन्द अर्थात् वैदिक प्रयोगों में इस आर्द्धधातुक प्रकरण के सब कार्य बहुल करके हैं। अर्थात् सब प्रकरण के लिये यह वार्तिक है। अन्नम्। यहां तादि क्ति के पर अद् धातु को जग्धि-आदेश नहीं हुआ। वधकम्। यहां श्वुल्-प्रत्यय के पर हन् धातु को वध नहीं पाता था, सो हो गया। गात्रं पश्य। यहां उणादि घृन्-प्रत्यय के पर इण् धातु को गा-आदेश नहीं पाता था, सो हो गया। विचक्षणाः। यहां चक्षिङ् धातु को ख्यान्, कशान् नहीं हुए। और ‘अजिरे तिष्ठति’ यहां अज धातु को वी-आदेश पाता था, सो नहीं हुआ ॥ ४ ॥

वा लिटि ॥ ५५ ॥

प्राप्तविभाषेयम्। पूर्वसूत्रेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते। वा १ [अ०।] लिटि १-७। १। ‘चक्षिङ् ख्यान्’ इति सर्वमनुवर्तते। चक्षिङ्-धातोः ख्यान्-कशान्भावुकरीत्या विकल्पेन भवतः। तेन लिट् लकारे पञ्च रूपाणि भवन्ति। ख्यान्—चख्यौ। चख्ये। चख्याते। कशान्—चकशौ। चकशतुः। चकशे। चकशाते। इति ख्यान्-कशान्-आदेशो चत्वारि रूपाणि। यस्मिन् पक्षे न भवतः—चचक्षे। चचक्षाते। एवं विकल्पकरणात् पञ्च प्रयोगा भवन्ति ॥ ५५ ॥

इस सूत्र में प्राप्तविभाषा है। पूर्व सूत्र से ख्यान्-कशान्-आदेश नित्य प्राप्त हैं। उन का विकल्प किया है। उस से लिट् लकार में चक्षिङ् धातु के पांच प्रयोग बनते हैं। [‘लिटि’] लिट् लकार के पर चक्षिङ् धातु को ख्यान्-कशान्-आदेश [‘वा’] विकल्प करके हैं। ख्यान्—चख्यौ। चख्ये। यहां उभयपद के होने से ख्यान्-आदेश के दो प्रयोग। चकशौ। चकशे। यहां कशान्-आदेश के दो प्रयोग होते हैं। और जिस पक्ष में ख्यान् कशान् नहीं होते, वहां ‘चचक्षे’ एक प्रयोग होता है। इस प्रकार इस धातु के लिट् लकार में पांच प्रयोग होते हैं ॥ ५५ ॥

अजेर्व्यघञपोः ॥ ५६ ॥

‘वा’ इत्यनुवर्तते। अजेः। ६। १। वी। १। १। अघञपोः। ७। २। ‘अज गतिक्षेपणयोः’ इत्यस्यार्द्धधातुकसामान्ये विकल्पेन ‘वी’ इत्ययमादेशो भवति, घञपोः परयोर्न। प्राजिता। प्रवेता। प्राजितुम्। प्रवेतुम्। प्राजितव्यम्।

१. आ०—सू० ३१३ ॥

३. आ०—स्वा० २४८ ॥

२. आ०—सू० २५५ ॥

प्रवेतव्यम् । अस्मिन् सूत्रे महाभाष्यकारेण सूतवैयाकरणयोः संवादेन 'प्राजिता, प्रवेता' इति रूपद्वयेन वलादावार्द्धधातुके विकल्पः प्रतिपादितः, तेनैतत् साधितं—विकल्पमनुवर्तते । इति वलादावार्द्धधातुके विकल्पो दर्शितः । तेनेह न भवति—प्रवायकः । प्रवयणम् ॥

वा०—घञपोः प्रतिषेधे क्यप् उपसङ्ख्यानम् ॥^२

क्यप्-प्रत्ययेऽप्यज-धातोः 'वी' इत्यादेशो न भवति । समजनं समञ्या ॥

अत्र जयादित्यादिभिर्विकल्पानुवृत्तिर्नैव बुद्धा, किन्तु विकल्पार्थं 'वलादावार्द्ध-धातुके विकल्प इष्यते' इति स्वकीयकल्पना कृता, सा प्रणाय्याऽस्ति ॥ ५६ ॥

['अजेः'] अज धातु को आर्द्धधातुक विषय में ['वी'] वी-आदेश विकल्प करके हो [किन्तु 'अघञपोः' घञ्- और अप्- प्रत्यय के पर होते हुए न हो ।] प्राजिता । प्रवेता । यहां विकल्प के होने से दो प्रयोग होते हैं । इस सूत्र में महाभाष्यकार ने सूत और वैयाकरण के संवाद में वलादि आर्द्धधातुक के दो प्रयोग दिखाए हैं । उस से यह सिद्ध किया है कि इस सूत्र में विकल्प की अनुवृत्ति अवश्य आती है । वलादि आर्द्धधातुक के उदाहरण देने से 'प्रवायकः' यहां अजादि में विकल्प नहीं हुआ । जयादित्य पंडित ने यहां विकल्प की अनुवृत्ति नहीं जानके वलादि आर्द्धधातुक में विकल्प के लिये नवीन वार्तिक की कल्पना की है । वह महाभाष्य से विरुद्ध होने से माननीय नहीं हो सकती ॥ ५६ ॥

वा यौ^३ ॥ ५७ ॥

वा । १ । १ । यौ । ७ । १ । 'अजेः' इत्यनुवर्तते । यौ = औणादिके युचि प्रत्यये परतोऽज-धातोः 'वा' इत्यादेशो भवति । वायुः । अत्र बाहुलकाद् 'युचोऽन्ताको' ॥ इत्यनदेशाभावे वायुः इति रूपं सिद्धयति । इदमेव व्याख्या-नमेस्य सूत्रस्य महाभाष्येऽस्ति । जयादिनाम्नैव प्रत्ययः कृतः^४—यौ ल्युटि

१. अथ सूतवैयाकरणयोः संवादः—“एवं हि करिच-
द् वैयाकरण आह—कोऽस्य रथस्य प्रवेतेति ॥

“सूत आह—अहमायुष्मन्नस्य रथस्य प्राजितेति ॥

“वैयाकरण आह—अपशब्द इति ॥

“सूत आह—प्राप्तिश्चो देवानांप्रियः, न त्विष्टिश्च
इत्यत एतद् रूपमिति ॥ [वाध्यामह इति ॥

“वैयाकरण आह—अहो नु खल्वनेन दुरतेन

“सूत आह—न खलु वेभः सूतः, सुवतेरेव
सूतः । यदि सुवतेः कुप्ता प्रयोक्तव्या, दुःसूतेनेति
वक्तव्यम् ॥”

२. अ० ३ । पा० ४ । आ० १ ॥

३. आ०—सू० १४७३ ॥

४. ७ । १ । १ ॥

५. महाभाष्ये—“न तर्हीदानीमिदं वक्तव्यम् 'वा
यौ' इति । वक्तव्यं च । किं प्रयोजनम् । नेयं
विभाषा । किं तर्हि । आदेशो विधीयते । 'वा'
इत्ययमादेशो भवत्यजेयौ परतः । वायुरिति ॥”

६. जयादित्यः—“पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते ।
यु इति ल्युटो ग्रहणम् । यौ परभूते अजेवां 'वी' इत्य-
यमादेशो भवति । प्रवययो दृश्यः । प्राजनो दृश्यः ॥”

प्रत्ययेऽज-धातोर्विकल्पेन 'वी' इत्यादेशो भवति । तत्र रूपद्वयं साधितम् । तद्विदं
पूर्वसूत्रे विकल्पानुवर्तनेनैव सिद्धं, पुनर्महाभाष्यविरुद्धत्वाज्जयादित्यस्य व्याख्यान-
मत्यन्तमसङ्गतम् ॥ ५७ ॥

[इत्याद्धधातुकाधिकारप्रकरणम्]

['यौ'] औणादिक युच्-प्रत्यय के पर अज धातु को ['वा'] वा-आदेश हो । वायुः ।
यहां उणादि में बहुत करके कायों के होने से यु के स्थान में अन-आदेश नहीं होता । इस सूत्र
का ऐसा ही अर्थ महाभाष्य में किया है । और जयादित्य पंडित ने ऐसा अर्थ किया है कि स्युद्-
प्रत्यय के पर अज धातु को वी-आदेश विकल्प करके हो । सो पूर्व सूत्र में विकल्प की अनुवृत्ति
से दो प्रयोग बन जावेंगे । और महाभाष्य से अत्यन्त विरुद्ध है, इससे उन का व्याख्यान शुद्ध
नहीं ॥ ५७ ॥

[यह आद्धधातुक का अधिकार समाप्त हुआ]

[अथ लुक्प्रकरणम्]

एयच्चत्रियार्षजितो यूनि लुगणिजोः ॥ ५८ ॥

अत आरभ्य पादपर्यन्तं लुक्प्रकरणमारभ्यते । एयच्चत्रियार्षजितः । ५ ।
१ । यूनि । ७ । १ । लुक् । १ । १ । अण्-इवोः । ६ । २ । एयश्च चत्रि-
यश्च आर्षश्च जितश्च । एषां समाहारः, तत्रैकवचनम् । एय-प्रत्ययान्तात्, चत्रि-
यवाचिगोत्रप्रत्ययान्तात्, गोत्रप्रत्ययान्ताद्वाषिवाचिनः, व् इत् यस्य तदन्ताद्
गोत्रप्रत्ययान्ताच्च प्रातिपदिकाद् युवापत्ये विहितयोरणिवोः प्रत्ययोर्लुग् भवति ।
एय—'कुर्वादिभ्यो एयः' ॥' कुरोरपत्यं कौरव्यः पिता । तस्माद् युवापत्य
इव् । तस्य लुक् । कौरव्यः पिता, कौरव्यः पुत्रः । चत्रिय—नकुलस्य गोत्रा-
पत्येऽण्, तदन्ताद् युवापत्ये इव् । तस्य लुक् । नाकुलः पिता, नाकुलः पुत्रः ।
आर्ष—वासिष्ठस्य गोत्रापत्येऽण् । ततो युवापत्य इव् । तस्य लुक् । वासिष्ठः पिता,
वासिष्ठः पुत्रः । जित्—'तिकादिभ्यः फिज्' ॥' तिकस्यापत्यं तैकायनिः । ततो
युवापत्येऽण् । तस्य लुक् । तैकायनिः पिता, तैकायनिः पुत्रः ॥

'एयादिभ्यः' इति किम् । शिवस्यापत्यं शैवः । तस्य युवापत्यं शैविः । अ-
त्रेव-प्रत्ययस्य लुक् न भवति ॥

१. चा० श०—“सिदार्षण्यादणिजोः ॥”

(२ । ४ । १२३)

२. ४ । १ । १५१ ॥

३. ४ । १ । १५४ ॥

‘यूनि’ इति किम् । वामरथस्यापत्यं वामरथ्यः । कुर्वादित्वाण्यः । वामर-
थ्यस्य छात्रा वामरथा इति शैषिकोऽण् । तस्य लुङ् न स्यात् ॥

‘अणिबोः’ इति किम् । दाक्षेरपत्यं दाक्षायणः । अत्र युवापत्यफको लुङ्
न भवेत् ॥

वा०—अब्राह्मणगोत्रमात्राद्युवप्रत्ययस्योपसङ्ख्यानम् ॥^२

क्षत्रियादिगोत्रमात्राद् युवापत्ये यः प्रत्ययः, तस्य लुग् भवति । बौधिः पिता,
बौधिः पुत्रः । औदुम्बरिः पिता, औदुम्बरिः पुत्रः । जाबालिः पिता, जाबालिः
पुत्रः । जाबालो नाम वेश्यापुत्रोऽभूत्^३ । स चाब्राह्मणः, तस्मादिब् । तदन्तात्
फको लुक् । भारिडजडिधः पिता, भारिडजडिधः पुत्रः । कार्णखरकिः पिता, कार्ण-
खरकिः पुत्रः^४ । अत्र सर्वत्रेवन्ताद् युवापत्ये विहितस्य फको लुग् भवति ॥ ५८ ॥

यहां से लेंके इस पाद भर में लुक् का प्रकरण चलता है । [‘य-क्षत्रिय-आर्ष-जितः’]
य-प्रत्ययान्त, क्षत्रियवाची, ऋषिवाची, ज् जिन का इत्-सञ्ज्ञक होके लोप हो जाता है इस
प्रकार [के] प्रत्यय जिन के अन्त में हों, गोत्रवाची इन प्रातिपदिकों से पर [‘यूनि’]
युवा अर्थ में जो [‘अण्-इजोः’] अण्-और इज्-प्रत्यय, उन का [‘लुक्’] लुक् हो ।
य-कौरव्यः पिता । कौरव्यः पुत्रः । यहां कुरु-शब्द से गोत्र में य-और ययान्त से
युवा में इज्-प्रत्यय का लुक् । क्षत्रिय—नाकुलः पिता पुत्रो वा । यहां नकुल-शब्द से गोत्र में
अण् और अण्-प्रत्ययान्त से युवा में इज् का लुक् । आर्ष—वासिष्ठः पिता पुत्रो वा ।
यहां ऋषिवाची वसिष्ठ-शब्द से गोत्र में अण् और युवा में इज् का लुक् । जित—तैकायनिः
पिता पुत्रो वा । और यहां तिक-शब्द से गोत्र में फिज् [तथा] फिजन्त से युवा में अण्-
प्रत्यय का लुक् हो जाता है ॥

य-आदि का ग्रहण इसलिये है कि ‘शैवः पिता । शैविः पुत्रः’ यहां युवप्रत्यय का
लुक् न हो ॥

‘यूनि’ ग्रहण इसलिये है कि ‘वामरथ्यस्य छात्रा वामरथाः’ यहां शैषिक अण् का
लुक् न हो ॥

और अण्-इज्-ग्रहण इसलिये है कि ‘दाक्षिः पिता । दाक्षायणः पुत्रः’ यहां युवा में
फक्-प्रत्यय का लुक् न हो ॥

‘अब्राह्मणगोत्रमात्राद्युवप्रत्ययस्योपसङ्ख्यानम् ॥’ ब्राह्मण को छोड़के अन्य मनु-

१. वा० श०—“अब्राह्मणात् ॥” (२।४।१२०)

न्वहमस्मीति ॥

२. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

सा हैनमुवान्—... बह्वं चरन्ती परिचारिणी

३. छान्दोग्योपनिषदि (४।४।१, २)—“सत्य-
कामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाम्बक्ते

श्रीवने त्वामलभे । साऽहमेतन्न वेद यज्ञोन्न-
स्त्वमसि ।...”

—ब्रह्मचर्यं भवति ! निवत्स्यामि । किञ्चोत्रो

४. अत्र कैयटः—“भारिडजड्कार्णखरकौ वेश्यौ ।”

स्य मात्र गोत्रवाचियों से पर युवापत्य में विहित प्रत्यय का लुक् हो । जाबालिः पिता पुत्रो वा । जाबाल वेश्या का पुत्र था । वह राजर्षि अर्थात् क्षत्रिय ऋषियों में था, किन्तु ब्राह्मण नहीं । उस से गोत्र में इज्-प्रत्यय और इजन्त से युवा में फक्-प्रत्यय का लुक् हो जाता है ॥५८॥

पैलादिभ्यश्च ॥ ५६ ॥

‘यूनि लुग्’ इत्यनुवर्तते । पैलादिभ्यः । ५ । ३ । च । [अ० ।] गोत्र-वाचिभ्यः पैलादिभ्यो गणपठितेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यूनि = युवापत्ये विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् बोध्यः । ‘पीलाया वा’ ॥’ इति सूत्रेण गोत्रेऽण् । तदन्ताद् ‘अणो द्व्यचः’ ॥’ इति युवापत्ये फिच्, तस्य लुक् । पैलः पिता पुत्रो वा । अन्ये पैलादयः केचिदिजन्ताः केचित् फिजन्ताश्च । तत्रेवन्तेभ्यः फको लुक्, फिजन्तेभ्यश्चाणः ॥

अथ पैलादिगणः—[१] पैल [२] शालङ्कि [३] सात्यकि [४] सात्यकामि [५] राहवि [६] रावणि [७] देवि [८] औदञ्चि [९] औदव्रजि [१०] औदमेधि [११] औदमज्जि [१२] औदमृज्जि [१३] औदवुद्धि [१४] देवस्थानि [१५] पैङ्गलौदायनि [१६] पैङ्गलायनि [१७] राणायनि [१८] राहञ्चति

१. चा० श०—“पैलादिभ्यः ॥” (२।४।१२१)

२. ४।१।१२८ ॥

३. ४।१।१५६ ॥

४. चन्द्र-बोटलिङ्गौ—सात्यकामि ॥

गणरत्ने (३।१६६)—“सत्ये कामेऽस्य = सत्यकामः । अत एव निपातनान्मुक् । सत्यमिति निपातो वा शपथपर्यायः ।”

५. चन्द्र-जयादित्यौ ५, ६ शब्दौ न पठतः ॥

६. चन्द्र-बोटलिङ्गौ न पठतः ॥

७. काशिकायां नास्ति ॥

भ्यासे—“औदञ्चि-शब्दो बाह्यादित्वादिवन्तः । ... उदञ्चतीति ‘ऋत्विग्’ ॥” [३।२।५६] इत्यादिना सूत्रेण किन् । उदचोऽपत्यम् = औदञ्चिः ।”

८. चन्द्र-जयादित्यौ औदमज्जि-शब्दं “औदव्रजि” इत्यतः पूर्वं पठतः ॥

९. चन्द्र-जयादित्यौ न पठतः ॥

गणरत्ने (३।१६६)—“उदके भृञ्जतीति =

उदभृञ्जः । तस्यापत्यम् ॥”

[पठति ॥

१०. चन्द्रोऽत्र—औदशुद्धि ॥ बोटलिकस्त्वेतं न

११. चान्द्रवृत्तौ पाठान्तरम्—औदस्थानि ॥

१२. चान्द्रवृत्तौ—पैङ्गलौदायनि ॥

काशिकायां नास्ति ॥

गणरत्ने (३।१६६)—“पैङ्गलौदायनस्यापत्यं = पैङ्गलौदायनिः । शाकटायनस्तु ‘पैङ्गलौदायनिः’ इत्याह ।”

१३. चान्द्रवृत्तौ नास्ति ॥

[मन्ते ॥

बोटलिङ्गश्चैतं “पैङ्गलौदायनि” इत्यस्य पाठान्तरं

१४. चन्द्रः—राणि ॥

बोटलिकपाठे नास्ति ॥

१५. चान्द्रवृत्तौ पाठान्तरम्—हारञ्चती ॥

काशिकायां नास्ति ॥

[चिंति ५.]

बोटलिङ्गः—“राहञ्चति (रोहञ्चति) and राण-

गणरत्ने—“रेहेण चितौ हिसितः = रेहञ्चतिः । तस्यापत्यम् ।” (३।१६६)

[१६] सौहृत्ति^१ [२०] भौलिङ्गि^२ [२१] राणि^३ [२२] औदनि^४ [२३] औद्गाहमानि [२४] औञ्जिहानि^५ [२५] औदशुद्धि^६ [२६] रागक्षति [२७] सौमनि [२८] ऊहमानि [२९] तद्राजाच्छाणः^७ ॥ इति पैलादिगणः । तद्रा-
जात् = तद्राज-सञ्ज्ञकादणन्तादपि यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुक् ॥ ५९ ॥

गोत्रवाची गण में पदे हुए जो ['पैलादिभ्यः'] पैलादि शब्द हैं, उन से युवा अर्थ में विहित जो प्रत्यय, उस का लुक् हो । पैलः पिता पुत्रो वा । यहां गोत्र में पीला-शब्द से अण् और अणन्त द्वयच् प्रातिपदिक से युवा में फिञ्-प्रत्यय का लुक् हो जाता है । पैलादिगण में जो शब्द इञ्-प्रत्ययान्त हैं, उन से युवा में फक्-प्रत्यय का और जो फिञ्-प्रत्ययान्त हैं, उन से युवा में अण्-प्रत्यय का लुक् हो जाता है ॥

पैलादिगण पूर्व संस्कृत भाष्य में लिख दिया है । 'तद्राजाच्छाणः ॥' यह गण सूत्र है । इस का यह प्रयोजन है कि तद्राज-सञ्ज्ञक अण्-प्रत्ययान्त से युवा में विहित प्रत्यय का लुक् हो । मागधो राजा तत्पुत्रो वा । यहां मागध-शब्द से तद्राज-सञ्ज्ञक अण् और अणन्त से इञ् का लुक् होता है ॥ ५९ ॥

इजः प्राचाम् ॥ ६० ॥

इजः । ६ । १ । प्राचाम् । ६ । ३ । प्राचां = पूर्वदेशनिवासिनां मते ये गोत्रवाचिन इजन्ताः शब्दाः, तेभ्यो यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति । पन्ना-
गारस्य गोत्रापत्यं पान्नागारिः । पान्नागारेयुवापत्यम् । पान्नागारिः पिता पुत्रो वा ।
युवापत्ये फक्, तस्य लुक् ॥

'प्राचाम्' इति किम् । दाक्षिः पिता । दाक्षायणः पुत्रः । अत्र फको लुक् न भवति ॥ ६० ॥

['प्राचाम्'] पूर्व देश वासियों के मत में गोत्रवाची जो ['इजः'] इञ्-प्रत्ययान्त

१. चन्द्र-बोटलिङ्गौ न पठतः ॥

२. न्यासे—“भौलिङ्गि-शब्दः शाल्वप्रत्यय इजन्तः”

३. चन्द्र-जयादित्यौ न पठतः ॥

४. चन्द्र-जयादित्यौ न पठतः ॥

वर्धमान-बोटलिङ्गौ—औदन्यि ॥

५. चन्द्रः—औञ्जिहायानि ॥

गणरत्ने (३।१७०)—“कश्चिद् औञ्जिहानिः”
इति मन्यते ।”

६. बोटलिङ्गः—“औदशुद्धि (औदशुद्धि K.)”

गणरत्ने—“उदकशुद्ध्यापत्यं = औदकशुद्धिः ।

औदशुद्धिरिति भोजः ।” (३ । १७०)

चन्द्र-जयादित्यौ २५-२८ इत्येतान् शब्दान्
पठतः ॥

बोटलिङ्गश्च २६-२८ इत्येतान् शब्दान् पठित्वा
गणरत्ने—“ K. ausserdem: देवि (I),
सौमनि, उहमानि (sic), राणायानि. Ist ein
आकृतिगणः”

७. चन्द्रः—“जनपदनाम्नः क्षत्रियादयः ।”

८. चा० श०—“प्राच्यादिबोऽस्तौत्वलिभ्यः ॥”

(२ । ४ । १२२)

प्रातिपदिक हैं, उन से युवा में विहित प्रत्यय का लुक् हो जावे । पाञ्चागारिः पिता पुत्रो वा ।
यहां पाञ्चागार-शब्द से गोत्र में इज् और इज्-प्रत्ययान्त से युवा में फक्-प्रत्यय का लुक् होता है ॥

‘प्राचां’ ग्रहण इसलिये है कि ‘दाक्षिः पिता । दाक्षायणः पुत्रः’ यहां युवा में फक् का लुक् न हो ॥ ६० ॥

न तौल्वलिभ्यः ॥ ६१ ॥

पूर्वसूत्रेण प्राप्तो लुक् प्रतिषिध्यते । न । [अ० । १] तौल्वलिभ्यः । ५ ॥

३ । बहुवचननिर्देशात् तौल्वल्यादिभ्य इति विज्ञायते । तौल्वल्यादिभ्यो गणपठिते-
भ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुक् न भवति । तौल्वलिः पिता ।
तौल्वलायनः पुत्रः । सर्वे तौल्वल्यादय इवन्ताः, तेभ्यः फको लुक् प्राप्तः, स
न भवति ॥

अथ तौल्वल्यादिगणः—[१] तौल्वलि^१ [२] धारणि [३] पारणि^२ [४]
रावणि [५] दैलीपि^३ [६] दैवलि [७] दैवति^४ [८] दैवमति^५ [९] बाकलि [१०]
नैवकि [११] दैवमिन्नि [१२] दैवयन्नि [१३] चाफट्टकि^६ [१४] बैल्वकि^७ [१५]
वैङ्कि^८ [१६] आनुहारति [१७] पौष्करसादि [१८] प्रावाहणि^९ [१९] मान्धतकि^{१०}
[२०] श्वाफल्कि^{११} [२१] आनुमति [२२] आनुरोहति [२३] आनुति [२४]

१. चा० श०—“प्राच्यादिभ्योऽतौल्वलिभ्यः ॥”
(२ । ४ । १२२)

२. तुल उपमाने । औष्णादिको वलच् । तुल्वलो
नामर्षिः ॥

गणरत्ने—“तौल्वलिस्त्यन्त्यः ॥” (३ । १७१)

चान्द्रवृचौ “तौल्वलि, धारणि, रावणि, रातक्षि,
दैवदक्षि, दैवति, दैवमति, दैवयन्नि, प्रादोहनि,
आनुराहति, आसुरि, आहिसि, आसिबन्धकि,
चैङ्कि, पौष्पि, पौष्करसादि, वैरकि, वैहरि, वैलकि,
कारेणुपालि” इत्येते २० शब्दा इति क्रमश्च ॥

३. जयादित्यः—“रावणि । पारणि ।”

४. गणरत्ने—“दिलीपस्यापत्यं दालीपिः । अपरे
‘दलीप’ इति प्रकृत्यन्तरमाहुः । चन्द्रादयस्तु ‘दिली-
पिः’ इत्याहुः ।” (३ । १७३)

शब्दकौस्तुभे—दैवलिपि ॥

५. जयादित्य-भट्टोजिदीक्षितौ न पठतः ॥

बोटलिङ्कश्च—“दैवति (दैवलि ड.), क-
कलि, नैवकि (नैवति), दैवमति (दैवमिन्नि)”

गणरत्ने—“दैवोतिरिति शाकटायनः ।” (३ । १७१)

६. शब्दकौस्तुभे ४, ६, ८—१०, २२—३० इत्येते
शब्दा न सन्ति, काशिकायां च ६—११,
१३—१७, २२—३० इत्येते ॥

७. शब्दकौस्तुभे “चापट्टिक” इति, अतः पूर्वं च—
प्रायेहति ॥

गणरत्ने—“चफट्टक-शब्दोऽनुकरणम् । तदुच्चा-
रणात् पुरुषोऽपि चफट्टकः ।” (३ । १७३)

८. भट्टोजिः १४—१६ इत्येतेषां शब्दानां स्वतः
“आनुराहति” इत्येकं शब्दं पठति ॥

९. बोटलिङ्कः—“वैङ्कि (वैकि, वैकि ड.), आनु-
सहति (आनुहारति ड.)”

१०. बोटलिङ्कः १८—२१ शब्दान् न पठति ॥

११. काशिकाग्रमतः पूर्वं—आनुराहति ॥

प्रादोहनि [२५] नैमिशि^१ [२६] प्राडाहति^२ [२७] बान्धकि [२८] वैशीति [२९]
 आशि^३ [३०] नाशि^४ [३१] आहिसि [३२] आसुरि [३३] आयुधि^५ [३४]
 नैमिषि^६ [३५] आसिवन्धकि^७ [३६] पौष्पि^८ [३७] कारेणुपालि [३८] वैकर्णि^९
 [३९] वैरकि^{१०} [४०] वैलकि [४१] वैहति^{११} [४२] कामलि^{१२} [४३] रान्धकि
 [४४] आसुराहति [४५] प्राणाहति [४६] पौष्कि [४७] कान्दकि [४८]
 दौषगति^{१३} [४९] आन्तराहति ॥ इति तौल्वल्यादिगणः ॥ ६१ ॥

पूर्व सूत्र से जो लुक् प्राप्त है, उस का निषेध करने वाला यह सूत्र है । ['तौल्वलि-
 भ्यः'] तौल्वलि आदि गणशब्दों से परे युवापत्य में जो प्रत्यय, उस का लुक् ['न'] न
 हो । तौल्वलिः पिता । तौल्वलायनः पुत्रः । यहां युवापत्य में फक्-प्रत्यय का लुक्
 नहीं हुआ ॥

तौल्वलि आदि सर्व शब्द पूर्व लिख दिये । वे सब इज्-प्रत्ययान्त हैं । उन से फक्-प्रत्यय
 का लुक् पाता है । उस कः निषेध है ॥ ६१ ॥

तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्^{१४} ॥ ६२ ॥

तद्राजस्य । ६ । १ । बहुषु । ७ । ३ । तेन । ३ । १ । एव । [अ० ।]
 अस्त्रियाम् । ७ । १ । तेनैव कृते = तद्राज-सञ्ज्ञकेन प्रत्ययेनैव कृते बहुवचने
 तद्राज-सञ्ज्ञकप्रत्ययस्य स्त्रीलिङ्गं विहाय लुग् भवति । अङ्गानां राजानः =

१. गणरत्ने—“निश्चयेन मिश्रः = निमिश्रः । त-
 स्यापत्यम् । पृच्छत्याहन्ति च प्राडाहतिः । तस्या-
 पत्यम् । ‘प्राडाहतिः’ इत्यपि वामनः ॥” (३।१७३)

२. बोटलिङ्गोऽत्र “आसिनासि” इत्येकं शब्दं पठति ॥
 गणरत्ने—“असिरिव नासाऽस्येति = असिनासः ।
 तस्यापत्यम् ।” (३।१७२)

३. बोटलिङ्ग्ये गणपाठे नास्ति ॥ [(३।१७१)]

४. गणरत्ने—“‘नैमिशिः’ इति शाकटायनः ॥”

५. गणरत्ने (३।१७२)—“असिना युक्तो
 बन्धः = असिवन्धः । असिवन्ध एव असिवन्धकः ।
 तस्यापत्यम् ।”

अतः परं जयादित्यः—“वैकि । पौष्करसादि ।
 वैरकि । वैलकि । वैहति । वैकर्णि । कारेणुपालि ।
 कामलि ।”

अतः परं शब्दकोस्तुभे—“वैकि । पौष्कि ।

पौष्करसादि । आनुहरति । पौष्पि । वैरकि
 वैहति । वैकर्णि । कामलि । कारेणुपाली” इति ।
 गणरत्न समाप्तः ॥

६. बोटलिङ्गः—“पौष्पि (पौष्कि K.)”

७. गणरत्ने—“विभूषितौ कर्णौ यस्य, विकर्णः ।
 तस्यापत्यम् ।” (३।१७२)

८. गणरत्ने—“‘वैणकिः’ इति शाकटायनः ।”
 (३।१७१)

बोटलिङ्गपाठे नास्ति ॥

९. अतः परं बोटलिङ्गः—“K. ausserdem:
 प्राडाहति ...”

१०. केषुचिद् काशिकाकोशेष्वत्र गणः समाप्तः ॥

११. काशिकायाम्—दौषकगति ॥

१२. चा० श०—“यञ्जोर्बहुवस्त्रियाम् ॥”

(२।४।१०७)

अङ्गानां राजानः = वङ्गानां । मगधाः । कलिङ्गाः । अत्र 'द्वयज्मगध-
कलिङ्गसूरमसादण्' ॥' इति तत्कृतबहुवचने तद्राज-सञ्ज्ञकस्याणो लुक् ॥

'तद्राजस्य' इति किम् । औपगवाः । कापटवाः ॥

'बहुषु' इति किम् । आङ्गः । वाङ्गः । मागधः ॥

'तेनैव' इति किम् । प्रियो वाङ्गो येषां, त इमे प्रियवाङ्गाः । अत्र बहुव्रीहा-
वन्यपदार्थकृतं बहुवचनम् ॥

'अस्त्रियाम्' इति किम् । आङ्ग-यः स्त्रियः । मागध्यः स्त्रियः । अत्र लुङ्
न भवेत् ॥ ६२ ॥

['तेनैव'] तद्राज-सञ्ज्ञक से किये हुए ['बहुषु'] बहुवचन में वर्तमान ['तद्राजस्य']
तद्राज-सञ्ज्ञक जो प्रत्यय, उस का लुक् हो, ['अस्त्रियाम्'] स्त्रीलिङ्ग को छोड़के । अङ्गानां
राजानः = अङ्गाः । वङ्गाः । मगधाः । यहां तद्राज-सञ्ज्ञक अण्-प्रत्यय होता है । उस का
बहुवचन में लुक् हो गया ॥

तद्राज-ग्रहण इसलिये है कि 'औपगवाः' यहां लुक् न हो ॥

बहुवचन-ग्रहण इसलिये है कि 'आङ्गः । वाङ्गः' यहां एकवचन में [लुक्] न हो ॥

'तेनैव' ग्रहण इसलिये है कि 'प्रियवाङ्गाः' यहां बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ का
बहुवचन है, इससे लुक् न हुआ ॥

और 'अस्त्रियां' ग्रहण इसलिये है कि 'मागध्यः स्त्रियः' यहां बहुवचन में तद्राज प्रत्यय
का लुक् नहीं हुआ ॥ ६२ ॥

यस्कादिभ्यो गोत्रे ॥ ६३ ॥

'बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इति सर्वमनुवर्तते । यस्कादिभ्यः । ५ । ३ । गोत्रे ।
७ । १ । गणपठितेभ्यो यस्कादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः परो गोत्रे वर्तमानो यः
प्रत्ययः, तस्य तत्कृतबहुवचने लुग् भवति स्त्रीलिङ्गं विहाय । यस्काः । दुह्याः ।
अत्र शिवादित्वादण् । तस्य बहुवचने लुक् ॥

'बहुषु' इति किम् । यास्कः ॥

'तेनैव' इति किम् । प्रिययास्काः ॥

'अस्त्रियाम्' इति किम् । यास्क्यः स्त्रियः । अत्राण्-प्रत्ययस्य लुङ् न भवेत् ॥

अथ यस्कादिगणः—[१] यस्क^१ [२] शिव^२ [३] लभ्य^३ [४] दुह्य^४ [५]

१. ४।१।१७० ॥

पापमिति ॥"

२. चा० श०—“यस्कादिभ्यः ॥” (२।४।११०)

४. अन्यत्र कचिन्न लभ्यते ॥ [लभ्य । दुह्य ॥

३. गणरत्ने (१।२५)—“यच्छति = निगृह्णाति

५. चान्द्रवृत्ति-प्र० कौ० टीका-शब्दकौस्तुभादिषु

अयःस्थूण^१ [६] तृणकर्ण^२ [७] कर्णाटक^३ [८] पर्णाडक^४ [९] सदामत्त [१०] कम्ब-
लहार^५ [११] कम्बलभार^६ [१२] बहिर्योग^७ [१३] पिण्डीजङ्घ [१४] बकसक्थ^८
[१५] विभ्रि^९ [१६] कटु^{१०} [१७] बस्ति^{११} [१८] कुट्टि^{१२} [१९] अजबस्ति [२०]
गृष्टि^{१३} [२१] मित्रयु^{१४} [२२] रत्नोमुख^{१५} [२३] रत्नामुख^{१६} [२४] जङ्घास्थ^{१७} [२५]
मन्थक^{१८} [२६] उत्कास [२७] कटुक^{१९} [२८] कटुकमन्थक^{२०} [२९] पुष्करसत्^{२१}

१. चान्द्रवृत्ति-प्र० कौ० टीकायोः—अयस्थूण ॥

१-६ शब्दाः शिवादिषु पठ्यन्ते । तेभ्योऽण् ॥

२. पाठान्तरम्—कर्णाडक ॥

चान्द्रवृत्तावत्र—कलन्दन ॥ [शब्दः ॥

चान्द्रवृत्त्यादिषु “बहिर्योग” इत्येतदुत्तरं कर्णाटक-

३. चान्द्रवृत्त्यादिषु नास्ति ॥

बोटलिङ्कश्च “पिण्डीजङ्घ” इत्यतः पूर्वं “पर्णा-
डक” इति पठति ॥

गणरत्ने—“पर्णस्याडकं यस्य सः ।” (१।२६)

४. काशिका-शब्दकौस्तुभयोर्नास्ति ॥

५. चान्द्रवृत्ति-प्र० कौ० टीकायोर्नास्ति ॥ [मन्थते ॥

बोटलिङ्कस्त्वेतं “कम्बलहार” इत्यस्य पाठान्तरं

६. काशिका-प्र० कौ० टीका-शब्दकौस्तुभे—अहि-
योग ॥ [द्रेफः ।” (१।२६)

गणरत्ने—“अहिना योगो यस्येति । गणपाठा-

७. ७-१४ शब्देभ्य इन् ॥

चान्द्रवृत्तावन्येऽपि रत्नोमुखादयो वर्षकान्ताः शब्दा
अत उत्तरं पठिताः । तेभ्य इन्-प्रत्ययस्य विहित-
त्वात् ॥ ७

८. काशिका-शब्दकौस्तुभयोर्नास्ति ॥

प्र० कौ० टीकायाम्—वसि ॥

९. चान्द्रवृत्ति-काशिका-प्र० कौ० टीका-शब्दकौस्तु-
भादिषु नास्ति ॥

१०. काशिकायमेवैष शब्द इत्यतः नान्यत्र ॥

शब्दकौस्तुभे तु—वसि ॥

११. प्र० कौ० टीकायाम्—कुडि ॥

१२. अन्यत्र नास्ति ॥

१३. १५-२१ शब्देभ्यो “गृष्ट्यादिभ्यश्च ॥”

(४।१।१३६) इति ङञ् ॥ [यातीति मित्रयुः ।”

भगवद्भयानन्दः (उणा० १।३७)—“मित्रान्

१४. काशिकायां नास्ति ॥

प्र० कौ० टीकायां—रज्जोमुख ॥

१५. काशिकां विहायान्यत्र नास्ति ॥

१६. गणरत्ने (१।२५)—“अन्ये जङ्घे एव रयो

यस्य स जङ्घेरथः । निपातनात् सुपः श्लुगभावः ।

तस्य जङ्घेरथाः” इत्याहुः ।” [स्ति ॥

१७. चान्द्रवृत्ति-प्र० कौ० टीका-बोटलिङ्कपाठेषु ना-

१८. काशिकायां नास्ति ॥

१९. चान्द्रवृत्ति-बोटलिङ्कपाठयोः—मन्थक ॥

गणरत्ने—“कटु मथ्नातीति कटुमन्थः । अपरे

“कटुकमन्थ” इत्याहुः । अन्यस्तु “कटुक, मन्थक”

इति पृथक् शब्दद्वयमिदमित्याह ।” (१।२६)

प्र० कौ० टीकायाम्—मन्थर ॥

शब्दकौस्तुभे नास्ति ॥

२०. चान्द्रवृत्तौ “वर्षक” इत्येतदुत्तरं पठ्यते ॥

जिनेन्द्रबुद्धिः—“पुष्करसच्छब्दोऽप्यत्र पठ्यते ।

स किमर्थः । यावत्ता “बहुच इजः प्राच्यभरतेषु ॥”

[२।४।६६] इत्येवं सिध्यति । न सिध्यति ।

“न ज्ञेयवनादिभ्यः ॥” [२।४।६७]

इति प्रतिषेधः प्राप्नोति । गोपवनादिषु हि कैश्चिद्

तौल्वल्यादयश्चेति पठ्यते । तौल्वल्यादिषु पुष्कर-

सच्छब्दः पठ्यते । तौल्वल्यादीनां च गोपवनादिषु

पाठोऽस्तीत्ययमेव यस्कादिषु पुष्करसच्छब्दपाठो

आप्यसि ॥”

[३०] विषपुट' [३१] उपरिमेखल' [३२] क्रोष्टुमान' [३३] क्रोष्टुपाद [३४] क्रोष्टुमाय' [३५] शीर्षमाय' [३६] खरप' [३७] पदक [३८] वर्षुक' [३९] वर्मक' [४०] भ[ल]न्दन' [४१] भडिल' [४२] भण्डिल' [४३] भडित [४४] भण्डित ॥^३ इति यस्कादिगणः ॥ ६३ ॥

['यस्कादिभ्यः'] गण में पदे हुए यस्कादि शब्दों से पर ['गोत्रे'] गोत्र में जो प्रत्यय, उस का तत्कृत बहुवचन में लोप हो जावे, स्त्रीलिङ्ग को छोड़के । यस्काः । लभ्याः । यहां यस्के- और लभ्य-शब्द के शिवादिगण में होने से अण्-प्रत्यय हुआ । उस का बहुवचन में लुक् हो गया ॥

बहुवचन-ग्रहण इसलिये है कि 'यास्काः' यहां न हो ॥

तत्कृत-ग्रहण इसलिये है कि 'प्रिययास्काः' यहां बहुव्रीहि समास में अन्यपदार्थ से बहुवचन में लुक् न हो ॥

और स्त्रीलिङ्ग का निषेध इसलिये है कि 'यास्क्यः स्त्रियः' यहां भी बहुवचन में प्रत्यय का लुक् न हो ॥

यस्कादिगण पूर्व संस्कृत में सब क्रम से लिख दिया है ॥ ६३ ॥

यजजोश्च^३ ॥ ६४ ॥

१. प्र०कौ०टीकायाम्—द्विषयुट् ॥

शब्दकौस्तुभे—विषपट् ॥

गणरत्ने—“विषं पुटो [पुटयोः=] ओष्ठयोरेत्यस्य,
स विषपुटः=दुर्माषी।” (१।२५) [(१।२५)

२. गणरत्ने—“उपरि=ग्रीवायां मेखला यस्य।”

३. चान्द्रवृत्तौ नास्ति ॥

गणरत्ने—“क्रोष्टुमानमिव मानं यस्य स क्रोष्टुमान
इति केचित्।” (१।२७)

४. चान्द्रवृत्ति-काशिकयोर्नास्ति ॥

प्र०कौ०टीकायां “क्रोष्टुमान” इत्यतः पूर्वम् ॥

५. गणरत्ने—“शीर्षं मिनाति शीर्षमायः।” (१।२५)

२२-३५ शब्देभ्य इञ् ॥

६. चान्द्रवृत्तौ “मित्रयु” इत्येतदुत्तरं पठ्यते ॥

प्र०कौ०टीकायाम्—खलयव ॥

शब्दकौस्तुभे—खरपाद ॥

नडादित्वात् फञ् ॥

गणरत्ने—“खरान् पातीति।” (१।२५)

७. चान्द्रवृत्तौ—वर्षक ॥

काशिकायां नास्ति ॥ [“क्रमक” इति ॥

शब्दकौस्तुभे “वर्षुक, वर्मक” इत्येतयोः स्थाने

८. चान्द्रवृत्ति-प्र०कौ०टीकायोर्नास्ति ॥

नोटलिङ्गस्वेतं “वर्षुक” इत्येतस्य पाठान्तरं मन्यते ॥

वर्षमानः—वर्मक ॥ (१।२६)

३७-३९ शब्देभ्य इञ् ॥

९. चान्द्रवृत्तौ नास्ति ॥

गणरत्ने—“‘कलन्दन’ इति भोजः।” (१।२५)

शिवादित्वाद्ण् ॥

१०. प्र०कौ०टीकायां नास्ति ॥ [अण्डिक ॥^३

११. प्र०कौ० टीकायाम्—“अण्डिल । अण्डित ।

शब्दकौस्तुभे—“अण्डिक । अण्डिव । अण्डित ॥”

४१-४४ शब्देभ्योऽस्वादित्वात् फञ् ॥

१२. गणरत्ने “वशिष्ठ, कुत्स, अत्रि, अज्ञिरस, अशु,

वशीक, मिच्छक, पटाक, गोतम, कृश, कषक,

स्यगल” इत्यादिशब्दा अधिकाः ॥ (१।२५-२७)

१३. चा० श०—“यजजोर्वहुवक्षियाम् ॥”

(२।४।३०७)

‘बहुषु तेनैवास्त्रियां, गोत्रे’ इति चानुवर्त्तते । यञ्-अञोः । ६ । २ । च ।
 [अ० ।] यञ्-प्रत्ययस्य अञ्-प्रत्ययस्य च गोत्रे विहितस्य तत्कृतबहुवचने लुग्
 भवति स्त्रीलिङ्गं त्यक्त्वा । ‘गर्गादिभ्यो यञ्’ ॥’ गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः ।
 गार्ग्यौ । बहुवचने—गर्गाः । ‘अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्’ ॥’ विदस्य गो-
 त्रापत्यं वैदः । वैदौ । बहुवचने—विदाः । अत्र बहुवचने ऽपत्यार्थस्तु भवति
 प्रत्ययस्यैव लुक् ॥

‘बहुषु’ इति किम् । गार्ग्यः । वैदः ॥

‘तेनैव’ इति किम् । प्रियगार्ग्याः ॥

‘अस्त्रियाम्’ इति किम् । गार्ग्यः स्त्रियः । वैद्यः स्त्रियः । अत्र लुङ् न भवेत् ॥

वा०—यवादीनामेकद्वयोर्वा तत्पुरुषे षष्ठ्या उपसङ्ख्यानम् ॥^१ ॥

एकवचनेन द्विवचनेन च षष्ठीतत्पुरुषसमासे विकल्पेन यवादीनां लुग् भवे-
 दिति वार्त्तिकार्थः ॥

गार्ग्यस्य कुलं=गार्ग्यकुलं गर्गकुलं वा । गार्ग्ययोः कुलं=

गार्ग्यकुलं गर्गकुलं वा । वैदस्य कुलं=वैदकुलं बिदकुलं वा ।

वैदयोः कुलं=वैदकुलं बिदकुलं वा ॥

‘यवादीनाम्’ इति किमर्थम् । आङ्गस्य कुलं=आङ्गकुलम् ।

आङ्गयोः कुलं=आङ्गकुलम् ॥

‘एकद्वयोः’ इति किमर्थम् । गर्गाणां कुलं=गर्गकुलम् ॥

‘तत्पुरुषे’ इति किमर्थम् । गार्ग्यस्य समीपं=उपगार्ग्यम् ।

अत्रान्वयीभावसमासे लुङ् न भवति ॥

‘षष्ठ्याः’ इति किमर्थम् । शोभनगार्ग्यः ॥^३

अत्र कर्मधारयसमासेऽपि यञ्-प्रत्ययस्य लुङ् न भवेत् ॥ १ ॥ ६४ ॥

गोत्र में विहित [‘यञ्-अञोः’] यञ्- और अञ्-प्रत्यय का तत्कृत बहुवचन में लुक् हो
 स्त्रीलिङ्ग को छोड़के । गर्गाः । यहां बहुवचन में यञ्-प्रत्यय का लुक् हुआ । और ‘विदाः’ यहां
 अञ्-प्रत्यय का लुक् हुआ है । परन्तु प्रत्यय का अर्थ जो अपत्य है, वह तो बना ही रहता है ॥
 बहुवचन-ग्रहण इसलिये है कि ‘गार्ग्यः । वैदः’ यहां एकवचन में न हो ॥

तत्कृत-ग्रहण इसलिये है कि 'प्रियगार्ग्याः' यहां बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ कृत बहुवचन में न हो ॥

और स्त्रीलिङ्ग का निषेध इसलिये है कि 'गार्ग्यः स्त्रियः' यहां भी लुक् न हो ॥

'यजादीनामेकद्वयोर्वा तत्पुरुषे षष्ठ्या उपसङ्ख्यानम् ॥' एकवचन द्विवचन के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास होने में गोत्र में विहित यञ् आदि प्रत्ययों का विकल्प करके लुक् हो। गार्ग्यस्य कुलं = गार्ग्यकुलं गर्गकुलं वा। यहां एकवचनान्त गार्ग्य-शब्द का कुल-शब्द के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास होके यञ्-प्रत्यय का विकल्प करके लुक्। वैदस्य कुलं = वैदकुलं विदकुलं वा। और यहां एकवचनान्त वैद-शब्द का उक्त प्रकार समास होके अञ्-प्रत्यय का विकल्प करके लुक् होता है। तथा 'गार्ग्ययोः कुलं = गार्ग्यकुलं गर्गकुलं वा' यहां द्विवचनान्त गार्ग्य-शब्द का कुल के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास में यञ्-प्रत्यय का विकल्प करके लुक् हुआ है ॥

इस वार्तिक में यजादि-ग्रहण इसलिये है कि 'आङ्गस्य कुलं = आङ्गकुलम्' यहां तदाज-सम्बन्धकों षष्ठी तत्पुरुष समास में लुक् न हो ॥

एकवचन-द्विवचन-ग्रहण इसलिये है कि 'गर्गाणां कुलं = गर्गकुलम्' यहां विकल्प करके लुक् न हो ॥

तत्पुरुष-ग्रहण इसलिये है कि गार्ग्यस्य समीपं = उपगार्ग्यम्' यहां अण्ययीमाव समास में न हो ॥

और षष्ठी-ग्रहण इसलिये है कि 'शोभनगार्ग्यः' यहां समानाधिकरण तत्पुरुष में भी यञ्-प्रत्यय का लुक् न हो ॥

यह वार्तिक अपूर्व अर्थात् सूत्र-से जो कार्य नहीं पाता था, उस का विधान करने वाला है ॥ ६४ ॥

अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च' ॥ ६५ ॥

'बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इति, 'गोत्रे' इति चानुवर्तते। अत्रि-भृगु-कुत्स-वसिष्ठ-गोतम-आङ्गिरोभ्यः। ५।३।च। [अ०।] 'अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम, आङ्गिरस्' इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने लुग् भवति, स्त्रीलिङ्गं वर्जयित्वा। अत्रि-शब्दाद् 'इतश्चानिजः' ॥' इति सूत्रेण गोत्रे ढक्। भृगवादिभ्य ऋषिवाचित्वाद् 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' ॥' इति सूत्रेणाण्। अत्रेरपत्यम् = आत्रेयः। आत्रेयौ। बहुवचने—अत्रयः। भार्गवः, भार्गवौ, भृगवः। कौत्सः, कौत्सौ, कुत्साः। वासिष्ठः, वासिष्ठौ, वसिष्ठाः। गौतमः, गौतमौ, गोतमाः। आङ्गिरसः, आङ्गिरसौ, आङ्गिरसः। अत्रि-शब्दाद् गोत्रे विहितस्य बहुवचने ढको लुक्। इतरेभ्यश्चाणः ॥

१. चा० श०—“अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठाङ्गिरोभ्यो गोतमाद्यः ॥” (२।४।१११)

२. ४।१।१२२ ॥

३. ४।१।११४ ॥

‘बहुषु’ इति किम् । आत्रेयः । भार्गवः ॥

‘तेनैव’ इति किम् । प्रियभार्गवाः ॥

‘अस्त्रियम्’ इति किम् । भार्गव्यः स्त्रियः । अत्र सर्वत्र लुङ् न भवति ॥६५॥

[‘अत्रि-भृगु-कुत्स-वसिष्ठ-गोतम-अङ्गिरोभ्यः’] अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम, अङ्गिरस्, इन शब्दों से पर गोत्र में विहित जो प्रत्यय, उस का तत्कृतबहुवचन में लुक् हो, स्त्रीलिङ्ग को छोड़के । अत्रयः । अत्रि-शब्द से गोत्र [में] ढक्-प्रत्यय होता है । उस का यहां बहुवचन में लुक् हो गया । भृगवः । कुत्साः । वसिष्ठाः । गोतमाः । अङ्गिरसः । यहां भृगु आदि शब्दों से ऋषिवाची के होने से अणु-प्रत्यय हुआ । उस का बहुवचन में लुक् हो गया ॥

बहुवचन-ग्रहण इसलिये है कि ‘आत्रेयः । भार्गवः’ यहां एकवचन में न हो ॥

तत्कृत-ग्रहण इसलिये है कि ‘प्रियभार्गवाः’ यहां बहुव्रीहि समास से बहुवचन में लुक् न हो ॥

और स्त्रीलिङ्ग का निषेध इसलिये है कि ‘भार्गव्यः स्त्रियः’ यहां बहुवचन में स्त्रीलिङ्ग के होने से अणु-प्रत्यय का लुक् नहीं होती है ॥ ६५ ॥

बह्वच इजः प्राच्यभरतेषु ॥ ६६ ॥

‘गोत्रे’ इत्यनुवर्तते । बह्वचः । ५ । १ । इजः । ६ । १ । प्राच्यभरतेषु । ७ । ३ । प्राच्याश्च भरताश्चेति समुच्चयद्वन्द्वः । बह्वचः प्रातिपदिकाद् गोत्रे विहितस्य इज्-प्रत्ययस्य प्राच्यभरतेषु तत्कृतबहुवचने लुग् भवति, स्त्रीलिङ्गं वर्जयित्वा । प्राप्नु भवाः = प्राच्याः—पन्नागारस्यापत्यं = पान्नागारिः । पान्नागारी । बहुषु—पन्नागाराः । [पन्नागाराः] प्राच्याः । भरताः = भरतकुले जाताः—युधिष्ठिरस्यापत्यं = यौधिष्ठिरिः । यौधिष्ठिरी । बहुवचने—युधिष्ठिराः । अर्जुनाः । युधिष्ठिरार्जुन-शब्दौ बाह्यादिषु पठ्येते । तत इज् । तस्य लुक् । पन्नागार-शब्दाददन्तत्वादेवेज्, तस्य लुक् ॥

‘बह्वचः’ इति किम् । पौष्ययः । अत्र बहुवचने लुङ् न भवति ॥

‘प्राच्यभरतेषु’ इति किम् । औपवाहवयः ॥

भरताः प्राच्येष्वेव भवन्ति, पुनर्भरत-ग्रहणं ज्ञापकार्थम् । अन्यत्र प्राग्-ग्रहणे भरत-ग्रहणं न भवतीति ज्ञापयत्याचार्यः । तेन ‘इजः प्राचाम् ॥’ इति लुगुक्तं, तत्र औदालकिः कश्चिद् भरतगोत्रः, तस्मात् ‘औदालकिः पिता, औदालकायनः पुत्रः’ इति यूनि विहितस्य फको लुङ् न भवति ॥ ६६ ॥

[‘बह्वचः’] बह्वच् प्रातिपदिक से पर गोत्र अर्थ में विहित जो [‘इजः’] इज्-प्रत्यय

१. चा० श०—“बह्वचः प्राच्यादिजः ॥”

(२।४।११३)

२. ४।१।६५॥

३. २।४।६०॥

उस का, ['प्राच्यभरतेषु'] प्रत्यय और भरत वाच्य हों, तो तत्कृत बहुवचन में लुक् हो, श्रीलिंग को छोड़के । प्राच्य—पञ्चागाराः प्राच्याः । यहां पञ्चागार-शब्द अवन्त है । उस से इञ्-प्रत्यय का लुक् । भरत—युधिष्ठिराः । अर्जुनाः । यहां युधिष्ठिर- और अर्जुन-शब्द से इञ्-प्रत्यय का लुक् होता है ॥

बह्वच-ग्रहण इसलिये है कि 'पौष्ययः' यहां लुक् न हो ॥

प्राच्य-भरत-ग्रहण इसलिये है कि 'औपवाहवयः' यहां भी बहुवचन में लुक् न हो ॥

भरत जो हैं, वे प्राच्यों में गणे जाते हैं, फिर भरत-ग्रहण ज्ञापक के लिये है । उस से यह जाना जाता है कि अन्यत्र प्राग्-ग्रहण में भरत का ग्रहण नहीं होता । जैसे औद्दालकि-शब्द प्राच्यभरत है, उस से 'औद्दालकिः पिता, औद्दालकायनः पुत्रः' यहां युवा में विहित फक्-प्रत्यय का लुक् 'इजः प्राचाम्' ॥ इस सूत्र से पाता था, सो न हुआ ॥ ६६ ॥

न गोपवनादिभ्यः ॥ ६७ ॥

न । [अ० ।] गोपवनादिभ्यः । ५ । ३ । विदाद्यन्तर्गणो हरित-शब्दात् पूर्व गोपवनादिः, तत्र गोपवनादीनामञ्-प्रत्ययान्तत्वाद् 'यञञोश्च' ॥ इति गोत्रे लुक् प्राप्तः । तस्यायं प्रतिषेधः । गोपवनादिभ्यः परस्य गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने लुक् न भवति । गोपवनस्यापत्यं = गौपवनाः । शैप्रवाः ॥

अथ गोपवनादिः—[१] गोपवन [२] शिशुं [३] बिन्दु [४] भाजन [५] अश्व [६] अवतान [७] श्यामाक [८] श्यामक [९] श्यामार्क [१०] श्वापर्ण [११] श्यापर्ण ॥ इति गोपवनादिगणः ॥ ६७ ॥

विदादिगण के अन्तर्गत गोपवन-शब्द से लेके हरित-शब्द के पूर्व २ गोपवनादि समके जाते हैं । उन से अञ्-प्रत्यय होता है । उस के होने से 'यञञोश्च' ॥ इस सूत्र से गोत्र में अञ्-प्रत्यय का लुक् प्राप्त है । उस का निषेध इस सूत्र से किया है । ['गोपवनादिभ्यः'] गोपवनादिक शब्दों से पर गोत्र में जो प्रत्यय, उस का तत्कृतबहुवचन में लुक् ['न'] न हो । गौपवनाः । शैप्रवाः । यहां अञ्-प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ ॥

गोपवनादि शब्द पूर्व संस्कृत भाष्य में लिख दिये हैं ॥ ६७ ॥

१. २।४।६० ॥ [(२।४।११६)

३. चा० श०—“न गोपवनादिभ्योऽष्टभ्यः ॥”

३. २।४।६४ ॥

४. गणरत्ने—“शिशुरिव शिशुः निस्सारः कश्चि-

त् । वामनमते शिशुः प्रत्याहारः ॥” (१।३५)

५. वर्धमान-बोटलिक्रौ—अश्ववितान ॥

गणरत्ने (१।३५)—“अश्वानवतनोति ।”

६. गणरत्ने (१।३५)—“श्यामा लताः कायति

= श्यामाकः ।”

७. गणरत्ने (१।३५)—“श्यामं करोतीति

श्यामकः । श्यावक इत्यन्वे ।”

काशिकार्यं ८, ९, ११ शब्दा न सन्ति ॥

८. बोटलिक्रौः ९, १० शब्दो न पठति ॥

९. गणरत्ने (१।३५)—“श्यामानि पर्णानि

अस्य । अत एव निपातनात् मन्तोपः ।”

१०. गणरत्ने (१।३५) सम्बक-शब्दोऽपि दृश्यते ॥

अपि च दृश्यन्तां विशाखः ॥ (४।३।२०४)

तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे ॥ ६८ ॥

निषेधो नानुवर्तते । तिककितवादिभ्यः । ५ । ३ । द्वन्द्वे । ७ । १ ।
तिककितवादिभ्यः परस्य गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचनस्य द्वन्द्वसमासे
लुक् भवति । तैकायनयश्च^१ कैतवायनयश्च = तिककितवाः । 'तिकादिभ्यः
फिच्' ॥^२ तस्य लुक् ॥

अथ तिक[कितव]ादिगणः—[१] तिककितवाः [२] वङ्खर-भण्डीरथाः ।
वङ्खर-भण्डीरथ-शब्दाभ्याम् 'अत इच्' ॥ [इति इच् ।] तस्य लुक् । [३]
उपकलमकाः^३ । नडादिर्त्वात् फक् । तस्य लुक् । [४] पफकनरकाः^४ । [५]
वकनखरगुदपरिणद्धाः^५ । अत्रोभयत्र 'अत इच्' ॥ तस्य लुक् । [६]
उब्जककुमाः । अत्रोब्ज-शब्दाद् 'अत इच्' ॥ ककुम-शब्दाच्छिवादित्वादण् ।
द्वन्द्वे तयोर्लुक् । [७] लङ्कशान्तमुखाः^६ । आभ्याम् 'अत इच्' ॥ तस्य लुक् । [८]
उरसलङ्कटाः^७ । उरस-शब्दात् तिकादित्वात् फिच् । लङ्कट-शब्दाद् 'अत इच्' ॥
तयोर्लुक् । [९] कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः^८ । [१०] अष्टककपिष्ठलाः । अत्रोभयत्र
'अत इच्' ॥ तस्य लुक् । [११] अग्निवेशदासेरकाः^९ । अग्निवेश-शब्दाद्
गर्गादित्वाद् यच् । दासेरक-शब्दाद् 'अत इच्' ॥ तयोर्लुक् ॥ इति^{१०} तिक-
कितवादिगणः ॥ ६८ ॥

['तिककितवादिभ्यः'] तिककितवादि शब्दों से पर गोत्र में विधान जो प्रत्यय, उस
का तत्कृतबहुवचन के ['द्वन्द्वे'] द्वन्द्व समास में लुक् हो । तिककितवाः । यहां गोत्र में

१. चा० २।१०—“तिककितवादिभ्यश्चाथैकाय्ये ॥”

(२ । ४ । ११५)

२. ४ । १ । १५४ ॥

३. गणरत्ने—“ 'वङ्खर' इत्यन्ये । ” (१ । ३२)

४. ४ । १ । १५५ ॥

५. चान्द्रवृत्तौ “प्रहृतकनरकाः, वकनखगुदपरिण-

द्धाः, लङ्कटशान्तमुखाः, उब्जककुमाः, उरसल-

ङ्कटाः, अग्निवेशदशेरकाः, उपकलमकाः, अष्ट-

ककपिष्ठलाः, कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः” इति क्रमः ॥

६. गणरत्ने (१ । ३२)—“पफकः = विकत्थनः ।

अनुकरण इत्यन्ये । पफ करोतीति पफकः । ”

७. वर्धमान-बोटलिकौ—वकनखगुदपरिणद्धाः ॥

८. गणरत्ने (१ । ३२)—“शान्तनमुख इत्यन्ये । ”

९. गणरत्ने—औरसलङ्कटाः ॥

बोटलिकः—उत्तरशालङ्कटाः ॥

१०. काशिकायाम्—“अष्टककपिष्ठलाः । कृष्ण-
जिनकृष्णसुन्दराः ॥”

११. गणरत्ने—अग्निवेशदशेरकाः ॥

बोटलिकः—अग्निवेशदशेरकाः ॥

१२. गणरत्ने (१ । ३२—३४)—“शण्डिलकशङ्कत्तनाः,

प्रहितनरकाः, दशेरकगडेरकाः, कृष्णसुन्दराः,

पृथोर्जकककुमाः” इत्येते शब्दाः आधिकाः पठ्यन्ते ॥

विहित फिक्-प्रत्यय का लुक् हुआ है। इसी प्रकार जिस तिकंकितवादि-शब्द से जो प्रत्यय गोत्र में होता है, उस का बहुवचन के द्वन्द्व समास में लुक् हो जाता है। सो पूर्व सब लिख दिया है ॥ ६८ ॥

उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे ॥ ६९ ॥

उपकादिभ्यः । ५ । ३ । अन्यतरस्याम् । [अ०.] अद्वन्द्वे । ७ । १ । 'अद्वन्द्वे' इति द्वन्द्वाधिकारनिवृत्त्यर्थम् । न तु द्वन्द्वसमासे निषेधः । गणपठितेभ्य उपकादिशब्देभ्यः परस्य गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने विकल्पेन लुक् भवति द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे च । कृतद्वन्द्वास्त्रयः शब्दास्तिककितवादिषु पठिताः, तेभ्यो द्वन्द्वसमासे भवत्येव लुक् । अद्वन्द्वे विकल्पः । यद्यनेन द्वन्द्वे निषेधः स्यात्, तर्हि पूर्वेणापि द्वन्द्वसमासे उपकादिभ्यो लुक् न स्यात् । उपकाः, औपकायनाः । लमकाः, लामकायनाः । उपक-लमक-शब्दाभ्यां विकल्पेन फको लुक् । एवमन्येषु यस्माद् यः प्रत्ययो भवति, तस्य विकल्पेनैव लुक् ॥

अथोपकादिगणः—[१] उपक [२] लमक [३] भ्रष्टक [४] कपिष्ठल^३ [५] कृष्णाजिन [६] कृष्णसुन्दर^४ [७] चूडारक^५ [८] अण्डारक^६ [९] पण्डारक^७ [१०] गडुक [११] उदङ्क^८ [१२] सुधायुक [१३] अवन्धक^९ [१४] पिङ्गलक^{१०} [१५] पिष्ट^{११} [१६] सुपर्यक^{१२} [१७] सुपिष्ट

१. चा० रा०—“उपकादिभ्यो वा ॥” (२।४।११४)

२. उपकलमकाः । भ्रष्टकपिष्ठलाः । कृष्णाजिन-कृष्णसुन्दराः ॥

३. गणरत्ने (१।३०)—“कपीनां स्थलमिव स्थलमस्य... कोचिच्च ‘कपिष्ठलाः । कपिष्ठलायनाः’ नडादिफण्यन्तमुदाहरन्ति ।”

४. चान्द्रवृत्तौ कृष्णाजिन-कृष्णसुन्दर-शब्दौ “दामकयठ” इत्यत उत्तरं पठितौ ॥

५. चान्द्रवृत्तौ ७-९ शब्दानां स्थाने “वडारक” इति ॥

काशिकायां चूडारक-शब्दः अनभिहित-शब्दादुत्तरं पठ्यते ॥

गणरत्ने (१।२६)—“‘वडारक’ इति भोजः । ‘मडारक’ इति वामनः ॥”

६. नोटलिकः—आण्डारक ॥

काशिकायां तु “पण्डारक । अण्डारक” इति क्रमः ॥

७. नोटलिको नैतं पठति ॥

८. चान्द्रवृत्तौ ११-१४, १६, २०, २३, २७, ३०, ३६, इत्येते शब्दा न सन्ति ॥

काशिकायां ११-१३ शब्दाः चूडारक-शब्दादुत्तरं पठिताः ॥

९. जयादित्य-नोटलिकौ—अवन्धक ॥

१०. काशिकायां १४, १५ शब्दौ न स्तः ॥

गणरत्ने (१।२६)—“‘पिङ्गलक’ इति शाकटायनः ॥”

११. चान्द्रवृत्तौ “सुपिष्ट । पिष्ट” इति क्रमः ॥

१२. नोटलिकस्त्वेतं “सुधायुक” इत्यस्य पाठान्तरं सन्त्यते ॥

[१८] मसूरकर्ण [१९] खारीजङ्घ [२०] शलाबल [२१] शलाथल [२२] पतञ्जल [२३] पदञ्जल [२४] कठेरणि [२५] कुषीतक [२६] काशकृत्स्न [२७] निदाघ [२८] कलशीकण्ठ [२९] दामकण्ठ [३०] कृष्णपिङ्गल [३१] कर्णक [३२] जटिलक [३३] बधिरक [३४] जन्तुक [३५] अनुलोम [३६] अनुपद [३७] अर्द्धपिङ्गलक [३८] प्रतिलोम [३९] अपजग्ध [४०] प्रतान [४१] अनभिहित [४२] कमक [४३] नटारक [४४] लेखाभ्र [४५] कमन्दक [४६] पिञ्जलक [४७] वर्णक [४८] मसूरकर्ण [४९] मदाघ [५०] कबन्तक [५१] कमन्तक [५२] कदामत्त [५३] दामकण्ठ [५४] ॥ इत्युपकादिगणः ॥ ६६ ॥

इस सूत्र में अर्द्ध-अर्द्ध द्वन्द्वाधिकार की निवृत्ति के लिये है, किन्तु द्वन्द्व समास में लुक् का निषेध नहीं। गण में पड़े हुए [‘उपकादिभ्यः’] उपकादि शब्दों से पर गोत्र में

१. बोटलिकः—“खरीजङ्घ (खारि० ड.)”

गणरत्ने (१।२८)—“खरी जङ्घे यस्य ।” [मन्यते ॥

२. बोटलिकस्त्वेतं “शलाथल” इत्यस्य पाठान्तरं

३. काशिकायां नास्ति ॥

गणरत्ने—“शले स्थलमस्य । सकारलोपो दीर्घश्च निपातनात् । ‘शलाथल’ इत्यन्ये ।” (१।२९)

४. चान्द्रवृत्तौ—पतञ्जल ॥

गणरत्ने—“पतञ्जलति घनीभवति = पतञ्जलः ।”

(१ । २८)

५. काशिकायां अवन्धक-शब्दादुत्तरं “पदञ्जल” इति ॥

६. चान्द्रवृत्तौ—कुषीतकि ॥

गणरत्ने—“कृष्णाति भवबन्धनादात्मानमिति कुषीतको नाम मुनिः ।” (१ । २८)

७. गणरत्ने (१ । ३०)—“कशाभिः कन्तति । वामनस्तु ‘कसकृत्स्न’ इत्याह ।”

८. चान्द्रवृत्तावतः प्राक्—कदामत्त ॥

९. चान्द्रवृत्ति-काशिका-बोटलिकपाठेष्वत उत्तरं—पर्यंक ॥

गणरत्ने (१ । २८)—“पर्यान् करोतीति ।”

१०. गणरत्ने (१।२८)—“भोजस्तु ‘बधिरकाः । बधिरकयः’ इत्याह ।”

११. काशिकायां “पदञ्जल” इत्येतदुत्तरं “अनुपद । अपजग्ध” इति शब्दौ ॥

१२. चान्द्रवृत्तौ—पिञ्जल ॥

बोटलिकपाठे नास्ति ॥

१३. गणरत्ने (१।३१)—“वामनस्तु... ‘अनुलोमानः, प्रतिलोमानः कुमारः’ इत्याह ॥”

१४. गणरत्ने (१ । ३१)—“भोजस्तु ‘अपजग्ध’ इत्याह ॥”

१५. चान्द्रवृत्तौ केषुचित् काशिकाकोशेषु चात्र गणः समाप्तः ॥

गणरत्ने (१।३०)—“केचित् ‘अभिहित’ इति ।”

१६. काशिकायां नास्ति ॥

गणरत्ने (१।२८)—“वटारको वैश्रवणभक्तः ।”

१७. गणरत्ने (१ । २८)—लेखाभ्र ॥

१८. काशिकायाम्—पिञ्जल ॥

१९. काशिकायां नास्ति ॥

२०. कोशेऽत उत्तरं पुनरपि—कमन्दक ॥

काशिकायां ५०, ५१ शब्दौ न स्तः ॥

२१. कोशे—दामकण्ठ ॥

२२. गणरत्ने (१ । ३१) “खरी = रासभी, तां खनतीति विचि खरीखा ।” इत्यपि ॥

विहित जो प्रत्यय, उस का तत्कृतबहुवचन में ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके लुक् हो जावे, ['अद्वन्द्वे' द्वन्द्व और अद्वन्द्व समास में ।] उपकादि द्वन्द्व समास किये हुए तीन शब्द तिककितवादिगण में पड़े है । उन से द्वन्द्व समास में लुक् होता है । जो इस सूत्र से द्वन्द्व समास में लुक् का निषेध हो, तो पूर्व से उपकादिकों के द्वन्द्व समास में भी लुक् न हो । अद्वन्द्व समास में इस सूत्र से विकल्प करके लुक् होता है । उपकाः । औपकायनाः । लमकाः । लामकायनाः । यहां गोत्र में फक्-प्रत्यय का विकल्प करके लुक् होता है । इसी प्रकार उपकादिकों में जिस शब्द से जो प्रत्यय विधान है, उस से गोत्र में [विकल्प से] उस का लुक् हो जाता है ॥

उपकादि शब्द पूर्व संस्कृत में लिख दिये हैं ॥ ६६ ॥

आगस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच् ॥ ७० ॥

आगस्त्य-कौण्डिन्ययोः । ६ । २ । अगस्ति-कुण्डिनच् । १ । १ । अगस्त्य-शब्दस्य ऋषिवाचित्वाद्गण् । कुण्डिनी-शब्दस्य गर्गादिपाठाद् यञ्-प्रत्ययः । आगस्त्य-कौण्डिन्य-शब्दाभ्यां गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने लुक्, प्रकृतिरूपयोरगस्त्य-कुण्डिनी-शब्दयोश्च 'अगस्ति, कुण्डिनच्' इत्येतावदेषौ भवतः । अगस्त्यस्यापत्यं = आगस्त्यः, आगस्त्यौ, अगस्तयः । कौण्डिन्यः, कौण्डिन्यौ, कुण्डिनाः । बहुवचनाभ्यामागस्त्य-कौण्डिन्य-शब्दाभ्यां प्राग्दीव्यतावजादौ प्रत्यये परतो गोत्रप्रत्ययस्य 'गोत्रेऽलुगाचि' ॥' इति लुक् प्रातिषिध्यते । तत्र प्रकृत्यादेशे कृते प्रत्ययं मत्वा पुनर्बुद्धिः, ततो वृद्धत्वाच्चैषिकश्चः प्रत्ययः सिद्धो भवति—आगस्तीयाश्छात्रा इति ॥

अस्मिन् सूत्रे चकारोऽन्तोदात्तस्वरार्थः ॥ ७० ॥

अगस्त्य-शब्द के ऋषिवाची होने से अण् और कुण्डिनी-शब्द के गर्गादिकों में होने से यञ्-प्रत्यय होता है । ['आगस्त्य-कौण्डिन्ययोः'] आगस्त्य-कौण्डिन्य-शब्दों के बीच गोत्र में विहित जो प्रत्यय, उस का लुक् और अगस्त्य-कुण्डिनी-शब्द को ['अगस्ति-कुण्डिनच्'] अगस्ति- और कुण्डिन-आदेश हों । अगस्तयः । यहां बहुवचन में अण्-प्रत्यय का लुक् और अगस्ति-आदेश । तथा 'कुण्डिनाः' यहां कुण्डिन-आदेश और यञ्-प्रत्यय का लुक् हुआ है । बहुवचनान्त आगस्त्य- और कौण्डिन्य-शब्द से प्राग्दीव्यति अजादि प्रत्यय के पर लुक् का निषेध है । वहां प्रकृति को आदेश होने से गोत्रप्रत्यय के परे बुद्धि होके शैषिक [ञ्]-प्रत्ययान्त 'आगस्तीयाः' यह प्रयोग सिद्ध होता है ॥

इस सूत्र में कुण्डिनच्-शब्द में चकार चिदन्तोदात्त स्वर होने के लिये है ॥ ७० ॥

सुपो धातुप्रातिपदिकयोः ॥ ७१ ॥

१. चा० श०—“कुण्डिनाः ॥” (१।४।१०८) ३. ४।२।११४ ॥

२. ४।१।८६ ॥

४. चा० श०—“ऐकाग्र्ये ॥” (२।१।३६)

सुपः । ६ । १ । धातु-प्रातिपदिकयोः । ७ । २ । धातौ प्रातिपदिके चान्त-
र्गतस्य सुपः = विभक्तेर्लुग् भवति । धातौ—आत्मनः पुत्रमिच्छति = पुत्रीयति । अत्र
'पुत्र+अम्+क्यच्' इत्यस्य समुदायस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' ॥' इति धातु-सञ्ज्ञा,
तदन्तर्गतस्याम्-विभक्तेरनेन लुक् । प्रातिपदिके—कष्टं श्रितः = कष्टश्रितः । अत्र
'कष्ट+अम्+श्रित' इत्यस्य सभासार्थसमुदायस्य 'कृत्तद्धितसमासाश्च' ॥' इति
प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा, तदन्तर्गतस्याम्-विभक्तेरनेन लुग् भवति ॥

'धातुप्रातिपदिकयोः' इति किम् । वृत्तः । प्लक्षः । अत्र लुग् न भवेत् ॥ ७१ ॥

['धातु-प्रातिपदिकयोः'] धातु और प्रातिपदिक के अन्तर्गत ['सुपः'] जो विभ-
क्ति है, उस का लुक् हो । धातु—पुत्रीयति । यहां 'पुत्र+अम्+क्यच्' इतने समुदाय की
धातु-सञ्ज्ञा होने से उस के अन्तर्गत अम्-विभक्ति को लुक् । प्रातिपदिक—कष्टश्रितः ।
और यहां 'कष्ट+अम्+श्रित' इतने समुदाय की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होने से उस के अन्तर्गत
अम्-विभक्ति का इस सूत्र से लुक् हुआ है ॥

धातु-प्रातिपदिक-ग्रहण इसलिये है कि 'वृत्तः । प्लक्षः' यहां विभक्ति का लुक् न हो ॥ ७१ ॥

अदिप्रभृतिभ्यः शपः ॥ ७२ ॥

अदिप्रभृतिभ्यः । ५ । ३ । शपः । ६ । १ । अदिप्रभृतिभ्यः = अदादि-
धातुभ्यः परस्य शप्-प्रत्ययस्य लुग् भवति । अत्ति । हन्ति । चष्टे । द्वेष्टि ।
दोषि । इत्यादिषु विकरणलुक् ॥ ७२ ॥

['अदिप्रभृतिभ्यः'] अदादि धातुओं से पर जो ['शपः'] शप्-प्रत्यय, उस का
लुक् हो । अत्ति । हन्ति । द्वेष्टि । दोषि इत्यादि धातुओं में शप्-विकरण का लुक्
होता है ॥ ७२ ॥

बहुलं छन्दसि ॥ ७३ ॥

'अदिप्रभृतिभ्यः' इति नो अपेक्ष्यते । बहुलम् । १ । १ । छन्दसि । ७ ।
१ । छन्दसि = वैदिकप्रयोगविषये शप्-प्रत्ययस्य बहुलं लुग् भवति । वृत्रं हनति ।
अहन् । वृत्रम् । अशयदिन्द्रशत्रुः । 'शपादेशाः श्यन्नादयः करिष्यन्ते' इति
वचनाच्छपो लुकि तत्स्थानभाविनामादेशानामप्यभावः । तेन श्यन्नादीनामपि
लुक्पुदाहरणानि सिध्यन्ति ॥ ७३ ॥

१. ३ । १ । ३२ ॥

४. आ०—स० २६८ ॥

२. १ । २ । ४६ ॥

५. ऋ०—८ । ८६ । ३ ॥

३. आ०—स० २६७ ॥

६. ऋ०—३ । ३३ । ६ ॥

चा० श०—'अदादिभ्यो लुक् ॥' (१।१।८३)

७. ऋ०—१ । ३२ । १० ॥

['छन्दसि'] वैदिक प्रयोगों में शप्-प्रत्यय का ['बहुलं'] बहुल करके लुक् हो। वृत्रे हनति । यहां लुक् नहीं हुआ। और 'अहन् वृत्रं' यहीं लुक् हो गया। श्यन् आदि जो विकरण हैं, वे शप् के स्थान में आदेश होते हैं, इसलिये शप् के लुक् होने से उस के स्थान में होने वाले श्यन् आदि विकरण भी नहीं होते। इससे सब विकरणों का लुक् सिद्ध होता है ॥ ७३ ॥

यङोऽचि च ॥ ७४ ॥

चकारेण बहुलमनुवर्तते, न तु छन्दसि [इति] । यङः । ६ । १ । अचि । ७ । १ । च । [अ० ।] अच्-प्रत्यये परतो बहुलं यङो लुग् भवति । लोलुवः । पोपुवः । सरीसृपः । मरीमृजः । सनीलंसः । दनीध्वंसः । बहुल-ग्रहणादन्यः प्रापि—चर्करीतम् । चर्करीति । चरिकरीति । चरीकरीतीत्यादि ॥ ७४ ॥

['अचि'] अच्-प्रत्यय के पर ['यङः'] यङ् का लुक् बहुल करके हो। लोलुवः । पोपुवः । सरीसृपः । यहां अच्-प्रत्यय के पर यङ् का लुक् हुआ है। बहुल-ग्रहण से 'चर्करीतम्' इत्यादि स्थलों में भी यङ् का लुक् हो जाता है ॥ ७४ ॥

जुहोत्यादिभ्यः श्लुः ॥ ७५ ॥

मैण्डूकश्लुतन्यायेन शवनुवर्तते, न यङ् । जुहोत्यादिभ्यः । ५ । ३ । श्लुः । १ । १ । 'हु दानादनयोः' इत्यादिभ्यः परस्य शपः स्थाने श्लुर्भवति । जुहोति । विभर्त्ति । विभेति ॥

लुकि प्रकृते पुनः श्लु-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनं—द्विर्वचनं यथा स्यात् ॥ ७५ ॥

['जुहोत्यादिभ्यः'] जुहोत्यादि धातुओं से पर जो शप्, उस के स्थान में ['श्लुः'] श्लु-आदेश हो। जुहोति । विभर्त्ति । यहां श्लु के होने से द्विर्वचन होता है। लुक् और श्लु ये अदर्शन की सन्ज्ञा हैं, सो लुक् की अनुवृत्ति चली आती थी, फिर श्लु-ग्रहण इसलिये है कि लुक् होने से द्विर्वचन नहीं प्राप्त था ॥ ७५ ॥

बहुलं छन्दसि ॥ ७६ ॥

बहुलं । १ । १ । छन्दसि । ७ । १ । छन्दसि = वैदिकप्रयोगेषु जुहोत्यादिभ्यः परस्य शपः स्थाने बहुलं श्लुर्भवति, उक्तेभ्यश्च न भवति, अनुक्तेभ्यश्च भवति । दाति प्रियाणि । अत्र हुदान् धातोः श्लुर्न भवति । पूर्णा विवर्षि । अत्र 'वश कान्तौ' इत्यस्माद् भवति बहुल-ग्रहणादेव ॥ ७६ ॥

१. देखो पृष्ठ ३८४ टिप्पण ५, ६ ॥

६. ऋ०—४ । ६ । ३ ॥

२. आ०—सू० ५५२ ॥

का०—१२ । १५ ॥

चा० श०—'यङो बहुलम् ॥' (१।१।८६)

७. ऋ०—७ । १६ । १३ ॥

३. चा० श०—'द्वानां द्वे च ॥' (१।१।८४)

सा०—१ । ५५ ॥

४. धा०—जुहो० १ ॥

मै०—२ । १३ । ६ ॥

५. आ०—सू० ३७६ ॥

६. धा०—अदा० ७७ ॥

[‘छन्दासि’ वैदिक प्रयोगों में] जुहोत्यादिकों से पर शप्-प्रत्यय के स्थान में श्लु [‘बहुलं’] बहुल करके हो। अर्थात् जिन से विधान है, उन से नहीं भी होता और जिन से विधान नहीं, उन से भी हो जाता है। दाति प्रियाणि^१। यहां जुदात् धातु से श्लु नहीं हुआ। और ‘पूर्णा विवष्टि’^२ यहां वश धातु से विधान नहीं था, फिर भी शप् के स्थान में श्लु हो गया ॥ ७६ ॥

गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु^३ ॥ ७७ ॥

श्लुर्निवृत्तः । लुगनुवर्तते । गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः । ५ । ३ । सिचः । ६ । १ । परस्मैपदेषु । ७ । ३ । ‘गाति’ इति लुग्विकरणनिर्देशः । लुङ्लकारे च सिचूपरो भवति । तत्रेणः स्थाने यो गा-आदेशः, तस्येह ग्रहणम् । ‘गाति’, स्था, घु, पा, भू’ इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परस्य सिच्-प्रत्ययस्य परस्मैपद-सञ्ज्ञक-प्रत्ययेषु परेषु लुग् भवति । अगात् । अस्थात् । घु—अदात् । अधात् । अपात् । अभूत् । अत्र सिचो लुकि ‘न लुमताऽङ्गस्य’^४ ॥ इति प्रत्ययलक्षणाभावादीदपि न भवति ॥

वा०—गापोर्ग्रहण इयूपिबत्योर्ग्रहणम् ॥^५ ? ॥

गाति-ग्रहणे ‘इण् गतौ’^६ इत्यस्य ग्रहणं, पा-शब्देन ‘पा पाने’^७ इत्यस्य च । तेनेह न भवति—अगासीन्नटः । अत्र ‘गौ शब्दे’^८ इत्यस्मात् सिचो लुङ् न भवति । ‘अपासीद्धनम्’ इत्यत्र ‘पा रक्षणे’^९ इत्यस्मादपि सिचो लुङ् न भवति ॥ ‘परस्मैपदेषु’ इति किम् । अगास्त ग्रामम् । अत्र ‘गाङ् गतौ’^{१०} इत्यस्मान्न स्यात् ॥ ७७ ॥

[‘गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः’] गाति, स्था, घु, पा, भू, इन धातुओं से पर जो [‘सिचः’] सिच्-प्रत्यय, उस का लुक् हो [‘परस्मैपदेषु’] परस्मैपद-सञ्ज्ञक प्रत्यय पर हों, तो । गाति—अगात् । यहां इण् धातु को गा-आदेश हुआ है । स्था—अस्थात् । यहां स्था धातु से सिच् का लुक् । घु—अदात् । अधात् । यहां घु-सञ्ज्ञक दा और धा धातु से । अपात् । यहां ‘पा रक्षणे’^{११} धातु से । और ‘अभूत्’ यहां भू धातु से पर सिच्-प्रत्यय का लुक् हुआ है । उस के होने से ईद् का आगम भी नहीं हुआ ॥

१. देखो पृ० ३८५ टि० ६, ७ ॥

२. आ०—सू० ८६ ॥ [(१।१।६२)

चा० शं०—‘दाधागातिस्थाभूपोऽस्तङि लुक् ॥’

३. १।१।६२ ॥

४. अ० २ । पा० ४ । आ० ३ ॥

५. वा०—अदा० ३६ ॥

६. वा०—म्वा० ६७२ ॥

७. वा०—म्वा० ६६५ ॥

८. वा०—अदा० ४७ ॥

९. वा०—म्वा० ६६८ ॥

‘गापोर्ग्रहण इतिपवत्योर्ग्रहणम् ॥’ गा-शब्द से इण और पा-शब्द से ‘पा पाने’ धातु का ग्रहण होता है। प्रयोजन यह है कि ‘अगासीत्। अपत्सीत्’ यहां गै धातु और ‘पा रक्षणे’ इन धातुओं से पर-सिच्-प्रत्यय का लुक् प्राप्त है, सो न हो ॥ ७७ ॥

विभाषा घ्राधेद्शाच्छासः ॥ ७८ ॥

प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम् । धेद्-धातुर्धु-सञ्ज्ञत्वात् पूर्वेण नित्ये लुकि प्राप्ते विभाषा । अन्येभ्योऽप्राप्तविभाषा । विभाषा । [आ० ।] घ्रा-धेद्-शा-छा-सः । ५ । १ । घ्रादीनां समाहारद्वन्द्वः । ‘घ्रा, धेद्, शा, छा, सा’ इत्येतेभ्यः परस्य सिच्-प्रत्ययस्य परस्मैपदेषु विकल्पेन लुग् भवति । अघ्रात्, अघ्रासीत् । अघात्, अघासीत् । अशात्, अशासीत् । अच्छात्, अच्छासीत् । असात्, असासीत् । शा-शब्देन ‘शो तनूकरणे’ इत्यस्य, छा[-शब्देन] ‘छो छेदने’ इत्यस्य, सा [-शब्देन] च ‘षोऽन्तकर्मणि’ इत्यस्य ग्रहणं भवति ॥

‘परस्मैपदेषु’ इति किम् । अघ्रासातां पुण्यौ बालेन । अत्र कर्मणागन्तव्येनोत्पत्तेः सिचो लुङ् न भवति ॥ ७८ ॥

इस सूत्र में प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। धेद् धातु में पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त है, अन्य धातुओं में किसी से प्राप्त नहीं। उस का विकल्प हुआ है। [‘घ्रा-धेद्-शा-छा-सः’] घ्रा, धेद्, शा, छा, सा, इन धातुओं से पर जो सिच्, उस का लुक् हो [‘विभाषा’ विकल्प करके] परस्मैपद-सञ्ज्ञक प्रत्यय पर हों, तो। अघ्रात् । अघ्रासीत् । यहां घ्रा धातु से। अघात् । अघासीत् । यहां धेद् धातु से। अशात् । अशासीत् । यहां ‘शो तनूकरणे’ इस धातु से। अच्छात् । अच्छासीत् । यहां ‘छो छेदने’ इस धातु से। और ‘असात् । असासीत्’ यहां ‘षोऽन्तकर्मणि’ इस धातु से पर सिच् का लुक् हुआ है ॥

परस्मैपद-ग्रहण इसलिये है कि ‘अघ्रासातां पुण्यौ बालेन’ यहां कर्म में आत्मनेपद होने से सिच् का लुक् नहीं हुआ ॥ ७८ ॥

तनादिभ्यस्तथासोः ॥ ७९ ॥

‘विभाषा’ इत्यनुवर्तते । तनादिभ्यः । ५ । ३ । त-थासोः । ७ । २ ।

तश्च थाश्च, तयोः । तनादिभ्योऽप्यप्राप्तविभाषैव । तनादिधातुभ्यः परस्य सिच्-प्रत्ययस्य विकल्पेन लुग् भवति त-प्रत्यये थासि च । अतत, अतनिष्ठ । अतथाः,

१. देखो पृ० ३८६ टि० ६, ८ ॥

२. आ०—सू० २४६ ॥

चा० श०—“घ्राधेद्शाच्छासो वा ॥” (१।१।६३)

३. था०—दिवा० ३७ ॥

४. था०—दिवा० ३८ ॥

५. था०—दिवा० ३९ ॥

६. आ०—सू० ४४० ॥

चा० श०—“तनादिभ्यस्तथासोः ॥” (१।१।६४)

अतनिष्ठाः । अमत्, अमंस्त । अमथाः, अमंस्थाः । अत्र सिञ्जलुक्पक्षेऽपित्सा-
र्वाधातुकस्य ङित्वात् 'अनुदत्तोपदेशवनतितनोत्स्यादीनाम०' ॥' इत्यनुनासिक-
लोपः । अन्यत्र सिचं मत्वा न भवति ॥

अत्र थासः साहचर्यादात्मनेपदस्यैव त-शब्दस्य ग्रहणम् । तेन 'अतनिष्ठयूयम्' ।

अत्र परस्मैपदसञ्ज्ञकत-शब्दे मध्यमपुरुषस्य बहुवचने सिञ्जलुक् न भवति ॥७६॥

इस सूत्र में भी अप्राप्ताविभागा अर्थात् किसी से नित्य प्राप्त नहीं । ['तनादिभ्यः']
हनादि धातुओं से पूर जो सिच्, उस का विकल्प करके लुक् हो ['त-थासोः'] त-और
थास्-प्रत्यय के पर । अतत । यहां तनु धातु से त-प्रत्यय के पर सिच् का लुक् । अतनिष्ठ ।
यहां विकल्प के होने से लुक् नहीं हुआ । तथा 'अतथाः' यहां थास् के पर सिच् का लुक्
हुआ । और 'अतनिष्ठाः' यहां विकल्प के होने से नहीं हुआ । यहां जिस पक्ष में सिच् का
लुक् हो जाता है, वहां अपिद सार्वधातुक के ङित् होने से धातु के अनुनासिक का लोप हो
जाता है । और जहां नहीं होता, वहां सिच् के व्यवधान से अनुनासिक का लोप नहीं होता ॥

थास् केवल आत्मनेपद में ही होता और त-शब्द आत्मनेपद [तथा] परस्मै[पद में] भी । सो
थास् के साहचर्य से त-शब्द का भी आत्मनेपद का ही ग्रहण होता है ॥ ७६ ॥

मन्त्रे घसहरणशवृदहाद्वृज्कृगमिजनिभ्यो लेः ॥ ८० ॥

मन्त्रे । ७ । १ । घस-हर-णश-वृ-दह-आत् वृज्-कृ-गमि-जनिभ्यः । ५ ।

३ । लेः । ६ । १ । मन्त्रे = वेदविषये 'घस, हर, णश, वृ, दह, आत्, वृज्,
कृ, गमि, जनि' इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परस्य लेः = च्लि-प्रत्ययस्य लुग् बोध्यः ।

घस—अक्षन्मीमदन्त^३ । अत्र घस-धातुर्लुङि प्रथमपुरुषस्य बहुवचने च्लेर्लुक् ।

'गमहन०' ॥' इत्युपधालोपः । 'खरि च' ॥' इति घकारस्य ककारः । 'शासिव-

सिघसीनां च' ॥' इति षत्वम् । तेन 'अक्षन्' इति रूपं जायते । हर—मा ह्वः^४ ।

अत्र ह-धातुर्लुङि प्रथमैकवचने च्लेः लुक् । तिपि गुणः, ततो 'हल्ङ्याभ्यः०' ॥

इति तिप्तकारलोपः । णश—प्रणङ् मर्त्यस्थ^५ । अत्र प्रथमैकवचने 'नशेर्वा' ॥

१. ६ । ४ । ३७ ॥

२. आ०—सू० ४४४ ॥

३. ऋ०—१ । ८२ । २ ॥

वा०—३ । ५१ ॥

सा०—१ । ४१५ ॥

अ०—१८ । ४ । ६३ ॥

४. ६ । ४ । ६८ ॥

५. ८ । ४ । ५५ ॥

६. ८ । ३ । ६० ॥

७. वाजसनेयिसंहितायां (१ । २, ६) अन्यत्र च

(तौ १ । १ । ३ । १ ॥ मै० १ । १ । ५ ॥

का० १ । ३ ॥...)—'मा ह्वः ।'

८. ६ । १ । ६८ ॥

९. ऋ०—१ । १८ । ३ ॥

१०. ८ । २ । ६३ ॥

११. ६८ ॥

इति कुत्वम् । अन्यत् कार्य पूर्ववत् । वृ—सुरुचो वेन आवः^१ । अत्र 'आवः'
इति हृ-धातोः प्रयोगवत् । दह—आ धक्^२ । अत्र 'एकाचो वंशो भष् भष-
न्तसं स्त्रोः'^३ ॥ इति दकारस्य धकारः । 'आद्' इत्याकारान्तस्य ग्रहणम्—
आा० धावापृथिवी^४ । अत्र प्रा-धातोलुङि मध्यमपुरुषस्यैकवचने च्लेलुक् ।
वृज्—परा वर्क्^५ । अत्रापि पूर्ववत् प्रथमैकवचने प्रयोगः । कृ—अक्रन् कर्म^६ ।
अत्र प्रथमपुरुषस्य बहुवचने च्लेलुक् । गमि—अगमन्^७ । जनि—अज्जत^८ ।
अभयत्र 'गमहन०'^९ ॥ इत्युपधालोपः ॥ ८० ॥

['मन्त्रे'] वैदिक विषय में ['घस-हर-णश-वृ-दह-आत्-वृज्-कृ-गमि-जनिभ्यः']
हृ, हर, णश, वृ, दह, आत्, वृज्, कृ, गमि, जि, इन धातुओं से पर जो ['लेः']
प्रत्यय, उस का लुक् हो जावे । घस—अक्षन्मीमदन्त^{१०} । यहां घस धातु से लुङ्
कार में प्रथम पुरुष के बहुवचन में च्लि का लुक्, घस की उपधा का लोप, धकार को ककार
सकार [को] धकार आदेश होने से 'अक्षन्' यह प्रयोग बनता है । हर—मा ह्रः^{११} । यहां
हृ से च्लि का लुक् और हृ धातु को गुण होके तिप् के तकार का लोप हुआ है । णश
ह्र मर्त्यस्य^{१२} । यहां णश धातु से च्लि का लुक् होके 'प्रणक्' प्रयोग बनता है । वृ—
वेन आवः^{१३} । यहां हृ धातु के तुल्य 'आवः' प्रयोग सिद्ध होता है । दह—आ
यहां दह धातु के दकार को धकार हुआ है । आत्=आकारान्त धातु—आप्रा^{१४} । यहां प्रा
इस धातु से च्लि का लुक् हुआ है । वृज्—परा वर्क्^{१५} । यहां भी प्रथम पुरुष के
द्वि में च्लि का लुक् । कृ—अक्रन् कर्म^{१६} । यहां प्रथम पुरुष के बहुवचन में च्लि का
मी गमि—अगमन् । जनि—अज्जत^{१७} । यहां दोनों में उपधा का लोप हुआ है ॥ ८० ॥

आमः ॥ ८१ ॥

लेः' इत्यनुवर्तते । आमः । ५ । १ । आमः परस्य लेर्लुग् भवति । एधाश्चक्रं ।
कार । अत्र लिटि परत आम्-प्रत्ययो भवति, अमन्ताच्च लेर्लुक् ॥ ८१ ॥

वा०—१३ । ३ ॥

मै०—१ । १० । २ ॥

अ०—४ । १ । १ ॥

का०—६ । ४ ॥

५ । ६ । १ ॥...

७. अ०—१ । १२२ । ७ ॥...

१. अ०—६ । ६३ । १४ ॥

८. दे० वा०—७ । १४ । ५ ॥

२. अ०—१ । १२ । ३७ ॥

जयादित्यः— "अज्ञत वा अस्य दन्ताः ।"

३. अ०—१ । ११५ । १ ॥

वा०—७ । ४२ ॥

अ०—१३ । २ । ३

४. अ०—८ । ७५ ।

वा०—३ । ४६

१०. देखो पू० ३८८ टि० ३, ७, ६ ॥

११. वा०—अदा० ५२ ॥

['आमः'] आम्-प्रत्यय से पर जो लि, उस का लुक् हो । पञ्चाञ्चके । इदाञ्चकार ।
यहां लिट् के पर जो आम्-प्रत्यय होता है, उस से पर लिट् का लुक् हो गया ॥ ८१ ॥

अव्ययादाप्सुपः ॥ ८२ ॥

अव्ययात् । ५ । १ । आप्-सुपः । ६ । १ । आप् च सुप् च, अर्थोः
समाहारः, तस्याप्सुपः । आप्-शब्देन टावादिस्त्रीप्रत्ययानां ग्रहणम् । अव्ययात्
परेषां टावादिस्त्रीप्रत्ययानां सुपां च लुग् भवति । तत्र शालायाम् । तत्र नगारम् ।
अनङ्गो लुक् । सुपः—स्तेच्छितवै । भोक्तुम् । भुक्त्वा । कृत्वा । अत्र पां
लुक् । एवं स्वरादिसर्वाव्ययेषु ॥ ८२ ॥

['अव्ययाद्'] अव्यय से पर जो ['आप्-सुपः'] आप् और सुप्, उन का लुक् ।
आप्-शब्द से अप् आदि स्त्रीप्रत्ययों का ग्रहण होता है । तत्र शालायाम् । यहां अप्
लुक् । स्तेच्छितवै । भुक्त्वा । और यहां सुपों का लुक् हुआ है । इसी प्रकार सब स्वरा
अव्ययों में होता है ॥ ८२ ॥

नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः ॥ ८३ ॥

अव्ययीभावसमासस्याप्यव्यय-सञ्ज्ञा कृता, तस्मात् पूर्वसूत्रेण लुक् प्राप्ति
अनेन प्रतिषिध्यते । न । [अ० ।] अव्ययीभावात् । ५ । १ । अतः । ५
१ । अम् । १ । १ । तु । [अ० ।] अपञ्चम्याः । ५ । १ । अतः = अ-
न्ताद् अव्ययीभावात् परस्य सुपो लुङ् न भवति, कित्त्वपञ्चम्याः = पञ्च-
विहायादन्ताव्ययीभावात् परस्या विभक्तेर् 'अम्' इत्यादेशो भवति । कुम्भ
समीपं = उपकुम्भम् । इदं तु सर्वासं स्थाने । पञ्चम्यां तु—उपकुम्भात् ।
नद्याः समीपं = उपनदम् । उपनदात् । अपादाने या पञ्चमी, तस्या अत्र ग्रहणम्
या च कर्मप्रवचनीययोगे पञ्चमी—'आपाटलिपुत्रम्, आ पाटलिपुत्रात्' अ-
यस्मिन् पक्षे समासस्तत्रानेनाम्भावः, यदा वाक्यं, तदा कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञाश्रय
पञ्चमी ॥

'अतः' इति किम् । उपगु ॥

'अपञ्चम्याः' इति

अतः । अत्रोभयत्राम् न भवेत् ॥ ८३ ॥

अव्ययीभाव समास की भी अव्यय-
लुक् प्राप्त था । उस का निषेध इस सूत्र से ।

इस सूत्र से विभक्ति क-
कारान्त ['अव्ययी

२ वा० रा०—'सुपोऽसङ्ख्याल्लुक् ॥' (२।१।३८)

अव्ययीभाव से पर जो विभक्ति, उस का लुक् ['न'] न हो, ['तु'] किन्तु ['अम्'] पञ्चमी विभक्ति को छोड़के सब के स्थान में ['अम्'] अम्-आदेश हो जाये। सब विभक्तियों में यह प्रयोग ऐसा ही रहता है। पञ्चमी में—उपकुम्भात्। अम् दोभा नहीं होते। परन्तु इस सूत्र में अपादान कारक में जो पञ्चमी का ग्रहण है। और जो 'आपाटलिपुत्रम्। आ पाटलिपुत्रात्' यहाँ के योग में पञ्चमी है, उस का 'अम्' पञ्च में समास होता है, वहाँ पञ्चमी के 'अम्' हो जाता है ॥

अत्र ग्रहण इसलिये है कि 'अत्रिनु' यहाँ अम् न हो ॥

अपञ्चम्याः' ग्रहण इसलिये है कि 'उपकुम्भात्' यहाँ पञ्चमी विभक्ति में अम् न हो ॥

तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् ॥ ८४ ॥

शब्दो विकल्पपर्यायः। प्राप्तविभाषा चेत्यम्। पूर्वेण नित्येऽम्भावे प्राप्ते क्रियते। तृतीया-सप्तम्योः। ६।२।बहुलम्। १।१।अकारान्ता-वात् परयोस्तृतीयासप्तम्योर्विभक्तयोः स्थाने बहुलं = विकल्पेनाम्भावो भव-त्स्मेन, उपकुम्भम्। उपकुम्भे, उपकुम्भम्। एवं—उपनदेन, उपनदम्। उपनदमित्यादिषु ॥

वा०—सप्तम्या ऋद्धिनादीसमाससङ्ख्यावयवभ्यो नित्यम् ॥^१ ॥

सङ्ख्यार्थविहितानादीसमासात् सङ्ख्यावयवसमासात् परम्भाः सप्तम्या स्थाने नित्यमम्भावो भवति। सूत्रेण विकल्पे प्राप्ते नित्यमुच्यते। ऋद्धि-सुमगधम्। अत्र 'अव्ययं विभक्तिः ०' इति समृद्धयर्थे समासः। समास—उन्मत्तगङ्गम्। लोहितगङ्गम्। अत्र 'अन्यपदार्थे च सङ्ख्यायाम् ॥' व्ययीभावः। [सङ्ख्यावयव—]। एकविंशतिभारद्वाजम्। त्रिपञ्चाशद्गौतमम्। 'सङ्ख्या वंश्येन ॥' इत्यव्ययीभावः समासो भवति ॥ ८४ ॥

सूत्र में बहुल-शब्द विकल्पवाची है। पूर्व सूत्र से नित्य अम्-आदेश पाता था, उस का विकल्प होने से प्राप्तविभाषा है। अकारान्त अव्ययीभाव से पर जो ['तृतीया-सप्तम्योः'] और सप्तमी विभक्ति, उक्त के स्थान में ['बहुलम्'] विकल्प करके अम्-आदेश हो जाता है। यहाँ तृतीया के स्थान में अम् नहीं हुआ। उपकुम्भम्। यहाँ हो गया। और 'उपकुम्भम्' यहाँ सप्तमी के स्थान में नहीं हुआ। उपकुम्भम्। और यहाँ अम्भाव हो गया

वा०—“तृतीयासप्तम्योर्वा” (२।१।४२) ४. २।१।२० ॥

पा० ४। आ० २ ॥

५. २।१।१८ ॥

६ ॥

‘सप्तमी ऋद्धिनदीसमाससंख्यावयवेभ्यो नित्यम् ॥’ ऋद्धि अर्थ में जो अव्ययी-
भान, नदीवाची का जो अव्ययीभाव और संख्या का अवयववाची जो अव्ययीभाव समास, उस
से पर जो सप्तमी, उस के स्थान में नित्य अस्-आदेश हो चावे । ऋद्धि-अर्थ—सुमद्र
सुमगवम् । यहां ‘अत्रयं विभक्तिः’ ॥ इस सूत्र से सप्तमि अर्थ में अव्ययीभाव स
इति कु हुआ । नदीसमास—उन्मत्तगङ्गम् । लुटिर्गङ्गम् । यहां संज्ञावाची अन्य पदा
इति ह- अव्ययीभाव । और संख्यावयव—एकानि तिग्गङ्गाजम् । यहां संख्यावाची का
त्तस अर्थात्-वंश के अवयव के साथ समास हुआ है । सूत्र से विकल्प करके अस्भाव प्राप्त था,
का वार्तिक से नित्य विधान किया है ॥ ८४ ॥

आभा ।

लुटः प्रथमस्य डारौरसः ॥ ८५ ॥

वृज—प

आ प्रथ

ओभयत्र

[‘मन्ते रौ, रस्’

वा, हर, या

प्रत्यय, उ

र में प्र

सकार [

कु से च

इ मत्

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

[‘लुटः’]

लुटः । ६ । १ । प्रथमस्य । ६ । १ । डारौ-रसः । १ । ३ । प्रश्लिष्ट-

निर्देशोऽयम् । डारौरसश्च डारौरसश्च ते । लुटलकारस्य प्रथमपुरुषस्य स्थाने ‘डा

[‘मन्ते रौ, रस्’ इति त्रय आदेशा यथासङ्ख्येन भवन्ति, परस्मैपद आत्मनेपदे च

‘कृत्तारौ । कृत्तारः । आत्मनेपदे—अध्येता । अध्येतारौ । अध्येतारः ॥

‘प्रथमस्य’ इति किम् । त्वं श्वः कर्त्तासि । श्वोऽध्येतासे । अत्र मध्यमेन

स्यात् ॥ ८५ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादोऽध्यायश्चाऽयं समाप्तः ॥

[‘लुटः’] लुट लकार के [‘प्रथमस्य’] प्रथम पुरुष के स्थान में [‘डारौ-रसः’]

वेन, डारौ, रस्, ये तीन आदेश यथाक्रम से हों । कर्त्ता । यहां डा । कर्त्तारौ । यहां रौ ।

यहां दह-कर्त्तारः । और यहां रस्-आदेश होता है । सो परस्मैपद, [आत्मनेपद] दोनों के स्थान में

इस धातु आदेश होते हैं ॥

प्रथम-ग्रहण इसलिये है कि ‘त्वं श्वः कर्त्तासि, कर्त्तासे वा’ यहां मध्यम पुरुष में

आत्मनेपद आदेश न हों ॥ ८५ ॥

यह द्वितीयाध्याय का चौथा पाद और यह अध्याय भी समाप्त हुआ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्दसरस्वतीस्वामि-

शिष्येण श्रीमद्भगवद्भयानन्दसरस्वतीस्वामिना

प्रणीतेऽष्टाध्यायीभाष्ये प्रथमो भागः]

—

चा० श०—‘लुट आबानो डारौरसः’

(१ । ४ । १८, १९)

वा०—३ । ४५

अ०—३ । ४५

अ०—३ । ४५

परिशिष्टम्

३ “ नास्य भाष्यस्य काले भगवद्भिः सूत्राण्युपलब्धानि”
भाष्यकरणं हीदं १६३५ विक्रमाब्दे श्रावणमास आरब्ध,
सूत्रनिबद्धा शिक्षा च १६३६ विक्रमाब्दस्योत्तरार्धे प्राप्ता ॥

४ “यह लेखक-प्रमाद अथवा अनवस्थित ध्यान के कारण
लिखाया गया है”

प्रतिष्ठानि बहून्पुदाहरणान्यन्येष्वपि महर्षेर्ग्रन्थकोशेषु विद्य-
न्ते । तद्यथा—

“चित्तस्रोऽवस्थाः शरीरस्य” (सुश्रुते सूत्रस्थाने अ० ३५)
इत्यस्य स्थाने “तिस्रोऽवस्थाः शरीरस्य” (सत्यार्थप्रकाशे पृ०
२८ पं० २३) इति, “तेन देवा अयजन्त” (वा० ३१ ।
१०) इत्यस्य स्थाने “तस्माद् देवा अजायन्त” (सत्यार्थप्रकाशे
पृ० ४ पं० ४) इति च ॥

५ “वर्णोच्चारणशिक्षा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि...”
संस्कृतभाष्ये नेदं यमलक्षणमुपलभ्यते । भीमसेनादिकृतः
प्रज्ञेपोऽपि न कोऽपि संशयः ॥

“पुण्यमित्रस्य शिला०” इत्यस्य स्थाने “पुण्यमित्रषष्ठस्य शिला०”
इति पठनीयम् ॥



